प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह

खण्ड—1

(प्राक् गुप्तयुगीन)

मूलपाठ, अनुवाद तथा व्याख्या सहित

श्रीराम गोयल
एम. ए., पी-एच. डी.
एसोशियेट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर

भूमिका

ए. एल. बैशम
नेशनल प्रोफेसर
आस्ट्रेलिया

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्राक्कथन

विश्व विभिन्न भाषाओं तथा संस्कृतियों का रंगस्थल है। यह रंग-विरंगे फूलों का उपवन है। विविधता ही इसका सौन्दर्य है। भाषाएँ और संस्कृतियां प्रदेश विशेष के भूगोल तथा इतिहास की देन हैं। एक देश या प्रदेश की जलवायु से ही मनुष्य का शरीर और मानस बनता है, उसका रहन-सहन, भाषा-बोली भी जलवायु से प्रभावित होती है। फिर अनेक वर्षों से एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति चलती है, अतः इतिहास का भी बड़ा महत्त्व है। दूसरी ओर मातृ भाषा जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से संस्कृति और इतिहास की परम्परा प्रवहमान होती है। इसके अतिरिक्त मातृभाषा में ही मनुष्य का व्यक्तित्व सर्वांग रूप से निखरता है। अतः सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य को सारी शिक्षा–दीक्षा, सर्वोच्च स्तर तक उसकी मातृ भाषा के माध्यम से ही होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त विश्व का समस्त ज्ञान अनेक भाषाओं में संग्रहीत है और सभी लोग समस्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक भाषाओं का अध्ययन नहीं कर सकते हैं। ऐसा करने से वे केवल भाषा-विज्ञ ही रह जायेंगे, न कि विषय-विज्ञ। भाषा तो एक साधन मात्र है। अतः यह आवश्यक है कि सभी भाषाओं में लिपिबद्ध ज्ञान सब को शीघ्रता एवं सुलभता से अपनी भाषा में ही उपलब्ध हो अर्थात् ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम मातृभाषा हो।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् जब इस दिशा में केन्द्र सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने कार्य करने का विचार किया तो यह तथ्य सामने आया कि माध्यम-परिवर्तन के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोध है—सम्बद्ध भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों का अभाव, जिसे यथाशीघ्र पूरा किया जाना चाहिये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में अकादमियों/बोर्डों की स्थापना की गई। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इसी योजना के अन्तर्गत पिछले दस वर्षों से मानक ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य कर रही है और अब तक इसने विभिन्न विषयों (कला, वाणिज्य, विज्ञान कृषि आदि) के लगभग 280 ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं जो विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापकों द्वारा लिखे गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' स्नातकोत्तर स्तर के प्राचीन इतिहास के विद्यार्थियों और शोधकर्त्ताओं को भारतीय इतिहास के पुर्ननिर्माण तथा उसके वर्तमान स्वरूप को समझने में बहुत सहायक होगी। इसमें प्राचीन अभिलेखों का न केवल मूल पाठ बल्कि मूलचित्र के साथ उसका अनुवाद तथा महत्त्वपूर्ण शब्दों पर ऐतिहासिक टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। अपने तरह की यह एक विशिष्ट तथा पहली पुस्तक है। आशा है कि विद्वतजन इसे उपयोगी मानेंगे।

अकादमी इसके लेखक डॉ. श्रीराम गोयल के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभार प्रकट करती है तथा इसकी भूमिका लिखने के लिए प्रो० ए. एल बैशम, आस्ट्रेलिया के प्रति भी कृतज्ञता के भाव ज्ञापित करती है।

(श्रीमती कमला)

शिक्षामंत्री, राजस्थान सरकार, एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

(डा. पुरुषोत्तम नागर)

निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

बहिन कमला चौधरी

एवं
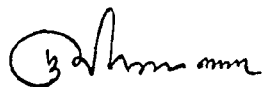
जीजाजी श्री त्रिलोक चन्द्र चौधरी

को सादर

अकादमी इसके लेखक डॉ. श्रीराम गोयल के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभार प्रकट करती है तथा इसकी भूमिका लिखने के लिए प्रो० ए. एल बैशम, आस्ट्रेलिया के प्रति भी कृतज्ञता के भाव ज्ञापित करती है।

(श्रीमती कमला)
शिक्षामंत्री, राजस्थान सरकार, एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

(डा. पुरुषोत्तम नागर)
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

बहिन कमला चौधरी

एवं

जीजाजी श्री त्रिलोक चन्द्र चौधरी

को सादर

भूमिका

सम्भवत: न तो विश्व के किसी अन्य देश में ऐतिहासिक महत्त्व के उतने अभिलेख उपलब्ध हैं जितने भारत में मिलते हैं और न कोई और देश ऐसा है जिसके प्राचीन इतिहास का पुर्ननिर्माण अभिलेखों पर इतना अधिक निर्भर हो। अभिलेखों के बिना अशोक महान् एक अस्पष्ट पुराकथा से अधिक नहीं रह जाएगा, महाशक्तिमान् गुप्त वंश के विषय में शायद ही जानकारी शेष बचेगी और हर्ष तथा उत्तर भारत पर तुर्कों की विजय के बीच में शासन करने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण राजवंशों के इतिहास के बारे में हम लगभग पूर्णत: अविज्ञ रह जाएंगे। जहां बहुत सी अन्य प्राचीन सभ्यताओं के लिए अभिलेखों का इतिहास के स्रोत के रूप में केवल गौण महत्त्व है, भारतीय इतिहास के लिये वे प्राथमिक महत्त्व का साधन हैं।

डेढ़ सौ से अधिक वर्षों से विद्वानों ने सहस्रों प्राक्-मुस्लिम भारतीय अभिलेखों को लिप्यन्तरित व अनूदित किया है एवं उनकी व्याख्या की है। लेकिन अभी उन पर और अधिक कार्य करना सम्भव है। इनमें बहुत से लेख काल अथवा विध्वंसकों द्वारा क्षत कर दिए गये हैं और अब अंशत: ही पठनीय हैं। अस्पष्ट अंशों के नए पाठ सुझाना अभी सम्भव है। कुछ अभिलेखों में ऐसे कठिन शब्द आते हैं जिनकी सही व्याख्या अभी की जानी शेष है। अन्य कुछ अभिलेखों का अर्थ अस्पष्ट है जिसके कारण उनकी अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बहुत से महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के मूलपाठ और अनुवाद 'एपिग्रोफिया इण्डिका' नामक पत्र अथवा कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम' के महार्घ खण्डों में ही उपलब्ध हैं। ये ग्रन्थ अधिकांश विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में मिल जाते हैं परन्तु कहीं-कहीं और कभी-कभी वे उपलब्ध नहीं हो पाते। 'कॉर्पस' के कुछ खण्डों का पुर्नमुद्रण होने के पश्चात् उनकी प्रतियां अब बाजार में प्राप्य हैं, परन्तु उनका मूल्य बहुत अधिक है जिससे सामान्य विद्यार्थी उनको खरीद नहीं सकता अभिलेखों का सुन्दर संग्रह जो प्रोफेसर आदि च० सरकार ने सटिप्पणी प्रकाशित किया है (सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स् बीयरिंग ऑन इण्डियन हिस्टरी एण्ड सिविलिजेशन, भाग १) विशेषज्ञों के लिये बहुत लाभप्रद है, परन्तु इसमें केवल मूल पाठ व संक्षिप्त टिप्पणियाँ ही दी गई हैं, इसलिए उन विद्वानों के लिए जिन्हें प्राकृत तथा संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान नहीं है, यह बहुत उपादेय नहीं हैं।

डॉ. श्रीराम गोयल ने इस ग्रन्थ में प्राक् गुप्त युगीन भारत के विशिष्ट अभिलेखों को सम्यक् हिन्दी अनुवाद, परिचयात्मक टीका तथा विस्तृत समीक्षात्मक टिप्पणियों सहित

सुलभ करके एक बहुत, बड़ी आवश्यकता पूरी की है। उनका यह ग्रन्थ प्राचीन भारत के प्रत्येक विद्यार्थी के जो हिन्दी पढ़ सकता है, हाथ में होना चाहिए क्योंकि इसमें उसे मालूम होगा कि इस स्रोत से भारत के अतीत की कथा का पुनर्निर्माण कैसे किया जाता है और इनसे वह सीखेगा कि किस प्रकार ऐसे अन्य साक्ष्य का उपयोग किया जाना चाहिए। मैं इस ग्रन्थ को भारतीय इतिहास के सभी अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए और अन्य उन सभी व्यक्तियों के लिए अभिस्तावित करता हूँ जो भारत के अतीत को और अधिक गम्भीरता से जानना चाहते हैं।

ए० एल० बैशम
नेशनल प्रोफेसर
आस्ट्रेलिया

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय अभिलेखों पर ऐसी पुस्तकों की रचना करने के लिए जिनमें महत्वपूर्ण अभिलेख अनुवाद व व्याख्या सहित दिये गये हों, किसी प्रकार की सफाई अथवा स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई भी ग्रन्थ अंग्रेजी में भी उपलब्ध नहीं है, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का तो कहना ही क्या। अपनी इस कृति में (जिसका गुप्तकालीन अभिलेखों से सम्बद्ध दूसरा खण्ड मुद्रणाधीन है) प्राक् प्रमुख गुप्तयुगीन अभिलेखों का अध्ययन किया है।

इस ग्रन्थ की रचना तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की गई है। एक, प्राचीन भारतीय अभिलेखों को हिन्दी भाषा में, अध्यापकों तथा स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए सुलभ बनाना। पिछले लगभग दस वर्षों से स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को अभिलेखशास्त्र पढ़ाते समय में उन कठिनाइयों से परिचित हुआ जो इस विषय का अध्ययन करते समय उसके सामने आती है। अतः उनकी सुविधा को ध्यान में रखते हुए इस ग्रन्थ में प्रत्येक अभिलेख के कठिन शब्दों के अर्थ और महत्त्वपूर्ण पदों और वाक्यांशों की व्याख्या दी गई है। अभिलेखों पर प्रकाशित किसी भी भाषा के अन्य किसी भी ग्रन्थ में यह विशेषता अनुपलब्ध है। यही नहीं विक्रम, प्राचीन शक-पह्लव तथा शक संवत् आदि से सम्बन्धित समस्याओं को भी विभिन्न खण्डों की पूर्वपीठिकाओं के अन्तर्गत विश्लेषित किया गया है। आशा है इन सबसे स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को अभिलेखों का अध्ययन करने में विशेष सहायता मिलेगी। दूसरे, इस ग्रन्थ की रूपरेखा एक संदर्भग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत की गई है। जैसाकि स्पष्ट है, ऐसे किसी भी ग्रन्थ में सभी प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन असम्भव है। यही नहीं, सभी महत्त्वपूर्ण अभिलेखों का विस्तृत अध्ययन भी ग्रन्थ कलेवर को असामान्य बना देता है। इसलिए सभी प्रतिलेखों का सविस्तर अध्ययन न करके बहुत से अभिलेखों का मात्र मूल पाठ केवल कुछ संक्षिप्त सूचनाओं के साथ दिया गया है। इससे प्राक् गुप्तयुगीन महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के लिए शोधकर्ता मात्र इसी ग्रन्थ पर निर्भर रह कर काम चला सकेंगे। शोधकर्ताओं की सुविधा के लिए अभिलेखों के विवादग्रस्त अंशों के विभिन्न प्रस्तावित पाठ पाठ-टिप्पणियों के अन्तर्गत दिये गये हैं। इसमें अधिकांश ग्रन्थ अभिलेखों के चित्र भी प्रकाशित किये जा रहे हैं जिससे इस ग्रन्थ में स्वीकृत मूलपाठ की सत्यता का शोधकर्ता स्वयं मूल्यांकन कर सकेंगें। अभिलेखों के विवादग्रस्त अंशों के विषय में अधिकांश विद्वानों के मतों को यथाशक्ति दे दिया गया है और प्रत्येक अभिलेख का अध्ययन इतिहास बताते समय सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और शोध निबन्धों को भी अनुसूचित कर दिया गया है। आशा है, यह ग्रन्थ स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त शोधकर्ताओं के लिए संदर्भ ग्रन्थ के रूप में भी स्वीकार किया जायेगा।

इस ग्रन्थ की रचना का तीसरा उद्देश्य अपने अध्ययन निष्कर्षों का विद्वत्जनों तक पहुँचाना भी है । प्राचीन भारतीय पुरालिपिशास्त्र एवं अभिलेखों के विषय में मैंने पिछले वर्षों में अनेक गवेषणाओं के आधार पर जो नवीन निष्कर्ष निकाले हैं उन्हें हिन्दी भाषी जगत् तक पहुँचाने के लिए इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। उदाहरण के लिए मेरा यह विचार है कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार प्रारम्भिक मौर्यकाल में हुआ था और प्राक्मौर्ययुगीन भारतीय लेखनकला से प्राय: अपरिचित थे अब नागारेड्डी जैसे कई विद्वानों द्वारा पूर्णतः और कुछ इतिहासकारों द्वारा अंशतः समर्थित हो चुका है । इस ग्रन्थ की प्रथम पूर्वपीठिका में इसकी सविस्तार चर्चा की गई है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में यत्रतत्र अनेक अभिलेखों के विभिन्न अंशों के विषय में मैंने कुछ नए सुझाव दिए हैं आशा है उनपर विचार किया जाएगा।

इस पुस्तक की रचना एवं मुद्रण में मुझे अनेक व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं उन सभी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। प्रो. ए. एल. बैशम ने इसकी भूमिका लिखी है, इसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ। मेरे प्रिय अनुज डॉ. शिवकुमार गुप्त (असिस्टेण्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय) मेरे साथ विविध अभिलेखों पर प्राय: विचार-विमर्श करते रहे और अपने सुझाव देते रहे। इससे मुझे अपने विचारों को स्पष्ट व सुव्यवस्थित करने में सहायता मिली। इतना ही नहीं उन्होंने पाण्डुलिपि के तैयार हो जाने के बाद से लेकर इसके पुस्तकाकार रूप में मुद्रित हो जाने तक की सभी अवस्थाओं का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया इसके लिए मैं उनकी जितनी भी प्रशंसा करूँ कम है।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने इसका प्रकाशन सोत्साह किया है इसलिए मैं अकादमी के अधिकारियों का अनुगृहीत हूँ।

अत्यन्त सावधानी रखने पर भी पुस्तक में कुछ अशुद्धियां रह गयी हैं। आशा है विद्वज्जन इस पर बहुत ध्यान नहीं देंगे।

विजया दशमी १९८२
'कुसुम श्री'
२१ सरदार क्लब स्कीम
जोधपुर

श्रीराम गोयल

सन्दर्भ-संकेत सूची

अ० हि० इ०	अर्ली हिस्टरी ऑव इण्डिया, ले० वी० स० स्मिथ, आक्सफोर्ड 1924
अ० हि० ड०	अर्ली हिस्टरी ऑव दि डेकन, ले० आर० जी० भण्डारकर, पूना, 1927
अ० हि० ना० इ०	अर्ली हिस्टरी ऑव नोर्थ इण्डिया, ले० एस० चट्टोपाध्याय, कलकत्ता, 1958
आई० ए०	इण्डियन एन्टिक्वेरी, बम्बई
आई० एच० क्यू०	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
आई० एन० सी०	इण्डियन न्युमिस्मेटिक क्रोनीकल, पटना
आई० एम० सी०	केटेलॉग ऑफ दि क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1, ले० वी० ए० स्मिथ, आक्सफोर्ड, 1906
आई० सी०	इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इ० आई०	एपिग्राफिया इण्डिका
ए० इ० यू०	दि एज् आफ इम्पीरियल यूनीटी, सं० आर० सी० मजूमदार एण्ड ए० डी० पुसालकर, बम्बई, 1960
ए० एस० आई०ए०आर०	एनुअल रिपोर्ट आफ दि आक्योंलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया
ए० एस० डब्लू० आई०	आक्योंलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया
ए० बी०ओ०आर०आई०	एनाल्स आफ दि भण्डारकर रिसर्च इन्सटि्टयूट, पूना
एम० ए० एस० आई०	मेमाआयर्स आफ आक्योंलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया
ए० हि० ड०	एन्श्येन्ट हिस्टरी आफ दि डेकन, ले० जी० जे० डुब्रील, पाण्डिचेरी, 1920
का० हि० इ०	ए कम्प्रिहेंसिव हिस्टरी आफ इण्डिया, सं० के० ए० एन० शास्त्री, कलकत्ता, 1957
कार्पस	कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम
जे० आई० एच०	जर्नल आफ इण्डियन हिस्टरी, त्रिवेन्द्रम
जे० आर० ए० एस०	जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयर्लेण्ड, लन्दन
जे० आर० ए० एस० बी० (एल०)	जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल (लेटर्स), कलकत्ता

जे० ए०	जर्नल एशियाटीक, पेरिस
जे० ए० एच० आर०एस०	जर्नल आफ दि आसाम शिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, गोहाटी
जे० ए० एस०	जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जे० ए० एस० बी०	जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता
जे० एन० एस० आई०	जर्नल आफ दि न्युमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया, वाराणसी
जे० ओ० आई०	जर्नल आफ दि ओरियन्टल इन्सटिट्यूट, बड़ोदा
जे० ओ० आर०	जर्नल आफ दि ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास
जे०जी०एन०आर०आई०	जर्नल आफ दि गंगानाथ रिसर्च इन्सटिट्यूट, इलाहाबाद
जे० बी० आर० एस०	जर्नल आफ दि बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना
जे०बी०ओ०आर०एस०	जर्नल आफ दि बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसायटी, पटना
जे०बी०बी०आर०ए०एस०	जर्नल आफ दि बोम्बे ब्रान्च आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जे०यू०पी०एच०एस०	जर्नल आफ दि यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ
ना०प्र०प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी
पी० आई० एच० सी०	प्रोसीडिन्ग्स आफ दि इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस
पी० ओ० सी०	प्रोसीडिन्ग्स आफ आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स
पो० हि० ए० इ०	पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, ले० हे० च० राय चौधुरी
प्रा० ज्यो०	प्राची-ज्योति, कुरुक्षेत्र
बी० एस०ओ० ए० एस०	बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियण्टल एण्ड एफ्रीकन स्टेडीज, लन्दन
भा० वि०	भारतीय विद्या, बम्बई
स० इ०	सलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स बीयरिंग आन इण्डियन हिस्टरी एण्ड सिवलिजेशन, वाल्यूम 1, सं० डी० सी० सरकार, कलकत्ता, 1965
स० सा०	दि सक्सेसर्स आफ० दि० सातवाहनज् इन दि लोअर डेकन, ले० डी० सी० सरकार, कलकत्ता, 1939
स० हि० आ० इ० व०	सम हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स आफ दि इन्सक्रिप्शन्स आफ बंगाल, ले० बी० सी० सेन, कलकत्ता 1942
हि० इ०	हिस्टरी आफ इण्डिया, 150 ए० डी० टू 350 ए० डी०, ले० के० पी० जायसवाल, लाहौर, 1933
हि० लि० इ०	हिस्टोरिकल एण्ड लिटररी इन्सक्रिप्शन्स, ले०राजवली पाण्डेय

चित्र सूची (प्लेट्स)

26. महास्थानगढ़ खण्डित पाषाण-लेख
27. हेलियोदोर का बेसनगर करुड़ स्तम्भ लेख
28. भरहुत बौद्ध स्तम्भ लेख
29. धन (देव) का अयोध्या पाषाण लेख
30. ऊदाक का पमोसा प्रथम गुहा लेख-वर्ष 10 (गुहा के बाहर)
31. ऊदाक का द्वितीय पमोसा गुहा लेख (गुहा के बाहर)
32. सर्वंतात का घोसूण्डी (हाथी बाड़ा) शिलालेख
33. शिनकोट (बाजौर) शैलखड़ी-पेटिका अभिलेख
34. शिनकोट शैलखड़ी-पेटिका अभिलेख (अ, अ 1)
35. शिनकोट शैलखड़ी-पेटिका अभिलेख (अ 2)
36. शिनकोट शैलखड़ी-पेटिका अभिलेख (द)
37. शिनकोट शैलखड़ी-पेटिका अभिलेख (इ)
38. थियोडोरस का स्वात मंजूषा अभिलेख
39. शोडासकालीन मथुरा पाषाण लेख—1
40. शोडासकालीन मथुरा पाषाण लेख—2
41. पतिक का तक्षशिला ताम्रपात्र-अभिलेख—वर्ष 78
42. राजूवुल के शासनकाल का मथुरा सिंहशीर्ष-अभिलेख
43. राजूवुलकालीन सिंहशीर्ष अभिलेख अ भाग
44. राजूवुलकालीन सिंहशीर्ष अभिलेख आ भाग
45. राजूवुलकालीन सिंह शीर्ष अभिलेख इ भाग
46. राजूवुल के पुत्र का मोरा (मथुरा) पाषाण लेख
47. गन्दोफर्निज का तख्ते-बाही पाषाण लेख : वर्ष 26
48. किसी कुषाण नरेश का पंचतार पाषाण लेख, वर्ष 122
49. कलवान ताम्र-पत्र अभिलेख—वर्ष 134
50. किसी कुषाण नरेश का तक्षशिला रजतवर्ति लेख—वर्ष 136
51. उविमिकस्तुस (?) का खलात्से पाषाण लेख—वर्ष-187
52. जिहोणिक का तक्षशिला रजतपात्र अभिलेख—सं० 191
53. जिहोणिक का तक्षशिला रजतपात्र अभिलेख—सं० 191
54. प्रथम कनिष्ककालीन सारनाथ बौद्ध-मूर्ति लेख (प्रथम)
55. प्रथम कनिष्ककालीन जेड़ा अभिलेख— वर्ष 11

113. मानसद का वेल्पुर अभिलेख
114. कृष्ण सातवाहन का नासिक गुहालेख
115. नागन्निका व प्रथम शातकर्णी कालीन नानाघा गुहामूर्ति नाम अभिलेख
116. गौतमी पुत्र शातकर्णी का नासिक गुहालेख—वर्ष 18
117. गौतमी पुत्र शातकर्णी का नासिक गुहालेख—वर्ष 24
118. वशिष्ठीपुत्र पुलुभावि का कार्लेगुहा लेख—वर्ष 7
119. वशिष्ठीपुत्र पुलुभावि का नासिक गुहालेख—वर्ष 19
120. वशिष्ठीपुत्र पुलुभावि का कार्ले गुहालेख—वर्ष 24
121. यज्ञशातकर्णि का नासिक गुहालेख—वर्ष 7
122. पुलुभावि का मयाकदोनि शिलालेख
123. कुमारवीरदत्त का गुंजी शिलालेख—वर्ष 5 व 6
124. शालिहुण्डम से प्राप्त ब्राह्मी शिलाफलक लेख
125. महाराजगण का मुद्रक पाषाण अभिलेख—वर्ष 8
    अ—बाया पार्श्व आ—दाहिना पार्श्व
126. मथुरा जैन मूर्ति लेख (अ) संवत् 52 (आ) सम्वत् 62
127. अशोक का द्वादस शिलालेख—शहबाजगढ़ी।

(नोट—समस्त अभिलेख चित्र (प्लेट्स) अन्त में हैं।)

विषय-सूची

(इस पुस्तक में परिशिष्ट में दिये गये अभिलेखों के अतिरिक्त कुल 145 अभिलेख दिए गए हैं। इनको सुविधा की दृष्टि से 11 खण्डों में बांटा गया है। यह विभाजन अभिलेखों के प्राप्ति स्थलों, उनमें प्रयुक्त संवतों तथा उनमें उल्लिखित नरेशों आदि को ध्यान में रखकर किया गया है।

पुस्तक में दिए गए 145 अभिलेखों में 60 पर तारा चिह्न अंकित हैं। इनमें 57 पर केवल एक तारा चिह्न (*) बना है। इन अभिलेखों का हमने मूलपाठ दिया है व साथ में इनके प्राप्ति-स्थल, लिपि, भाषा, तिथि व सन्दर्भों का संक्षेप में उल्लेख कर दिया है। जिन 3 लेखों के नाम पर दो तारा चिह्न (**) बने हैं वे भारतीयेतर भाषाओं में हैं। हमने उनके विषय में आलोचनात्मक सूचनाएँ उनके अंग्रेजी अनुवाद के हिन्दी रूपान्तर के साथ (या उसके बिना) दी हैं। शेष सभी 85 अभिलेखों को विस्तार से सम्पादित किया गया है।

विस्तृतरूपेण सम्पादित प्रत्येक अभिलेख का अध्ययन तीन भागों में हैं। प्रथम भाग में लेख का विस्तृत परिचय (प्राप्ति-स्थल, भाषा, लिपि, वर्तनी, तिथि, लेखक, उद्देश्य, अध्ययन-इतिहास, सन्दर्भ-ग्रन्थ आदि) दिया गया है। दूसरे में लेख का मूलपाठ, पाठ-टिप्पणियाँ, कठिन शब्दों के अर्थ, अनुवाद व व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। तीसरे में उस अभिलेख का महत्व (राजनीतिक, प्रशासकीय, धार्मिक, साहित्यिक व अन्य सभी सम्भव दृष्टियों से) बताया गया है।

अशोक के अभिलेखों के परस्पर घनिष्ठतः सम्बन्धित होने के कारण उन सबके प्रारम्भिक प्ररिचय को एक साथ उसके प्रथम अभिलेख के पहिले दे दिया गया है एवं महत्व को भी एक साथ उसके अन्तिम लेख के उपरान्त परिशिष्ट रूप में। उसके प्रत्येक लेख का अपना महत्व उस लेख की व्याख्यात्मक टिप्पणियों में विवेचित है।)

भूमिका : प्रोफेसर ए. एल. बैशम, आस्ट्रेलिया

मौर्यकाल : अशोकेतर अभिलेख

उत्तर भारत : शुंगकालीन अभिलेख

अभिलेख चित्र सूची (प्लेट्स)

मौर्यकाल : अशोक के अभिलेख

पृ० सं०

मौर्यकाल : अशोकेतर अभिलेख

उत्तर भारत : शुंगकालीन अभिलेख

उत्तर भारत : परवर्ती कुषाणयुगीन कुषाणेतर अभिलेख

उत्तर भारत : यूनानियों के अभिलेख

उत्तर भारत : 'प्राचीन-शक-पह्लव-संवत्' की तिथि वाले तथा अन्य सम्बन्धित लेख

उत्तर भारत : कनिष्क संवत् के कुषाण अभिलेख

उत्तर भारत : परवर्ती कुषाणयुगीन कुषाणेतर अभिलेख

पश्चिमी भारत : शक क्षत्रपों के अभिलेख

कलिंग व आन्ध्र : महामेघवाहनों व उनके पड़ोसियों के लेख

दक्षिण भारत : सातवाहनों के अभिलेख

दक्षिण भारत : कुछ अन्य अभिलेख

पूर्वपीठिका (अ)

अशोक के अभिलेख : प्रारम्भिक परिचय

अशोक के अभिलेख भारत के प्राचीनतम ऐतिहासिकयुगीन अभिलेख हैं। सैन्धव-युग के कांस्यकालीन मुहर-लेखों और अशोक के अभिलेखों के मध्य व्यतीत होने वाली लगभग पन्द्रह शताब्दियों का कोई लेख अभी तक नहीं मिला है। इस का प्रमुख कारण प्राक्-अशोकीय भारतीयों का लेखन-कला से अपरिचय था। इन पंक्तियों के लेखक की धारणा है कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु के बाद और अशोक के अभिलेख लिखे जाने के पूर्व हुआ था। इस समस्या पर विस्तार से विचार आगे किया गया है (दे० पूर्व पीठिका २)।

वर्गीकरण—अशोक के अभिलेखों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। इनमें उनके लिखने के लिए प्रयुक्त सामग्री के आधार पर किया गया वर्गीकरण सबसे सुविधाजनक है। इसके अनुसार उसके कुछ लेख शिला-लेख हैं, कुछ स्तम्भ-लेख और कुछ गुहा-लेख। भाब्रु-लेख एक पाषाण-फलक पर उत्कीर्ण है। कुछ विद्वान् इसे शिला-लेखों में ही परिगणित कर देते हैं। शिला-लेख व स्तम्भ-लेख भी उनके आकार और महत्त्व की दृष्टि से दो-दो वर्गों में बाँटे जाते हैं : मुख्य शिला-लेख (जिन्हें हिन्दी में केवल शिला-लेख व अंग्रेजी में 'रॉक एडिक्टस्' कह दिया जाता है) एवं लघु शिला-लेख तथा मुख्य स्तम्भ-लेख (जिन्हें हिन्दी में केवल स्तम्भ लेख व अंग्रेजी में 'पिलर एडिक्ट्स' कह दिया जाता है) तथा लघु-स्तम्भ-लेख। भाब्रु-अभिलेख अलग से पाषाण फलक-अभिलेख कहा जा सकता है। इनमें अधिकांश अभिलेखों के कई-कई संस्करण भारत, नेपाल की तराई, पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के विभिन्न भागों से मिले हैं।

प्राप्ति-स्थल : मुख्य शिलालेख

अशोक के मुख्य शिला-लेख संख्या में चौदह हैं। इनके आठ संस्करण गिरनार, कालसी, शहबाजगढ़ी, मानसेहरा, धौली, जौगड़, सोपारा एर्रगुड़ी से प्राप्त हुए हैं। इनमें ज्यादातर स्थान उसके साम्राज्य की सीमा पर स्थित थे। इनमें प्रथम पाँच स्थलों से चौदहों शिलालेख पूर्णतः अथवा आंशिक रूप में मिले हैं, धौली व जौगड़ में प्रथम दस व चौदहवें अभिलेखों के साथ दो नये अभिलेख मिलते हैं।

इनको पृथक् कलिंग शिलालेख, प्रथम और द्वितीय कहा जाता है। सोपारा शिला में केवल अष्टम शिला-लेख का अंश मात्र मिला है। इन शिलाओं के प्राप्ति-स्थलों का कुछ विस्तृत वर्णन इस प्रकार है :

गिरनार शिला—यह शिला आधुनिक गुजरात के जूनागढ़, प्राचीन गिरिनगर से लगभग एक मील दूर गिरनार की पहाड़ियों में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग एक सौ वर्गफुट है। इसी पर प्रथम रुद्रदामा व स्कन्दगुप्त के सुप्रतिथ लेख भी लिखे हैं। इन अभिलेखों का पता कर्नल टॉड ने १८२२ में लगाया था और इन्हें पढ़ा था सर्वप्रथम प्रिन्सेप ने। इनका प्रथम पूर्णतः सम्पादित संस्करण सेना ने 'इन्स्क्रिप्शन्स दे प्रियदसि', भाग १, में छापा।

कालसी शिला—यह शिला उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में चकराता तहसील के अन्दर स्थित कालसी स्थान में मिली है। कालसी स्थल मसूरी से १५ मील दूर यमुना और टौंस के संगम पर स्थित है। शिला करीब १० फुट ऊँची व इतनी ही लम्बी है। इसमें ऊपर के अक्षर छोटे हैं और नीचे के बड़े। इसका पता १८६० में फॉरेस्ट ने लगाया था।

शहबाजगढ़ी शिला—यह शिला आधुनिक पाकिस्तान के पेशावर जिले की युसुफजई तहसील में मरदान से ९ मील दूर स्थित मकाम नदी के किनारे बसे एक गाँव से आधा मील दूर स्थित है। इस शिला का पता १८३६ में कोर्ट नामक अंग्रेज ने लगाया था जो रणजीतसिंह की सेवा में था। इसमें पहले से ग्यारहवें शि० ले० तक शिला के पूर्वी भाग पर खुदे हैं, तेरहवाँ तथा चौदहवाँ पश्चिमी भाग पर तथा बारहवाँ एक पृथक् शिला पर। इन लेखों की लिपि खरोष्ठी है।

मानसेहरा शिलाएँ—ये शिलाएँ हजारा जिले की मानसेहरा तहसील में स्थित हैं। ये संख्या में तीन हैं—पहली पर प्रथम आठ शि० ले० खुदे हैं, दूसरी पर नवें से बारहवाँ तथा तीसरी पर तेरहवाँ व चौदहवाँ। इनमें प्रथम दो शिलाओं की खोज जनरल कनिंघम ने की थी तथा तृतीय की 'पंजाब आर्क्योलॉजिकल सर्वे' के एक भारतीय अधिकारी ने। इनकी लिपि भी खरोष्ठी है।

एर्रगुडी शिला—एर्रगुडी आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल जिले में एक गाँव का नाम है जो रायचूर-मद्रास रेलवे लाइन पर स्थित गूती स्टेशन से आठ मील दूर है। यहाँ पत्थरों के छः टीलों पर अशोक के शिलालेख व लघु-शिलालेख उत्कीर्ण मिले हैं। इनका पता भूतत्त्ववेत्ता श्री अनुघोष ने १९२९ में लगाया था। इनका पाठ कालसी पाठ से मिलता-जुलता है।

धौली शिला—धौली (प्राचीन तोसाली ?) उड़ीसा के पुरी जिले की खुर्दा तहसील में एक गाँव है। यह भुवनेश्वर से सात मील दक्षिण की ओर स्थित है। यहाँ पर स्थित शिला-लेखों का पता किटो ने १८३७ में लगाया था। जिस पहाड़ी पर ये अभिलेख खुदे हैं वह वास्तव में ३ छोटी पहाड़ियों की एक शृंखला

है। अभिलेखों के समीप हाथी की चार फुट ऊँची एक मूर्ति बनी है। इस संस्करण में अन्य संस्करणों के ग्यारहवें से तेरहवें तक के लेख नहीं मिलते। उनके स्थान पर दो नये लेख उपलब्ध हैं जो क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय पृथक् कलिंग शिला-लेख कहलाते हैं।

जौगड़ शिला—यह शिला आन्ध्र प्रदेश के गन्जाम जिले में बरहमपुर नामक तालुके में गन्जाम से १८ मील उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित जौगड़ स्थल से मिली है। यहाँ पहिले कोई विशाल नगर था। यहाँ से प्राप्त अभिलेख तीन शिला खण्डों पर उत्कीर्ण हैं जिनमें धौली के समान ग्यारहवें से तेरहवें शि० ले० अनुपस्थित हैं और दोनों पृथक् कलिंग शिला-लेख अलग से खोदे गए हैं। इनका पता १८५० में वाल्टर इलियट ने लगाया था।

सोपारा शिला—सोपारा (प्राचीन शूर्पारक) महाराष्ट्र में बम्बई के समीप थाना जिले के अन्तर्गत एक प्राचीन नगर था। १८८२ में यहाँ भगवान लाल इन्द्रजी को एक भग्न शिलाखण्ड मिला था जिस पर अशोक के आठवें शि० ले० का लगभग एक तिहाई भाग मिला था। मूलतः यहाँ चौदहों शि० ले० रहे होंगे।

प्राप्ति स्थल : लघु शिलालेख

अशोक का लघु शिलालेख अब तक कुल १५ स्थानों से प्राप्त हुआ है। बहुत से स्थलों से प्राप्त संस्करण काफी खण्डित हो गये हैं। इस अभिलेख का विषय व भाषा सर्वत्र समान है लेकिन किसी-किसी संस्करण में कुछ अतिरिक्त पंक्तियाँ मिलती हैं। एर्रगुडी, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर और जटिंग-रामेश्वर से प्राप्त लेख के द्वितीयार्द्ध को कुछ विद्वान् द्वितीय लघु शि० ले० भी कहते हैं। बुधनी लघु शिला-लेख अभी हाल ही में प्रकाश में आया है। इस लेख के विभिन्न प्राप्ति स्थल इस प्रकार हैं :

रूपनाथ शिला—रूपनाथ स्थल मध्यप्रदेश में जबलपुर से कटनी जाने वाले मार्ग पर सलीमाबाद रेलवे स्टेशन से १४ मील पश्चिम की ओर स्थित है। इसके समीप झरनों से बने एक तालाब के पास स्थित एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसका लिप्यन्तर सर्वप्रथम कनिंघम ने १८७१-७२ में किया था।

सहसराम शिला—यह शिला दक्षिण बिहार के सहसराम नामक एक प्रसिद्ध कस्बे से दो मील पूर्व की ओर चन्दन पीर पहाड़ी पर स्थित खोह में है। इस अभि-लेख का चित्र सर्वप्रथम बेगलर ने लिया था।

बैराठ शिला—यह शिला १८७१-७२ में कार्लाइल ने राजस्थान में जयपुर नगर से ४२ मील उत्तर पूर्व की ओर बैराठ (प्राचीन विराटनगर) स्थल से एक मील उत्तर-पूर्व की ओर देखी थी। यह जिस पहाड़ी के नीचे स्थित है उसे 'भीम की

डूंगरी' या 'महादेव जी की डूंगरी' कहते हैं। इस ल० शि० ले० को सेना और ब्युलर ने प्रकाशित किया था।

गुर्जरा शिला—यह शिला मध्य-प्रदेश के दतिया जिले में जंगलों और पहाड़ियों के बीच गुजर्रा नामक एक गाँव में विद्यमान है जो दतिया और झाँसी दोनों स्थानों से ग्यारह-ग्यारह मील दूर पड़ता है। जिस अण्डाकार शिला पर यह लेख लिखा है वह 'सिद्धों की टोरिया' नामक पहाड़ी की तलहटी में स्थित है। इसका पता बहादुरचन्द्र छाबड़ा ने लगाया था। उन्होंने ही इसे १९५४ में इण्डियन हिस्टरी काँग्रेस के अधिवेशन की कार्यवाही-विवरण में प्रकाशित किया। इस लेख में अशोक का इसी नाम से उल्लेख है।

मास्की शिला—मास्की (प्राचीन मोसंगी) ग्राम हैदराबाद के रायचूर जिले में लिंगसुगुर ताल्लुके में है। यहाँ बोडन नाम इञ्जीनियर ने १९१५ में यह शिला लेख खोजा था। इसका सम्पादन सर्वप्रथम सेना ने 'जरनल एशियाटीक' में किया। गुजर्रा-लेख के समान इस लेख में भी अशोक का इसी नाम से उल्लेख मिलता है जबकि अन्य सभी लेखों में उसे पियदसी या प्रियदर्शी कहा गया है।

ब्रह्मगिरि शिला—१८८२ ई० में बी० एल० राइस को मैसूर ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंगरामेश्वर स्थलों से तीन लघु शिलालेख प्राप्त हुए थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम इनका सम्पादन किया। ब्रह्मगिरि ल० शि० ले० इन तीनों में सर्वाधिक सुरक्षित हैं। जिस चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है उसे स्थानीय लोग 'अक्षरगुण्डु' कहते हैं।

सिद्धपुर शिला—यह शिला ब्रह्मगिरि से एक मील दूर स्थित है। इस क्षेत्र के लोग इसे 'तिम्मय्यनगुण्डलु' (महिष शिलासमूह) कहते हैं। इसका लेख अधिकांशतः अपठनीय हो गया है।

जटिंग-रामेश्वर शिला—यह शिला जटिंग-रामेश्वर की पश्चिमी चोटी पर, जो ब्रह्मगिरि से तीन मील उत्तर-पश्चिम की ओर है, विद्यमान है। स्थानीय लोग इसे 'बण्ठेहारगुण्डु' (चूड़ियों वालों की शिला) कहते हैं। यह लेख बहुत घिस गया है। इसमें शायद २८ पंक्तियाँ हैं।

एर्रगुडि शिला—दे०, एर्रगुडी मुख्य शि० ले० का प्राप्ति स्थल। उसी शिला पर यह लेख भी अंकित है। इसका १२ वीं पंक्ति तक का पाठ ब्रह्मगिरि ल० शि० ले० के पाठ से मिलता जुलता है, बाकी भाग नवीन है। इसकी लिपि ब्राह्मी है परन्तु ८ वीं और १४ वीं पंक्तियों को छोड़ दें तो बाकी लेख बलीवर्द (बूस्टरोफेडोन) शैली में लिखा है, यद्यपि उन पंक्तियों में भी जो दाहिने से बाईं ओर लिखी हैं अक्षरों की दिशा में कोई अन्तर नहीं किया गया है।

गोविमठ तथा पालकिगुण्डु शिलाएँ—अशोक के ल० शि० ले० के ये दो

संस्करण कोपवाल (प्राचीन कोपनगर) में, जो सिद्धपुर से साठ मील दूर हासपेट तथा गडग जंकशनों के मध्य स्थित है, गोविमठ व पालकिगुण्डी पहाड़ी पर बी० एन० शास्त्री ने १९३१ में खोज निकाले थे। इनका सम्पादन बसाक ने अपने 'अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स्' में किया है।

राजुल-मंडगिरि शिला—आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल जिले के पट्टिकोंड ताल्लुके के चिन्नतुलति ग्राम के समीप स्थित राजुल-मंडगिरि नामक टीले से, जो एर्रगुडी से २० मील दूर है, यह संस्करण प्राप्त हुआ है।

अहरौरा लघु शिला-लेख—अहरौरा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में स्थित एक गाँव है। जो सड़क अहरौरा बाँध जाती है उससे करीब सौ गज दूर स्थित पहाड़ी की एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसके समीप ही भंडारी देवी का एक मंदिर है। इस लेख की खोज प्रोफेसर गो० रा० शर्मा के नेतृत्व में प्रयाग विश्वविद्यालय के एक अन्वेषक दल ने १९६१ में की थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम इसकी छाप तैयार करायी जिसे मिराशी ने 'भारती' में सम्पादित कर प्रकाशित किया। यह लेख उत्तर प्रदेश से प्राप्त होने वाला प्रथम ल० शि० ले० है। वैसे अब उत्तर प्रदेश के समीप नई दिल्ली से भी इसका एक संस्करण मिल गया है (इ० आई०, ३८, पृ० १ अ०) अहरौरा-लेख ३'१०" × २'९" क्षेत्रफल में लिखा है। इसमें ११ पंक्तियाँ हैं जिनमें प्रथम छः के ज्यादातर अक्षर पत्थर टूट जाने से अपठनीय हो गए हैं। इसका पाठ सहसराम और बैराट ल० शि० ले० के पाठ से मिलता-जुलता है—अन्तिम पंक्ति को छोड़कर। **सन्दर्भ ग्रन्थ**—सरकार, इ० आई०, ३६, भाग ६, पृ० २३९ अ०; स० इ०, पृ० ५१६-१७; नारायण, ए० के०, भारती, ५, भाग १, पृ० ९७-१०५; मिराशी, वही, पृ० १३५-४०; शंकरनारायण, आई० एच० क्यु०, ३७, पृ० २१७ अ०; नेगी, जे० एस०, सम इंडोलोजिकल स्टडीज, भाग १, पृ० १७५ अ०; पांडेय रा० व० अशोक के अभिलेख, पृ० १३०-१)।

नई दिल्ली शिला—अशोक के ल० शि० ले० का यह संस्करण अपेक्षया हाल ही में मिला है। जिस शिला पर यह उत्कीर्ण है वह नई दिल्ली के लाजपतराय नगर के दक्षिण में अमरपुरी नामक कालोनी में स्थित है। इसकी ओर दिल्ली के एक ठेकेदार सरदार जंगबहादुर सिंह ने ध्यान दिलाया था। जी० ए० घई ने सितम्बर १९६६ में इसकी प्रतिलिपि तैयार की और सरकार, जोशी तथा पांडेय ने इसे सम्पादित किया। इस लेख की उपलब्धि से सिद्ध है कि अशोक के काल में दिल्ली, तत्कालीन इन्द्रप्रस्थ, एक बस्ती के रूप में विद्यमान थी। **सन्दर्भ-लेख**—सरकार; इ० आई०, ३८, भाग १, पृ० १, अ०)।

शिलाफलक

भाब्रु-शिलाफलक—यह शिलाफलक कप्तान बर्ट को जयपुर डिवीजन में मिला था—संभवतः वैराठ के समीपस्थ 'बीजक की पहाड़ी' से। बर्ट ने गलती से इस भब्र =

भाब्रु (बैराठ से १२ मील दूर) से प्राप्त बताया जिससे अब इसे प्राय: भ्राब्रु-लेख ही कहते हैं। भाण्डारकर ने इस लेख के सही प्राप्ति स्थल जानने की बहुत चेष्टा की थी और निष्कर्षत: इसे बैराठ से ही प्राप्त माना था। आजकल यह कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित होने के कारण कलकत्ता बैराठ लेख भी कहलाता है। बहुत से विद्वान् इसे अशोक के लघु शिलालेखों में गिनते हैं (दे०, पांडेय, रा० ब०, अशोक के अभिलेख) परन्तु यह वस्तुत: शिलाफलक लेख है और इसका विषय भिन्न है। वस्तुत: इसकी कोई प्रतिलिपि अभी तक नहीं मिली है। यह शिला-फलक लगभग २ फुट लम्बा और २ फुट चौड़ा था। इसे सर्वप्रथम किटो ने प्रकाशित किया था।

प्राप्ति-स्थल : मुख्य स्तम्भ-लेख

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ जो पाषाण-स्तम्भ बनवाए थे उनमें कुछ पर उसके अभिलेख उत्कीर्ण हैं। यह केवल उत्तर भारत से मिले हैं। इनके लेखों को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। एक, छ: अभिलेखों का एक 'सेट' जो देहली-टोपरा, देहली-मेरठ, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा तथा प्रयाग इन छ: स्थलों पर स्थित स्तम्भों पर मिला है। देहली-टोपरा में एक सातवाँ अतिरिक्त लेख भी मिला है। ये सब मुख्य स्तम्भ-लेख केवल स्तम्भ-लेख कहलाते हैं। दूसरे वर्ग में लघु स्तम्भ-लेख आते हैं (दे०, अ०)। मुख्य स्तम्भ लेखों के प्राप्ति स्थलों का विवरण इस प्रकार है :

देहली-टोपरा स्तम्भ—यह हल्के गुलाबी रंग के बलुआ पत्थर से निर्मित है। मध्यकालीन इतिहासकार शम्स-ए-सिराज के अनुसार यह मूलत: टोपरा (टोब्रा ? तोपेरा ? तोहेरा ?) नामक गाँव में स्थित था। कनिंघम के अनुसार यह स्थल प्राचीन श्रुघ्न राज्य में सम्मिलित रहा होगा। वहाँ से यह फिरोज तुग़लक १३५१-८८ ई०) द्वारा दिल्ली में, जो ९० कोस दूर थी, बयालीस पहियों की गाड़ी में लाया गया था। आजकल यह दिल्ली गेट के बाहर फिरोजशाह के तिमञ्जिले कोटले पर खड़ा है। यह भीमसेन की लाट, फिरोजशाह की लाट, सुनहरी लाट, दिल्ली-शिवालिक लाट आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस पर अशोक के ७ लेख मिलते हैं जिनमें प्रथम छ: तो अन्य स्थलों पर प्राप्त पाँच स्तम्भों पर भी मिलते हैं, सातवाँ केवल इसी पर उत्कीर्ण मिला है। इनके अतिरिक्त इस पर बीसलदेव चाहमान के तीन लघु लेख तथा मध्यकालीन यात्रियों के कुछ अन्य लेख भी लिखे मिले हैं। इस स्तम्भ के अशोकीय अभिलेखों को सर्वप्रथम प्रिन्सेप ने पढ़ा और उनका अंग्रेजी में भाषान्तर किया।

देहली-मेरठ स्तम्भ—पहिले यह स्तम्भ उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर के समीप स्थित था। शम्स-ए-शिराज के अनुसार इसे भी फिरोजशाह तुग़लक दिल्ली लाया था जहाँ यह एक पहाड़ी पर स्थापित किया गया। शम्स-ए-शिराज ने इस स्थान को कुश्क-ए-शिकार कहा है। आज भी यह वहीं स्थित है। इसके लेखों की अवस्था

अच्छी नहीं है। सर्वप्रथम इनका लिप्यन्तर प्रिन्सेप ने १८३७ में प्रकाशित किया था।

लौरिया-अरराज व लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ—ये दोनों स्तम्भ बिहार के चम्पारन जिले में क्रमशः केसरिया व बेतिया के समीप स्थित हैं। जिस समय प्रिन्सेप १८३१ में देहली-टोपरा स्तम्भ लेखों पर कार्य कर रहे थे उस समय वे इन स्तम्भों से भी परिचित थे। हॉग्सन ने इनको रधिया और मठिया स्तम्भ नाम दिये थे और कनिंघम ने लौरिया-अरराज और लोरिया-नवन (नन्दन) गढ़ नाम प्रदान किए जो अब प्रचलित है। 'लौरिया' शब्द स्पष्टतः संस्कृत 'लगुड', भोजपुरी 'लउर' से व्युत्पन्न है। लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ पर औरंगजेब का भी एक लेख मिलता है।

रामपुरवा स्तम्भ—यह स्तम्भ भी बिहार के चम्पारन जिले में बेतिया से ३२½ मील दूर रामपुरवा से प्राप्त हुआ है। इसकी खोज कार्लाइल ने की थी। आजकल यह अपने मूल स्थान से करीब २०० गज दूर रखा हुआ है। इस स्तम्भ पर सिंहशीर्ष था। यह स्तम्भ उस स्तम्भ से भिन्न है जिस पर वृषभशीर्ष मिला है।

प्रयाग स्तम्भ—यह स्तम्भ आजकल प्रयाग के किले में विद्यमान है। पहिले यह 'भीमसेन की गदा' नाम से विख्यात था। बरुआ तथा कनिंघम आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यह मूलतः कौशाम्बी में स्थित था। इस अनुमान का कारण इस पर अशोक के उस संघभेद-लेख की प्रति का उत्कीर्ण होना है जिसमें उसने कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित किया है। परन्तु इन पंक्तियों के लेखक के अनुसार इससे केवल इतना प्रमाणित होता है कि उस समय प्रयाग स्थल कौशाम्बी के महामात्रों के व्यवहार-क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। अपने सारनाथ संघभेद-लेख में अशोक ने पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित किया है। क्या इससे यह प्रमाणित होगा कि सारनाथ स्तम्भ को अशोक ने मूलतः पाटलिपुत्र में स्थापित कराया था? दूसरे, स्मरणीय है कि कौशाम्बी से अशोक का एक अन्य स्तम्भ उपलब्ध है। अगर अशोक का उद्देश्य इस लेख को कौशाम्बी में ही खुदवाना होता तो वह अपने कौशाम्बी स्थित उस स्तम्भ का प्रयोग कर सकता था।

प्रयाग स्तम्भ पर अशोक के छः मुख्य स्तम्भ लेखों का एक 'सेट', 'रानी का अभिलेख', कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित संघभेद-लेख का एक संस्करण, गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की सुप्रतिथ प्रशस्ति, जहाँगीर का एक लेख तथा एक परवर्ती देवनागरी लेख उत्कीर्ण हैं। इसके अभिलेखों के कुछ भागों को पहिले जेम्स होरे नें तथा तदुपरान्त बर्ट ने प्रकाशित किया और सर्वप्रथम सम्पादित किया प्रिन्सेप ने।

लघु स्तम्भ लेख

अशोक के उपर्युक्त स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त छः लघु स्तम्भ लेख भी उपलब्ध हैं। इनमें एक संघभेद-लेख है जिसकी तीन प्रतियां प्रयाग, साँची व सार-

भाब्रु (बैराठ से १२ मील दूर) से प्राप्त बताया जिससे अब इसे प्रायः भ्राब्रु–लेख ही कहते हैं। भाण्डारकर ने इस लेख के सही प्राप्ति स्थल जानने की बहुत चेष्टा की थी और निष्कर्षतः इसे बैराठ से ही प्राप्त माना था। आजकल यह कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित होने के कारण कलकत्ता बैराठ लेख भी कहलाता है। बहुत से विद्वान् इसे अशोक के लघु शिलालेखों में गिनते हैं (दे०, पांडेय, रा० ब०, अशोक के अभिलेख) परन्तु यह वस्तुतः शिलाफलक लेख है और इसका विषय भिन्न है। वस्तुतः इसकी कोई प्रतिलिपि अभी तक नहीं मिली है। यह शिला-फलक लगभग २ फुट लम्बा और २ फुट चौड़ा था। इसे सर्वप्रथम किटो ने प्रकाशित किया था।

प्राप्ति-स्थल : मुख्य स्तम्भ-लेख

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ जो पाषाण-स्तम्भ बनवाए थे उनमें कुछ पर उसके अभिलेख उत्कीर्ण हैं। यह केवल उत्तर भारत से मिले हैं। इनके लेखों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक, छः अभिलेखों का एक 'सेट' जो देहली-टोपरा, देहली-मेरठ, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा तथा प्रयाग इन छः स्थलों पर स्थित स्तम्भों पर मिला है। देहली-टोपरा में एक सातवाँ अतिरिक्त लेख भी मिला है। ये सब मुख्य स्तम्भ-लेख केवल स्तम्भ-लेख कहलाते हैं। दूसरे वर्ग में लघु स्तम्भ-लेख आते हैं (दे०, अ०)। मुख्य स्तम्भ लेखों के प्राप्ति स्थलों का विवरण इस प्रकार है :

देहली-टोपरा स्तम्भ—यह हल्के गुलाबी रंग के बलुआ पत्थर से निर्मित है। मध्यकालीन इतिहासकार शम्स-ए-सिराज के अनुसार यह मूलतः टोपरा (टोब्रा ? तोपेरा ? तोहेरा ?) नामक गाँव में स्थित था। कनिंघम के अनुसार यह स्थल प्राचीन श्रुघ्न राज्य में सम्मिलित रहा होगा। वहाँ से यह फिरोज तुग़लक १३५१-८८ ई०) द्वारा दिल्ली में, जो ९० कोस दूर थी, बयालीस पहियों की गाड़ी में लाया गया था। आजकल यह दिल्ली गेट के बाहर फिरोजशाह के तिमञ्जिले कोटले पर खड़ा है। यह भीमसेन की लाट, फिरोजशाह की लाट, सुनहरी लाट, दिल्ली-शिवालिक लाट आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस पर अशोक के ७ लेख मिलते हैं जिनमें प्रथम छः तो अन्य स्थलों पर प्राप्त पाँच स्तम्भों पर भी मिलते हैं, सातवाँ केवल इसी पर उत्कीर्ण मिला है। इनके अतिरिक्त इस पर बीसलदेव चाहमान के तीन लघु लेख तथा मध्यकालीन यात्रियों के कुछ अन्य लेख भी लिखे मिले हैं। इस स्तम्भ के अशोकीय अभिलेखों को सर्वप्रथम प्रिन्सेप ने पढ़ा और उनका अंग्रेजी में भाषान्तर किया।

देहली-मेरठ स्तम्भ—पहिले यह स्तम्भ उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर के समीप स्थित था। शम्स-ए-शिराज के अनुसार इसे भी फिरोजशाह तुग़लक दिल्ली लाया था जहाँ यह एक पहाड़ी पर स्थापित किया गया। शम्स-ए-शिराज ने इस स्थान को कुश्क-ए-शिकार कहा है। आज भी यह वहीं स्थित है। इसके लेखों की अवस्था

अच्छी नहीं है। सर्वप्रथम इनका लिप्यन्तर प्रिन्सेप ने १८३७ में प्रकाशित किया था।

लौरिया-अरराज व लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ—ये दोनों स्तम्भ बिहार के चम्पारन जिले में क्रमशः केसरिया व बेतिया के समीप स्थित हैं। जिस समय प्रिन्सेप १८३१ में देहली-टोपरा स्तम्भ लेखों पर कार्य कर रहे थे उस समय वे इन स्तम्भों से भी परिचित थे। हॉग्सन ने इनको रधिया और मठिया स्तम्भ नाम दिये थे और कनिंघम ने लौरिया-अरराज और लोरिया-नवन (नन्दन) गढ़ नाम प्रदान किए जो अब प्रचलित है। 'लौरिया' शब्द स्पष्टतः संस्कृत 'लगुड', भोजपुरी 'लउर' से व्युत्पन्न है। लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ पर औरंगजेब का भी एक लेख मिलता है।

रामपुरवा स्तम्भ—यह स्तम्भ भी बिहार के चम्पारन जिले में बेतिया से ३२½ मील दूर रामपुरवा से प्राप्त हुआ है। इसकी खोज कार्लाइल ने की थी। आजकल यह अपने मूल स्थान से करीब २०० गज दूर रखा हुआ है। इस स्तम्भ पर सिंहशीर्ष था। यह स्तम्भ उस स्तम्भ से भिन्न है जिस पर वृषभशीर्ष मिला है।

प्रयाग स्तम्भ—यह स्तम्भ आजकल प्रयाग के किले में विद्यमान है। पहिले यह 'भीमसेन की गदा' नाम से विख्यात था। बरुआ तथा कनिंघम आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यह मूलतः कौशाम्बी में स्थित था। इस अनुमान का कारण इस पर अशोक के उस संघभेद-लेख की प्रति का उत्कीर्ण होना है जिसमें उसने कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित किया है। परन्तु इन पंक्तियों के लेखक के अनुसार इससे केवल इतना प्रमाणित होता है कि उस समय प्रयाग स्थल कौशाम्बी के महामात्रों के व्यवहार-क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। अपने सारनाथ संघभेद-लेख में अशोक ने पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित किया है। क्या इससे यह प्रमाणित होगा कि सारनाथ स्तम्भ को अशोक ने मूलतः पाटलिपुत्र में स्थापित कराया था? दूसरे, स्मरणीय है कि कौशाम्बी से अशोक का एक अन्य स्तम्भ उपलब्ध है। अगर अशोक का उद्देश्य इस लेख को कौशाम्बी में ही खुदवाना होता तो वह अपने कौशाम्बी स्थित उस स्तम्भ का प्रयोग कर सकता था।

प्रयाग स्तम्भ पर अशोक के छः मुख्य स्तम्भ लेखों का एक 'सेट', 'रानी का अभिलेख', कौशाम्बी के महामात्रों को सम्बोधित संघभेद-लेख का एक संस्करण, गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की सुप्रतिथ प्रशस्ति, जहाँगीर का एक लेख तथा एक परवर्ती देवनागरी लेख उत्कीर्ण हैं। इसके अभिलेखों के कुछ भागों को पहिले जेम्स होरे ने तथा तदुपरान्त बर्ट ने प्रकाशित किया और सर्वप्रथम सम्पादित किया प्रिन्सेप ने।

लघु स्तम्भ लेख

अशोक के उपर्युक्त स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त छः लघु स्तम्भ लेख भी उपलब्ध हैं। इनमें एक संघभेद-लेख है जिसकी तीन प्रतियां प्रयाग, साँची व सार-

नाथ से प्राप्त स्तम्भों पर मिलती हैं। प्रयाग-स्तम्भ पर 'रानी का लेख' भी मिलता है। रुम्मिनदेई व निगालीसागर स्तम्भों पर अशोक की धर्म-यात्राओं का उल्लेख हुआ है। इन स्तम्भों का परिचय इस प्रकार है :

प्रयाग स्तम्भ संघभेद-लेख—यह आदेश कौशाम्बी के महामात्रों के नाम है। यह प्रयाग के किले में स्थित उसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिस पर अशोक के मुख्य स्तम्भ लेखों का 'सेट' मिलता है।

साञ्ची स्तम्भ संघभेद-लेख—मध्य भारत का सुप्रतिथ स्थल साँची भीलसा (प्राचीन विदिशा) से पाँच मील दूर स्थित है। यहाँ से अशोक का एक स्तम्भ, जिस पर यह लेख लिखा है, खण्डित रूप में मिला है। लेख का प्रारम्भिक भाग मिट गया है। इसकी प्रतिलिपि पहिले वर्ग ने प्रकाशित की थी। बाद में व्युलर व बॉयर आदि ने इसका सम्पादन किया।

सारनाथ स्तम्भ संघभेद-लेख—सारनाथ वाराणसी से ४ मील दूर उत्तर की ओर स्थित एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थल है। भगवान् बुद्ध ने यहीं पर धर्म चक्र का प्रवर्त्तन किया था। यहाँ से अशोक का एक भग्न स्तम्भ तथा उसका सुप्रसिद्ध सिंहशीर्ष मिला है। इस स्तम्भ का पता ऑरटेल ने लगाया था। इसके लेख को सर्वप्रथम फोगेल ने प्रकाशित किया और तदुपरान्त बॉयर, सेना, तथा वेनिस आदि ने।

रानी का स्तम्भ-लेख—यह लेख प्रयाग के दुर्ग में स्थित स्तम्भ पर उत्कीर्ण है (दे०, पीछे)।

रुम्मिनदेई स्तम्भ-लेख—यह स्तम्भ नेपाल की तराई में आधुनिक रुम्मिनदेई स्थान पर निगालीसागर से करीब १३ मील दक्षिण-पूर्व की ओर पडरिया ग्राम के समीप स्थित है। इसका पता फ्युरर ने लगाया था और व्युलर ने इसे लिप्यन्तर के साथ प्रकाशित किया।

निगालीसागर स्तम्भ-लेख—यह स्तम्भ नेपाल की तराई में निग्लीवा के एक मील दक्षिण की तरफ निगालीसागर के तट पर स्थित है। यह स्थान नेपाल की तोलिवा तहसील में है। फ्युरर ने १८९५ में इसका पता लगाया था। आजकल इसे 'भीमसेन की निगाली' कहते हैं। इसके लेख को सर्वप्रथम व्युलर ने लिप्यन्तर के साथ प्रकाशित किया।

गुहालेख

बराबर गुहालेख—बराबर (प्राचीन नाम खलितक तथा प्रवरगिरि) नाम की पहाड़ियाँ दक्षिणी बिहार में गया नगर से १५ मील उत्तर की तरफ स्थित हैं। ये पहाड़ियाँ समग्र रूप से बराबर कहलाती हैं परन्तु इनके अलग-अलग नाम भी हैं। आजकल इनकी सबसे ऊँची पहाड़ी सिद्धेश्वर कहलाती हैं। इनमें खोदी गई चार

गुफाओं में से तीन अशोक ने आजीवकों को दान दी थीं। इन लेखों को सर्व प्रथम किटो महोदय ने प्रस्तर-मुद्रित किया और ं ना तथा ब्युलर ने सम्पादित।

अशोक के अन्य अभिलेख

अशोक के उपर्युक्त सभी लेख ब्राह्मी में हैं, शिलालेखों के शहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा संस्करणों को छोड़कर जो खरोष्ठी में लिखे हैं, (ल० शि० ले० के मैसूर संस्करणों को उकेरने वाले ने भी अन्त में अपने नाम 'चपड' के आगे 'लिपिकरेण' शब्द खरोष्ठी में लिखा है)। इनके अलावा पश्चिमोत्तर प्रदेशों से अशोक के कुछ अन्य लेख उपलब्ध हुए हैं जो एरेमाइक और यूनानी भाषाओं में लिखे हैं—

तक्षशिला एरेमाइक लेख—यह लेख, जो अत्यन्त भग्नावस्था में हैं, तक्षशिला से सर जॉन मार्शल को प्राप्त हुआ था। इसे उन्होंने 'गाइड टु टैक्सिला' में प्रकाशित किया। बाद में इसका मूलपाठ और हर्जफल्ड कृत लैटिन भाषान्तर ई० आई० १९, में छपा।

शार-ए-कुना (कन्धार) द्विभाषी (यूनानी-एरेमाइक) शिला-लेख—यह लेख दक्षिणी अफगानिस्तान में कन्धार के पास शार-ए-कुना स्थल से प्राप्त हुआ था। यह स्थान एरेकोशिया में सिकन्दर द्वारा स्थापित अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर के समीप था। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नामक पत्रिका के मार्च-जून १९५८ अंक में उमबर्टो सिरैंटो ने किया। यह लेख द्विभाषी है। इसका एरेमाइक संस्करण यूनानी संस्करण का स्वतन्त्र भाषान्तर लगता है।

पुले-दारुन्त (लमगान) एरेमाइक प्रस्तर-लेख—इस लेख का उल्लेख हेनिंग ने 'बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरियण्टल एण्ड एफ्रिकन स्टडीज़', १३, लन्दन में किया है। यह अफगानिस्तान में पुले दारुन्त (लमगान, प्राचीन लम्पाक) से मिला था। इसकी भाषा एरेमाइक है परन्तु इसमें गान्धारी प्राकृत के भी कुछ शब्द मिलते हैं। इसमें अशोक के कुछ भारतीय लेखों के अंशों का समन्वित रूप मिलता है।

लेखों की संख्या व प्रकार-भेद

अशोक के अभिलेखों की कुल संख्या—उपर्युक्त वर्णन से अशोक के अभिलेखों की कुल संख्या इस प्रकार निश्चित होती है :

(अ) मुख्य शिलालेख

: पहले से दसवें तक तथा चौदहवें की प्रतियाँ सात स्थानों से (गिरनार, कालसी, ऐर्रगुडी, शहबाजगढ़ी, मानसेहरा, धौली, जौगड़) = ७७

: आठवें की एक प्रति एक स्थान से (सोपारा) = १

: ग्यारहवें से तेरहवें तक की प्रतियाँ ५ स्थानों से
(गिरनार, कालसी, ऐर्रगुडी, शह्वाज़गढ़ी, मानसेहरा) = १५

(आ) पृथक् कलिंग शिलालेख
: दो लेखों की प्रतियाँ दो स्थानों से (धौली और जौगड़) = ४

(इ) लघु शिलालेख
: एक लेख की प्रति पन्द्रह स्थानों से
(ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिंग-रामेश्वर, मास्की, गोविमठ, पालकिगुण्डु, ऐर्रगुडी, राजुलमण्डगिरि, बैराठ, रूपनाथ, सहसराम, गुजर्रा, अह्‌रौरा, नई दिल्ली, बुधनी) = १५

(ई) शिलाफलक लेख
: एक प्रति एक स्थान से (भाब्रु = बैराठ--कलकत्ता) = १

(उ) मुख्य स्तम्भ लेख
: पहले से छठें लेख तक की प्रतियाँ छः स्थानों से (देहली-टोपरा, देहली-मेरठ, लौरिया-अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा, प्रयाग) = ३६
: सातवें अभिलेख की प्रति एक स्थल से (देहली-टोपरा) = १

(ऊ) लघु स्तम्भ लेख
: संघभेद-लेख की तीन प्रतियाँ तीन स्थानों से (सारनाथ, साञ्ची, प्रयाग) = ३
: रानी का लेख एक स्थान (प्रयाग) = १
: दो यात्रा-स्मारक लेख (निगालीसागर तथा रुम्मिनदेई से) = २

(ए) गुहालेख
: तीन लेख (बराबर की गुफाओं से) = ३

(ऐ) पश्चिमोत्तर प्रदेशों के विदेशी भाषाओं के लेख
: तीन लेख (तक्षशिला, कन्धार व पुले दारुन्त से) = ३

कुल संख्या = १६२

अगर एर्रगुडी, जटिंग-रामेश्वर सिद्धपुर व ब्रह्मगिरि के उत्तरार्द्ध को द्वितीय लघु शिलालेख माना जाय, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं, तो यह संख्या १६६ हो जाएगी। इनके अलावा सोपारा में मूलतः चौदहों मुख्य शिलालेखों का पूरा 'सेट' रहा होगा। कुछ लेख बनारस से प्राप्त एक स्तम्भ (लाट भैरों) और पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर भी लिखे थे जो इन स्तम्भों के पहिले ही खण्ड-खण्ड हो जाने के कारण अब अप्राप्य हैं। अशोक के किसी-किसी लेख के नीचे एक दो शब्द या पंक्तियाँ अति-

रिक्त रूपेण मिलती हैं उनको यहाँ नहीं गिना गया है। भविष्य में उसके अन्य अभिलेख और उपलब्ध होंगे, ऐसी आशा है।

अशोक के अभिलेखों के प्रकार-भेद—अशोक ने अपने ल० शि० ले० को 'धंम सावन' धर्म श्रावण कहा है और शिलालेखों व स्तम्भ-लेखों को 'धंम लिपि'। अपने पञ्चम स्त० ले० को वह 'धंम नियम' भी कहता है। अभिलेख के ये प्रकार प्राचीन भारत में इस रूप में अन्यत्र नहीं मिलते। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के 'शासनाधिकार' अध्याय में (२'१०) 'शासन' या राजकीय अभिलेखों के आठ प्रकार बताए गए हैं : प्रज्ञापन-लेख (जिसमें राजा का संदेश 'उसने ऐसा कहा' 'अनेन विज्ञापितमेवाह्' शब्दों के साथ दोहराया गया हो); आज्ञा-लेख (कर्मचारियों के लिए दण्ड या पारितोषिक की आज्ञा), परिदान-लेख (सत्कार के लिए राजा की तरफ से भेंट या दान का उल्लेख करने वाला लेख); परिहार-लेख (नगरों या जातियों आदि पर राजा के अनुग्रह को बताने वाला लेख); निसृष्टि-लेख (किसी कार्य को करने या कहने में आत्मवचन का प्रमाण देने वाला वाचिक या नैसृष्टिक लेख); प्रावृत्तिक-लेख (दैवी या मानुषी विपत्तियों की चेतावनी देने वाला लेख); प्रति-लेख (राजा की आज्ञानुसार किसी पत्रादि का उत्तर देने वाला लेख) तथा सर्वत्रग (राजकर्मचारियों को सार्वजनिक कल्याण और सुरक्षा के आदेश देने वाला लेख)। इस वर्गीकरणानुसार अशोक के गुहा-लेख परिदान-लेख होंगे, रुम्मिनदेई स्त० लेख का उत्तरार्द्ध परिहार-लेख होगा, संघभेद-लेख आज्ञालेख और सर्वत्रग-लेख होगा, प्रथम पृथक् कलिंग लेख आज्ञालेख होगा, तथा ल० शि० लेख एक विशेष प्रकार का सर्वत्रग-लेख होगा। अन्य लेखों में प्रत्येक में कौटिल्य के विभिन्न प्रकार के लेखों की विशेषताएँ मिश्रितरूपेण दिखाई देंगी। वैसे अशोक के सब अभिलेखों के लिए कौटिल्य का प्रज्ञापन-लेख नाम भी प्रयुक्त किया जा सकता है क्योंकि उसके लगभग सभी लेख 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी ने ऐसा कहा' वाक्य से प्रारम्भ होते हैं।

अशोक के अभिलेख कौटिल्य द्वारा बताए गए अभिलेखों के सभी तेरह उद्देश्यों की न्यूनाधिक पूर्ति करते हैं : वे हैं—निन्दा, प्रशंसा, पृच्छा (पूछना), आख्यान (बताना), अर्थना (माँगना), प्रत्याख्यान (निषेध), उपालम्भ (शिकायत), प्रतिषेध (रोकना), चोदना (ऐसा करना चाहिए, यह बताना), सान्त्वना, अभ्युपपत्ति (आपत्ति के समय सहायता का आश्वासन), भर्त्सना (दोष बताकर धमकाना) अनुनय (अनुरोध)। इसी प्रकार राजकीय अभिलेखों के कौटिल्य द्वारा बताए गए गुण (अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टता) तथा दोष (अकान्ति, व्याघात, पुनरुक्ति, अपशब्द अर्थात् व्याकरण की भूल, संप्लव अर्थात् विराम आदि चिह्नों की भूल) भी अशोक के अभिलेखों में न्यूनाधिक रूप से मिलते हैं। अशोक ने अपने १४ वें शिला लेख में अपने अभिलेखों की कमियाँ इस प्रकार बताई हैं : साम्राज्य बहुत विशाल होने से सब लेख सर्वत्र नहीं लिखवाए जा सके;

बातों की मधुरता के कारण उनमें पुनरुक्ति की गई; तथा कुछ लेख स्थानाभाव, संक्षेपीकरण अथवा लेखकों के प्रमाद के कारण अपूर्ण रह गए।

भाषाएँ और लिपियाँ

अशोक के अभिलेखों की भाषाएं—अशोक का साम्राज्य बहुत ही विस्तृत था और उसके विभिन्न भागों में संस्कृत के अलावा अन्य अनेक स्थानीय बोलियाँ जो 'प्राकृत' कहलाती हैं, बोली जाती थीं। इनका विकास वैदिक संस्कृत से हुआ था। इन बोलियों में मागधी प्राकृत सर्वप्रमुख थी। इसका केन्द्र मगध था जो मध्य देश का पूर्वी भाग था। अशोक ने अपने अधिकांश अभिलेखों के लिए (तक्षशिला, पुलेदारुन्त व शार-ए-कुना लेखों को छोड़कर) इसी भाषा को अपनाया यद्यपि अन्य प्रदेशों में प्रचलित प्राकृत भाषाओं का मामूली सा प्रभाव वहाँ पर उपलब्ध अभिलेखों में मिलता है। इसी कारण एक ही लेख के विभिन्न प्रदेशों के संस्करणों में मामूली से पाठ भेद मिलते हैं। स्थूलतः इन भेदों के आधार पर कुछ विद्वान् अशोकीय अभिलेखों की प्राकृत के चार रूप मानते हैं। मुख्य या सरकारी रूप से स्वीकृत मध्य देशीय मागधी (जिसमें बैराठ, दिल्ली-टोपरा, सारनाथ आदि तथा कलिंग से प्राप्त लेख शामिल किये जाते हैं), पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (जिससे शहबाजगढ़ी व मानसेहरा-लेख सम्मिलित हैं), महाराष्ट्रीय या पश्चिमीय प्राकृत (जिसमें सोपारा और गिरनार-लेख परिगणित होते हैं), तथा दक्षिणात्य प्राकृत (जिसमें दक्षिण के सभी लेख गिने जाते हैं)। लेकिन इन चारों रूपों में भेद बहुत ही मामूली हैं और मात्र मागधी प्राकृत को समझने वाला व्यक्ति इन सभी को पूरी तरह समझ सकता है। यह तथ्य बड़ा महत्त्व-पूर्ण है क्योंकि उस युग में मागधी प्राकृत का ऐसा सार्वदेशिक प्रचलन स्पष्टतः अकल्पनीय था। उदाहरणार्थ उस युग में मैसूर के लोग निश्चय ही द्रविड बोलियों को बोलते होंगे और उनके लिए मागधी प्राकृत एक विदेशी भाषा की तरह होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अशोक ने अपने लेख आम जनता के लिए नहीं वरन् उस वर्ग के लिए लिखवाए थे जिसे वह साम्राज्यिक भाषा या मागधी प्राकृत सिखा रहा था। इस तथ्य की ओर अभी तक किसी विद्वान् से पूरी तरह ध्यान नहीं दिया है। लेकिन इससे अशोक के अभिलेखों के उद्देश्य और परोक्षतः ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति पर सर्वथा नया प्रकाश मिलता है। (दे०, ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति विषयक पूर्वपीठिका 'आ')।

अशोक अभिलेखों की लिपियाँ—अशोक ने अपने तक्षशिला और पुलेदारुन्त लेखों (जिनमें एरेमाइक लिपि का प्रयोग है), शार-ए-कुना द्विभाषी अभिलेख (जिसमें एरेमाइक व यूनानी लिपियों का प्रयोग है) तथा मुख्य शिलालेखों के शहबाजगढ़ी और मानसेहरा संस्करणों (जिनमें दाहिने से बाईं ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी लिपि का उपयोग दिया गया है) सर्वत्र बाएं से दाहिनी ओर लिखी जाने वाली ब्राह्मी

लिपि का प्रयोग किया है। यह ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मी लिपि से इतर सभी लिपियों में लिखित लेख पश्चिमोत्तर प्रदेशों में मिलते हैं और वे विदेशी लिपियों (एरेमाइक तथा यूनानी) अथवा एरेमाइक से निकली खरोष्ठी लिपि में लिखे हैं। रा० ब० पाण्डेय जैसे कुछ विद्वान् अवश्य ही खरोष्ठी को भारतीय लिपि मानते हैं (पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, पृ० २०-१) परन्तु अन्य अधिकांश विद्वान् ब्युलर के इस मत को स्वीकृत करते हैं कि खरोष्ठी की उत्पत्ति एरेमाइक वर्णमाला से हुई (ब्युलर, इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० १७-२०)। जहां तक ब्राह्मी की उत्पत्ति का प्रश्न है लगभग सभी विदेशी विद्वान् इसे किसी विदेशी लिपि से निकली मानते हैं जबकि बहुत से भारतीय पुरालिपिशास्त्री इसको स्वयं भारत में भारतीयों द्वारा विकसित बताते हैं। लेकिन यह बात इन दोनों ही वर्गों के विद्वान् स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व अशोक के कई शती पहिले से था। परन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक का मत है कि ब्राह्मी का आविष्कार चन्द्रगुप्त मौर्य के उपरान्त और अशोक के अभिलेख लिखे जाने के पूर्व भारतीय वैयाकरणों ने किया था और यह कार्य सम्भवत: स्वयं अशोक ने ही कराया था। इस मत का प्रतिपादन इसके आगे पूर्वपीठिका 'आ' में किया गया है।

पाठान्तरों की समस्या—अशोक अभिलेखों में बहुतों की अनेक प्रतियाँ मिलने से पाठान्तरों की समस्याएँ पैदा होती हैं। इनमें कुछ पाठान्तर राजकर्मचारियों के कारण जो अभिलेखों के प्रारूप तैयार करने एवं सम्पादन तथा उत्कीर्ण करने आदि के लिए उत्तरदायी थे, उत्पन्न हुए, कुछ प्रादेशिक बोलियों में भेद के कारण पैदा हुए तथा कुछ स्थानीय पदाधिकारियों के द्वारा जानबूझ कर किए गए। परन्तु कुल मिलाकर ये पाठान्तर बहुत गम्भीर नहीं हैं और किसी लेख के एक संस्करण की सहायता से उसके दूसरे संस्करण के लुप्त पाठ को पुनर्योजित करने में विशेष कठिनाई नहीं आती।

तिथिक्रम

अशोक के अभिलेखों का अध्ययन प्राय: उनके महत्त्व और वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर किया जाता है। परन्तु उनका सापेक्ष तिथिक्रम इससे भिन्न है। उसके कुछ अभिलेखों में उसके शासन के वर्ष का उल्लेख है और शेष के लिखवाये जाने की तिथियाँ उनके अन्त:साक्ष्य की सहायता से निर्धारित करनी होती हैं। इस विषय में कुछ बातों की ओर पहिले ही ध्यान दिला देना आवश्यक है। एक, अशोक के किसी अभिलेख का उसके द्वारा प्रारूप निर्धारित करवाए जाने (जहाँ भी और जिस प्रकार भी यह प्रारूप तैयार किया गया हो) तथा उसके उत्कीर्ण किये जाने के बीच कुछ समय अवश्य व्यतीत हुआ होगा। इसलिए विद्वानों में इस विषय में मत-भेद है कि उसके अभिलेखों में प्रदत्त तिथियाँ उनके अभिलेखों में प्रदत्त तिथियाँ उनके प्रारूप तैयार किये जाने के समय की हैं अथवा उत्कीर्ण किए जाने के समय

की। हमें इनमें प्रथम विकल्प सही लगता है। **प्रमाण** : अशोक ने अपने ल० शि० ले० में बताया है कि यह श्रावण उसने तब किया जब उसे उपासक बने 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय' बीत गया था और दौरे पर निकले हुए २५६ दिन बीत चुके थे। ये तिथियाँ बदल दी जातीं अगर उत्कीर्ण करने वाले पदाधिकारी उत्कीर्ण किए जाने के समय की तिथियाँ देते क्योंकि मैसूर से लेकर दिल्ली तक विस्तृत भूखण्ड के विभिन्न स्थलों में यह लेख एक साथ नहीं स्पष्टतः कुछ दिनों के अन्तर से विविध समय पर उत्कीर्ण कराया जा सका होगा। इसी तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि तृतीय और चतुर्थ मुख्य शिलालेखों में बारहवें वर्ष का उल्लेख सब संस्करणों में न होता अगर यह तिथि मूल प्रारूप में न होती क्योंकि इसके कुछ संस्करण हो सकता है तेरहवें वर्ष के शुरू में उत्कीर्ण कराये जा सके हों। दूसरी बात यह ध्यान में रखने की है कि अशोक ने अपने लेखों में जो वर्ष संख्याएँ दी हैं वे सम्भवतः प्रचलित वर्षों की हैं, व्यतीत वर्षों की नहीं। उदाहरण के लिए जब वह कहता है कि उसने आठवें वर्ष में कलिंग को जीता था तो वहाँ अर्थ होगा कि कलिंग युद्ध लड़े जाने के समय उसे शासन करते हुए ७ वर्ष व्यतीत हो गए थे और आठवाँ वर्ष चल रहा था। लेकिन सरकार जैसे कुछ विद्वान् अशोक द्वारा उल्लिखित संख्याओं को प्रचलित नहीं व्यतीत वर्षों की संख्याएँ ही मानते हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अशोक के अभिलेखों का सापेक्ष तिथिक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है :

(१) **ग्यारहवाँ वर्ष : लघु शिलालेख**—अशोक ने अपने ल० शि० ले० के विभिन्न संस्करण बौद्ध उपासक बनने के "ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय उपरान्त" उत्कीर्ण कराये थे। अब, जैसा कि निश्चित-सा है उसने बौद्ध धर्म को प्रधानतः कलिंग युद्ध की भीषणता से अनुतप्त होकर (सो अस्ति अनुसोचनं देवनप्रियस विजिनिति कलिगनि—१३ वाँ शि० ले०, शहबाज० संस्करण) स्वीकृत किया था (अधुना लधष कलिग्येषु तिवे धम्मवाये धम्मकामता धम्मानुषाथि चा—१३ वाँ शि० ले०, कालसी)। परन्तु कलिंग युद्ध की समाप्ति और बौद्ध धर्म के प्रति उसकी उन्मुखता पूर्ण होने में कुछ समय अवश्य लगा होगा। परम्परानुसार उसने अनेक सम्प्रदायों में रुचि लेने के बाद और उनसे सन्तोष न पाने पर बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। इसीलिए हमारा अनुमान है कि अशोक ने बौद्ध उपासकत्व अपने शासन के आठवें वर्ष के अन्त में किसी समय स्वीकार किया होगा। अतः अपना ल० शि० ले० उसने आठ वर्ष + 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक' समय बाद अर्थात् ११ वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में जारी किया गया होगा। इस गणना का समर्थन परोक्षतः एक अन्य तथ्य से होता है। अपने ल० शि० ले० में वह बताता है कि 'ढाई वर्ष से अधिक' के प्रथम वर्ष में उसने कम पराक्रम किया और अन्तिम 'डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक समय में' तीव्र पराक्रम। हमारी गणनानुसार उसके तीव्र पराक्रम का समय उसके शासन के ८ + १=९ वें वर्ष के अन्त में या १० वें वर्ष के शुरू में प्रारम्भ हुआ होगा। उसके बाद उसके तीव्र पराक्रम वाले 'डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक' समय को भी हम दो भागों में बाँट सकते हैं : २५६ दिन

अर्थात् करीब साढ़े आठ माह जो उसने दौरे पर यानी धर्मयात्रा में बिताये और उसके पूर्व व्यतीत होने वाला करीब एक वर्ष । यह पूर्वगामी एक वर्ष उसने तीव्र पराक्रम दिखाते हुए अपनी राजधानी में बिताया होगा। इससे स्पष्ट है कि उसने अपनी धर्मयात्रा दसवें वर्ष के अन्त में सम्भवतः बुद्ध के अवशेषों पर स्तूप बनवाकर (अहरौरा-लेख) प्रारम्भ की। यह बात परोक्षतः अष्टम शि० लें० से प्रमाणित है जिसमें कहा गया है कि उसने दसवें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की जिससे धर्म यात्राओं की प्रथा प्रारम्भ हुई (दस वर्साभिसितो संतो अयाय संबोधि तेनेमा धंम याता—गिरनार०)। सम्भवतः इसी दौरे के २५६ वें पड़ाव में अर्थात् करीब साढ़े आठ माह पश्चात् (अहरौरा-लेख) ११ वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में किसी समय उसने ल० शि० लें० जारी किया गया। जो विद्वान अशोक के उपासकत्व को करीब चार वर्ष का मानते हैं वे ल० शि० लें० की तिथि को डेढ़ वर्ष आगे खिसकाने के लिए और इन्हें उसके बारहवें वर्ष के गुहालेखों से बाद का मानने के लिए बाध्य हैं। बरुआ (पूर्वो०, १४-१६) ल० शि० लें० की तिथि को न केवल गुहालेखों के उपरान्त रखते हैं वरन् अन्य तर्कों का, जो हमें युक्तियुक्त नहीं लगते, सहारा लेकर ल० शि० लें० को अशोक के शासन के २६ वें—२७ वें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया मानते हैं। हमारे विचार से यह असम्भव है।

(२) बारहवाँ वर्ष : प्रथम दो गुहालेख तथा प्रथम चार मुख्य शि० लें०— अशोक ने अपने शासन के बारहवें वर्ष में (दुआडसवसाभिसितेना) आजीवकों को गुफाएँ दान दीं व धम्मलिपियाँ अर्थात् मुख्य शिलालेख लिखवाने शुरू किए। बारहवें वर्ष में प्रथम चार शिलालेख लिखवाए गए क्योंकि (१) वह तृतीय शि० लें० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) तथा चतुर्थ शि० लें० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) को स्पष्टतः बारहवें वर्ष में लिखित बताता है तथा (२) अपने छठें स्त० लें० में जो २६ वें वर्ष लिखवाया गया था, कहलाता है कि उसने लोक के हितसुख के लिए धंम-लिपियों को बारहवें वर्ष में लिखवाना शुरू किया (दुआडसवसअभिसितेन मे धंम-लिपि लिखापिता लोकसा हितसुखाये—देहली-टोपरा)। इन दोनों साक्ष्य से प्रमाणित है कि अशोक ने मुख्य शि० लें० को लिखवाने का कार्य १२ वें वर्ष में प्रथम चार शि० लें० लिखवाकर शुरू किया। इन तथ्यों के प्रकाश में नी० क० शास्त्री का यह कथन कि अशोक के शि० लें० करीब १४ वें वर्ष में लिखवाये गए थे (एज आव दि नन्दज़ एण्ड मौर्यज़, पृ० २०५) स्वतः गलत प्रमाणित हो जाता है।

राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' (पृ० १५ में अशोक सभी चौदहों शिलालेखों की तिथि १२ वाँ वर्ष बताई हैं। परन्तु यह स्पष्टतः गलत है क्योंकि ५ वें शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने १३ वें वर्ष में धर्ममहामात्र नियुक्त किए थे (मया त्रैदसवासाभिसितेन धंममहामाता कता)। इससे स्पष्ट है ५ वें से १४ वें शि० लें० को उसके शासन के १३ वें वर्ष में या उसके बाद कभी लिख-वाया गया होगा बारहवें वर्ष में नहीं।

की। हमें इनमें प्रथम विकल्प सही लगता है। **प्रमाण** : अशोक ने अपने ल० शि० ले० में बताया है कि यह श्रावण उसने तब किया जब उसे उपासक बने 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय' बीत गया था और दौरे पर निकले हुए २५६ दिन बीत चुके थे। ये तिथियाँ बदल दी जातीं अगर उत्कीर्ण करने वाले पदाधिकारी उत्कीर्ण किए जाने के समय की तिथियाँ देते क्योंकि मैसूर से लेकर दिल्ली तक विस्तृत भूखण्ड के विभिन्न स्थलों में यह लेख एक साथ नहीं स्पष्टतः कुछ दिनों के अन्तर से विविध समय पर उत्कीर्ण कराया जा सका होगा। इसी तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि तृतीय और चतुर्थ मुख्य शिलालेखों में बारहवें वर्ष का उल्लेख सब संस्करणों में न होता अगर यह तिथि मूल प्रारूप में न होती क्योंकि इसके कुछ संस्करण हो सकता है तेरहवें वर्ष के शुरू में उत्कीर्ण कराये जा सके हों। दूसरी बात यह ध्यान में रखने की है कि अशोक ने अपने लेखों में जो वर्ष संख्याएँ दी हैं वे सम्भवतः प्रचलित वर्षों की हैं, व्यतीत वर्षों की नहीं। उदाहरण के लिए जब वह कहता है कि उसने आठवें वर्ष में कलिंग को जीता था तो वहाँ अर्थ होगा कि कलिंग युद्ध लड़े जाने के समय उसे शासन करते हुए ७ वर्ष व्यतीत हो गए थे और आठवाँ वर्ष चल रहा था। लेकिन सरकार जैसे कुछ विद्वान् अशोक द्वारा उल्लिखित संख्याओं को प्रचलित नहीं व्यतीत वर्षों की संख्याएँ ही मानते हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अशोक के अभिलेखों का सापेक्ष तिथिक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है :

(१) **ग्यारहवाँ वर्ष : लघु शिलालेख**—अशोक ने अपने ल० शि० ले० के विभिन्न संस्करण बौद्ध उपासक बनने के "ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय उपरान्त" उत्कीर्ण कराये थे। अब, जैसा कि निश्चित-सा है उसने बौद्ध धर्म को प्रधानतः कलिंग युद्ध की भीषणता से अनुतप्त होकर (सो अस्ति अनुसोचनं देवनप्रियस विजिनिति कलिगनि—१३ वाँ शि० ले०, शहबाज० संस्करण) स्वीकृत किया था (अधुना लधष कलिग्येषु तिवे धम्मवाये धम्मकामता धम्मानुषाथि चा—१३ वाँ शि० ले०, कालसी)। परन्तु कलिंग युद्ध की समाप्ति और बौद्ध धर्म के प्रति उसकी उन्मुखता पूर्ण होने में कुछ समय अवश्य लगा होगा। परम्परानुसार उसने अनेक सम्प्रदायों में रुचि लेने के बाद और उनसे सन्तोष न पाने पर बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। इसीलिए हमारा अनुमान है कि अशोक ने बौद्ध उपासकत्व अपने शासन के आठवें वर्ष के अन्त में किसी समय स्वीकार किया होगा। अतः अपना ल० शि० ले० उसने आठ वर्ष + 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक' समय बाद अर्थात् ११ वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में जारी किया गया होगा। इस गणना का समर्थन परोक्षतः एक अन्य तथ्य से होता है। अपने ल० शि० ले० में वह बताता है कि 'ढाई वर्ष से अधिक' के प्रथम वर्ष में उसने कम पराक्रम किया और अन्तिम 'डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक समय में' तीव्र पराक्रम। हमारी गणनानुसार उसके तीव्र पराक्रम का समय उसके शासन के ८ + १=९ वें वर्ष के अन्त में या १० वें वर्ष के शुरू में प्रारम्भ हुआ होगा। उसके बाद उसके तीव्र पराक्रम वाले 'डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक' समय को भी हम दो भागों में बाँट सकते हैं : २५६ दिन

अर्थात् करीब साढ़े आठ माह जो उसने दौरे पर यानी धर्मयात्रा में बिताये और उसके पूर्व व्यतीत होने वाला करीब एक वर्ष। यह पूर्वगामी एक वर्ष उसने तीव्र पराक्रम दिखाते हुए अपनी राजधानी में बिताया होगा। इससे स्पष्ट है कि उसने अपनी धर्मयात्रा दसवें वर्ष के अन्त में सम्भवतः बुद्ध के अवशेषों पर स्तूप बनवाकर (अहरौरा-लेख) प्रारम्भ की। यह बात परोक्षतः अष्टम शि० ले० से प्रमाणित है जिसमें कहा गया है कि उसने दसवें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की जिससे धर्म यात्राओं की प्रथा प्रारम्भ हुई (दस वर्साभिसितो संतो अयाय संबोधि तेनेसा धंम याता—गिरनार०)। सम्भवतः इसी दौरे के २५६ वें पड़ाव में अर्थात् करीब साढ़े आठ माह पश्चात् (अहरौरा-लेख) ११ वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में किसी समय उसने ल० शि० ले० जारी किया गया। जो विद्वान अशोक के उपासकत्व को करीब चार वर्ष का मानते हैं वे ल० शि० ले० की तिथि को डेढ़ वर्ष आगे खिसकाने के लिए और इन्हें उसके बारहवें वर्ष के गुहालेखों से बाद का मानने के लिए बाध्य हैं। बरुआ (पूर्वो०, १४-१६) ल० शि० ले० की तिथि को न केवल गुहालेखों के उपरान्त रखते हैं वरन् अन्य तर्कों का, जो हमें युक्तियुक्त नहीं लगते, सहारा लेकर ल० शि० ले० को अशोक के शासन के २६ वें—२७ वें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया मानते हैं। हमारे विचार से यह असम्भव है।

(२) बारहवाँ वर्ष : प्रथम दो गुहालेख तथा प्रथम चार मुख्य शि० ले०—अशोक ने अपने शासन के बारहवें वर्ष में (दुआडसवसाभिसितेना) आजीवकों को गुफाएँ दान दीं व धम्मलिपियाँ अर्थात् मुख्य शिलालेख लिखवाने शुरू किए। बारहवें वर्ष में प्रथम चार शिलालेख लिखवाए गए क्योंकि (१) वह तृतीय शि० ले० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) तथा चतुर्थ शि० ले० (द्वादस वसाभिसितेन—गिरनार०) को स्पष्टतः बारहवें वर्ष में लिखित बताता है तथा (२) अपने छठें स्त० ले० में जो २६ वें वर्ष लिखवाया गया था, कहलाता है कि उसने लोक के हितसुख के लिए धंम-लिपियों को बारहवें वर्ष में लिखवाना शुरू किया (दुआडसवसअभिसितेन मे धंम-लिपि लिखापिता लोकसा हितसुखाये—देहली-टोपरा)। इन दोनों साक्ष्य से प्रमाणित है कि अशोक ने मुख्य शि० ले० को लिखवाने का कार्य १२ वें वर्ष में प्रथम चार शि० ले० लिखवाकर शुरू किया। इन तथ्यों के प्रकाश में नी० क० शास्त्री का यह कथन कि अशोक के शि० ले० करीब १४ वें वर्ष में लिखवाये गए थे (एज आव दि नन्दज एण्ड मौर्यज़, पृ० २०५) स्वतः गलत प्रमाणित हो जाता है।

राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' (पृ० १५ में अशोक सभी चौदहों शिलालेखों की तिथि १२ वाँ वर्ष बताई हैं। परन्तु यह स्पष्टतः गलत है क्योंकि ५ वें शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने १३ वें वर्ष में धर्ममहामात्र नियुक्त किए थे (मया त्रैदसवासाभिसितेन धंममहामाता कता)। इससे स्पष्ट है ५ वें से १४ वें शि० ले० को उसके शासन के १३ वें वर्ष में या उसके बाद कभी लिखवाया गया होगा बारहवें वर्ष में नहीं।

(३) **उन्नीसवाँ वर्ष : तृतीय गुहालेख** (एकुनवीसति वसाभिसितेना) ।

(४) **बीसवाँ वर्ष : रुम्मिनदेई व निगालीसागर ल० स्त० ले०** ।

(५) **छब्बीसवाँ वर्ष : प्रथम छः मुख्य स्त० ले०** । इनमें १ले, ४थे, ५वें तथा ६ठें स्त० ले० में २६ वें वर्ष (सडुविसतिवस अभिसितेन) का स्पष्ट उल्लेख है । पता नहीं वरुआ (अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, भाग २, पृ० ११) ने केवल प्रथम चार स्त० ले० को ही २६ वें वर्ष में लिखवाया गया माना है ।

(६) **सत्ताईसवाँ वर्ष : सप्तम स्त० ले०** (सतविसति वर्षाभिसितेन) । पाण्डेय (अशोक के अभिलेख, पृ० १५) का यह कथन स्पष्टतः गलत है कि अशोक के सभी मुख्य स्त० ले० २६ वें वर्ष में लिखवाये गए थे ।

अशोक के शेष अभिलेखों की तिथियाँ उनके अन्तःसाक्ष्य की सहायता से ही निर्धारित की जा सकती हैं । उसके ५ वें से १४ वें शि० ले० की तिथि १३ वें वर्ष में या उसके वाद पड़ेगी । संभवतः उन्हीं के साथ कलिंग के दो पृथक् शि० ले० लिखवाए गए होंगे । रा० व० पाण्डेय ने कलिंग के पृथक् शि० ले० की तिथि १४वाँ-१५वाँ वर्ष मानी है परन्तु इस मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है । वरुआ ने इन्हें २७वें वर्ष के वाद रखा है, परन्तु उनके तर्क भी सन्तोषप्रद नहीं हैं । इसी प्रकार पाण्डेय ने अपने इस सुझाव के समर्थन में कि अशोक के सभी ल० स्त० ले० (निगाली-सागर व रुम्मिनदेई ल० स्त० लेख को छोड़कर) २९वें से ३८वें वर्ष के बीच लिखवाये गए थे, कोई प्रमाण नहीं दिया है । हमारे विचार में इस प्रसंग में यह तथ्य विचार-णीय है कि अशोक के शिलालेखों में कहीं भी स्तम्भ-लेखों की चर्चा नहीं है जबकि स्तम्भ लेख शिला-लेखों से परिचित हैं । इसलिए शिलालेखों की तिथियाँ स्तम्भ-लेखों के पूर्व पड़नी चाहिए । जिन अभिलेखों की तिथियाँ निश्चित हैं उनसे भी यही वात प्रमाणित होती है (दे०, ऊपर) ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—अशोक के अभिलेखों का अध्ययन पिछली करीब डेढ़ शती से हो रहा है । इसलिए इसके ऊपर एक विशाल साहित्य तैयार हो चुका है । उसके अभिलेखों के अनेक संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, प्रत्येक अभिलेख पर लिखित शोध-निवन्धों की तो वात अलग रही । वहुत से ग्रन्थों में जो उसके शासन के इतिहास पर लिखे गये हैं, उसके अभिलेखों के पाठ व अनुवाद दिए गए हैं और उनके अन्दर उनसे सम्वन्धित समस्याओं का विस्तृत अध्ययन भी किया है । इस समस्त साहित्य का यहाँ परिचय देना तो दूर उसे सूचीबद्ध करना भी शक्य नहीं है । लेकिन डा० राजवली पाण्डेय ने अपने वृहदाकार ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' में इस साहित्य की एक पर्याप्त विस्तृत सूची दे दी है (पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, पृ० २६२-७०) । अतः हम यहाँ अशोक के अभिलेखों पर प्रकाशित मात्र प्रमुख ग्रन्थों को उल्लिखित किए दे रहे हैं । इस विषय पर पठनीय-सामग्री की अधिक विस्तृत सूची के लिए पाठक वृन्द पाण्डेय के ग्रन्थ की 'सन्दर्भ-सूची' का उपयोग

कर सकते हैं। जो शोध-लेख पाण्डेय के ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त लिखे गए (जैसे कुछ निबन्ध अहरौरा ल० शि० ले० पर एवं नई दिल्ली ल० शि० ले० पर, जो पाण्डेय के ग्रन्थ के छपने के उपरान्त प्रकाश में आया) उनको हमने ऊपर उन अभिलेखों के प्राप्ति-स्थलों का वर्णन करते समय सूचीबद्ध कर दिया है अथवा उन अभिलेखों की टिप्पणियों में उनका उल्लेख कर दिया है।

हूल्त्ज़, कापर्स १; बरुआ, बी० एन०, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, भाग २; अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स् ; सेन, ए० सी०, अशोकज़ एडिक्ट्स् ; सरकार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक ; स० इ०, पृ० १४ अ०; ग्रियर्सन, दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव प्रियदर्सी; बसाक, आर० जी०, अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स् ; भाण्डारकर, डी० आर०, अशोक ; थापर, रोमिला, अशोक एण्ड दि डेक्लाइन आव दि मौर्यज ; स्मिथ, वी० ए०, अशोक ; दि एडिक्ट्स् ऑव अशोक; भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्म लेख; भट्टाचार्य, जीवानन्द, सेलेक्ट अशोकन एपिग्राफ्स् ; मैक्फेल, जे० एम०, अशोक ; मुखर्जी आर० के०, अशोक ; राइस, एडिक्ट्स् ऑव अशोक इन माइसोर; शर्मा, रामावतार, प्रियदर्शी प्रशस्तयः आर पियदसि इन्स्क्रिप्शन्स् ; सेना, दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव पियदसि, १, १८८१; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ० पृ० १ अ०; अशोक के अभिलेख (अन्य सन्दर्भों के लिए)।

पूर्वपीठिका (आ)

ब्राह्मी लिपि : प्रारम्भिक मौर्य युग का आविष्कार

भारतीय लिपियों के सभी इतिहास विशेषज्ञों के अनुसार भारत में लेखन-कला अशोक के पूर्व भी ज्ञात थी। जहाँ तक अशोक द्वारा प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध है, इसका विकास अधिकांश भारतीय व कुछ विदेशी विद्वानों (टॉमस, डाउसन, कनिंघम, भाण्डारकर, ओझा, पाण्डेय, लैंग्डन, हण्टर, एस० के० चटर्जी, ए० सी० दास, जायसवाल, शामाशास्त्री जयचन्द्रविद्यालंकार, वी० एस० पाठक आदि) के अनुसार वैदिक काल में प्रारम्भ हो गया था परन्तु कुछ भारतीय एवं अधिकांश विदेशी विद्वानों के अनुसार (हेलेवी, मैक्समूलर, वर्नेल, प्रिन्सेप, सेना, विल्सन, डिरिञ्जर, व्युलर, टाइलर, डीके, टेलर, सेथे, वैशम, उपासक, टी० पी० वर्मा) इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में किसी समय भारतीयों को पाश्चात्य लिपियों का ज्ञान होने के उपरान्त हुई। प्रथम मत के अधिकांश प्रतिपादकों के अनुसार ब्राह्मी लिपि सैन्धव लिपि से व्युत्पन्न है और दूसरे मत के अनुसार यूनानी, एरेमाइक या किसी अन्य विदेशी लिपि से। इन विभिन्न मतों का विवेचन आजकल इस विषय पर प्राप्त सभी पुस्तकों में मिलता है ; उन सबको यहाँ दोहराना अनावश्यक है (सन्दर्भों के लिए दे०, पाण्डेय, राजवली, इण्डियन पेलियोग्रेफी ; अशोक के अभिलेख ; गोयल, श्रीराम, "ब्राह्मी लिपि : एन इन्वेन्शन ऑव दि अर्ली मौर्य पीरियड")। लेकिन प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का मत है कि पश्चिमोत्तर प्रदेशों (स्थूलतः आधुनिक पाकिस्तान व अफगानिस्तान) को छोड़कर (जहाँ के निवासी पश्चिमी एशिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने एवं ईरान के साखामनीषी सम्राटों के अधीन रहने के कारण यूनानी, एरेमाइक, एरेमाइक से व्युत्पन्न खरोष्ठी एवं अन्य लिपियों से प्राक्-अशोक युग में भी परिचित थे) शेष भारत के लोग प्रारम्भिक मौर्य गुप्त तक निरक्षर अर्थात् लिपिविहीन थे और ब्राह्मी लिपि का आविष्कार सम्भवतः स्वयं अशोक ने कराया था या उसके कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ था। इस विषय में निम्नलिखित तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हैं :—

१. पुरातात्त्विक दृष्टि से अशोक के अभिलेख भारत के ऐतिहासिक युग के प्राचीनतम अभिलेख हैं। इस विषय में विशेष बात यह ध्यान देने की है कि सैन्धव सभ्यता के पतन (लग० अट्ठारहवीं शती ई० पू०) और अशोक (तृतीय शती ई० पू०) के मध्य व्यतीत होनेवाले लगभग डेढ़ हजार वर्षों का एक भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है। यह तथ्य उस समय और भी महत्त्वपूर्ण लगने लगता है जब हम देखते हैं कि स्वतन्त्र भारत में वैदिक काल के अनेक स्थलों का काफी विशाल पैमाने पर उत्खनन किया जा चुका है। इतने विशाल देश के इतने लम्बे युग के इतिहास का

कहीं से भी कोई अभिलेख न मिलना एक जबरदस्त तथ्य है जिसकी व्याख्या केवल यह कहकर नहीं की जा सकती कि उस युग के अभिलेख अब तक नष्ट हो चुके हैं। यह कहना कि प्राक्-अशोकीय अभिलेखों की अनुपलब्धि मात्र एक 'मौन साक्ष्य' है (पाण्डेय, पृ० १६) तर्कसंगत नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु के अनस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए केवल 'मौन साक्ष्य' ही प्रस्तुत किया जा सकता है। वास्तव में प्राक्-अशोकीय अभिलेख न मिलने का सीधा-साधा अर्थ यही है कि इस बीच में भारत के लोग लेखन-कला से अपरिचित थे। कम से कम जब तक इसके विरुद्ध कोई बहुत सबल प्रमाण नहीं मिल जाता, इस निष्कर्ष को स्वीकार करना ही अधिक उचित होगा।

२. हमारे प्रथम तर्क का समर्थन यूनानी राजदूत मेगास्थने (=मेगस्थनिज़), जो ३०० ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा में था, करता है। अपने 'भूगोल' नामक ग्रन्थ में स्ट्रेबो ने मेगास्थने को इस प्रकार उद्धृत किया है। 'मेगास्थने कहता है कि जब वह सेण्ड्रोकोट्टोस (=चन्द्रगुप्त मौर्य) के दरबार में था, यद्यपि शिविर की जन-संख्या चालीस हजार थी, उसने किसी दिन भी दो सौ देक्म से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी की रिपोर्ट नहीं सुनी; और वह भी ऐसे लोगों के बीच में जो अलिखित कानूनों का ही प्रयोग करते हैं। क्योंकि, वह आगे कहता है, उनको लेखन-कला का ज्ञान नहीं है और वह सभी बातों को स्मृति की सहायता से नियमित करते हैं....' (मजूमदार क्लासिकल एकाउण्टस ऑव इण्डिया, पृ० २१०)। मेगास्थने का यह कथन अशोक के पूर्व पन्द्रह शतियों तक अभिलेखों की पूर्ण अनुपलब्धि के साथ पूर्णतः संगत है और प्रमाणित करता है कि 'भारत' (पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर) में लेखन-कला का अस्तित्व चन्द्रगुप्त मौर्य के युग तक नहीं था। यहाँ यह स्मरणीय है कि तत्कालीन यूनानी लेखकों की दृष्टि में (एज ऑव नन्दज एण्ड मौर्यज़, पृ० १५२) आधुनिक भारतीय उप-महाद्वीप के अधिकांश पश्चिमोत्तर प्रदेश जो प्राक् अशोक युग में भी लेखन कला से परिचित थे, भारत से पृथक् थे। ब्युलर का (इण्डियन पेलियोग्रेफी, पृ० २०) अनुसरण करते हुए राजबली पाण्डेय (पूर्वो०, पृ० ६-७) मेगास्थने के उपर्युक्त उद्धरण में 'स्मृति' शब्द को 'स्मृति' नामक रचनाओं के अर्थ में लेते हैं। परन्तु यह अर्थ मानने पर भी मेगास्थने के इस कथन पर कि भार-तीयों को 'लेखन कला का ज्ञान नहीं है' कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि स्मृति ग्रन्थ तो प्रारम्भ में स्वयं मात्र स्मरण रखे जाते थे जैसा कि उनके लिए प्रयुक्त 'स्मृति' शब्द से ही स्पष्ट है।

३. अब यह बात सब विद्वान् मानने लगे हैं कि अशोक के द्वारा प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि में प्रादेशिक भेद नहीं हैं। यह सही है कि उसके अभिलेखों में एक ही अक्षर के कई-कई रूप मिलते हैं (जिनकी ब्युलर आदि ने 'प्रादेशिक अन्तर' मान लिया था) परन्तु अब जैसा कि उपासक (हिस्टरी एण्ड पेलियोग्रेफी ऑव मौर्य ब्राह्मी

स्क्रिप्ट, पृ० २२ अ०) ने प्रदर्शित किया है अशोक के एक ही प्रदेश के अभिलेखों में, इतना ही नहीं एक ही अभिलेख में, विभिन्न अक्षरों के कई-कई रूप मिलते हैं और एक ही रूप अनेक प्रदेशों में मिलता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये भेद अशोकीय ब्राह्मी के प्रादेशिक भेद नहीं वरन् व्यक्तिगत लिपिकारों की लिखावट के भेद हैं। इसीलिए अहमदहसन दानी (इण्डियन पेलियोग्रेफी, पृ० १५०) ने माना है कि अशोक ने ब्राह्मी के 'साम्राज्यिक' रूप को ही सर्वत्र प्रयुक्त किया। लेकिन इसका तात्पर्य यह हुआ कि अशोक के द्वारा लोकप्रिय बनाये जाने के समय ब्राह्मी भारत के अधिक-से-अधिक एक प्रदेश तक सीमित रही होगी—अन्य प्रदेश लिपिविहीन रहे होंगे। अगर अन्य प्रदेश भी ब्राह्मी लिपि से पहिले ही परिचित होते तो बाद में वहाँ (कम से कम दो चार प्रदेशों में तो अवश्य ही) ब्राह्मी के उस रूप का विकास न होता जिसे वहाँ अशोक ने प्रयुक्त किया वरन् उस प्रदेश के प्राचीनतर स्थानीय रूप का विकास हुआ होता।

४. ब्राह्मी लिपी के अध्येता जानते हैं कि हम ज्यों-ज्यों अशोक के समय से आगे बढ़ते हैं ब्राह्मी का रूप बदलता जाता है और स्थानीय भेद उत्पन्न होने लगते हैं जो शनैः शनैः बढ़कर आधुनिक लिपियों का रूप ले लेते हैं। इस बात को उल्टा करके कहें तो ज्यों-ज्यों हम पिछले युगों में जाते हैं ब्राह्मी के प्रादेशिक भेद कम होते जाते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए जब हम अशोक के युग में पहुँचते हैं तो लगता है कि अब हम और पीछे नहीं जा सकते क्योंकि अब वह अवस्था आ गई है जब ब्राह्मी का रूप भारत में सर्वत्र समान है। इसके अतिरिक्त हम पाते हैं कि अशोकीय ब्राह्मी की अभी 'प्रयोगात्मक' अवस्था चल रही है और इसकी वर्तनी अभी संस्कृत क्या प्राकृत के लिए भी पूर्णतः उपयुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ, वहुत से संयुक्त व्यञ्जन बड़े बेढंगे रूप में लिखे जाते हैं और ऐसे शब्दों में जिनमें एक ही व्यञ्जन एक साथ दो बार प्रयुक्त होता है, उस व्यञ्जन को एक ही बार लिखा जाता है। यथा (वस्स के स्थान पर 'वास' या 'वस')। कभी-कभी अक्षरों का उल्टा रूप भी मिलता है (जैसे धौली पृ० शि० ले० में उल्टा 'ओ' तथा धौली पृ० शि० ले०, जौगड़ पृ० शि० ले०, देहली-टोपरा स्त० ले० आदि में कहीं-कहीं उल्टा 'ध')। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि अशोक का युग ब्राह्मी की उत्पत्ति एवं प्रयोगात्मक अवस्था का युग था।

५. ब्राह्मी लिपि और संस्कृत व्याकरण तथा ध्वनिशास्त्र के सम्बन्ध का विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि यह लिपि धीरे-धीरे विकसित नहीं हुई, आविष्कृत हुई थी। जैसा कि टेलर, ब्युलर, पाण्डेय, उपासक आदि ने माना है ब्राह्मी लिपि के आविष्कारक संस्कृत व्याकरण और ध्वनिशास्त्र के नियमों से पूर्णतः परिचित थे। लेकिन ये विद्वान् इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकालने में संकोच कर गए हैं कि ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का रूप अगर संस्कृत व्याकरण और ध्वनिशास्त्र

के नियमों के अनुसार है तो इस लिपि का किसी एक समय आविष्कार हुआ होगा, यह धीरे-धीरे विकसित नहीं हुई होगी। उदाहरणार्थ (१) ब्राह्मी 'अ' की मात्रा नहीं होती क्योंकि व्याकरण में 'अ' को प्रत्येक व्यञ्जन में अन्तर्भूत माना गया है। (२) ब्राह्मी लिपि में पाँच वर्गों के पाँच आनुनासिकों का एवं दीर्घ स्वरों का पूरा 'सेट' होता है। इनकी आवश्यकता केवल व्याकरण व ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से थी। (३) ब्राह्मी में 'स', 'श' तथा 'ष' के लिए पृथक् चिह्न होते हैं जिनकी आवश्यकता केवल व्याकरण की दृष्टि से थी। (४) ब्राह्मी में तीन ह्रस्व स्वर-चिह्नों—'अ', 'इ' तथा 'उ'—से शेष सभी स्वर-चिह्न व्याकरण के गुण एवं वृद्धि नियमानुसार बनाए गए हैं। यथा अ + अ = आ ('अ' में एक मात्रा जोड़ दी गयी है); इ + इ = ई (ब्राह्मी 'ई' का चिह्न 'इ' के तीन बिन्दुओं में एक अतिरिक्त बिन्दु जोड़कर बनाया गया है); इसी प्रकार उ + उ = ऊ ('उ' में एक मात्रा जोड़ दी गई है। अ + इ = ए ('अ' की रेखाएँ 'इ' के बिन्दुओं में जोड़ दी गई हैं); अ + उ = ओ ('अ' की मात्रा 'उ' में उल्टी तरफ लगाई गई है क्योंकि सीधी तरफ लगाने पर 'ङ' का चिह्न बन जाता है); ओ + अ = औ ('ओ' में 'अ' की मात्रा जोड़ दी गई है) आदि। (५) ब्राह्मी की मात्राएँ स्वर-चिह्नों का सरलीकृत रूप हैं। (६) ब्राह्मी की वर्णमाला में वर्णों को व्याकरण के नियमानुसार वर्गों में बाँटा गया है, विसर्ग का प्रयोग होता है, अनुस्वार के लिए पृथक् चिह्न हैं और उच्चारित होने वाली प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक् चिह्न होता है। ये बातें उन लिपियों में नहीं मिलतीं जो धीरे-धीरे विकसित हुईं। (७) ब्राह्मी की वर्णमाला में प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय अक्षर के लिए तथा कुछ अन्य व्यञ्जनों के लिए (य, र, ल, व, श, स, ह) मूल चिह्न प्रयुक्त किए गए हैं और शेष व्यञ्जन चिह्न अधिकांशत: उन मूल चिह्नों की सहायता से बनाए गए हैं। उदाहरणार्थ, 'ख' का चिह्न 'ग' से विकसित हुआ है, 'छ' का 'च' को दोहरा कर बनाया गया है, 'ट' से 'ठ' 'ढ' तथा 'थ' बने हैं, तथा 'फ' को 'प' से बनाया गया है। कुछ चिह्न अन्य चिह्नों का उल्टा रूप मात्र है यथा 'ल' और 'ह'। इन तथ्यों से प्रमाणित है कि जहाँ तक ब्राह्मी का सम्बन्ध है यह कहना गलत होगा कि संस्कृत व्याकरण का विकास ब्राह्मी का अस्तित्व प्रमाणित करता है; बात बिल्कुल उल्टी है—ब्राह्मी लिपि संस्कृत व्याकरण के विकसित होने के बाद अस्तित्व में आई। दूसरे, दीर्घ स्वरों के चिह्न ह्रस्व स्वरों पर आधारित होने से एवं अनेक उदाहरणों में प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय व्यञ्जनों से अन्य व्यञ्जन चिह्न बनने से स्पष्ट है कि ब्राह्मी की वर्णमाला के चिह्न धीरे-धीरे विकसित नहीं हुए, किसी एक समय किसी विद्वान् या विद्वत्मण्डल द्वारा निर्धारित किए गए थे। यह निष्कर्ष इस सर्व स्वीकृत धारणा के लिए घातक है कि ब्राह्मी लिपि अशोक के पूर्व कई शताब्दियों से विकसित हो रही थी। अगर ब्राह्मी लिपि धीरे-धीरे विकसित होती तो उसके सभी अक्षर चिह्न एक दूसरे से असम्बन्धित होते।

६. ब्राह्मी का आविष्कार करने वालों ने इस लिपि के चिह्न किस प्रकार

में इनका प्रभाव क्षेत्र उत्तर में और अधिक दूर तक विस्तृत रहा होगा। स्पष्ट है कि उस समय इन प्रदेशों के सामान्यजन आर्य भाषाओं से उससे कहीं अधिक अपरिचित रहे होंगे जितने तमिलनाडु व केरल आदि के लोग आजकल हैं। लेकिन इस तथ्य के बावजूद भी अशोक ने अगर अपने समस्त साम्राज्य में (सुदूर उत्तर पश्चिम के यूनानी और ईरानी भाषा भाषी प्रदेशों को छोड़कर) एक ही भाषा का प्रयोग किया है तो मानना पड़ेगा कि उसने अपने लेख सामान्य जनता के लिए नहीं लिखवाए थे। ये स्पष्टत: उन लोगों के लिए थे जिन्हें साम्राज्यिक भाषा—मागधी प्राकृत—सिखाई जा रही थी। अपने कई अभिलेखों में वह स्पष्ट रूप से कहता है कि वे नगर व्यावहारिकों (प्रथम पृथक् शि० ले०, धौली तथा जौगड़) कुमारों और महामात्रों (द्वितीय पृथक् शि० ले० धौली) एवं राजपुरुषों (७ वां स्त० ले०) के लिए लिखवाए गए थे। इतना ही नहीं वह इस बात की भी बराबर आशा प्रकट करता है कि उसके अधिकारी उसके सन्देश को आम जनता तक मौलिक रूप से पहुँचाएंगे। स्पष्ट है कि वह यह आशा नहीं करता था कि सामान्य जनता उसके लेख पढ़ सकेगी। इन तथ्यों के प्रकाश में हमारा यह सुझाव कि उसने अपने पदाधिकारियों को ब्राह्मी का ज्ञान कराया और अपने अभिलेख उन्हीं के पढ़ने के लिए लिखवाए थे, सत्य से अतिदूर नहीं होना चाहिए।

११. प्राक्-अशोकीय भारत में लेखन-कला के प्रचार को प्रमाणित करने के लिए साहित्यिक साक्ष्य को उद्धृत किया जाता है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बौद्ध त्रिपिटक है। अब, इसमें शंका नहीं की जा सकती कि प्रारम्भिक बौद्ध त्रिपिटक में, जिसका अधिकांश प्राक्-अशोकीय युग की रचना माना जाता है, 'अक्खरिका' नामक खे (जिसमें एक व्यक्ति दूसरे की पीठ पर या हाथ को आकाश की ओर उठाकर अँगुली से कुछ लिखता था और दूसरा उन अक्षरों को पहिचानने की चेष्टा करता था), व्यक्तिगत और राजकीय पत्रों, लिखित सरकारी घोषणाओं, ऋणपत्रों, पत्रकों, पोत्थकों, लेखनी तथा लेखन आदि का उल्लेख हुआ है। लेकिन हम जानते हैं कि इस साहित्य की रचना और संशोधन और परिवर्द्धन की प्रक्रिया स्वयं अशोक के काल में भी जारी थी तथा उसके बाद भी यह बराबर रचा जाता और संशोधित होता रहा। स्वयं बौद्धों के अनुसार त्रिपिटक को लिखित रूप सर्वप्रथम लंका में वट्टगामिणी नामक नरेश के शासन काल में २९ ई० पू० में दिया गया था। अत: यह कहना असम्भव है कि त्रिपिटक के वे अंश जिनमें लेख-कला का उल्लेख है प्राक्-अशोकीय ही हैं—वे अशोकोत्तरयुगीन भी हो सकते हैं।

१२. स्वयं पालि त्रिपिटक में इस बात के स्पष्ट और सबल संकेत उपलब्ध हैं कि अशोक के पूर्व का भारत लेखन-कला से अपरिचित था। एक, 'विनय पिटक' के अनुसार प्रथम बौद्ध संगीति परिनिर्वाण के तत्काल बाद तथागत के धम्म व विनय से सम्बन्धित उपदेशों को संगायन या मौखिक रूप से दोहरा कर सुरक्षित करने के लिए बुलाई गई थी। इस संगीति में तत्कालीन युग के उच्चतम वर्गों के सदस्यों ने

भाग लिया था। यह आयोजित ही की गई थी मगध नरेश अजातशत्रु के तत्त्वावधान में। स्पष्टतः तत्कालीन भारत में लेखन-कला ज्ञात होती तो इस संगीति के अधिकांश सदस्य साक्षर होते और वे निश्चित रूप से तथागत के उपदेशों को लिपिबद्ध करने की बात सोचते। यही बात दूसरी संगीति के बारे में कही जा सकती है जो कालाशोक के तत्त्वावधान में प्रथम संगीति के सौ वर्ष उपरान्त अर्थात् चौथी शती ई० पू० के प्रारम्भ में आयोजित की गई। दूसरे, अगर बुद्धकाल में भारत के लोग लिखना जानते होते तो पुस्तकें बौद्ध भिक्षुओं के दैनिक जीवन में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान पातीं। लेकिन विनय के नियमों में, जिनमें भिक्षुओं के लिए आवश्यक छोटी से छोटी वस्तुएँ—उस्तरा, सुई, नहुन्ना आदि तक—गिनाई गई हैं, मसिपात्र, लेखनी, पुस्तकों और पाण्डुलिपियों का उल्लेख कहीं नहीं आता। इनका उल्लेख उन वस्तुओं की सूची में भी नहीं मिलता जो उपासक तो रख सकते पर भिक्षु नहीं। अगर बुद्धकालीन भारतीय जनता पुस्तकों से परिचित होती तो यह बात असम्भव थी। तीसरे, स्वयं त्रिपिटक से स्पष्ट है कि इसके रचयिताओं के मन में किसी सुत्त को लिपिबद्ध करने का विचार तक नहीं आया। यहाँ तक कि सामान्य जनों द्वारा भी किसी सुत्त को लिपिबद्ध करने की सम्भावना उनके मन में नहीं आई। उदाहरणार्थ, एक नियम के अनुसार भिक्षु लोग वर्षावास के समय नगर में नहीं जा सकते परन्तु कोई मरणासन्न उपासक उनके पास अगर यह समाचार भेजता था कि उसे कोई ऐसा सुत्त याद है जो अन्य जनों को ज्ञात नहीं है और इसलिए उसके मरने के साथ उसके विस्मृत हो जाने की आशंका है, तब संघ की ओर से कोई भिक्षु उस सुत्त को सीखने के हेतु नगर में वर्षावास काल में भी भेजा जा सकता था। इसी प्रकार एक नियम के अनुसार अगर किसी विहार में कोई ऐसा भिक्षु नहीं होता था जिसे पातिमोक्ख के नियम याद हों तो संघ की ओर से कोई भिक्षु पड़ोस के किसी विहार में जाकर उन नियमों को याद करके आता था। त्रिपिटक के अन्य कई स्थलों पर इस प्रकार के कथन मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि यह साहित्य, शब्द-सूचियों और कोशों सहित, सम्पूर्णतः कण्ठस्थ ही रखा जाता था। उदाहरणार्थ अंगुत्तर ३·१०७ में कहा गया है कि अगर भिक्षु गण केवल काव्यात्मक और रोचक सुत्तों को याद रखेंगे और गम्भीर अर्थ वाले सुत्तों और शब्द-सूचियों आदि की ओर ध्यान नहीं देंगे तो सद्धर्म की हानि होगी। इसी प्रकार अंगुत्तर २.१४७ में कहा गया है कि जिन भिक्षुओं को बहुत से सुत्त कण्ठस्थ हैं वे अगर उन्हें दूसरों को स्मरण नहीं करा देंगे तो वे सुत्त उनके साथ विलुप्त हो जाएँगे जिससे सद्धर्म को हानि पहुँचेगी। अंगुत्तर ५.१३६ के अनुसार विद्वत्ता का विकास बार-बार दोहराने से होता है। यहाँ भी पुस्तकों का उल्लेख न किया जाना महत्त्वपूर्ण है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि पालि त्रिपिटक की रचना के समय भारतीय समाज लेखन-कला से विहीन था। अब जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पालि त्रिपिटक की रचना परिनिर्वाण (४८३ ई० पू०) से लेकर वट्टगामिणी के शासनकाल (२९ ई० पू०) के बीच में हुई।

अशोक का समय (तीसरी शती ई० पू०), जब भारतीय समाज शिक्षित होने लगा, इन दोनों तिथियों के मध्य पड़ता है। अतः निष्कर्ष अनिवार्य है कि त्रिपिटक के जो अंश समाज के निरक्षर होने का संकेत देते हैं वे प्राक्-अशोकीय युग के हैं और जो अंश लेखन-कला से परिचय प्रकट करते हैं वे अशोकोत्तर युग के। स्पष्टतः समाज के साक्षर हो जाने के बाद ऐसी बातें इस साहित्य में नहीं जोड़ी जा सकती थीं जिनसे लेखन-कला का अनस्तित्व संकेतित होता है।

१३. बहुत से विद्वान् वेदोत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के बहुत से ग्रन्थों को (जैसे पाणिनि की 'अष्टाध्यायी', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तथा गौतम, विष्णु एवं वशिष्ठ के धर्मसूत्र), जो लेखन-कला से परिचित हैं, अशोक के पूर्व लेखन-कला के अस्तित्त्व को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। इनमें पाणिनि (५ वीं शती ई० पू०) पश्चिमोत्तर प्रदेश के शलातूर स्थान के निवासी थे जहाँ उस युग में ईरान के साखामनीषी सम्राटों का प्रभुत्व था। इसलिए वह ईरानी प्रजा रहे होंगे और खरोष्ठी, एरेमाइक एवं ईरानी लिपियों से उनका परिचय रहा होगा। लेकिन उनका लेखन-कला से परिचय यह प्रमाणित नहीं करता कि शेष भारत के लोग भी साक्षर थे—उसी प्रकार जैसे तत्कालीन यूनानियों का साक्षर होना यह प्रमाणित नहीं करता कि उस युग के स्पेनी और फ्रांसीसी भी लिखना जानते थे। जहाँ तक कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का प्रश्न है, बहुत से विद्वान् (जैसे बरुआ, रायचौधुरी, जौली, कीथ, टी० बरो, भाण्डारकर आदि) इसे मौर्योत्तर युगीन रचना मानते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इसे स्थूलतः उस युग की रचना मानता है जब वात्स्यायन ने अपना 'कामसूत्र' लिखा—अर्थात् लग० ३०० ई० के कुछ पहिले या बाद की (दे०, जिज्ञासा, जयपुर, वर्ष १, में प्रकाशित मेरा लेख 'द रिडिल ऑव चाणक्य एण्ड कौटिल्य, पृ० ३२, अ०)। जहाँ तक धर्मसूत्रों का प्रश्न है इनकी तिथियाँ तो सर्वथा अनिश्चित हैं। अधिकांश विद्वान् इनकी रचना ईसवी सन् के कुछ ही पूर्व समाप्त हुई मानते हैं।

१४. जहाँ तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है यह बात सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि वैदिक ग्रन्थों में लेखन-कला का उल्लेख प्रत्यक्षतः कहीं भी नहीं हुआ है। जो विद्वान् वैदिक भारत में लेखन-कला का प्रचलन मानते हैं वे भी केवल यही तर्क देते हैं कि वैदिक साहित्य में विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग, बड़ी-बड़ी संख्याओं के उल्लेख तथा ऐसे ही अन्य तथ्यों से यह संकेत मिलता है कि वैदिक आर्य लिखना जानते थे। परन्तु इन परोक्ष प्रमाणों से इतना महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा विशेषतः जब हम जानते हैं कि वैदिक काल में और उसके बाद भी आर्यों की शिक्षा-प्रणाली प्रकृत्या मौखिक और गुरु-शिष्य परम्परा पर निर्भर थी। दूसरे, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है स्वतन्त्र भारत में वैदिकयुगीन स्थलों का काफी उत्खनन हुआ है परन्तु कहीं से भी कोई अभिलेख क्या मिट्टी का ऐसा ठीकरा तक नहीं मिला है जिस पर कोई अक्षर खुदा हो। तीसरे, बौद्ध साहित्य से प्रमाणित

है कि बुद्ध के युग में भी विद्या का आदान-प्रदान मौखिक रूप में ही होता था। बाद में भी 'मुखस्था विद्या' ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही 'बहुश्रुत' (वह जिन्होंने बहुत सुना है) लोगों को विद्वान् माना जाता रहा, और जब पुस्तकें लिखी जाने लगीं तो उन्हें 'सरस्वतीमुख' कहा गया। ये सब तथ्य वैदिक आर्यों को लिपिविहीन सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। एक ब्राह्मी लिपि का आविष्कार मेगास्थने के भारत आगमन के उपरान्त और अशोक के शिलालेख लिखे जाने के पूर्व—सम्भवतः अशोक के ही शासनकाल में भारतीय वैयाकरणों ने किया। दूसरे, पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर शेष भारत के निवासी उस समय तक निरक्षर थे। किसी नरेश द्वारा इस प्रकार अपने देश की भाषा के लिए उपयुक्त लिपि का आविष्कार करवाना और उसका देश में प्रचार करना अनहोनी बात नहीं थी। इस प्रकार की घटना तिब्बती में भी घटी थी। तिब्बत के लोग सातवीं शती ई० तक सर्वथा निरक्षर थे, यद्यपि वे भारतीय और चीनी सभ्यताओं के सम्पर्क में रहने के कारण वे इन देशों की लेखन-कला से उसी प्रकार परिचित थे जैसे हमारे सुझावानुसार अपनी लिपि न होने के बावजूद प्राक्-अशोकयुगीन भारतीय जन पश्चिमोत्तर प्रदेशों में प्रचलित खरोष्ठी, एरेमाइक व यूनानी आदि लिपियों के अस्तित्व से परिचित रहे होंगे। अपने देश की इस कमी को दूर करने के स्रोङ्-त्जन-गाम-पो नामक नरेश ने, जो हर्ष का समकालीन था, एक विद्वन्मण्डल भारत भेजा जिसने भारतीय लिपियों का अध्ययन करके अपने देश की भाषा के लिए उपयुक्त भोट लिपि का आविष्कार किया। स्रोङ्-त्जन-गाम-पो ने उसमें अपने लेख लिखवाए व जनता में उसका प्रचार किया। लगभग यही बात अशोक और ब्राह्मी के बारे में मानी जा सकती है। लेकिन इन तथ्यों के बावजूद कोई व्यक्ति अगर ऊपर विवेचित साहित्यिक प्रमाणों को उससे अधिक महत्त्व देना चाहता जितना हमने दिया है तो उसे भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति का प्रश्न भारत में लेखन-कला की प्राचीनता से सर्वथा अलग है और अगर प्राक्-अशोकीय भारत के लोग किसी लिपि से परिचित थे (जिसमें हमें बहुत सन्देह है) तो भी उनकी वह लिपि ब्राह्मी नहीं रही होगी क्योंकि ब्राह्मी के ऊपर तीसरी शती ई० पू० में आविष्कृत होने की गहरी छाप है। वह प्राक्-अशोकीय लिपि, जिसकी कल्पना साहित्यिक साक्ष्य की खींचतान करके की जाती है, ब्राह्मी से इतर कोई लिपि रही होगी जिसका नाम, प्रकृति और स्वयं अस्तित्व तक अनुमानाश्रित है।

मौर्यकाल : अशोक के अभिलेख

प्रथम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. इयं धंमलिपी देवानंप्रियेन
२. प्रियदसिना राञा लेखापिता [।] इध न किं
३. चि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं [।]
४. न च समाजो कतव्यो [।] बहुकं हि दोसं
५. समाजम्हि पसति देवानंप्रियो प्रियदसि राजा [।]
६. अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं
७. प्रियस प्रियदसिनो राञो [।] पुरा महानसम्हि
८. देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं व
९. हूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय [।]
१०. से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्रा
११. णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि
१२. मगो न ध्रुवो [।] एते पि त्री प्राणा पछा न आरभिसरे [।।]

पाठ-टिप्पणी--पाँचवीं पंक्ति में 'राजा' के पूर्व एक अतिरिक्त 'र' उकेर कर काटा गया है। ७ वीं पंक्ति में 'महानसम्हि' पढ़ने में 'मेहानसेम्हि' प्रतीत होता है। सेना, ब्यूलर व सरकार ने १२ वीं पंक्ति में 'ध्रुवो' को 'धुवो' पढ़ा है।

शब्दार्थ

लेखापिता=लिखवाई गई ; **इध**=यहाँ ; **आरभित्पा प्रजूहितव्यं**=मारकर हवन न किया जाए ; **कतव्यो**=कर्तव्य है अर्थात् किया जाए ; **बहुकं हि दोसं**=बहुत से दोष ; **पसति**=देखता है ; **अस्ति**=है, हैं ; **एकचा**=एक प्रकार के, कुछ ; **साधु**=शुभ, अच्छे ; **पुरा**=पहिले ; **महानस**=पाकशाला, रसोई, रन्धनागार ; **अनुदिवसं**=प्रतिदिन ; **बहूनि प्राण सतसहस्रानि**=कई लाख प्राणी ; **आरभिसु**=मारे जाते थे ; **सूपाथाय**=सूप के लिए ; **सेअज**=आज से ; **ती एव**=तीन ही ; **आरभरे**=मारे जाते हैं ; **मगो**=मृग, हिरन, पशु ; **ध्रुवो**=निश्चित रूप से, सदैव ; **पछा**=बाद में ।

अनुवाद

यह धर्मलिपि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखवाई गई (अर्थात् उत्कीर्ण कराई गई) । यहाँ (अर्थात् मेरे साम्राज्य में) कोई जीव (अर्थात् मानवेतर जीवधारी) मार कर हवन न किया जाय और न कोई समाज किया जाय । देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत से दोष देखते हैं । (परन्तु) ऐसे भी कुछ समाज हैं जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के मत में शुभ हैं । पहिले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के रन्धनागार (= रसोई) में प्रतिदिन बहुत लाख प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे । (परन्तु) आज से जब यह धर्मलिपि लिखवाई गई (अर्थात् लागू की गई) सूप के लिए तीन प्राणी ही मारे जाते हैं । दो मोर और एक हिरण (अथवा दो पक्षी और एक पशु) । वह हिरण (अथवा पशु) भी सदैव नहीं । ये तीन प्राणी भी बाद में नहीं मारे जायेंगे ।

व्याख्या

१. **धंम लि(पी)पि**—कर्न ने इसका अर्थ किया है 'righteousness edict', ब्युलर ने 'religious edict', हूल्त्ज़ ने 'moral script' सेना ने केवल 'edict', भाण्डारकर ने 'धर्मशासन' तथा जनार्दन भट्ट ने 'धर्म सम्बन्धी लेख' । जैसा कि भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है स्वयं अशोक ने 'धंम लिपि' नाम का प्रयोग केवल चौदह शिलालेखों एवं सात स्तम्भ लेखों के लिए किया है । लघु शिलालेखों को वह 'धंम सावन' (= धर्म श्रावण) कहता है, पृथक् कलिंग लेखों को मात्र 'लिपि' तथा संघभेद अभिलेख को 'सासन' (= शासन = आज्ञा) । इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'धंमलिपि' से अशोक का आशय केवल उन लेखों से था जो उसने धर्म के प्रचारार्थ लिखवाये थे । यहाँ 'धंम' को अशोकीय 'धर्म' के अर्थ में लेना होगा न कि उस विस्तृत अर्थ में जिसमें भारत में 'धंम' शब्द का प्रयोग होता रहा है ।

२. **देवानंप्रिय** = देवानांप्रिय = देवताओं का प्रिय । यह अशोक की सम्मानसूचक उपाधि थी जिसे धारण करने का उसे शौक था । यह उपाधि प्राचीन काल में राजाओं के लिए प्रायः प्रयुक्त मिलती है । स्वयं अशोक ने इसे आठवें

शि०लें० के कालसी, शहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा संस्करणों में अपने पूर्वगामी राजाओं के लिए अन्य संस्करणों के 'लाजाने' (= राजा लोग) शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया है। 'दीपवंस' (अध्याय ११) में यह अशोक के समकालीन लंका नरेश तिस्स के लिए प्रयुक्त है। लंका के एक अभिलेख में भी यह राजाओं की उपाधि की तरह प्रयुक्त हुई है। 'औपपातिक सूत्र' में इसका अर्द्ध-मागधी बहुवचन रूप 'देवाणुप्पियाणं' मिलता है। इसी ग्रन्थ में कुणिक अजातशत्रु को 'भो देवाणुप्पिया' कहकर सम्बोधित किया गया है। नागार्जुनी-गुहा-लेखों में इसका प्रयोग दशरथ के लिए किया गया है। इन तथ्यों से भाण्डारकर ने निष्कर्ष निकाला है कि यह 'उपाधि' राजाओं तक सीमित थी और इसका प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए होता था कि वह राजा देवताओं द्वारा रक्षित है। (अशोक, पृ० ८)। बरुआ का कहना है कि इस उपाधि का प्रयोग इसलिए होता था क्योंकि राजा के अभिषेक के समय पुरोहित देवताओं का आह्वान करते थे। इसका अर्थ था यह प्रदर्शित करना कि राजा देवताओं का कृपापात्र और उनके द्वारा रक्षित है। इसलिए बरुआ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद His Gifted Majesty किया है। अन्य विद्वान् इसको एक राजकीय उपाधि मानते हुए इसका अनुवाद प्राय: His Sacred and Gracious Majesty करते हैं। लेकिन दशरथ शर्मा (आई० एच० क्यु०, २६, पृ० १४९-५१) इसको एक राजकीय उपाधि मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह केवल एक आशीर्वचन मात्र था। उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाण : (१) 'महाभाष्य' में 'देवानांप्रिय' को भवदादि वर्ग में 'दीर्घायुष्' और 'आयुष्मान्' के बीच में रखा गया है। (२) पाणिनि २.४.५६ पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने इसका प्रयोग एक सामान्य वैयाकरण के लिए भी किया है। उसे एक पद में 'आयुष्मान्' कहा गया है और दूसरे में 'देवानांप्रिय'। (३) 'शबरभाष्य' से इसका समर्थन होता है। (४) 'हर्षचरित' में इसका प्रयोग सावित्री के मुख से सरस्वती के होने वाले पति दधीचि के लिए कराया गया है जो न राजा था और न वृद्ध। दशरथ शर्मा के अनुसार इन तथ्यों के प्रकाश में सर्वथा यह मानना चाहिये कि इस विशेषण का प्रयोग सामान्य जनों के लिए भी होता था। लेकिन इसके बावजूद हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि प्राचीन राजा इसको एक उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त करते थे। अगर 'देवानांप्रिय' विशेषण का प्रयोग मात्र 'आयुष्मान्' अर्थ में होता तो अशोक अपने पूर्वजों को 'देवानांप्रिय' कह कर उल्लिखित नहीं करता। उस हालत में उसका अपने को 'देवानांप्रिय' कहना भी कुछ विचित्र होता क्योंकि 'आयुष्मान्' अर्थ वाले शब्द केवल बड़ों द्वारा छोटों के लिए प्रयुक्त होते हैं जैसा कि शर्मा जी ने स्वयं साग्रह कहा है। इसलिए हमें यह मानना सही लगता है कि अशोक के अभिलेखों में यह विशेषण एक राजकीय उपाधि के रूप में प्रयुक्त है। 'हर्षचरित' में भी अगर यह दधीचि जैसे व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है जो राजा नहीं था तो स्वयं

शब्दार्थ

लेखापिता=लिखवाई गई ; **इध**=यहाँ ; **आरभित्पा प्रजूहितव्यं**=मारकर हवन न किया जाए ; **कतव्यो**=कर्तव्य है अर्थात् किया जाए ; **बहुकं हि दोसं**=बहुत से दोष ; **पसति**=देखता है ; **अस्ति**=है, हैं ; **एकचा**=एक प्रकार के, कुछ ; **साधु**=शुभ, अच्छे ; **पुरा**=पहिले ; **महानस**=पाकशाला, रसोई, रन्धनागार ; **अनुदिवसं**=प्रतिदिन ; **बहूनि प्राण सतसहस्रानि**=कई लाख प्राणी ; **आरभिसु**=मारे जाते थे ; **सूपाथाय**=सूप के लिए ; **सेअज**=आज से ; **ती एव**=तीन ही ; **आरभरे**=मारे जाते हैं ; **मगो**=मृग, हिरन, पशु ; **ध्रुवो**=निश्चित रूप से, सदैव ; **पछा**=बाद में ।

अनुवाद

यह धर्मलिपि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखवाई गई (अर्थात् उत्कीर्ण कराई गई)। यहाँ (अर्थात् मेरे साम्राज्य में) कोई जीव (अर्थात् मानवेतर जीवधारी) मार कर हवन न किया जाय और न कोई समाज किया जाय। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत से दोष देखते हैं। (परन्तु) ऐसे भी कुछ समाज हैं जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के मत में शुभ हैं। पहिले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के रन्धनागार (= रसोई) में प्रतिदिन बहुत लाख प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे। (परन्तु) आज से जब यह धर्मलिपि लिखवाई गई (अर्थात् लागू की गई) सूप के लिए तीन प्राणी ही मारे जाते हैं। दो मोर और एक हिरण (अथवा दो पक्षी और एक पशु)। वह हिरण (अथवा पशु) भी सदैव नहीं। ये तीन प्राणी भी बाद में नहीं मारे जायेंगे।

व्याख्या

१. **धंम लि(पी)पि**—कर्न ने इसका अर्थ किया है 'righteousness edict', ब्युलर ने 'religious edict', हूल्त्ज़ ने 'moral script' सेना ने केवल 'edict', भाण्डारकर ने 'धर्मशासन' तथा जनार्दन भट्ट ने 'धर्म सम्बन्धी लेख'। जैसा कि भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है स्वयं अशोक ने 'धंम लिपि' नाम का प्रयोग केवल चौदह शिलालेखों एवं सात स्तम्भ लेखों के लिए किया है। लघु शिलालेखों को वह 'धंम सावन' (= धर्म श्रावण) कहता है, पृथक् कलिंग लेखों को मात्र 'लिपि' तथा संघभेद अभिलेख को 'सासन' (= शासन = आज्ञा)। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'धंमलिपि' से अशोक का आशय केवल उन लेखों से था जो उसने धर्म के प्रचारार्थ लिखवाये थे। यहाँ 'धंम' को अशोकीय 'धर्म' के अर्थ में लेना होगा न कि उस विस्तृत अर्थ में जिसमें भारत में 'धंम' शब्द का प्रयोग होता रहा है।

२. **देवानंप्रिय** = देवानांप्रिय = देवताओं का प्रिय। यह अशोक की सम्मानसूचक उपाधि थी जिसे धारण करने का उसे शौक था। यह उपाधि प्राचीन काल में राजाओं के लिए प्रायः प्रयुक्त मिलती है। स्वयं अशोक ने इसे आठवें

शि०ले० के कालसी, शहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा संस्करणों में अपने पूर्वगामी राजाओं के लिए अन्य संस्करणों के 'लाजाने' (= राजा लोग) शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया है। 'दीपवंस' (अध्याय ११) में यह अशोक के समकालीन लंका नरेश तिस्स के लिए प्रयुक्त है। लंका के एक अभिलेख में भी यह राजाओं की उपाधि की तरह प्रयुक्त हुई है। 'औपपातिक सूत्र' में इसका अर्द्ध-मागधी बहुवचन रूप 'देवाणुप्पियाणं' मिलता है। इसी ग्रन्थ में कुणिक अजातशत्रु को 'भो देवाणुप्पिया' कहकर सम्बोधित किया गया है। नागार्जुनी-गुहा-लेखों में इसका प्रयोग दशरथ के लिए किया गया है। इन तथ्यों से भाण्डारकर ने निष्कर्ष निकाला है कि यह 'उपाधि' राजाओं तक सीमित थी और इसका प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए होता था कि वह राजा देवताओं द्वारा रक्षित है। (अशोक, पृ० ८)। बरुआ का कहना है कि इस उपाधि का प्रयोग इसलिए होता था क्योंकि राजा के अभिषेक के समय पुरोहित देवताओं का आह्वान करते थे। इसका अर्थ था यह प्रदर्शित करना कि राजा देवताओं का कृपापात्र और उनके द्वारा रक्षित है। इसलिए बरुआ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद His Gifted Majesty किया है। अन्य विद्वान् इसको एक राजकीय उपाधि मानते हुए इसका अनुवाद प्राय: His Sacred and Gracious Majesty करते हैं। लेकिन दशरथ शर्मा (आई० एच० क्यु०, २६, पृ० १४९-५१) इसको एक राजकीय उपाधि मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह केवल एक आशीर्वचन मात्र था। उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाण : (१) 'महाभाष्य' में 'देवानांप्रिय' को भवदादि वर्ग में 'दीर्घायुष्' और 'आयुष्मान्' के बीच में रखा गया है। (२) पाणिनि २.४.५६ पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने इसका प्रयोग एक सामान्य वैयाकरण के लिए भी किया है। उसे एक पद में 'आयुष्मान्' कहा गया है और दूसरे में 'देवानांप्रिय'। (३) 'शबरभाष्य' से इसका समर्थन होता है। (४) 'हर्षचरित' में इसका प्रयोग सावित्री के मुख से सरस्वती के होने वाले पति दधीचि के लिए कराया गया है जो न राजा था और न वृद्ध। दशरथ शर्मा के अनुसार इन तथ्यों के प्रकाश में सर्वथा यह मानना चाहिये कि इस विशेषण का प्रयोग सामान्य जनों के लिए भी होता था। लेकिन इसके बावजूद हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि प्राचीन राजा इसको एक उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त करते थे। अगर 'देवानांप्रिय' विशेषण का प्रयोग मात्र 'आयुष्मान्' अर्थ में होता तो अशोक अपने पूर्वजों को 'देवानांप्रिय' कह कर उल्लिखित नहीं करता। उस हालत में उसका अपने को 'देवानांप्रिय' कहना भी कुछ विचित्र होता क्योंकि 'आयुष्मान्' अर्थ वाले शब्द केवल बड़ों द्वारा छोटों के लिए प्रयुक्त होते हैं जैसा कि शर्मा जी ने स्वयं साग्रह कहा है। इसलिए हमें यह मानना सही लगता है कि अशोक के अभिलेखों में यह विशेषण एक राजकीय उपाधि के रूप में प्रयुक्त है। 'हर्षचरित' में भी अगर यह दधीचि जैसे व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है जो राजा नहीं था तो स्वयं

चक्रवर्ती हर्ष के लिये भी इसका प्रयोग हुआ है। इस तथ्य की ओर शर्मा जी का ध्यान नहीं गया था। इस उपाधि के साथ जुड़ी दूसरी समस्या है परवर्ती युग में इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में होना। इस विषय में 'महाभाष्य' व 'हर्षचरित' के साक्ष्य से यह तो स्पष्ट ही है कि सातवीं शती ई० तक कुछ लोग इसका प्रयोग शुभ अर्थ में भी करते थे। परन्तु सम्भवतः तीसरी शती ई० पू० के ही लेखक कात्यायन ने इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में किया है। पाणिनि के एक सूत्र 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६.३.२१) के अनुसार आक्रोश या घृणा प्रकट करते समय षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता। वह इस नियम का कोई अपवाद नहीं देते। कात्यायन ने अलुक् समास का एक उदाहरण 'देवानांप्रिय' दिया है और लिखा है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' अर्थात् 'देवानांप्रिय मूर्ख को कहते हैं।' इस नियम का अनुसरण बाद में संस्कृत साहित्य में होता रहा। कैयट ने इसका अर्थ 'मूर्ख' ही माना है। हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में 'देवानांप्रिय' का प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। शाहजहाँ कालीन भट्टोजी दीक्षित ने लिखा है 'अन्यत्र देवप्रियः' जिसका अर्थ है कि 'देवानांप्रिय' अलुक् समास है जिसका अर्थ मूर्ख है, अच्छे अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास 'देवप्रियः' हो जाता है। नागेशदत्त, वासुदेव दीक्षित, रामचन्द्र प्रभृति अन्य मध्यकालीन लेखकों ने 'देवानांप्रिय' को 'मूर्ख' अर्थ में ही लिया है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक शुभ विशेषण का यह विकृत अर्थ कैसे हो गया। मुखर्जी, रायचौधुरी और रा० ब० पाण्डेय आदि का कहना है कि बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता और अनादर की वृद्धि के साथ देवानांप्रिय के मूल अर्थ में विकृति आई उसी तरह जैसे परवर्ती युगों में 'बुद्ध', से 'बुद्धू' 'नग्न' (= जैन क्षपणक) से नंग अर्थात् बेशर्म और 'लुञ्चक' (= वे साधु जो अपने केश नोचते थे) से 'लुच्चा' शब्द बने। लेकिन बरुआ का कहना है कि भट्टोजी दीक्षित जैसे विद्वानों ने जब 'देवानांप्रिय' का अर्थ मूर्ख माना होगा उस समय वे शायद इस बात से परिचित भी नहीं रहे होंगे कि अशोक ने यह उपाधि धारण की थी। उन्होंने इसका अर्थ 'मूर्ख' इसलिए किया क्योंकि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ऐसा मानना अनिवार्य था। सम्भवतः ये दोनों ही मत सही हैं। प्राचीन ब्राह्मण लेखकों को एक तरफ पाणिनि के सूत्र के अनुसार 'देवानांप्रिय' को मूर्ख अर्थ में लेना आवश्यक लगा होगा तो दूसरी तरफ अशोक की नीति के कारण मौर्यों के प्रति उनके समाज में जो आक्रोश उत्पन्न हुआ उसके कारण उसकी उपाधि का अर्थ विकृत कर देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई होगी। इस प्रसंग में 'मार्कण्डेय पुराण' में मौर्यों की असुरों में गणना किया जाना उल्लेखनीय है। 'गार्गी संहिता' में शालिशूक के लिए कहा गया है, 'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्'। जायसवाल ने (जे० बी० ओ० आर० एस०, ४, पृ. २६१) इसका अनुवाद किया है : 'वह मोहात्मा (= मूर्ख) धर्मविजय की स्थापना करेगा'। स्पष्टतः यह मौर्यों की 'धम्म विजय' पर एक ब्राह्मण लेखक का व्यङ्ग है। इस दोनों उदाहरणों से ब्राह्मण लेखकों का

अशोक के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अतः हमारे विचार से यह तर्क कि भट्टोजी दीक्षित जैसे परवर्ती लेखक अशोक से परिचित नहीं थे, इस प्रसंग में निस्सार है।

३. **प्रियदसि** अथवा **पियदसि** = प्रियदर्शी। इसका पर्याय 'पियदस्सन' = प्रियदर्शन है। 'दीपवंश' में दोनों अशोक के लिए बिना कोई भेद किये प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रियदर्शिका' नामक नाटक में नायिका को 'प्रियदर्शिका' और 'प्रियदर्शना' दोनों कहा गया है। 'प्रियदर्शी' प्राचीन काल में अनुराग प्रकट करने वाला विशेषण था। 'रामायण' में एक स्थल पर राम को 'सोमवत् प्रियदर्शनः' कहा गया है। 'मुद्राराक्षस' में इसका प्रयोग चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए हुआ है तथा पुलुमावि के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'चद मडल ससिरीक पियदसनस' कहा गया है। अशोक सम्भवतः कुरूप था, राजा होने के कारण 'पियदसि' कहलाने लगा। उसके अभिलेखों में यह उसके दूसरे नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है। प्रमाण—एक, उसके बराबर-गुहा-लेख में 'लाजिना पियदसिना' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि 'अशोक' के समान 'प्रियदसि' उसका व्यक्तिगत नाम था। दूसरे, जहाँ-जहाँ अभिलेखों में 'अशोक' नाम का प्रयोग है (मास्की व गुजर्रा लघु शिलालेख एवं रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख) वहाँ-वहाँ 'प्रियदसि' अप्रयुक्त है। तीसरे, पियदसि जैसे नाम पालि साहित्य में (द्र० बुद्धवंश) अनेक भूतपूर्व बुद्धों के मिलते हैं, यथाः अत्थदसि, धम्मदसि, सब्बदसि, तथा अनोमदसि। चौथे, बुद्घोष ने लिखा है कि मौर्य राजकुमार पियदासो (=पियदस्सी) ने अपने अभिषेक के समय अशोक नाम धारण किया। इस विषय में 'दीपवंश' में इससे उल्टी सूचना मिलती है। इसके अनुसार महेन्द्र की आयु के १४ वें वर्ष अशोक का अभिषेक हुआ और बीसवें वर्ष पियदसी का। यह कथन तभी बोधगम्य हो सकता है जब हम अशोक का दूसरा नाम पियदसी मानें। परन्तु तब यह मानना भी अनिवार्य हो जाता है कि अशोक का मूल नाम अशोक था। द्वितीय नाम पियदसी, जबकि बुद्धघोष उसका मूल नाम पियदस्सी बताता है और द्वितीय नाम अशोक।

४. **लेखापिता** = लिखवाई। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अशोक का आशय 'प्रारूप को तैयार करवाने' से है अथवा 'उत्कीर्ण करवाने' से। 'लिख्' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराना' व 'लिखना' दोनों होता है। इस लेख के धौलि और जौगड़ संस्करणों में 'लेखापिता' के पूर्व 'पवतसि' शब्द आता है। इसलिए वहाँ 'लेखापिता' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराया' करना अनिवार्य है। अन्यत्र भी यह अर्थ सम्भव है।

५. **इध** = यहाँ। इसके तीन आशय सम्भव हैं : एक 'उस प्रदेश विशेष में जहाँ लेख उत्कीर्ण कराया गया'; दो, 'राजधानी में जहाँ के लिए वह लेख विशेषतः लिखवाया गया हो' तथा तीसरा, 'साम्राज्य में'। यहाँ प्रथम अर्थ सही लगता है। पाँचवें शिलालेख के गिरनार संस्करण में 'पाटलिपुत्र में (और) बाहर के सब नगरों में' वाक्यांश आता है। अन्य संस्करणों में पाटलिपुत्र के स्थान पर 'इध' पाठ

चक्रवर्ती हर्ष के लिये भी इसका प्रयोग हुआ है। इस तथ्य की ओर शर्मा जी का ध्यान नहीं गया था। इस उपाधि के साथ जुड़ी दूसरी समस्या है परवर्ती युग में इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में होना। इस विषय में 'महाभाष्य' व 'हर्षचरित' के साक्ष्य से यह तो स्पष्ट ही है कि सातवीं शती ई० तक कुछ लोग इसका प्रयोग शुभ अर्थ में भी करते थे। परन्तु सम्भवतः तीसरी शती ई० पू० के ही लेखक कात्यायन ने इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में किया है। पाणिनि के एक सूत्र 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६.३.२१) के अनुसार आक्रोश या घृणा प्रकट करते समय षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता। वह इस नियम का कोई अपवाद नहीं देते। कात्यायन ने अलुक् समास का एक उदाहरण 'देवानांप्रिय' दिया है और लिखा है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' अर्थात् 'देवानांप्रिय मूर्ख को कहते हैं।' इस नियम का अनुसरण बाद में संस्कृत साहित्य में होता रहा। कैयट ने इसका अर्थ 'मूर्ख' ही माना है। हेमचन्द्र ने 'अभि-धान चिन्तामणि' में 'देवानांप्रिय' का प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। शाहजहाँ कालीन भट्टोजी दीक्षित ने लिखा है 'अन्यत्र देवप्रियः' जिसका अर्थ है कि 'देवानांप्रिय' अलुक् समास है जिसका अर्थ मूर्ख है, अच्छे अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास 'देवप्रियः' हो जाता है। नागेशदत्त, वासुदेव दीक्षित, रामचन्द्र प्रभृति अन्य मध्यकालीन लेखकों ने 'देवानांप्रिय' को 'मूर्ख' अर्थ में ही लिया है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक शुभ विशेषण का यह विकृत अर्थ कैसे हो गया। मुखर्जी, रायचौधुरी और रा० ब० पाण्डेय आदि का कहना है कि बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता और अनादर की वृद्धि के साथ देवानांप्रिय के मूल अर्थ में विकृति आई उसी तरह जैसे परवर्ती युगों में 'बुद्ध', से 'बुद्धू' 'नग्न' (= जैन क्षपणक) से नंग अर्थात् बेशर्म और 'लुञ्चक' (= वे साधु जो अपने केश नोचते थे) से 'लुच्चा' शब्द बने। लेकिन बरुआ का कहना है कि भट्टोजी दीक्षित जैसे विद्वानों ने जब 'देवानांप्रिय' का अर्थ मूर्ख माना होगा उस समय वे शायद इस बात से परिचित भी नहीं रहे होंगे कि अशोक ने यह उपाधि धारण की थी। उन्होंने इसका अर्थ 'मूर्ख' इसलिए किया क्योंकि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ऐसा मानना अनिवार्य था। सम्भवतः ये दोनों ही मत सही हैं। प्राचीन ब्राह्मण लेखकों को एक तरफ पाणिनि के सूत्र के अनुसार 'देवानांप्रिय' को मूर्ख अर्थ में लेना आवश्यक लगा होगा तो दूसरी तरफ अशोक की नीति के कारण मौर्यों के प्रति उनके समाज में जो आक्रोश उत्पन्न हुआ उसके कारण उसकी उपाधि का अर्थ विकृत कर देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई होगी। इस प्रसंग में 'मार्कण्डेय पुराण' में मौर्यों की असुरों में गणना किया जाना उल्लेखनीय है। 'गार्गी संहिता' में शालिशूक के लिए कहा गया है, 'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्'। जायसवाल ने (जे० बी० ओ० आर० एस०, ४, पृ. २६१) इसका अनुवाद किया है : 'वह मोहात्मा (=मूर्ख) धर्मविजय की स्थापना करेगा'। स्पष्टतः यह मौर्यों की 'धम्म विजय' पर एक ब्राह्मण लेखक का व्यङ्ग है। इस दोनों उदाहरणों से ब्राह्मण लेखकों का

अशोक के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अतः हमारे विचार से यह तर्क कि भट्टोजी दीक्षित जैसे परवर्ती लेखक अशोक से परिचित नहीं थे, इस प्रसंग में निस्सार है।

३. **प्रियदसि** अथवा **पियदसि** = प्रियदर्शी। इसका पर्याय 'पियदस्सन' = प्रियदर्शन है। 'दीपवंश' में दोनों अशोक के लिए बिना कोई भेद किये प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रियदर्शिका' नामक नाटक में नायिका को 'प्रियदर्शिका' और 'प्रियदर्शना' दोनों कहा गया है। 'प्रियदर्शी' प्राचीन काल में अनुराग प्रकट करने वाला विशेषण था। 'रामायण' में एक स्थल पर राम को 'सोमवत् प्रियदर्शनः' कहा गया है। 'मुद्राराक्षस' में इसका प्रयोग चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए हुआ है तथा पुलुमावि के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'चद मडल ससिरीक पियदसनस' कहा गया है। अशोक सम्भवतः कुरूप था, राजा होने के कारण 'पियदसि' कहलाने लगा। उसके अभिलेखों में यह उसके दूसरे नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है। प्रमाण—एक, उसके बराबर-गुहा-लेख में 'लाजिना पियदसिना' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि 'अशोक' के समान 'प्रियदसि' उसका व्यक्तिगत नाम था। दूसरे, जहाँ-जहाँ अभिलेखों में 'अशोक' नाम का प्रयोग है (मास्की व गुजर्रा लघु शिलालेख एवं रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख) वहाँ-वहाँ 'प्रियदसि' अप्रयुक्त है। तीसरे, पियदसि जैसे नाम पालि साहित्य में (द्र० बुद्धवंश) अनेक भूतपूर्व बुद्धों के मिलते हैं, यथा: अत्थदसि, धम्मदसि, सब्बदसि, तथा अनोमदसि। चौथे, बुद्घोष ने लिखा है कि मौर्य राजकुमार पियदासो (= पियदस्सी) ने अपने अभिषेक के समय अशोक नाम धारण किया। इस विषय में 'दीपवंश' में इससे उल्टी सूचना मिलती है। इसके अनुसार महेन्द्र की आयु के १४ वें वर्ष अशोक का अभिषेक हुआ और बीसवें वर्ष पियदसी का। यह कथन तभी बोधगम्य हो सकता है जब हम अशोक का दूसरा नाम पियदसी मानें। परन्तु तब यह मानना भी अनिवार्य हो जाता है कि अशोक का मूल नाम अशोक था। द्वितीय नाम पियदसी, जबकि बुद्धघोष उसका मूल नाम पियदस्सी बताता है और द्वितीय नाम अशोक।

४. **लेखापिता** = लिखवाई। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अशोक का आशय 'प्रारूप को तैयार करवाने' से है अथवा 'उत्कीर्ण करवाने' से। 'लिख्' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराना' व 'लिखना' दोनों होता है। इस लेख के धौलि और जौगड़ संस्करणों में 'लेखापिता' के पूर्व 'पवतसि' शब्द आता है। इसलिए वहाँ 'लेखापिता' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराया' करना अनिवार्य है। अन्यत्र भी यह अर्थ सम्भव है।

५. **इध** = यहाँ। इसके तीन आशय सम्भव हैं: एक 'उस प्रदेश विशेष में जहाँ लेख उत्कीर्ण कराया गया'; दो, 'राजधानी में जहाँ के लिए वह लेख विशेषतः लिखवाया गया हो' तथा तीसरा, 'साम्राज्य में'। यहाँ प्रथम अर्थ सही लगता है। पाँचवें शिलालेख के गिरनार संस्करण में 'पाटलिपुत्र में (और) बाहर के सब नगरों में' वाक्यांश आता है। अन्य संस्करणों में पाटलिपुत्र के स्थान पर 'इध' पाठ

द्वितीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. सर्वत विजितम्हि देवानंप्रियस पियदसिनो राञो
२. एवमपि प्रचंतेषु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो आ तंब
३. पंणी अंतियको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं
४. राजानो सर्वत्र देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछा कता
५. मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च [।] ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च
६. पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च [।]
७. मलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपा-
पितानि च [।]
८. पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं [॥]

पाठ-टिप्पणी—'केतलपुतो' को 'केरलपुतो' पढ़ें। इस लेख के कालसी संस्करण में 'केललपुतो' पाठ है, शाहबाजगढ़ी संस्करण में 'केरडपुत्रो' तथा मानसेहरा संस्करण में 'केरलपुत्र'। तीसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'सामीपं' को ब्युलर तथा हूल्त्ज ने 'सामन्ता' का अशुद्ध पाठ माना है। अन्य संस्करणों में 'सामंता' या 'समंत' पाठ ही है। उसके पूर्व का शब्द ब्युलर ने 'अंतियोकस' पढ़ा है। उन्होंने छठीं पंक्ति के 'सर्वत' का पाठ 'सर्वत्र' माना है, ७वीं पंक्ति के 'यत्' का 'यत्र' एवं 'सर्वत' का 'सर्वत्र'।

शब्दार्थ

सर्वत = सर्वत्र ; **विजितम्हि** = राज्य में ; **एवमपि** = इसी प्रकार ; **प्रचंतेसु** = प्रत्यन्त राज्यों में, पड़ोसी राज्यों में ; **आ तंबपंणी** = ताम्रपर्णी (सिहल) तक ; **ये वा पि** = अथवा ये भी जो ; **चिकीछा** = चिकित्साएँ ; **कता** = कृते ; **ओसुढानि**=औषधानि, **मनुसोपगानि** = मनुष्योपयोगी ; **हारापितानि**=लाई गई हैं ; **रोपापितानि**=रोपी गई हैं ; **पथेसू** = मार्गों में ; **खानापिता** = खोदे गए हैं ; **व्रछा**=वृक्ष ; **परिभोगाय**=भोग के हेतु ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सर्वत्र (और) इसी प्रकार प्रत्यन्त (राज्यों) में यथा चोलों (और) पांड्यों (के प्रदेश में) (एवं) सत्यपुत्र, केरलपुत्र (तथा) ताम्रपर्णी तक, यवन राज अन्तियोक (के राज्य) में अथवा उन राजाओं के (राज्यों में) भी जो अन्तियोक (के राज्य) के समीप हैं, सर्वत्र देवानांप्रिय प्रियदर्शी की दो चिकित्साएँ व्यवस्थित हैं—मानव चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। और औषधियाँ जो मानवोपयोगी और पशुपयोगी (हैं) जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लायी गई हैं और रोपी गई हैं। और मूल तथा फल जो जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लाए गए हैं और रोपे गए हैं। पशुओं और मनुष्यों के उपभोग के हेतु मार्गों में कुएँ खोदे गए हैं और वृक्ष लगाये गए हैं।

व्याख्या

१. **सर्वत विजितम्हि** = सारे राज्य में। तु० हाथिगुम्फा-अभिलेख का पद 'विजय चके' (= विजय चक्रे) और परवर्ती अभिलेखों का 'विजयराज्ये'। सम्भवतः भारतीय नरेश सिद्धान्ततः यह मानते थे कि उनका राज्य उन्हें विजय प्राप्त करने के कारण मिला था। चौदहवें शिलालेख में अशोक के राज्य को बहुत विशाल (महालके हि विजिते) कहा गया है। यहां 'सर्वत' शब्द का भाव यह है कि उपर्युक्त लोकोपकारी कार्य उसने केवल अपने प्रत्यक्षतः शासित प्रदेशों में ही नहीं वरन् अर्द्ध-स्वतन्त्र प्रदेशों में भी करवाये।

२. **प्रचंतेसु** = प्रत्यन्तों में। 'प्रचंत' राज्य दो प्रकार के थे—सुदूर दक्षिण के चोल और पाण्ड्यादि राज्य और उत्तर-पश्चिम के यवन राज्य। 'पचंत' अर्थ में ही 'अंत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है (मानसेहरा शिला)। १३ वें शि० ले० से ज्ञात होता है कि 'अंता' साम्राज्य के बाहर के सीमावर्ती प्रदेश थे (अंता अविजिता)। इस शिलालेख में भी 'प्रचंतो' को 'सर्वत विजित' अर्थात् साम्राज्य के बाहर बताया गया है। परन्तु साहित्य में और परवर्ती अभिलेखों में 'प्रत्यन्त' को किसी साम्राज्य के अन्तर्गत वे प्रदेश जो उसकी सीमा पर हों, माना गया है। दे० समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति।

३. **चोडा पाडा सतियपुत केतलपुतो आतंबपंणी**—इनमें प्रथम दो नाम बहु-वचन में हैं अतः जातिवाचक हैं और उन जातियों के प्रदेश के लिए प्रयुक्त हैं।

द्वितीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. सर्वत विजितम्हि देवानंप्रियस पियदसिनो राञो
२. एवमपि प्रचंतेषु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो आ तंब
३. पंणी अंतियको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं
४. राजानो सर्वत्र देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछा कता
५. मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च [।] ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च
६. पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च [।]
७. मलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपा-
पितानि च [।]
८. पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं [॥]

पाठ-टिप्पणी—'केतलपुतो' को 'केरलपुतो' पढ़ें। इस लेख के कालसी संस्करण में 'केललपुतो' पाठ है, शाहबाजगढ़ी संस्करण में 'केरडपुत्रो' तथा मानसेहरा संस्करण में 'केरलपुत्र'। तीसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'सामीपं' को ब्युलर तथा हूल्त्ज ने 'सामन्ता' का अशुद्ध पाठ माना है। अन्य संस्करणों में 'सामंता' या 'समंत' पाठ ही है। उसके पूर्व का शब्द ब्युलर ने 'अंतियोकस' पढ़ा है। उन्होंने छठीं पंक्ति के 'सर्वत' का पाठ 'सर्वत्र' माना है, ७वीं पंक्ति के 'यत्' का 'यत्र' एवं 'सर्वत' का 'सर्वत्र'।

४. **अंतियोको योनराजा**—योन = यवन। 'यवन' और 'योन' शब्द 'आयोनियन' से व्युत्पन्न हैं। भारतीयों का इस नाम से परिचय ईरानियों के माध्यम से हुआ। अशोककालीन यूनानी मूलतः आयोनियावासी होने के कारण भारत में 'आयोनियन' = यवन = योन कहलाए। **अंतियोक** = द्वितीय एण्टियोकस थियोस, सीरिया का राजा। उसका और उसके पड़ोसी अन्य यूनानी राजाओं का उल्लेख १३ वें शिलालेख में हुआ है।

५. **द्वेचिकीछकता**—ब्युलर ने 'चिकीछ' का अर्थ 'अस्पताल' किया है और भाण्डारकर ने 'डिस्पेन्सरी'। मुकर्जी का मत है कि अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सकों, दवाओं और अस्पतालों तीनों की व्यवस्था की थी और औषधोद्यान लगवाए थे। परन्तु बरुआ का कहना है कि अशोक ने केवल औषधियों की व्यवस्था की थी, अस्पतालों की नहीं। सप्तम स्तम्भ लेख में वह विश्रामागारों, आपानों, आम्रवाटिकाओं का उल्लेख करता है और 'रानी के लेख' में आरामों और दानशालाओं का, परन्तु इनमें कहीं भी अस्पतालों को स्थापित करने का दावा नहीं किया गया है।

६. अशोक ने मार्गों में वृक्ष लगवाए व कुएँ खुदवाए। इनको ब्राह्मण ग्रन्थों में इष्टापूर्त या पूतकर्म कहा गया हैं। ऐसे वृक्षों को मार्गस्तरु अथवा मार्गद्रुम कहा गया है। 'वराह पुराण' के अनुसार ये वृक्ष ऐसे होने चाहिए जो पथिकों को छाया दें तथा पक्षियों का विश्राम स्थल बन सकें। सप्तम शिलालेख में उल्लिखित निग्रोध = निग्रोध ऐसा ही वृक्ष है। उसे 'छायाश्रेष्ठः वटः' कहा गया है। 'उदपान' से तात्पर्य यहाँ कुएँ के साथ-साथ सरोवर आदि से भी हो सकता है।

७. इस लेख में उल्लिखित 'पशु' शब्द मानवोपयोगी और पालतू पशुओं का द्योतक है।

शेष नाम एकवचन में हैं। भाण्डारकर ने इन्हें राजाओं के नाम माना था, परन्तु प्रस्तुत शिलालेख के मानसेहरा संस्करण में केतलपुतो और सतियपुतो तथा १३वें शिलालेख में तांबपंणि नाम भी बहुवचन में आए हैं (बरुआ, पूर्वो० पृ० २३०)। बहुत से विद्वान् इन राज्यों की भौगोलिक स्थिति उस क्रम से होनी अनिवार्य समझते हैं जिस क्रम से उनका उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। **चोड** = चोल जनपद। कावेरी द्वारा सिञ्चित प्रदेश। प्राचीन राजधानी काञ्ची एवं बन्दरगाह कावेरीपट्टन। यह एक द्रविड़ रट्ट = 'द्रविड़ जनपद' था। अशोक द्वारा चोलों का उल्लेख बहुवचन में होने से बरुआ ने अनुमान लगाया है कि उस समय उनकी शासन व्यवस्था गणतांत्रिक थी। परन्तु यह सम्भव होते हुए भी अनिवार्य नहीं है। प्राचीन भारत में प्रदेशों का उल्लेख बहुवचन में करने की परम्परा थी। (दे०, रुद्रदामा की जूनागढ-प्रशस्ति)। **पाडा** = पाण्ड्य जन। कात्यायन ने 'पाण्ड्य' शब्द की व्युत्पत्ति पाण्डु से मानी है। सिंहली इतिहास-ग्रन्थों में पाण्ड्यों को पाण्डु ही कहा गया है। उनकी राजधानी मदुरा थी। हाथिगुम्फा-अभिलेख में खारवेल 'पंड राजा' से मणिमुक्ता प्राप्त करने का उल्लेख करता है। उनका राज्य (रामनाद, मदुरा तथा तिन्नवेल्ली जिले) चोल और सतियपुत तथा केरलपुत राज्यों के बीच में था। लेकिन **सतियपुत** की सही स्थिति निश्चित नहीं है। इसका एकवचन रूप किसी प्रदेश का नाम भी हो सकता है (यथा केसपुत, पाटलिपुत आदि) और एक राजा का भी जिसका राज्य उसके नाम से विख्यात रहा हो। केरल के सभी पुराने राजा चेरमान् (चेर = केरल, मान् = पुत्र) कहलाते थे। बहुवचन में पुत्रान्त नाम प्रदेश या जातिवाचक नाम भी होते थे यथा वनपुत्र, राजपुत्र (= राजपूत), भोजपुत्र, शिविपुत्र आदि। कुछ विद्वानों ने सतियपुत की पहिचान काञ्ची से की है जो 'सत्यव्रत क्षेत्र' नाम से भी प्रसिद्ध रहा था, कुछ ने कोयम्बटूर के सत्यमंगलम् तालुके (तुलुव क्षेत्र) से, कुछ ने उत्तरी मालाबार के सत्यभूमि प्रदेश से, कुछ ने कांगनाडु की कोसर जाति से जो अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध थी, ब्युलर ने 'ऐतरेय ब्राह्मण' में उल्लिखित सात्वतों से, एम० जी० पाई ने 'मार्कण्डेय पुराण' के शान्तिक से, किर्फेल ने 'महाभारत' के सतीय से तथा कर्न ने सतपुड़ा पर्वत से। हमें सब से सही मत डी० आर० भाण्डारकर का लगता है जिन्होंने इसकी पहिचान मराठों में प्रचलित 'सातपुते' वंशनाम से की है। हो सकता है उनकी कोई शाखा प्राचीन काल में पाण्ड्य राज्य के पश्चिम में बसी रही हो। **केरलपुत** = केरल = मालाबार का समुद्रतटीय प्रदेश। हूल्त्ज़ तथा भाण्डारकार केरलपुत्र से केरल का राजा आशय ग्रहण करते हैं। **तंबपंणी** = ताम्रपर्णी श्रीलंका = सिंहल। मेगास्थने (मेगस्थनिज़) ने इसका उल्लेख 'ताम्रोबर्न' नाम से किया है। 'रामायण' में यह एक नदी का नाम है जो तिन्नेवेली जिले में बहती है। स्मिथ ने अशोक के अभिलेख में ताम्रपर्णी नदी का ही उल्लेख माना था। लेकिन बौद्ध साहित्य में अशोक द्वारा सिंहल में धर्म प्रचारक भेजने का उल्लेख है।

४. **अंतियोको योनराजा**—योन = यवन। 'यवन' और 'योन' शब्द 'आयोनियन' से व्युत्पन्न हैं। भारतीयों का इस नाम से परिचय ईरानियों के माध्यम से हुआ। अशोककालीन यूनानी मूलतः आयोनियावासी होने के कारण भारत में 'आयोनियन' = यवन = योन कहलाए। **अंतियोक** = द्वितीय एण्टियोकस थियोस, सीरिया का राजा। उसका और उसके पड़ोसी अन्य यूनानी राजाओं का उल्लेख १ वें शिलालेख में हुआ है।

५. **द्वेचिकीछकता**—ब्युलर ने 'चिकीछ' का अर्थ 'अस्पताल' किया है और भाण्डारकर ने 'डिस्पेन्सरी'। मुकर्जी का मत है कि अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सकों, दवाओं और अस्पतालों तीनों की व्यवस्था की थी और औषधोद्यान लगवाए थे। परन्तु बरुआ का कहना है कि अशोक ने केवल औषधियों की व्यवस्था की थी, अस्पतालों की नहीं। सप्तम स्तम्भ लेख में वह विश्रामागारों, आपानों, आम्रवाटिकाओं का उल्लेख करता है और 'रानी के लेख' में आरामों और दानशालाओं का, परन्तु इनमें कहीं भी अस्पतालों को स्थापित करने का दावा नहीं किया गया है।

६. अशोक ने मार्गों में वृक्ष लगवाए व कुएँ खुदवाए। इनको ब्राह्मण ग्रन्थों में इष्टापूर्त्त या पूतकर्म कहा गया है। ऐसे वृक्षों को मार्गस्तरु अथवा मार्गद्रुम कहा गया है। 'वराह पुराण' के अनुसार ये वृक्ष ऐसे होने चाहिए जो पथिकों को छाया दें तथा पक्षियों का विश्राम स्थल बन सकें। सप्तम शिलालेख में उल्लिखित निग्रोध = निग्रोध ऐसा ही वृक्ष है। उसे 'छायाश्रेष्ठः वटः' कहा गया है। 'उदपान' से तात्पर्य यहाँ कुएँ के साथ-साथ सरोवर आदि से भी हो सकता है।

७. इस लेख में उल्लिखित 'पशु' शब्द मानवोपयोगी और पालतू पशुओं का द्योतक है।

तृतीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह [।] द्वादसवासाभिसितेन मया इदं आञपितं [।]

२. सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पचसु पंचसु वासेसु अनुसं

३. यानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धमानुसस्टिय यथा अञा

४. य पि कंमाय [।] साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मित्रसंस्तुत ञातीनं बाम्हण

५. समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु [।]

६. परिसा पि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [।।]

चतुर्थ शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातीसु

२. असंप्रतिपती ब्राम्हणस्रमणानं असंप्रतीपती [।] त अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

३. धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदर्सणा च हस्तिदसणा च

४. अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं [।] यारिसे बहूहि वाससतेहि

५. न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसस्टिया अनारं

६. भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रम्हणसमणानं संपटिपती मातरि पितरि

७. सुस्रुसा थैरसुस्रुसा [।] एस अञे च ब्रहुविधे धंमचरणे वढिते [।] वढयिसति चेव देवानंप्रियो

८. प्रियदसि राजा धंमचरणं इदं [।] पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

९. प्रवधयिसंति इदं धंमचरणं आव सवटकपा धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति [।]

१०. एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं [।] धंमचरणे पि न भवति असीलस [।] त इमम्हि अथम्हि

११. वधी च अहीनी च साधु [।] एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च

१२. नो लोचेतव्या [।] द्वादसवासाभिसितेन देवानंप्रियेन प्रियदसिना राजा इदं लेखापितं [॥]

तृतीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह [।] द्वादसवासाभिसितेन मया इदं आञपितं [।]
२. सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पचसु पंचसु वासेसु अनुसं
३. यानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धमानुसस्टिय यथा अञा
४. य पि कंमाय [।] साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मित्रसंस्तुत ञातीनं बाम्हण
५. समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु [।]
६. परिसा पि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [॥]

चतुर्थ शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातीसु

२ असंप्रतिपती ब्राम्हणस्रमणानं असंप्रतीपती [।] त अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

३. धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदर्सणा च हस्तिदसणा च

४. अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं [।] यारिसे बहूहि वाससतेहि

५. न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसस्टिया अनारं

६. भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रम्हणसमणानं संपटिपती मातरि पितरि

७. सुस्रुसा थैरसुस्रुसा [।] एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते [।] वढयिसति चेव देवानंप्रियो

८. प्रियदसि राजा धंमचरणं इदं [।] पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

९. प्रवधयिसंति इदं धंमचरणं आव सवटकपा धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति [।]

१०. एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं [।] धंमचरणे पि न भवति असीलस [।] त इमम्हि अथम्हि

११. वधी च अहीनी च साधु [।] एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च

१२. नो लोचेतव्या [।] द्वादसवासाभिसितेन देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा इदं लेखापितं [॥]

पञ्चम शिलालेख

(कालसी संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाजा अहा [।] कयाने दुकले । ए आदिकले कयानसा से दुकलं कलेति [।] से ममया बहु कयाने कटे [।] ता ममा पुता चा नताले चा

२. पल चो तेहि ये अपतिये मे आवकपं तथा अनुवटिसंति से सुकटं कछंति । एचु हेतो देसं पि हापयिसंति से दुकटं कछति । पापे हि नामा सुपदालये [।] से अतिकंत अंतलं नो हुतपुलव धंममहामता नामा [।] तेदसवसाभिसितेना ममया धंममहामाता कटा [।] ते सवपासंसु वियापटा ।

३. धंमाधिथानाये चा धंमवढिया हिदसुखाये वा धंमयुतसा योनकंबोजगंधालानं........ए वापि अंने अपलंता । भटमयेसु बंभनिभेसु अनथेसु बुधेसु हिदसुखाये धंमयुताये अपलिबोधाये वियपटा ते [।]
बंधनवधसा पटिविधानाये अपलिबोधाए मोखाये चा एयं अनुवधा पजा व ति वा ।

४. कटाभिकाले ति वा महालके ति वा वियापटा ते [।] हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु ओलोधनेसु भातिनं च ने भगिनिना एवा पि अंने नातिक्ये सवता वियापटा । ए इयं धंमनिसिते ति वा दान सुयुते ति वा सवता विजितसि समा धंमयुतसि वियापटा ते धंम महामाता । एताये अठाये ।

५. इयं धंमलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु तथा च मे पजा अनुवततु ।

पाठ-टिप्पणी—पाँचवाँ शि० ले० चौथे शि० ले० के अनन्तर लिखा है। बरुआ ने प्रथम पंक्ति में 'कयानसा' को 'कयानस' पढ़ा है, दूसरी में 'पल चो' को 'पलं चा' तथा 'हुतपुलव' को 'हुतपुलुवा' ।

शब्दार्थ

लाजा = राजा ; **अहा** = आह, कहा ; **कयाने** = कल्याण ; **दुकले** = दुष्कर ; **आदिकले** = आदि कर, शुरू करने वाला ; **कलेति** = करोति, करता है ; **ममया** = मेरे द्वारा ; **कटे** = किए गए हैं ; **नताले** = नप्तारः, पौत्र ; **अपतिये** = अपत्यं, सन्तान ; **आवकपं** = कल्पान्त तक ; **अनुवटिसंति** = अनुसरण करेंगे ; **सुकटं** = सुकृत, पुण्य ; **कछंति** = करेंगे ; **देसं पि** = थोड़ा भी, किञ्चित मात्र भी ; **हापयिसंति** = भंग करेंगे ; **दुकटं** = दुष्कृतं, पाप ; **सुपदालये** = सुप्रवेश्य, आसान ; **से अतिकंत अंतलं** = बहुत काल से ; **हुतपुलव** = भूतपूर्व ; **तेदस** = तेरह ; **पासंसु** = सम्प्रदायों में ; **वियापटा** = नियुक्त ; **धमाधिथानाये** = धर्म की स्थापना के लिए ; **धंमवढिया** = धर्म की वृद्धि के लिए ; **हित सुखाये** = हित सुख के लिए ; **धंमयुतसा** = धार्मिकों के, धर्मात्माओं के ; **अंने** = औरों में ; **अपलंता** = अपरान्तों में ; **भटमयेसु वंमनिभेसु** = शूद्र, वैश्य, ब्राह्मण व इभ्यों (राजाओं-क्षत्रियों में) ; **बुधेसु** = वृद्धों में ; **अपलिबोधाये** = बाधाएँ दूर करने के लिए ; **बंधनबधसा** = बन्धनों में बँधे हुए के, बन्दियों के ; **पटिविधानाये** = प्रति-विधानाय, द्रव्यादि से सहायता के लिए ; **अपलिबोधाए** = अपरिबाधाय, चारों तरफ से कठिनाइयों के अभाव के लिए ; **मोखाये** = मोक्ष के लिए ; **अनुबधा पजाव** = जो प्रजा अर्थात् सन्तान से बँधे हुए हैं ; **कटाभिकाले** = जिसने पहिले सेवा की है ; **महालके** = वृद्ध ; **हिदा** = यहाँ ; **ओलोधनेसु** = अन्तःपुरों में ; **भातिनं** = भाइयों के ; **भगिनिना** = बहिनों के ; **अंने नातिक्ये** = अन्य सम्बन्धियों के ; **धंमनिसिते** = धर्मोन्मुख ; **दान सुयुते** = दान संयुक्त ; **सवता विजितसि** = समस्त साम्राज्य में ; **धंमयुत** = धर्मनिष्ठ ; **एताये अठाये** = इसलिए ; **चिलथितिक्या** = चिरस्थायी ; **होतु** = भवतु, होवे ; **पजा** = प्रजा ; **अनुवततु** = अनुवर्तन्ताम्, अनुसार आचरण करें।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने कहा, 'कल्याण (करना) दुष्कर है। जो कल्याण का आदि कर (अर्थात् आरम्भक) है वह दुष्कर कर्म करता है। मेरे द्वारा बहुत से कल्याण (कार्य) किए गए हैं। जो मेरे पुत्र और पौत्र और उनके बाद जो मेरे वंशज होंगे वे कल्पनान्त तक वैसा ही अनुसरण करेंगे (अर्थात् कल्याण करते रहेंगे) तो सुकृत करेंगे। किन्तु जो इसको (इस कर्त्तव्य को) अंश मात्र भी भंग करेगा वह पाप करेगा। पाप (एक) सुप्रवेश्य (घर) है। भूतकाल में बहुत समय से धर्ममहामात्र नाम के अधिकारी नहीं होते थे। तेरह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा (अर्थात् मेरे द्वारा जो तेरह वर्ष से राजा पद पर अभिषिक्त है) धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये। वे धर्म की स्थापना के लिए और धर्म की वृद्धि के लिए और धर्मात्माओं के हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों में तथा यवनों, कम्बोजों, गन्धारों·······एवं अन्य अपरान्तों में नियुक्त हैं। वे भृत्यों (= शूद्रों) वैश्यों, ब्राह्मणों व इभ्यों (= राजाओं = क्षत्रियों)

में, अनाथों में, वृद्धों में, उनके हित और सुख के लिए व धर्मात्माओं की बाधाएँ दूर करने के लिए नियुक्त हैं।

वे बन्दियों को (मुक्ति हेतु) द्रव्यादि से सहायता देने के लिए उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा उनकी मुक्ति के लिए (प्रयास करने में) लगे हैं, विशेषत: अगर वे (= वन्दी लोग) सन्तान (के भार) से बँधे हुए (= दबे हुए) हैं, अथवा उन्होंने पहिले सेवा की है (अर्थात् वे सेवा करके मुक्त होने के अधिकारी हो गए हैं) अथवा बहुत वृद्ध हो गये हैं। यहाँ और बाहर के नगरों में (मेरे) सब अन्तः-पुरों में तथा मेरे भाइयों, बहिनों तथा यहाँ तक कि अन्य सम्बन्धियों के (अन्त:पुरों में) भी, वे सर्वत्र लगे हुए हैं। वह (= कोई) चाहे धर्मोन्मुख है, चाहे दान संयुक्त है (अर्थात् दान देने वाला है) और चाहे धर्मनिष्ठ है, वे धर्ममहामात्र मेरे राज्य में सर्वत्र नियुक्त हैं। इसलिए यह धर्मलिपि लिखी गई है कि यह चिरस्थायी होवे और मेरी प्रजा इसके अनुसार आचरण करे।

व्याख्या

१. **ममया बहु कयाने कटे**—कयाने = कल्याण कार्य। इनके विस्तृत वर्णन के लिए दे०, सप्तम स्तम्भ लेख। 'महासुतसोम जातक' में बोधिसत्त्व कहते हैं : 'कतामें कल्याण अनेक रूपा' = मेरे द्वारा बहुत से कल्याण किए गए हैं। अशोक के कथन का जातक कथा के इस कथन के साथ शाब्दिक ही नहीं विचारात्मक सादृश्य भी है क्योंकि जातक कथा में कल्याण कर्मों के अन्तर्गत दानमय यज्ञ, माता-पिता की सेवा, सजातीयों और मित्रों की सेवा, धर्मानुसार शासन और बिना पश्चात्ताप परलोक-गमन की तैयारी करना भी गिनाये गये हैं जिनका अशोक के अभिलेखों में यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

१. **धंम महामाता** = धर्ममहामात्र। बुद्धघोष के अनुसार महामात्र = महा अमात्य। स्मिथ ने धर्ममहामात्र का अनुवाद censors किया है। उनकी नियुक्ति अशोक के शासन के १३वें वर्ष में की गई। विभिन्न अभिलेखों (विशेषतः प्रस्तुत पञ्चम शिलालेख, १२वें एवं १३वें शिलालेख, सप्तम स्तम्भ लेख व संघ-भेद अभिलेख) में उनके निम्नलिखित कर्त्तव्य बताए गए हैं : (१) समस्त धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित कर्त्तव्य, यथा उनके अनुयायियों में धर्म की स्थापना, धर्म की वृद्धि, धार्मिक जनों के हित सुख की वृद्धि, धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की वृद्धि, राजकीय संरक्षण का समुचित वितरण आदि। (२) राज परिवार के सदस्यों से सम्बन्धित कर्तव्य, यथा राजा के भाइयों, बहिनों तथा दूसरे सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त दान के वितरण की व्यवस्था, उनको सब धार्मिक सम्प्रदायों की सहायता के लिए प्रेरित करना, उनमें धर्म का प्रचार करना आदि। (३) यौन, कम्बोज, गन्धार, राष्ट्रिक पेतेणिक तथा अन्य अपरान्तों की अन्य जातियों एवं वृद्धों, अनाथों, शूद्रों, वैश्यों, ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से सम्बन्धित कर्त्तव्य जैसे उनके हित सुख की वृद्धि और धर्मात्माओं की

बाधाओं को दूर करना। (४) बन्दीघरों की व्यवस्था से सम्बन्धित कर्तव्य यथा बन्दियों के हित सुख की व्यवस्था, कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हें छोड़ने की व्यवस्था, उनको अत्याचार से बचाना आदि। उनका पद एवं अधिकार तथा कर्तव्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थों से सर्वथा भिन्न थे। 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थ विशुद्ध न्यायाधीश थे। यह सही है कि धर्मस्थों को भी धर्म महामात्रों के समान तपस्वी, तीर्थंकर (किसी धार्मिक सम्प्रदाय का संस्थापक) वृद्ध एवं पहिले से ही पर्याप्त दण्डित तथा द्रव्यहीन आदि प्रकार के अपराधियों के साथ दयालुता दिखाने का अधिकार था परन्तु धर्मस्थ न्यायाधीश के रूप में दयालुता दिखाते थे जबकि धर्ममहामात्र सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में।

३. **सव पासंडेसु** = सब सम्प्रदायों में। 'पासंड' शब्द के लिए दे०, ७वाँ शि० ले०, टि० १।

४. **धंमधिथानाये** = धर्माधिष्ठानाय। यह विचार 'भगवद्गीता' (४-८) के 'धर्मसंस्थापनार्थाय' आदर्श से तुलनीय है।

५. **हिदसुखाये धंमयुतसा ; धंमयुताये अपलिबोधाये** = धर्मात्माओं के हित सुख के लिए, धर्मात्माओं की बाधाएँ दूर करने के लिए। तु० गीता (४-८) का 'परित्राणाय साधूनाम्' आदर्श।

६. **योनकंबोज गंधालानं (रिस्टिक पेतेणिकानं) एवापि अंने अपलंता**— योन = यवन। **यवन** शब्द 'आयोनियन' से बना है। ईरानी लोग यूनानियों को यवन कहते थे। भारतीयों ने यह शब्द इसी अर्थ में ईरानियों से लिया। अशोक द्वारा उल्लिखित योन लोग न्यस नगर के निवासी थे जो काबुल और सिन्धु नदियों के मध्य स्थित था। यहाँ यवनों का एक अति प्राचीन उपनिवेश था। उन्होंने सिकन्दर के भारत-प्रवेश के समय उसका स्वागत किया था। कन्धार से प्राप्त द्विभाषीय लेख में यूनानी भाषा का प्रयोग पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यूनानियों का महत्त्व प्रमाणित करता है। 'महाभारत' (१२-२०७-४३) में एक स्थल पर यवनों, काम्बोजों व गान्धार वासियों का इसी क्रम से उल्लेख मिलता है। 'अस्सलायन सुत्त' में योनों और काम्बोजों को पश्चिमोत्तर जनपद बताया गया है। बुद्धघोष के अनुसार उन पर ईरानी प्रभाव था। 'महावंस' में योनों की राजधानी अलसन्द (= अलेक्जेण्ड्रिया) का उल्लेख है। **कम्बोज** = कश्मीर के दक्षिण में राजौरी के प्रदेश के निवासी। **गंधालानं** = गन्धार के निवासी। गन्धार = तक्षशिला = पुष्कलावती अर्थात् पेशावर प्रदेश। 'अगुंत्तर निकाय' की सुप्रसिद्ध महाजनपद-सूची में कम्बोज व गन्धार भी गिनाए गए हैं। प्रस्तुत अभिलेख में गंधार के बाद के दो शब्द मिट गए हैं। इस लेख के अन्य संस्करणों से ज्ञात होता है कि वहाँ रिस्टिक व पेतेणिक नाम लिखे थे। **रिस्टिक** = राष्ट्रिक। भाण्डारकर के अनुसार वे नासिक व पूना के आस-पास रहते थे। दे०, हाथिगुम्फा-लेख में रठिको का उल्लेख। 'राष्ट्रिय' शब्द उच्च पदाधिकारी, 'गवर्नर',

अर्थ में भी आता था। (दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २६४ ; रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख)। **पेतणिक** की पहिचान निश्चित नहीं है। १३वें शिलालेख में रिस्टिक पेतणिकों के स्थान पर 'भोजपेतेणिकों' का उल्लेख है। कुछ विद्वान् जैसे रा० ब० पाण्डेय इसे पैत्रयाणिक नाम की जाति मानते हैं तथा कुछ इस नाम का सम्बन्ध महाराष्ट्र के प्रतिष्ठान नगर से जोड़ते हैं। परन्तु भाण्डारकर का कहना है कि यहाँ पेतेनिक का अर्थ जागीरदार या लघु राजा है। वह रिस्टिक पेतेनिक को एक शब्द मानते हैं। **अपलंता** = अपरान्त की जातियाँ। 'अपरान्त' का शाब्दिक अर्थ है पश्चिमी सीमा। वैसे यह पश्चिमी भारत के एक प्रदेश का नाम भी था जिसका उल्लेख शक-सातवाहन अभिलेखों में व साहित्य में प्रायः हुआ है। बरुआ ने यहाँ अपरान्त का अर्थ 'पश्चिमी सीमा' माना है।

७. **भटमयेसुबंभनिभेसु**—भाण्डारकर ने इसका अर्थ किया है 'भृतमय (सेवकों सहित) सांसारिक ब्राह्मण और गृहपति'। 'भटमयेसु' का अर्थ बहुत से विद्वान् भट (= सैनिक) और आर्य (= नेता) मानते हैं। बरुआ के अनुसार यहाँ मजदूरी द्वारा पेट पालने वाले सेवकों एवं भिक्षा पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मणों एवं श्रमणों से आशय है। इस विषय में सर्वोत्तम सुझाव रायचौधुरी का है। उसके अनुसार इस पद में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है : भट = भृत्य = शूद्र ; अय = आर्य = वैश्य ; बंभन = ब्राह्मण ; इभ्य = राजा = क्षत्रिय। आर्य शब्द के वैश्य अर्थ में प्रयोग के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २७०। सरकार ने भी रायचौधुरी की व्याख्या मानी है।

८. **धंमयुत** = धर्मात्मा या धर्मनिष्ठ। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'धर्म विभाग' का अधिकारी किया है और स्मिथ ने 'धर्म विधि के अधीन अधिकारी।' पाण्डेय ने भी धर्मयुतों को पदाधिकारियों का एक वर्ग माना है। परन्तु अशोक ने धर्मयुतों की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दूसरे, यदि धर्मयुत राजकीय पदाधिकारी होते तो धर्ममहामात्र उनके हित सुख के लिए चिन्तित क्यों होते ? तीसरे, सप्तम स्त० लें० में रज्जुकों द्वारा 'धंमयुत जनों' को उपदेश दिए जाने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यहाँ, इस पद से धर्मयुक्त नाम के पदाधिकारियों से आशय नहीं हो सकता। रोमिला थापर ने धंमयुत को धर्मनिष्ठ अर्थ में ही लिया है।

९. **पटिविधानाये अपलिबोधाए मोखाए** = प्रतिविधानाय अपरिबाधाय मोक्षाय। 'सामञ्ञफल सुत्त' में बुद्ध ने बन्दियों की तुलना दासों से की है। प्रस्तुत लेख बन्दियों की मुक्ति के तीन उपाय बताता है। एक, प्रतिविधान जो ८वें शिलालेख का 'हिरण्य प्रतिविधान' (= सुवर्ण देना) है। अतः प्रतिविधान का आशय है '(द्रव्य) देना' अर्थात् मुक्ति के बदले में धन देना। 'पलिबोध' का पालि में अर्थ होता है 'बन्धन'। अतः 'अपलिबोधाए' का आशय हुआ 'बन्धन मुक्त करने के लिए'। 'मोख' का अर्थ भी बन्धन मुक्ति ही है। तु० 'अर्थशास्त्र' (४-८) जहाँ कौटिल्य किसी

बन्दी को बिना कारण बताए जेल में रखने, सताने, भूखा रखने अथवा मार डालने पर जेल के अधिकारियों को दण्डित करने का विधान करता है।

१०. **अनुबधा पजा व तिवा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा**—यहाँ वे तीन परिस्थितियाँ बताई गई हैं जिनमें बन्दियों पर दया दिखाई जा सकती थी। 'अनुबधा' की वर्तनी अन्य लेखों में अनुबंधा या 'अनुबंध' है। बरुआ के अनुसार 'अनुबधा पजाव' समास है और इसका अर्थ है 'वे जिन पर अत्यधिक प्रजा (सन्तान) का भार है'। 'कटाभिकाले' का अर्थ हूल्त्श ने 'असाध्य रोग वाले' किया है, ब्युलर ने विपत्ति द्वारा सताए गए हुए तथा अन्य कुछ विद्वानों ने कृताभिचार = 'वे जिनपर जादू टोना किया गया है' किया है। कौटिल्य ने भी कृत्या और अभिचार का उल्लेख किया है। परन्तु बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय प्राकृत के 'कटाधिकार' से है जिसका अर्थ है 'वह जिसने अपने पुराने अच्छे व्यवहार से दया पाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।' कौटिल्य ने राजकुमार के जन्म या अभिषेक आदि के अवसरों पर जिन बन्दियों को छोड़ने का नियम दिया है उनमें वे बन्दी भी शामिल हैं जो अपने अच्छे कर्मों से अनुग्रह पाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

११. **हिदा बाहिलेषु चा नगलेसु** = 'यहाँ और बाहर के नगरों में'। इस लेख के गिरनार संस्करण में 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' पाठ है। इससे सिद्ध है कि यह लेख मूलतः पाटलिपुत्र के लिए लिखा गया था। इसीलिए इसके मूल 'ड्राफ्ट' में 'हिदा' पाठ था। जब इसे अन्य प्रान्तों में उत्कीर्ण कराया गया तो वहाँ इसके इस अंश को यथावत् खोद दिया गया जिससे 'हिदा' पाठ असंगत हो गया, केवल गिरनार के अधिकारी ने 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' लिखने की बुद्धिमानी दिखाई। आनुषंगिक रूप से इससे प्रमाणित है कि पाटलिपुत्र नगर अशोक की राजधानी था। बाहर के नगरों से आशय प्रान्तीय व जिला केन्द्रों से है।

१२. **सवेसु ओलोधनेसु** = सर्वेषु अवरोधनेसु = सब अन्तःपुरों में। अशोक के अपने अन्तःपुर कई नगरों में थे। सिंहली कथाओं के अनुसार उसने विदिशा की देवी नामक एक कुमारी से विवाह किया था जो पाटलिपुत्र में न रहकर विदिशा में ही रहती थी। कारुवाकी नामक रानी का निवास हो सकता है कौशाम्बी में रहा हो (७वाँ स्त० ले०)। पाटलिपुत्र में तो अशोक का मुख्य 'हरम' रहा ही होगा। 'समन्तपासादिका' में कहा गया है कि उसके धर्म परिवर्तन के समय उसके अन्तःपुर में उसकी रानी असन्धिमित्ता के अतिरिक्त १६००० नर्तकियाँ (नाटकित्थियाँ) रखैल के रूप में रहती थीं। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्रस्तुत लेख में अशोक अपने भाइयों, बहिनों व अन्य सम्बन्धियों के अन्तःपुरों का भी उल्लेख करता है।

अर्थ में भी आता था। (दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २६४ ; रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख)। **पेतणिक** की पहिचान निश्चित नहीं है। १३वें शिलालेख में रिस्टिक पेतणिकों के स्थान पर 'भोजपेतेणिकों' का उल्लेख है। कुछ विद्वान् जैसे रा० व० पाण्डेय इसे पैत्रयाणिक नाम की जाति मानते हैं तथा कुछ इस नाम का सम्बन्ध महाराष्ट्र के प्रतिष्ठान नगर से जोड़ते हैं। परन्तु भाण्डारकर का कहना है कि यहाँ पेतेनिक का अर्थ जागीरदार या लघु राजा है। वह रिस्टिक पेतेनिक को एक शब्द मानते हैं। **अपलंता** = अपरान्त की जातियाँ। 'अपरान्त' का शाब्दिक अर्थ है पश्चिमी सीमा। वैसे यह पश्चिमी भारत के एक प्रदेश का नाम भी था जिसका उल्लेख शक-सातवाहन अभिलेखों में व साहित्य में प्रायः हुआ है। बरुआ ने यहाँ अपरान्त का अर्थ 'पश्चिमी सीमा' माना है।

७. **भटमयेसुबंभनिभेसु**—भाण्डारकर ने इसका अर्थ किया है 'भृतमय (सेवकों सहित) सांसारिक ब्राह्मण और गृहपति'। 'भटमयेसु' का अर्थ बहुत से विद्वान् भट (= सैनिक) और आर्य (= नेता) मानते हैं। बरुआ के अनुसार यहाँ मजदूरी द्वारा पेट पालने वाले सेवकों एवं भिक्षा पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मणों एवं श्रमणों से आशय है। इस विषय में सर्वोत्तम सुझाव रायचौधुरी का है। उसके अनुसार इस पद में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है : भट = भृत्य = शूद्र ; अय = आर्य = वैश्य ; बंभन = ब्राह्मण ; इभ्य = राजा = क्षत्रिय। आर्य शब्द के वैश्य अर्थ में प्रयोग के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २७०। सरकार ने भी रायचौधुरी की व्याख्या मानी है।

८. **धंमयुत** = धर्मात्मा या धर्मनिष्ठ। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'धर्म विभाग' का अधिकारी किया है और स्मिथ ने 'धर्म विधि के अधीन अधिकारी।' पाण्डेय ने भी धर्मयुतों को पदाधिकारियों का एक वर्ग माना है। परन्तु अशोक ने धर्मयुतों की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दूसरे, यदि धर्मयुत राजकीय पदाधिकारी होते तो धर्ममहामात्र उनके हित सुख के लिए चिन्तित क्यों होते ? तीसरे, सप्तम स्त० ले० में रज्जुकों द्वारा 'धंमयुत जनों' को उपदेश दिए जाने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यहाँ, इस पद से धर्मयुक्त नाम के पदाधिकारियों से आशय नहीं हो सकता। रोमिला थापर ने धंमयुत को धर्मनिष्ठ अर्थ में ही लिया है।

९. **पटिविधानाये अपलिबोधाए मोखाए** = प्रतिविधानाय अपरिबाधाय मोक्षाय। 'सामञ्ञफल सुत्त' में बुद्ध ने बन्दियों की तुलना दासों से की है। प्रस्तुत लेख बन्दियों की मुक्ति के तीन उपाय बताता है। एक, प्रतिविधान जो ८वें शिलालेख का 'हिरण्य प्रतिविधान' (= सुवर्ण देना) है। अतः प्रतिविधान का आशय है '(द्रव्य) देना' अर्थात् मुक्ति के बदले में धन देना। 'पलिबोध' का पालि में अर्थ होता है 'बन्धन'। अतः 'अपलिबोधाए' का आशय हुआ 'बन्धन मुक्त करने के लिए'। 'मोख' का अर्थ भी बन्धन मुक्ति ही है। तु० 'अर्थशास्त्र' (४-८) जहाँ कौटिल्य किसी

बन्दी को बिना कारण बताए जेल में रखने, सताने, भूखा रखने अथवा मार डालने पर जेल के अधिकारियों को दण्डित करने का विधान करता है।

१०. **अनुबधा पजा व तिवा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा**—यहाँ वे तीन परिस्थितियाँ बताई गई हैं जिनमें बन्दियों पर दया दिखाई जा सकती थी। 'अनुबधा' की वर्तनी अन्य लेखों में अनुबंधा या 'अनुबंध' है। बरुआ के अनुसार 'अनुबधा पजाव' समास है और इसका अर्थ है 'वे जिन पर अत्यधिक प्रजा (सन्तान) का भार है'। 'कटाभिकाले' का अर्थ हूल्त्श ने 'असाध्य रोग वाले' किया है, ब्युलर ने विपत्ति द्वारा सताए गए हुए तथा अन्य कुछ विद्वानों ने कृताभिचार = 'वे जिनपर जादू टोना किया गया है' किया है। कौटिल्य ने भी कृत्या और अभिचार का उल्लेख किया है। परन्तु बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय प्राकृत के 'कटाधिकार' से है जिसका अर्थ है 'वह जिसने अपने पुराने अच्छे व्यवहार से दया पाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।' कौटिल्य ने राजकुमार के जन्म या अभिषेक आदि के अवसरों पर जिन बन्दियों को छोड़ने का नियम दिया है उनमें वे बन्दी भी शामिल हैं जो अपने अच्छे कर्मों से अनुग्रह पाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

११. **हिदा बाहिलेषु चा नगलेसु** = 'यहाँ और बाहर के नगरों में'। इस लेख के गिरनार संस्करण में 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' पाठ है। इससे सिद्ध है कि यह लेख मूलतः पाटलिपुत्र के लिए लिखा गया था। इसीलिए इसके मूल 'ड्राफ्ट' में 'हिदा' पाठ था। जब इसे अन्य प्रान्तों में उत्कीर्ण कराया गया तो वहाँ इसके इस अंश को यथावत् खोद दिया गया जिससे 'हिदा' पाठ असंगत हो गया, केवल गिरनार के अधिकारी ने 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' लिखने की बुद्धिमानी दिखाई। आनुषंगिक रूप से इससे प्रमाणित है कि पाटलिपुत्र नगर अशोक की राजधानी था। बाहर के नगरों से आशय प्रान्तीय व जिला केन्द्रों से है।

१२. **सवेसु ओलोधनेसु** = सर्वेषु अवरोधनेसु = सब अन्तःपुरों में। अशोक के अपने अन्तःपुर कई नगरों में थे। सिंहली कथाओं के अनुसार उसने विदिशा की देवी नामक एक कुमारी से विवाह किया था जो पाटलिपुत्र में न रहकर विदिशा में ही रहती थी। कारुवाकी नामक रानी का निवास हो सकता है कौशाम्बी में रहा हो (७वाँ स्त० ले०)। पाटलिपुत्र में तो अशोक का मुख्य 'हरम' रहा ही होगा। 'समन्तपासादिका' में कहा गया है कि उसके धर्म परिवर्तन के समय उसके अन्तःपुर में उसकी रानी असन्धिमित्ता के अतिरिक्त १६००० नर्तकियाँ (नाटकित्थियाँ) रखैल के रूप में रहती थीं। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्रस्तुत लेख में अशोक अपने भाइयों, बहिनों व अन्य सम्बन्धियों के अन्तःपुरों का भी उल्लेख करता है।

षष्ठ शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवा····सि राजा एवं आह [।] अतिक्रातं अंतरं
२. न भूतप्रुव सव····ल अथकंमे व पटिवेदना वा [।] त मया एवं कतं [।]
३. सवे काले भुंजमानस मे ओरोधनम्हि गभागारम्हि वचम्हि व
४. विनीतम्हि च उयानेसु च सवत्र पटिवेदका स्टिता अथे मे जनस
५. पटिवेदेथ इति [।] सर्वत्र च जनस अथे करोमि [।] य च किंचि मुखतो
६. आञपयामि स्वयं दापकं वा स्रावापकं वा य वा पुन महामात्रेसु
७. आचायिके अरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझती व संतो परिसायं
८. आनंतरं पटिवेदेतव्यं मे सर्वत्र सर्वे काले [।] एवं मया आञपितं [।] नास्ति हि मे तोसो ।
९. उस्टानम्हि अथसंतीरणाय व [।] कतव्यमते हि मे सर्वलोकहितं [।]
१०. तस च पुन एस मूले उस्टानं च अथसंतीरणा च [।] नास्ति हि कंमतरं
११. सर्वलोकहितत्पा [।] य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं
१२. इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराधयंतु त [।] एताय अथाय
१३. अयं धंमलिपी लेखापिता किंति चिरं तिस्टेय इति तथा च मे पुत्रा पोता च प्रपोत्रा च
१४. अनुवतरं सवलोकहिताय [।] दुकरं तु इदं अञत्र अगेन पराक्रमेन [॥]

सप्तम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो पियदसि राजा सर्वत इछति सवे पासंडा वसेयु [।] सवे ते समयं च
२. भावसुधिं च इछति [।] जनो तु उचावचछंदो उचावचरागो [।] ते सर्वं व कासंति एकदेसं व कसंति
३. विपुले तु पि दाने यस नास्ति सयमे भावसुधिता व कतंञता व दढभतिता च निचा बाढं [॥]

पाठ-टिप्पणी—'सर्वत' शब्द 'इछति' अथवा 'पासंडा' के उपरान्त खोदा जाना चाहिए था।

शब्दार्थ

सर्वत = सर्वत्र ; **इछति**=इच्छति, इच्छा करता है ; **पासंडा**=पाषण्ड, सम्प्रदाय ; **सवे** = सब ; **ते** = वे ; **भावसुधि** = भावशुद्धि ; **उचावचछंदो** = उच्चावचच्छन्दः, ऊँच-नीच विचार ; **उचावचरागो** = उच्चावचरागः, कम या ज्यादा धर्मानुराग ; **कासंति** = करेंगे ; **एकदेसं** = एक अंश ; **सयमे** = संयम ; **भावसुधिता** = भावशुद्धता ; **कतंञता** = कृतज्ञता, **दडभतिता** = दृढभक्ति ; **निचावाढम्** = अत्यधिक नीच ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा इच्छा करते हैं कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र (अर्थात् समस्त साम्राज्य) में बसें। वह उन सबके लिए संयम और भावशुद्धि चाहते हैं (अर्थात् संयम और भावशुद्धि की कामना करते हैं) । किन्तु लोग (अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी) ऊँच-नीच विचारवाले और न्यूनाधिक धर्मानुराग वाले होते हैं। वे या तो सब करते हैं (अर्थात् सम्पूर्ण कर्त्तव्य का पालन करते हैं) अथवा उसके एक अंश को करते हैं (अर्थात् एक अंश मात्र का पालन करते हैं) । विपुलदान (देने) के बावजूद भी जिसमें संयम, भावशुद्धता, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति, नहीं हैं (वह) अत्यधिक नीच है।

व्याख्या

१. **पासंड** = सम्प्रदाय। अशोक के अभिलेखों में यह शब्द निश्चय ही धार्मिक सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग हाथिगुम्फा-लेख में हुआ है जिसमें खारवेल को 'सव पासड पूजको' कहा गया है। लेकिन इसका संस्कृत रूपान्तर पार्षद करना चाहिए या पासण्ड इस विषय में मतभेद है। सरकार का अनुमान है कि यह संस्कृत पार्षद (= किसी समाज या सभा का सदस्य) का प्राकृत रूप है जिसका यहाँ अर्थ 'किसी एक सिद्धान्त विशेष का अनुगमन करनेवाले लोग' होगा। इस लेख के शाहबाजगढी संस्करण में 'प्रसंड' शब्द के प्रयोग से इस मत का समर्थन होता है। परन्तु मुकर्जी व पाण्डेय ने इसका संस्कृत रूपान्तर 'पाषण्ड' किया है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है : कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मान-वान्। विकर्म स्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात् ॥ अर्थात् जुआड़ियों, नटों, क्रूरों, पाषण्डों, विकर्म करने वालों तथा शराब बनाने वालों को राजा अपने नगर से शीघ्र निर्वासित कर दे। कुल्लूकभट्ट ने 'मनुस्मृति' की टीका में 'पाषण्ड' का अर्थ 'श्रुति स्मृति बाह्य व्रतधारी' किया है। स्पष्टतः प्राचीन काल में 'पाषण्ड' का सामान्य अर्थ था 'परम्परा विरोधी सम्प्रदाय'। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में इसका प्रयोग बौद्धेतर सम्प्रदायों (आजीवक, निर्ग्रन्थ व ब्राह्मण आदि) के लिए हुआ है और 'मनुस्मृति' में स्पष्टतः ब्राह्मणेतर सम्प्रदायों के लिए। कौटिल्य के अनुसार भी चण्डालों और पाषण्डों को नगर से दूर श्मशान के निकट वास करना चाहिए। उसके एक अन्य नियम के अनुसार गोप की अनुमति के बिना पाषण्डों व चण्डालों को धर्म-

शाला में नहीं ठहरने देना चाहिए। और देखना चाहिए कि उनके सामान में सन्दिग्ध वस्तुएं तो नहीं हैं। इस कथन के प्रकाश में मुखर्जी ने अशोक की इस इच्छा को कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र बसें, 'अर्थशास्त्र' के नियम के विरुद्ध माना है। परन्तु यहाँ अशोक सब सम्प्रदायों को सर्वत्र (सारे साम्राज्य में) बसा हुआ देखने की इच्छा प्रकट कर रहा है, धर्मशालाओं में ठहरने के नियमों की बात नहीं कर रहा। दूसरे, कौटिल्य का नियम बौद्ध, जैन और आजीवक भिक्षुओं का वेश धारण करनेवाले जासूसों पर नियन्त्रण रखने के लिए बनाया गया लगता है, सच्चे ब्राह्मणेतर भिक्षुओं के लिए नहीं।

२. **सयमे, भावसुधिता, कतंञता व ढडमतिता**—ये चार नैतिक गुण हैं। शुरू में इन्हीं को ही संक्षित करके 'सयमे' च भावसुधि' कहा गया है। 'महाभारत' के शान्ति पर्व में एक स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, धर्मज्ञता और इन्द्रिय संयम का, एक अन्य स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, संविभाजना और जितेन्द्रियता और एक तीसरे स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, जितेद्रियता और प्राज्ञता का वर्णन है। संयम ('महाभारत' का इन्द्रिय संयम या जितेन्द्रियता) को अशोक ने द्वादश-शिलालेख में वाक्-संयम (= दूसरे सम्प्रदायों की बुराई न करना) और ग्यारहवें शिलालेख में अहिंसा अर्थ में (पाणेसु सयमो साधु) लिया है। कृतज्ञता के अन्तर्गत 'जवसकुण जातक' में उपकारी के अहसान को मानना, कारी के अहसान को उतारना और उपकारी को हानि न पहुँचाना—ये तीन गुण गिनाए गए हैं। ढडभतिता 'महाभारत' का दृढ़भक्तित्व है। पालि साहित्य में दान देने वाले के हृदय में श्रद्धा का होना आवश्यक बताया गया है।

३. **निचाबाढं**—ब्युलर ने धौली व जौगढ के 'नीचे बाढं' का अर्थ किया है 'नीच मनुष्य में प्रशंसनीय'। रा० ब० पाण्डेय ने 'निचाबाढं' का अर्थ बताया है 'नित्य आवश्यक'। सरकार ने अन्तिम पंक्ति के शाहबाजगढ़ी संस्करण का अनुवाद इस प्रकार किया है 'वह जो विपुलदान तो देता है परन्तु जिसमें संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता व दृढभक्ति नहीं है, उसका दान अत्यन्त हीन होता है'।

अष्टम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अतिकातं अंतरं राजानो विहारयातां जयासु [।] एत मगव्या अञानि च एतारिसनि
२. अभीरमकानि अहुंसु [।] सो देवानंप्रियो पियदसि राजा दसवर्साभि-सितो संतो अयाय संबोधि [।]
३. तेनेसा धंमयाता [।] एतयं होति बाम्हणसमणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे च
४. हिरंणपटिविधानो च जानपदस च जनस दस्पनं धंमानुसस्टी च धमपरिपुछा च
५. तदोपया [।] एसा भुय रति भवति देवानंपियस प्रियदसिनो राञो भागे अंञे [॥]

नवम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो प्रियदसि राजा एव आह [।] अस्ति जनो उचावचं मंगलं करोते आबाधेसु वा
२. आवाहवीवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासंम्हि वा एतम्हो च अञम्हि च जनो उचावचं मंगलं करोते [।]
३. एत तु महिडायो बहुकं च बहुविधं च छुदं च निरथं च मंगलं करोते [।] त कतव्यमेव तु मगलं [।] अपफलं तु खो
४. एतरिसं मंगलं [।] अयं तु महाफले मंगले य धंममंगले [।] ततेत दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती गुरूनं अपचिति साधु
५. पाणेसु समयो साधु बम्हणसमणानं साधु दानं एत च अञ च एतारिसं धंममंगलं नाम [।] त वतव्यं पिता व
६. पुतेन वा भात्रा वा स्वामिकेन वा इदं साधु इदं कतव्य मंगलं आव तस अथस निस्टानाय [।] अस्ति च पि वुतं
७. साधु दन इति [।] न तु एतारिसं अस्ता दानं व अनगहो व यारिसं धंमदानं व धमनुगहो व [।] त तु खो मित्रेन व सुहदयेन वा
८. ञतिकेन व सहायनं व ओवादितव्यं तम्हि तम्हि पकरणे इदं कचं इदं साध इति इमिना सक
९. स्वगं आराधेतु इति [।] कि च इमिना कतव्यतरं यथा स्वगारधी [।।]

एकादश शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देविनंप्रियो पियदसि राजा एवं आह [।] नास्ति एतारिसं दानं यारिसं धंमदानं धंमसंस्तवो वा धंमसंविभागो वा धंमसंबंधो व [।]

२. तत इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरा साधु सुस्रुसा मितसस्तुतञातिकानं बाम्हणस्रमणानं साधु दानं

३. प्राणानं अनारंभो साधु [।] एत वतव्यं पिता व पुत्रेन व भाता व मितसस्तुतञातिकेन व आव पटीवेसियेहि इद साधु इद कतव्यं [।]

४. सो तथा करु इलोकचस आरधो होति परत च अनंतं पुञं भवति तेन धंमदानेन [॥]

दशम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो प्रियदसि राजा यसो व कीति व न महाथावहा मञते अञत तदात्पनो दिघाय च मे जनो

२. धंमसुस्रुंसा सुस्रुसता धंमवुतं च अनुविधियतां [।] एतकाय देवानंपियो पियदसि राजा यसो व किति व इछति [।]

३. यं तु किंचि परिकमते देवानं प्रियदसि राजा त सवं पारत्रिकाय किंति सकले अपपरिस्रवे अस [।] एस तु परिसवे य अपुंञं [।]

४ दुकरं तु खो एतं छुदकेन व जनेन उसटेन व अञत्र अगेन पराक्रमेन सवं परिचजित्पा [।] एत तु खो उसटेन दुकरं [॥]

शब्दार्थ

पासंडानि = धार्मिक सम्प्रदायों को ; **पवजितानि** = प्रव्रजितों को, संन्यासियों को ; **घरस्तानि** = गृहस्थों को ; **विवाधाय** = विविध प्रकार से ; **न तु** = किन्तु नहीं ; **मंञते** = मन्यते, मानते हैं ; **यथा** = जितना ; **किंति** = किमिति, यह क्या ? यह कैसे ? **सारवढी**=सारवृद्धि ; **अस** = स्यात्, होवे ; **वचगुती**=वचोगुप्ति, वचन का गोपन, वाक् संयम ; **पासंड पूजा** = सम्प्रदाय की प्रशंसा; **गरहा** = गर्हा, निन्दा ; **भवे**=भवेत्, होवे ; **अप्रकरणम्हि** = अकारण, अल्प कारण से, अनुचित स्थान पर, अनुचित अवसरों पर ; **लहुका** = लघुका, थोड़ी-थोड़ी ; **पूजेतया** = पूजनीय हैं ; **एवं करुं** = ऐसा करता हुआ ; **वढयति** = वर्द्धयति, वृद्धि करता है ; **तदंतअथा करोतो** = इसके विपरीत करता हुआ ; **क्षणिति** = क्षीण करता है ; **योहि कोचि** = यः हि कश्चित्, वह जो कोई ; **आत्प पासंड भतिया** = आत्म पाषण्ड भक्तया, अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण ; **आत्म पासंड दीपेयम** = अपने पासंड का दीपन किया जाए अर्थात् उसकी उन्नति की जाए ; **सोच पुन तथ करातो** = और वह पुनः ऐसा करता हुआ ; **बाढतरं** = अत्यधिक ; **उपहनाति** = हानि करता है ; **समवाय** = मेल जोल, समन्वय ; **साधु** = शुभ ; **अञमंञस** = दूसरों के ; **स्रुणारु** = सुनना चाहिए ; **सुसुंसेर** = सुनाना चाहिए ; **इछा**= इच्छा ; **बहुस्रुता** = बहुश्रुत ; **असु** = हों ; **कलाणागमा** = कल्याणकारी सिद्धान्त वाले ; **प्रसंना** = प्रसन्नाः, अनुरक्त ; **तेहि वतव्यं** = उनके द्वारा कहा जाय ; **बहका** = बहुका, बहुत से ; **एताय अथा** = इस प्रयोजन के लिए ; **व्यापता** = व्यापृताः, नियुक्त हैं ; **इथीझख महामाता** = स्त्र्यध्यक्ष महामात्र ; **वचभूमीका** = व्रजभूमिक ; **अञे** = अन्य ; **निकाय** = वर्ग, समूह ; **अयंच एतस फल** = इसका यह फल है ; **वढी** = वृद्धि ; **दीपना** = उन्नति, प्रकाशन।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सब धार्मिक सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं, दान और विविध प्रकार की पूजा द्वारा पूजते हैं। किन्तु देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसको ? इसको कि सब सम्प्रदायों में सारवृद्धि होवे। सारवृद्धि अनेक प्रकार की होती है। उसका मूल है वचन का गोपन (अर्थात् वाक् संयम)। कैसे ? अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा अनुचित अवसरों पर नहीं होनी चाहिए, थोड़ी हो किसी-किसी उचित अवसर पर। पूजनीय हैं दूसरों के सम्प्रदाय उन-उन (अर्थात् सब) अवसरों पर। ऐसा करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है। (दूसरों के) सम्प्रदाय का उपकार करता है। इसके अन्यथा (अर्थात् इसके विपरीत) करने वाला (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को क्षीण करता है और दूसरों के सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। वह जो कोई अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा, सब अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण (करता है)। यह कैसे ? 'अपने सम्प्रदाय

द्वादश शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि राजा सवपासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विवाधाय च पूजाय पूजयति ने [।]

२. न तु तथा दानं व पूजा व देवानंपियो मंञते यथा किति सारवढी अस सवपासंडानं [।] सारवढी तु बहुविधा [।]

३. तस तु इदं मूलं य वचिगुती किति आत्पपासंडपूजा व परपासंडगरहा व नो भवे अप्रकरणम्हि लहुका व अस

४. तम्हि तम्हि प्रकरणे [।] पूजेतया तु एव परपासंडा तेन तन प्रकरणेन [।] एवं करुं आत्पपासंडं च वढयति परपासंडस च उपकारोति [।]

५. तदंञथा करोतो आत्पपासंडं च छणति परपासंडस च पि अपकरोति [।] यो हि कोचि आत्पपासंडं पूजयति परपासंडं व गरहति

६. सवं आत्पपासंडभतिया किति आत्पपासंडं दीपयेम इति सो च पुन तथ करातो आत्पपासंडं बाढतरं उपहनाति [।] त समवायो एव साधु

७ किति अञमंञस धंमं स्रुणारु च सुसुंसेर च [।] एवं हि देवानंपियस इछा किति सवपासंडा बहुस्रुता च असु कलाणागमा च असु [।] ।

८. ये च तत्र तत प्रसंना तेहि वतव्यं [।] देवानंपियो नो तथा दानं व पूजां व मंञते यथा किति सारवढी अस सर्वपासडानं [।] बहका च एताय

९. अथा व्यापता धंममहामाता च इथीझखमहामाता च वचभूमीका च अञे च निकाया [।] अयं च एतस फल य आत्पपासंडवढी च होति धंमस च दीपना [॥]

पाठ-टिप्पणी—इस लेख के अन्य संस्करणों में प्रथम पंक्ति में 'सव पासंडानि' तथा 'पवजितानि' के उपरान्त 'च' अक्षर नहीं खुदे हैं। 'विवाधाय' को 'विविधाय' पढ़ें। दूसरे 'पूजयति' के उपरान्त 'ने' अनावश्यक है। अन्य संस्करणों में 'पूजाय' के बाद 'पूजयति ने' ये दोनों ही शब्द नहीं हैं। द्वितीय पंक्ति का 'तस' दो बार खोदा गया था। बाद में प्रथम 'स' और द्वितीय 'त' मिटा दिए गए। चौथी पंक्ति में 'तेन तन' को 'तेनतेन' पढ़ें।

शब्दार्थ

पासंडानि = धार्मिक सम्प्रदायों को ; **पवजितानि** = प्रव्रजितों को, संन्यासियों को ; **घरस्तानि** = गृहस्थों को ; **विवाधाय** = विविध प्रकार से ; **न तु** = किन्तु नहीं ; **मंञते** = मन्यते, मानते हैं ; **यथा** = जितना ; **किंति** = किमिति, यह क्या ? यह कैसे ? **सारवढी**=सारवृद्धि ; **अस** = स्यात्, होवे ; **वचगुती**=वचोगुप्ति, वचन का गोपन, वाक् संयम ; **पासंड पूजा** = सम्प्रदाय की प्रशंसा; **गरहा** = गर्हा, निन्दा ; **भवे**=भवेत्, होवे ; **अप्रकरणम्हि** = अकारण, अल्प कारण से, अनुचित स्थान पर, अनुचित अवसरों पर ; **लहुका** = लघुका, थोड़ी-थोड़ी ; **पूजेतया** = पूजनीय हैं ; **एवं करं** = ऐसा करता हुआ ; **वढयति** = वर्द्धयति, वृद्धि करता है ; **तदंतअथा करोतो** = इसके विपरीत करता हुआ ; **क्षणिति** = क्षीण करता है ; **योहि कोचि** = यः हि कश्चित्, वह जो कोई ; **आत्प पासंड भतिया** = आत्म पाषण्ड भक्तया, अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण ; **आत्म पासंड दीपेयम** = अपने पासंड का दीपन किया जाए अर्थात् उसकी उन्नति की जाए ; **सोच पुन तथ करातो** = और वह पुनः ऐसा करता हुआ ; **बाढतरं** = अत्यधिक ; **उपहनाति** = हानि करता है ; **समवाय** = मेल जोल, समन्वय ; **साधु** = शुभ ; **अञमंञस** = दूसरों के ; **सुणारु** = सुनना चाहिए ; **सुसुंसेर** = सुनाना चाहिए ; **इछा**= इच्छा ; **बहुस्रुता** = बहुश्रुत ; **असु** = हों ; **कलाणागमा** = कल्याणकारी सिद्धान्त वाले ; **प्रसंना** = प्रसन्नाः, अनुरक्त ; **तेहि वतव्यं** = उनके द्वारा कहा जाय ; **बहका** = बहुका, बहुत से ; **एताय अथा** = इस प्रयोजन के लिए ; **व्यापता** = व्यापृताः, नियुक्त हैं ; **इथीझख महामाता** = स्त्र्यध्यक्ष महामात्र ; **वचभूमीका** = व्रजभूमिक ; **अञ्ञे** = अन्य ; **निकाय** = वर्ग, समूह ; **अयंच एतस फल** = इसका यह फल है ; **वढी** = वृद्धि ; **दीपना** = उन्नति, प्रकाशन ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सब धार्मिक सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं, दान और विविध प्रकार की पूजा द्वारा पूजते हैं । किन्तु देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसको ? इसको कि सब सम्प्रदायों में सारवृद्धि होवे । सारवृद्धि अनेक प्रकार की होती है । उसका मूल है वचन का गोपन (अर्थात् वाक् संयम) । कैसे ? अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा अनुचित अवसरों पर नहीं होनी चाहिए, थोड़ी हो किसी-किसी उचित अवसर पर । पूजनीय है दूसरों के सम्प्रदाय उन-उन (अर्थात् सब) अवसरों पर । ऐसा करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है । (दूसरों के) सम्प्रदाय का उपकार करता है । इसके अन्यथा (अर्थात् इसके विपरीत) करने वाला (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को क्षीण करता है और दूसरों के सम्प्रदाय का भी अपकार करता है । वह जो कोई अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा, सब अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण (करता है) । यह कैसे ? 'अपने सम्प्रदाय

का दीपन किया जाय' (अर्थात् अपने सम्प्रदाय की उन्नति की जाय)। और वह पुनः ऐसा करता हुआ अपने सम्प्रदाय की अत्यधिक हानि करता है। इसलिए समवाय (अर्थात् मेलजोल) ही शुभ है। कैसे ? दूसरों के धर्म को सुनना और सुनाना चाहिए। देवानांप्रिय की ऐसी इच्छा है। कैसी ? कि सब सम्प्रदाय वहुश्रुत और कल्याणकारी सिद्धान्त वाले होंवे। और वे जो अपने-अपने (सम्प्रदाय) में अनुरक्त हों उनके द्वारा कहा जाय, 'देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसे ? कि सब सम्प्रदायों में सार की वृद्धि होवे।' इस प्रयोजन के लिए बहुत से धर्ममहामात्र और स्त्र्यध्यक्ष महामात्र और व्रजभूमिक और अन्य (अधिकारी) वर्ग नियुक्त हैं। इसका यह फल है कि (इससे) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और धर्म का दीपन होता है।

व्याख्या

१. प्रस्तुत अभिलेख में 'पासंडानि' और 'पवजितानि' दोनों के उपरान्त 'च' लिखा हुआ है इसलिए इस पद का शाब्दिक अर्थ होगा : 'सभी सम्प्रदायों और प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं।' परन्तु इस लेख के अन्य संस्करणों में 'पासंडानि' व 'पवजितानि' के उपरान्त 'च' शब्द नहीं खुदा है। इसलिये बरुआ ने इस वाक्य का अर्थ किया है 'सब गृहस्थ और प्रव्रजित सम्प्रदायों को पूजते हैं।' स्पष्टतः वह गृहस्थों के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु हमारे विचार से इस वाक्य का आशय है : 'सभी सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं।' जैसा कि सर्वज्ञात है प्राचीनकाल में भारत में हर सम्प्रदाय के दो प्रकार के अनुयायी होते थे : गृहस्थ और प्रव्रजित (=संन्यासी, भिक्षु)। भाब्रु-लेख में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणिओं तथा उपासक-उपासिकाओं का इसी अर्थ में उल्लेख है। तु०, पालि साहित्य के 'गिहिपब्बजिता' और 'गहट्ठा पब्बजिता'। तेरहवें शिलालेख में गृहस्थ पाषण्डों (सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायियों) का उल्लेख है एवं ७वें स्त० लेख में प्रव्रजितों के अन्तर्गत ब्राह्मण, संघस्थ (बौद्ध भिक्षु), निर्ग्रन्थ (जैन भिक्षु) तथा आजीवक गिनाए गए हैं। उस युग के अन्य प्रमुख सम्प्रदायों का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है। उनमें तापस, जटिल, ब्राह्मण, परिव्राजक (एक दण्डी व त्रिदण्डी) देवधार्मिक (जिनमें वासुदेव, संकर्षण, अर्जुन, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल, मणिभद्र, आदि के उपासक शामिल थे) आदि उल्लेखनीय है।

2. **सारवढी** (शहबाजगढी संस्करण में सलवढि, काल्सी संस्करण में शाला-वढि) = सारवृद्धि = धर्म के सार में वृद्धि। बुद्धघोष ने सार को 'सीलादिसार' बताया है। अशोक के अनुसार भी धम्म का सार सील (=शील) है। प्रस्तुत शिलालेख में वह वाक्-संयम को धम्म के सार में वृद्धि का मूल बताता है।

3. **वचोगुती** (अन्य संस्करणों में 'वचो गुति') = वचन का गोपन = वाक् = संयम। यहाँ इसका अर्थ अन्य सम्प्रदायों की आलोचना न करना है जिससे धार्मिक सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हो।

४. **अप्रकरणम्हि**—इसका अर्थ कुछ विद्वान् 'अकारण से' करते हैं, कुछ 'अल्प कारण से' कुछ 'अनुचित अवसर से', कुछ 'अनुचित स्थान पर'।

५. **समवाय** = सम्यक् प्रकार से चलना = मेलजोल। अथवा = सामवाद = संयमवाद। तु० धर्मवाय = धर्मवाद (१३ वां शिलालेख)। यह अशोक द्वारा प्रनिपादित धार्मिक सहिष्णुता का क्रियात्मक पक्ष है।

६. **बहुस्रुता** = वह जिसने भलीभाँति सुन रखा है। उस युग में जब शिक्षा मौखिक होती थी और ज्ञान परस्पर वार्तालाप द्वारा प्राप्त किया जाता था, ज्ञानी व्यक्ति को बहुश्रुत कहा जाना स्वाभाविक था, वैसे ही जैसे आजकल, पुस्तकीय ज्ञान के युग में, शिक्षित व्यक्ति को अंग्रेजी में 'वैल रेड' (बहुपठित) कहते हैं।

७. **धंममहामाता** = धर्ममहामात्राः। दे०, पञ्चम शि० ले०, टि० २।

८. **इथिधिपख महामाता** स्त्र्यध्यक्ष महामात्राः। शहबाजगढ़ी शिलालेख में 'इस्त्रिधियखमहमत्र'। कुछ ने इनका सम्बन्ध कौटिल्य के गणिकाध्यक्षों से जोड़ा है। परन्तु महामात्र जैसे उच्चपदाधिकारियों का एक वर्ग केवल गणिकाओं की ही देखभाल करता रहा होगा, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। यद्यपि वे गणिकाओं की भी देखभाल करते हों यह हो सकता है। भाण्डारकर ने स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों को वे पदाधिकारी माना है जो स्त्रियों के हित और सुख की देखभाल करते थे। परन्तु इनके विषय में मात्र इतना कह देना पर्याप्त नहीं है। महाकाव्यों में स्त्र्यध्यक्षों अथवा दाराध्यक्षों का उल्लेख आता है जिनका कर्त्तव्य अन्तःपुर के बाहर रानियों एवं उनकी दासियों की सुरक्षा था। पालि साहित्य में 'अन्तेपुर उपचारकों' और 'ओरोध महामत्रों' का उल्लेख मिलता है जो रनिवास के सदस्यों की देखभाल करते थे। पालि और संस्कृत बौद्ध साहित्य में उपलब्ध कथाओं में रानियों के धर्म गुरुओं की चर्चा आती है जो अपनी शिष्याओं के पास स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकते थे। कभी-कभी जब विभिन्न रानियाँ विभिन्न धर्मों की अनुगामिनी होती थीं, अन्तःपुर धार्मिक दलों की राजनीति का अखाड़ा बन जाता था। तिष्यरक्षिता को कथाओं में उसे बौद्ध धर्म की कट्टर विरोधिनी बताया गया है। 'धम्मपदटीका' में एक ऐसी बौद्ध लड़की की कथा आती है जिसे आजीविका परिवार में ब्याह दिये जाने के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कुछ जातक कथाओं में रानियों और धर्म-गुरुओं के प्रेम और षड्यन्त्रों का उल्लेख आता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में स्त्र्यध्यक्षों का उल्लेख आता है जिनका 'कामोपधाशुद्ध' रहना आवश्यक बताया गया है। उनको बाह्य और अभ्यन्तर विहार रक्षा करना होता था। 'विनय पिटक' में स्त्रियों में प्रचार करने वाले उपदेशकों का वर्णन आता है। इस प्रकार अशोक के अभिलेखों के स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों का कार्य न केवल स्त्रियों के हित सुख की देख-भाल करना होगा वरन् उनमें विशेषतः रनिवास की सदस्याओं में धम्म का प्रचार, उनको अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से परिचित कराना, उनको उनके सम्पर्क में

आने वाले कपटी धर्मगुरुओं के षड्यन्त्रों और अनैतिक प्रभाव से बचाना भी होगा। अशोक ने अन्यत्र ऐसे महामात्रों का उल्लेख किया भी है जो उसके और उसके भाई-बहिनों के पाटलिपुत्र व अन्य स्थानों पर स्थित अन्त:पुरों की देख भाल करते थे।

९. **वचभुमिक** = व्रजभूमिकाः। 'वचभूमिक' का शाब्दिक अर्थ है 'वह पदाधिकारी (भुमिक) जो चरागाहों (वच = व्रज) से सम्बंधित कार्यों को पूरा करता है।' मुखर्जी का अनुमान है कि ये पदाधिकारी वाणिक्पथों में व्यापारियों और धर्मयात्रियों के बीच भी धर्मप्रचार करते होंगे। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'व्रजभुमिक' व्रज देश के निवासी थे जिनकी रुचि धर्मयात्राओं और वाद-विवादों में अधिक रहती थी। रोमिला थापर ने उनको 'राजकीय कृषि क्षेत्रों के मैनेजर' बताया है और ब्युलर तथा सरकार ने 'पशुपालकोंके बीच काम करने वाले अधिकारी'। बरुआ का कहना है कि व्रज शब्द का एक अर्थ महल का एक भवन या गोष्ठ भी है और यहाँ इसका आशय सभा, समिति अथवा परिषत् हो सकता है। उस अवस्था में वचभुमिक पदाधिकारी सामाजिक सभाओं और महलों से सम्बन्धित रहे होंगे।

१०. **निकाया**—निकाय का अर्थ है 'वर्ग'। यहाँ इसका अर्थ है 'पदाधिकारी वर्ग'। १३वें शिलालेख में यह सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्य पदाधिकारियों के लिए दे०, ७वाँ स्तम्भ-लेख।

त्रयोदश शिलालेख

(शहबाजगढ़ी संस्करण)

मूलपाठ

१. अठवषअभिसितस देवनप्रिअस प्रिअद्रशिस रञो कलिग विजित [।] दिअढमत्रे प्रणशतसहस्रे ये ततो अपवुढे शतसहस्रमत्रे तत्र हते वहुतवतके व मुटे [।]

२. ततो पच अधुन लधेषु कलिगेषु तिव्रे ध्रमशिलन ध्रमकमत ध्रमनुशस्ति च देवनप्रियस [।] सो अस्ति अनुसोचन देवनप्रिअस विजिनिति कलिगनि [।]

३. अविजितं हि विजिनमनो यो तत्र वध व मरणं व अपवहो व जनस तं बढं वेदनियमतं गुरुमतं च देवनंप्रियस [।] इदं पि चु ततो गुरुमततरं देवनंप्रियस [।] ये तत्र

४. वसति ब्रमण व श्रमण व अंञे व प्रषंड ग्रहथ व वेसु विहित एष अग्र-भुटिसुश्रुष मतपितुषु सुश्रुष गुरुन सुश्रुष मित्रसंस्तुतसहय

५. ञतिकेषु दसभटकनं सम्मप्रतिपति द्रिढभतित तेष तत्र भोति अपग्रथो व वधो व अभिरतन व निक्रमणं [।] येष व पि सुविहितनं सिहो अविप्रहिनो ए तेष मित्रसंस्तुतसहयञतिक वसन

६. प्रपुणति तत्र तं पि तेष वो अपघ्रथो भोति [।] प्रतिभगं च एतं स-व्रमनुशनं गुरुमतं च देवनं प्रियस [।] नस्ति च एकतरे पि प्रषडस्पि न नम प्रसदो [।] सो यमत्रो जनो तद कलिगे हतो च मुटो च अपवुढ च ततो

७. शतभगे व सहस्रभगं व अज गुरुमतं वो देवनंप्रियस [।] यो पि च अपकरेयति क्षमितवियमते व देवनंप्रियस यं शको क्षमनये [।] यो पि च अटवि देवनंप्रियस विजिते भोति त पि अनुनेति अनुनिजषेति [।] अनुतपे पि च प्रभवे

८. देवनंप्रियस वुचति तेष किति अवत्रपेयु न च हंयेयसु [।] इछति हि देवनंप्रियो सव्रभुतन अक्षति संयमं समचरियं रभसिये [।] अयि च मुखमुत विजये देवनंप्रियस यो ध्रमविजयो [।] सो च पुन लधो देवनं-प्रियस इह च सवेषु च अंतेषु

९. अ षषु पि योजनशतेषु यत्र अंतियोको नम योनरज परं च तेन अतियो-केन चतुरे ४ रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम निच चोड पंड अव तंबपंणिय [।] एवमेव हिद रजविषवस्पि योनकंबोयेषु नभकनभितिन

१०. भोजपितिनिकेषु अंध्रपलिदेषु सवत्र देवनंप्रियस ध्रमनुशस्ति अनुवटंति [।] यत्र पि देवनंप्रियस दुत न व्रचति ते पि श्रुतु देवनंप्रियस ध्रमवुटं विधनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति अनुविधियिशंति च [।] यो स लधे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन

११. विजयो प्रितिरसो सो [।] लध भोति प्रिति ध्रमविजयस्पि [।] लहुक तु खो स प्रिति [।] परत्रिकमेव महफल मेञति देवनंप्रियो [।] एतये च अठये अयि ध्रमदिपि निपिस्त किति पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेतविअ मञिषु एकस्पि यो विजये क्षंति च लहुदंडत च रोचेतु तं च यो विज (य) मञतु

१२. यो ध्रमविजयो [।] सो हिदलोकिको परलोकिको [।] सवचतिरति भोतु य धंमरति [।] स हि हिदलोकिक परलोकिक [।।]

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने प्रथम पंक्ति में 'दिअढ' को 'दियध' पढ़ा है और वह मुटे के पूर्व 'व' को नहीं पढ़ पाए हैं। दूसरी पंक्ति में वह 'पच' को 'पछ' पढ़ते हैं, 'कलिगेषु' को 'कलिंगेषु' 'ध्रमशिलन' को 'ध्रमपलन' 'अनुसोचन' को 'अनुसोचनं', तीसरी पंक्ति में 'विजिनमनो यो' को 'विजिनमनि ये', 'वध' को 'वधो', 'इदं' को 'इयं', पाँचवी में 'द्रिढ भतित' को 'दिढ भतित' तथा छठी में 'अपघ्रथो' को 'अपग्रथो' एवं 'सव्रमनुशनं' को 'सव्रं मनुशनं'। ब्युलर ने ही आठवीं पंक्ति में रभसिये के उपरान्त अयि के स्थान पर 'एषे', नवीं में 'विषवस्पि' को 'विषवत्रि', १० वीं में 'पलिदेषु को 'पुलिदेषु' और 'विधनं' को 'विधेनं', ११ वीं में 'अयि' को 'अयो' तथा 'तं च यो' को 'तं एव' तथा १२ वीं में 'सव चतिरति' को 'सव्र च निरति' और 'ध्रमं रति' को 'स्रम रति'।

शब्दार्थ

दि अढमत्रे प्रण शतसहस्रे=डेढ लाख प्राणी अर्थात् मनुष्य ; **अपवुढे**=अपोढं, अपहृत हुए ; **हते**=आहतं, युद्ध में घायल हुए ; **बहु तवतके**=बहुतावतकं ; उतने ही संख्या में ; **मुटे**=मृतम्, मृत हुए ; **ततो पच**=उसके पश्चात् ; **अधुन**=अधुना, आज, हालहीमें ; **लधेषु कलिंगेषु**=लब्धेषु कलिंगेषु, उपलब्ध अर्थात् जीते हुए कलिंग में ; **तीव्रे**=तीव्र ; **ध्रमशिलन**=धर्मशीलनं, धर्म का व्यवहार ; **ध्रमकमत**=धर्मकामना, धर्म का प्रेम ; **ध्रमनुशस्ति**=धर्मानुशस्ति, धर्म का उपदेश ; **अनुसोचन**=पश्चात्ताप ; **विजिनिति**=विजित्य, जीतकर ; **अविजितं हि विजिनमनो यो**=जो अविजित जीता जाता है ; **अपवहो**=अपवाहः, अपहरण ; **बढं**=बाढं, अत्यन्त ; **वेदनियमतं**=वेदना देने वाला ; **गुरुमतं**=गम्भीर ; **इदम् अपि तु ततः**=इससे भी अधिक ; **अंत्रे**=अन्ये ; **येषु**=जिनमें ; **विहित**=विहित हैं ; **अग्र भुटि सुश्रुष**=अग्रभृति शुश्रूषा, उच्चपदस्थ पुरुषों की शुश्रुषा ; **मित्र संस्तुत सहय**=मित्र संस्तुत सहायः, मित्र परिचित और सहायक ; **ञतिकेषु**=जाति वालों में ; **दसभटकनं**=दास और भृत्यों में ; **सम्मप्रतिपति**=सम्यक् व्यवहार ; **द्रिढभतित**=दृढभक्ति ; **भोति**=भवति, होता है ; **अपग्रथो**=आघात ; **अभिरतन**=अभिरक्तानां, प्रियजनों का ; **येष वपि**=येषां वा अपि, उनके भी जो ; **सुविहितनं**=सुस्थित हैं जो उनका ; **सिहो अविप्रहिनो**=स्नेहः अविप्रहीनः, जो स्नेह से अहीन हैं अर्थात् जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है उनका ; **वसन**=व्यसन ; **प्रपुणति**=प्राप्नुवन्ति, प्राप्त होते हैं ; **प्रतिभगं**=प्रतिभागः ; **सव्रमनुशनं**=सर्वमनुष्याणां, सब मनुष्य का ; **एकतरे पि**=एक भी ; **प्रसदो**=प्रसाद, अनुराग ; **सो यमत्रो**=यत् यन्मात्रः, इसलिये भी ; **अपकरेयति**=अपकार करता है ; **क्षमित वियमते व**=क्षन्तव्यमतम् एव, क्षन्तव्य ही है ; **शको**=शक्य ; **अटवि**=वनों में रहने वाले ; **विजिते**=साम्राज्य में ; **अनुनेति**=अनुनय करता है ; **अनुनिजपेति**=अनुनिध्याययति, बोध कराता है ; **अवत्रपेयु**=अवत्रपेरन्, संकोच करें, बचें ; **हंञेयसु**=मारे जाएँ ; **सव्रभुतन**=सर्वभूतानां, सब प्राणियों का ; **अक्षति**=कल्याण ; **समचरियं**=समाचर्यम्, अपक्षपात ; **रभसिये**=राभस्ये ; **मुखमुत**=मुख्य ; **लधो**=लब्धः ; **अंतेषु**=प्रत्यन्त देशों में, अषषु=आ षड्भ्यः **निच**=नीचाः, दक्षिण में स्थित ; **अव**=यावत्, तक ; **एवमेव**=इसीप्रकार ; **रजविषवस्पि**=राजविषये, राजविषय में ; **अनुवंटति**=अनुवर्तते, पालन करते हैं ; **दूत**=दूत ; **व्रचंति**=पहुँचते हैं ; **श्रतु**=श्रुत्वा, सुनकर ; **ध्रमवुटं**=धर्मोक्ति ; **विधनं**=विधान ; **अनुविधियंति**=आचरण करते हैं ; **अनुविधियिशंति**=आचरण करते रहेंगे ; **एतकेन**=इस प्रकार से ; **विजयोप्रितिरसो**=प्रेम रसयुक्त विजय ; **लहुक**=लघुका, लघु ; **परत्रिकमेव**=पारलौकिक (सुख को) ही ; **महफल**=महाफल ; **मेजति**=मन्यते, मानते हैं ; **एतये च अठये**=एतस्मै च अर्थाय, इस प्रयोजन के लिए ; **ध्रमदिपि**=धर्मलिपि ; **निपिस्त**=निवेशिता, लिखवाई गई ; **क्षति**=क्षान्ति ; **लहुदंडत**=लघुदण्डता ।

अनुवाद

आठ वर्ष से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कलिंगों (अर्थात्

कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके बाद हाल में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मो-पदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है ; यह देवा-नांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य तथा सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहा-यकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।

और यदि कोई उपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहां तक) क्षन्तव्य है जहां तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों ?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामका यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक मक नामक अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोयों (= यवनकम्बोजों), नभक नभितिनों (= नाभक-नाभपंतियों), भोज पितिनिकों (= भोज-पैत्र्यणिकों), अंधपलिदों (= अन्ध्रपुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय की

धर्मानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय उपलब्ध होती है, वह सर्वत्र पुनः प्रेम रसयुक्त विजय होती है। धर्मविजय में प्रीति प्राप्त होती है। परन्तु वह प्रीति बहुत लघु होती है। देवानांप्रिय (धर्मविजय का) महाफल पारलौकिक (सुखको) ही मानते हैं। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवाई गई। क्यों?—(इसलिए कि) मेरे पुत्र (और) पौत्र जो हों वे नई (शस्त्र) विजय को विजय न मानें। यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो वे क्षान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें। और उसी को विजय मानना चाहिए जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्मरति है वही पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।

व्याख्या

(१) **बहु तवतके व मुटे**—हूल्त्ज़ ने इसका अर्थ किया है 'उसके कई गुने मृत हुए'। रो० थापर ने हूल्त्ज़ का अनुसरण किया है। रा० व० पाण्डेय ने एक स्थल पर इसका अर्थ किया है 'बहुत से मारे गए' (अशोक के अभिलेख, पृ० १९), दूसरे पर 'उससे भी अधिक मरे' (वही, पृ० ३८) और तीसरे स्थल पर 'उससे कई गुना [illegible] हुए' (वही, पृ० ५९)। बरुआ के अनुसार इस पंक्ति में पहिले वन्दी बनाए गए [illegible] की संख्या दी गई है, फिर आहतों की और प्रस्तुत पद में मृतकों की जो पिछली [illegible]ओं से ज्यादा नहीं हो सकती थी। इसलिए वह इस पद का अर्थ करते हैं 'उतनी [illegible]ख्या में मरे'। यह संख्या घायलों की संख्या के बराबर भी मानी जा सकती है [illegible] घायलों और अपहृतों की संख्याओं के योग के बराबर भी। हमें बरुआ का मत [illegible]ही प्रतीत होता है।

(२) **कलिग** = कलिंगाः। बहुवचनान्त 'कलिंगाः' का प्रयोग देश के अर्थ में हुआ है। बंगाल की खाड़ी के किनारे महानदी और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश। प्लिनी ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है—कलिंग, मध्यकलिंग और महाकलिंग। प्राचीन अभिलेखों में त्रिकलिंग का उल्लेख आता है। रा० ला० मित्र के अनुसार प्लिनी के तीनों कलिंग मिलकर त्रिकलिंग कहलाते थे। महाकलिंग=उत्कलिंग=उत्कल। कलिंग नन्दों के युग में मागध-साम्राज्य का अंग था (दे०, खारवेल का हाथिगुम्फा-लेख)। नन्दों के बाद और अशोक के पूर्व यह कभी स्वतन्त्र हो गया था। सरकार के अनुसार अशोक युग में यह पुरी-कटक प्रदेश से गन्जाम-सिरीकाकुलम तक विस्तृत था।

(३) **अपवुढे**=अपोढं=(बन्दी रूप में) ले जाए गए। इतनी बड़ी संख्या में वन्दियों को जेलों में रखना बहुत कठिन था। तु०, आधुनिक काल में भारत में ९०,००० पाकिस्तानी बन्दियों को जेलों में रखने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ।

कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके बाद हाल में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है ; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य तथा सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।

और यदि कोई उपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहां तक) क्षन्तव्य है जहां तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों ?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामका यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक मक नामक अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोयों (= यवनकम्बोजों), नभक नभितिनों (= नाभक-नाभपंतियों), भोज पितिनिकों (= भोज-पैत्र्यणिकों), अंधपलिदों (= अन्ध्रपुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय

धर्मानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय उपलब्ध होती है, वह सर्वत्र पुनः प्रेम रसयुक्त विजय होती है। धर्मविजय में प्रीति प्राप्त होती है। परन्तु वह प्रीति बहुत लघु होती है। देवानांप्रिय (धर्मविजय का) महाफल पारलौकिक (सुखको) ही मानते हैं। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवाई गई। क्यों ?—(इसलिए कि) मेरे पुत्र (और) पौत्र जो हों वे नई (शस्त्र) विजय को विजय न मानें। यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो वे क्षान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें। और उसी को विजय मानना चाहिए जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्मरति है वही पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।

व्याख्या

(१) **बहु तबतके व मुटे**—हूल्ज ने इसका अर्थ किया है 'उसके कई गुने मृत हुए'। रो० थापर ने हूल्ज़ का अनुसरण किया है। रा० व० पाण्डेय ने एक स्थल पर इसका अर्थ किया है 'बहुत से मारे गए' (अशोक के अभिलेख, पृ० १९), दूसरे पर 'उससे भी अधिक मरे' (वही, पृ० ३८) और तीसरे स्थल पर 'उससे कई गुना मृत हुए' (वही, पृ० ५९)। बरुआ के अनुसार इस पंक्ति में पहिले बन्दी बनाए गए लोगों की संख्या दी गई है, फिर आहतों की और प्रस्तुत पद में मृतकों की जो पिछली संख्याओं से ज्यादा नहीं हो सकती थी। इसलिए वह इस पद का अर्थ करते हैं 'उतनी ही संख्या में मरे'। यह संख्या घायलों की संख्या के बराबर भी मानी जा सकती है और घायलों और अपहृतों की संख्याओं के योग के बराबर भी। हमें बरुआ का मत सही प्रतीत होता है।

(२) **कलिग** = कलिंगाः। बहुवचनान्त 'कलिंगः' का प्रयोग देश के अर्थ में हुआ है। बंगाल की खाड़ी के किनारे महानदी और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश। प्लिनी ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है—कलिंग, मध्यकलिंग और महाकलिंग। प्राचीन अभिलेखों में त्रिकलिंग का उल्लेख आता है। रा० ला० मित्र के अनुसार प्लिनी के तीनों कलिंग मिलकर त्रिकलिंग कहलाते थे। महाकलिंग=उत्कलिंग=उत्कल। कलिंग नन्दों के युग में मागध-साम्राज्य का अंग था (दे०, खारवेल का हाथिगुम्फा-लेख)। नन्दों के बाद और अशोक के पूर्व यह कभी स्वतन्त्र हो गया था। सरकार के अनुसार अशोक युग में यह पुरी-कटक प्रदेश से गञ्जाम-सिरीकाकुलम तक विस्तृत था।

(३) **अपवुढे**=अपोढं=(बन्दी रूप में) ले जाए गए। इतनी बड़ी संख्या में बन्दियों को जेलों में रखना बहुत कठिन था। तु०, आधुनिक काल में भारत में ९०,००० पाकिस्तानी बन्दियों को जेलों में रखने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ।

कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके बाद हाल में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है ; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य तथा सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।

और यदि कोई उपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहां तक) क्षन्तव्य है जहां तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों ?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामका यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक मक नामक अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोयों (= यवनकम्बोजों), नभक नभितिनों (= नाभक-नाभपंतियों), भोज पितिनिकों (= भोज-पैत्र्यणिकों), अंधपलिदों (= अन्ध्रपुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय की

में शस्त्र प्रयोग, कम से कम नए प्रदेशों को जीतने के लिए, पूर्णतः वर्जित था। उसने स्वयं कलिंग विजय के बाद कोई प्रदेश नहीं जीता। उल्टे वह पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों को उनके प्रति अपनी शुभकामनाओं का विश्वास दिलाता है और उन्हें आश्वासन देता है कि वह 'उद्विग्न न हों, मुझसे आश्वस्त हों। मुझसे सुख प्राप्त करें दुख नहीं' (द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। अपने साम्राज्य में भी वह अटवि जनों को अपने प्रताप के साथ पश्चात्ताप का स्मरण दिलाता है। लेकिन उसके शब्दों में उनके व अन्तों के प्रति एक चेतावनी भी छिपी है : "क्षमा करेंगे राजा जहाँ तक क्षमा करना शक्य है" (प्रस्तुत लेख एवं द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। स्पष्ट है वह अपनी शक्ति व प्रताप से परिचित था लेकिन चाहता था कि लोग यह बात समझें कि वह यथा शक्ति धैर्य रखेगा और उन्हें क्षमा करेगा। प्रश्न उठता है कि उसकी इस नीति का साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा। 'गार्गी संहिता' के लेखक ने अशोक के कुछ ही दशक उपरान्त इस नीति को अपनाने के कारण शालिशूक को 'मोहात्मा' (=मूर्ख) कहा था (स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्)। उसका यह निर्णय जो अशोक पर भी लागू होता है, सत्य से अतिदूर नहीं था क्योंकि अशोक निश्चय ही यह समझ बैठा था कि उसकी इस नीति से एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में पृथिवी पर मानो स्वर्ग उतर आया था और देवता और मनुष्य अमिश्र हो गए थे (दे०, रूपनाथ ल० शि० ले० की टिप्पणी) अन्यत्र भी वह अपनी धर्मविजय नीति की सफलता का अतिरञ्जित वर्णन करता है। लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है शस्त्र विजय की नीति के परित्याग से "साम्राज्य की सामरिक क्षमता अवश्य ही घटी होगी।" इस मत के विरुद्ध वरुआ आदि का आग्रह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अशोक ने अपनी सेनाएँ भंग कर दी थीं। उल्टे वह अटवि जनों को अपने प्रताप का स्मरण दिला कर अपनी सैनिक क्षमता की ओर संकेत करता है।लेकिन हमारे विचार से प्रश्न यह नहीं है कि उसने सेनाएँ भंग कर दी थीं या नहीं। प्रश्न इस बात का है कि उसने और अधिक प्रदेशों को जीतने के लिए सेनाओं का प्रयोग करना बन्द कर दिया। इससे सेनाओं की व्यवहार-कुशलता, युद्ध-प्रियता एवं क्षमता अवश्य घटी होगी। जैसा कि सर्वज्ञात है धन के समान राज्य भी या तो बढ़ता है या घटता है, कभी यथावत् नहीं रहता। जो सेना दो चार दशक तक युद्ध नहीं करेगी वह युद्ध का अनुभव कैसे प्राप्त करेगी और फिर अवसर पड़ने पर लड़ेगी क्या ? स्वतन्त्र भारत को इस नीति का खट्टा फल एक बार चखना पड़ा था। इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि सभी देशों में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के इच्छुक सम्राट् अपने साम्राज्य की रक्षा साम्राज्य की सीमाओं के परे करते थे। रोमक सम्राट् सदैव अपनी सीमाओं के बाहर पश्चिमी एशिया, फ्रान्स, जर्मनी और अफ्रीका में लड़े, चीनी नरेश थाइलैण्ड, सिंक्यांग और तिब्बत में तथा ईरानी शासक यूनान और भारत में। आज भी चीन, रूस तथा अमेरिका आदि की यही नीति है। अशोक ने धर्म विजय की नीति अपनाकर सेनाएँ

(४) **तिव्रे ध्रमशिलन**—काल्सी संस्करण में 'तिवे धम्मवाये'। अशोक का आशय है कि किस प्रकार कलिंग युद्ध के उपरान्त उसमें तीव्र धर्मशील जाग्रत हुआ। जैसा कि रायचौधुरी ने सुझाया है कि यह प्रवृत्ति अशोक में पहिले से ही थी, कलिंग युद्ध के कारण केवल तीव्र हो गई थी।

(५) **अग्रभुटि सुश्रुष**—ब्युलर ने 'अग्रभुटि' का अर्थ 'अग्रजन्मा=ब्राह्मण' किया है, हूल्त्ज़ ने 'अग्रभृति (अधिक वेतन) पाने वाले' तथा मुखर्जी ने 'अग्रणी'। इनमें हूल्त्ज़ का मत निश्चय ही गलत है क्योंकि इसी लेख में आगे 'भृति' के लिए 'भटक' शब्द का प्रयोग है।

(६) **य पि च अटवि देवनं पियस विजिते भोति**—यहाँ अशोक ने अपने साम्राज्य की समस्त वनवासी और पर्वतीय जातियों की ओर, जो लूटपाट करके जीवन यापन करती थी, संकेत किया लगता है, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के समान आटविक राज्यों की ओर नहीं। जातकों से स्पष्ट है कि आटविक जातियाँ सभी प्रदेशों में थीं। अशोक ने उनकी शक्ति का संयत रूप से प्रयोग करके नियन्त्रित रखने की चेष्टा की। बुद्धघोष की 'अट्ठसालिनी' में ऐसे 'प्रचन्तवासिनोमहामत्ता' (=अशोक के अन्त-महामत्ता) का उल्लेख है जो डाकुओं, चोरों, लुटेरों का, जो पर्वतों में घुसकर शरण लेते थे (पब्बतं पविसिंसु), कठोरता से दमन करते थे।

(७) **अनुतपे पि च प्रभवे**= 'अनुताप और प्रभाव'। अनुताप इसलिए कि उपद्रवियों को दण्डित करना पड़ता था और 'प्रभाव' उनको दण्डित कर सकने की शक्ति।

(८) **ध्रमविजय** = धम्मविजय = धर्मविजय। यहाँ 'धर्म विजय' शब्द 'सरसक विजय' = 'शर विजय' अर्थात् 'शस्त्र विजय' का विलोमार्थक है। अशोक की धर्म विजय के दो पक्ष थे—एक निषेधात्मक जिसमें आक्रमक सैनिकवाद को त्यागने और शस्त्र प्रयोग के समय भी सहनशीलता व संयम से काम लेने की भावना निहित थी और दूसरा सकारात्मक पक्ष जिसमें द्वितीय शि० ले०, सप्तम स्त० ले० व रानी के लेख आदि में परिगणित जनहित के कार्यों को करने एवं धर्म प्रचार के लिए दूत भेजने पर वल दिया गया था। रायचौधुरी के अनुसार अशोक की धर्मविजय का आदर्श वही था जिसे 'चक्कवत्ती सीहनाद सुत्त' में 'विना दण्ड और शस्त्र के द्वारा, धर्म द्वारा विजय' (अदण्डेन असत्येन धम्मेन अभिविजय) कहा गया है। यह 'महाभारत' (११. ५९.३८-९) 'हरिवंश' (१.४१.१२), 'अर्थशास्त्र' (१२.१) तथा 'रघुवंश' (४.४३) में वर्णित हिन्दू धर्मविजय से भिन्न आदर्श था। यहाँ एरियन का यह कथन कि भारतीय नरेशों को उनकी न्याय-भावना भारत के बाहर विजय प्राप्त करने से रोकती थी, अनायास स्मरण हो आता है। हिन्दू धर्म विजय के आदर्श में शस्त्र प्रयोग वर्जित नहीं था, विजित राज्यों को साम्राज्य में मिलाना वर्जित था। अशोक की धर्मविजय

में शस्त्र प्रयोग, कम से कम नए प्रदेशों को जीतने के लिए, पूर्णतः वर्जित था। उसने स्वयं कलिंग विजय के बाद कोई प्रदेश नहीं जीता। उल्टे वह पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों को उनके प्रति अपनी शुभकामनाओं का विश्वास दिलाता है और उन्हें आश्वासन देता है कि यह 'उद्विग्न न हों, मुझसे आश्वस्त हों। मुझसे सुख प्राप्त करें दुख नहीं' (द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। अपने साम्राज्य में भी वह अटवि जनों को अपने प्रताप के साथ पश्चात्ताप का स्मरण दिलाता है। लेकिन उसके शब्दों में उनके व अन्तों के प्रति एक चेतावनी भी छिपी है : "क्षमा करेंगे राजा जहाँ तक क्षमा करना शक्य है" (प्रस्तुत लेख एवं द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। स्पष्ट है वह अपनी शक्ति व प्रताप से परिचित था लेकिन चाहता था कि लोग यह बात समझें कि वह यथा शक्ति धैर्य रखेगा और उन्हें क्षमा करेगा। प्रश्न उठता है कि उसकी इस नीति का साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा। 'गार्गी संहिता' के लेखक ने अशोक के कुछ ही दशक उपरान्त इस नीति को अपनाने के कारण शालिशूक को 'मोहात्मा' (=मूर्ख) कहा था (स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्)। उसका यह निर्णय जो अशोक पर भी लागू होता है, सत्य से अतिदूर नहीं था क्योंकि अशोक निश्चय ही यह समझ बैठा था कि उसकी इस नीति से एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में पृथिवी पर मानो स्वर्ग उतर आया था और देवता और मनुष्य अमिश्र हो गए थे (दे०, रूपनाथ ल० शि० ले० की टिप्पणी) अन्यत्र भी वह अपनी धर्मविजय नीति की सफलता का अतिरञ्जित वर्णन करता है। लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है शस्त्र विजय की नीति के परित्याग से "साम्राज्य की सामरिक क्षमता अवश्य ही घटी होगी।" इस मत के विरुद्ध बरुआ आदि का आग्रह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अशोक ने अपनी सेनाएँ भंग कर दी थीं। उल्टे वह अटवि जनों को अपने प्रताप का स्मरण दिला कर अपनी सैनिक क्षमता की ओर संकेत करता है।लेकिन हमारे विचार से प्रश्न यह नहीं है कि उसने सेनाएँ भंग कर दी थीं या नहीं। प्रश्न इस बात का है कि उसने और अधिक प्रदेशों को जीतने के लिए सेनाओं का प्रयोग करना बन्द कर दिया। इससे सेनाओं की व्यवहार-कुशलता, युद्ध-प्रियता एवं क्षमता अवश्य घटी होगी। जैसा कि सर्वज्ञात है धन के समान राज्य भी या तो बढ़ता है या घटता है, कभी यथावत् नहीं रहता। जो सेना दो चार दशक तक युद्ध नहीं करेगी वह युद्ध का अनुभव कैसे प्राप्त करेगी और फिर अवसर पड़ने पर लड़ेगी क्या ? स्वतन्त्र भारत को इस नीति का खट्टा फल एक बार चखना पड़ा था। इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि सभी देशों में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के इच्छुक सम्राट् अपने साम्राज्य की रक्षा साम्राज्य की सीमाओं के परे करते थे। रोमक सम्राट् सदैव अपनी सीमाओं के बाहर पश्चिमी एशिया, फ्रान्स, जर्मनी और अफ्रीका में लड़े, चीनी नरेश थाइलैण्ड, सिक्यांग और तिब्बत में तथा ईरानी शासक यूनान और भारत में। आज भी चीन, रूस तथा अमेरिका आदि की यही नीति है। अशोक ने धर्म विजय की नीति अपनाकर सेनाएँ

चाहे भंग न की हों, परन्तु साम्राज्य के प्रसार की प्रक्रिया को अवश्य ही रोक दिया और "जब तक कोई शत्रु हम पर आक्रमण नहीं करता तब तक हमें लड़ने की क्या आवश्यकता"—यह घातक नीति अपनाई। इसके बाद मौर्य साम्राज्य की नींव लड़खड़ाना केवल समय की बात रह गई क्योंकि जब सेनाओं के लड़ने का अभ्यास छूट गया तो वे आक्रमणकारी शत्रुओं का सामना करने में स्वतः असमर्थ हो गईं। निष्कर्षतः अशोक की धर्म विजय की नीति को मौर्य साम्राज्य की अवनति का काफी महत्त्वपूर्ण कारण माना जाना चाहिए।

(९) **अंतियोको, तुरमय, अंतकिनि, मक, अलिकसुंदरो**—ये अशोक के पाँच पड़ोसी यूनानी राजाओं के नाम हैं। इनमें अंतियोक का उल्लेख द्वितीय शि० ले० में भी हुआ है। अन्य योन राजाओं का वहां बिना नाम दिए अंतियोक के पड़ोसियों के रूप में उल्लेख है। यहाँ अंतियोक के राज्य के छः सौ योजन दूरी के अन्दर बताया गया है और शेष योन राज्यों को अंतियोक के राज्य के परे। दोनों ही स्थलों पर अंतियोक अशोक का निकटतम पड़ोसी है। **अंतियोक**=द्वितीय एण्टियोकस थियोस, सीरिया नरेश (२६१-४६ ई० पू०)। वह सेल्युकस निकाटोर (३१२-२८० ई० पू०) का पौत्र और प्रथम एण्टियोकस सोटर (२८०-६१ ई० पू०) का पुत्र था। **तुरमय**= मिस्र का यूनानी राजा द्वितीय तालेमी फिलाडेल्फस (२८५–२४७ ई० पू०)। **अंतिकिनी**=मेसिडोनिया नरेश एण्टिगोनस गोनेटस (२७६–४६ ई० पू०)। **मक**= उत्तरी अफ्रीका के सीरीन राज्य का स्वामी मगस (३००–२५८ अथवा २५० ई० पू० तक) जो तालेमी का सौतेला भाई था। अलिकसुंदर=अलेक्ज़ेण्डर, एपिरस का राजा (२७२–२५८ या २५५ तक)। कुछ विद्वान् उसे कोरिंथ-नरेश अलेक्ज़ेण्डर मानते हैं जिसने २५२ से २४४ ई० पू० तक शासन किया। परन्तु यह असम्भव है। ये सभी राजा सिकन्दर के सेनापतियों के वंशज थे। अशोक ने उनके राज्यों में दूत भेजकर वस्तुतः कितनी सफलता अर्जित की कहना कठिन है। रीज डेविड्स को इसमें बहुत शंका थी कि यूनानियों ने अशोक की धर्म विजय को गम्भीरता से लिया होगा जबकि रायचौधुरी, मुखर्जी, भण्डारकर और बरुआ आदि अशोक के दावे को उसकी इस क्षेत्र में यथार्थ सफलता पर आधारित मानते हैं।

चतुर्दश शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अयं धंमलिपि देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता अस्ति एव
२. संखितेन अस्ति मझमेन अस्ति विस्ततन [।] न च सर्वं सर्वत घटितं [।]
३. महालके हि विजितं बहु च लिखितं लिखापयिसं चेव [।] अस्ति च एत कं
४. पुन पुन वुतं तस तस अथस माधूरताय किंति जनो तथा पटिपजेथ [।]
५. तत्र एकदा असमातं लिखितं अस देसं व सछाय कारणं व
६. अलोचेत्वा लिपिकरापरधेन व [॥]

पृथक् कलिंग शिलालेख

(धौली संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियस वचनेन तोसलिय महामात नगलवियोहालका
२. वतविय [।] अं किछि दखामि हकं तं इछामि किति कंमन पटिपादये हं
३. दुवालते च आलभेहं [।] एस च मे मोखयमत दुवाल एतसि अठसि अं तुफेसु
४. अनुसथि [।] तुफे हि बहूसु पानसहसेसु आयत पनयं गछेम सु मुनिसानं [।] सवे
५. मुनिसे पजा ममा [।] अथा पजाये इछामि हकं किति सवेन हितसुखेन हिदलोकिक-
६. पाललोकिकेन यूजेवू ति तथा—सव मुनिसेसु पि इछामि हकं [।] नो च पापुनाथ आवग-
७. मुके इयं अठे [।] केछ व एकपुलिसे पापुनाति एतं से पि देसं नो सवं [।] देखत हि तुफे एतं
८. सुविहिता पि [।] नितियं एकपुलिसे पि अथि ये बंधनं वा पलिकिलेसं पापुनाति [।] तत होति
९. अकस्मा तेन बधनतिक अंने च········हु·जने दविये दुखयति [।]·तत इछितविये
१०. तुफेहि किति मझं पटिपादयेमा ति [।] इमेहि चु जातेहि नो संपटिपजति इसाय आसुलोपेन
११. निठूलियेन तूलनाय अनावूतिय आलसियेन किलकथेन [।] इछितविये किति एते
१२. जाता नो हुवेवु ममा ति [।] एवस च सवस मूले अनासुलोपे अतूलना च [।] नितियं ए किलंते सिया
१३. न ते उगछ सञ्चलितविये तु वटितविये एतविय वा [।] हेवंमेव ए दखेय तुफाक तेन वतविये
१४. आनंने देखत हेवं च हेवं च देवानंपियस अनुसथि [।] से महाफले ए तस संपटिपाद
१५. महाअपाये असंपटिपति [।] विपटिपादयमीने हि एतं नथि स्वगस आलधि नो लाजालधि [।]

१६. दुआहले हि इमस कंमस मे कुते मतोअतिलेके [।] संपटिपजमीने चु एतं स्वगं
१७. आलाधयिसथ मम च आननियं एहथ [।] इयं च लिपि तिसनखतेन सोतविया [।]
१८. अंतला पि च तिसेन खनसि एकेन पि सोतविव [।] हेवं च कलंतं तुफे
१९. चघथ संपटिपादयितवे [।] एताये अठाये इयं लिपि लिखित हिद एन
२० नगलवियोहालका सस्वतं समयं यूजेवू ति·······नस अकस्मा पलिबोधे व
२१. अकस्मा पलिकिलेसे व नो सिया ति [।] एताये च अठाये हकं······ महामते पञ्चसु पञ्चसु वसे
२२. सु निखामयिसामि ए अखखसे अचंडे सखिनालंभे होसति एतं अठं जानितु ·······तथा
२३. कलंति अथ मम अनुसथी ति [।] उजेनिते पि चु कुमाले एताये व अठाये निखामयिस·······
२४. हेदिसमेव वङ्ग नो च अतिकामयिस्रति तिनि वसानि [।] हेमेव सखसिलाते पि [।] अदां ज·······
२५. ते महामाता निखमिसंति अनुसयानं तदा अहापयितु अतने कंमं एतं पि जानिस
२६. तं पि तथा कलंति अथ लाजिने अनुसथी ति [॥]

द्वितीय पृथक् कलिंग शिलालेख

(जौगड़ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आहृ [।] समापायं महामता लाजवचनिक वतविया [।] अं किछि दखामि हकं तं इछामि हकं किंति कं कमन

२. पटिपातयेहं दुवालते च आलभेहं [।] एस च मे मोखियमत दुवाल एतस अथस अं तुफेसु अनुशथि [।] सवमुनि

३. सा मे पजा [।] अथ पजाये इचछामि किंति मे सवेण हितसुखेन युजेयू अथ पजाये इछामि किंति मे सवेन हित सु

४. खेन युजेयू ति हिदलोगिकपाललोकिकेण हेवंमेव मे इछ सवमुनिसेसु [।] सिया अंतानं अविजिता

५. नं किछादे सु लाजा अफेसू ति [।] एताका वा मे इछ अंतेसु पापनेयु लाजा हेवं इछति अनुविगिन ह्वेयू

६. ममियाये अस्वसेयु च मे सुखंमेव च लहेयू ममते तो खं हेवं च पापुनेयु

७. ए सकिये खमितवे ममं निमितं च धंमं चलेयू ति हिदलोगं च पललोगं च आलाधयेयू [।] एताये

८. च अठाये हकं तुफेनि अनुसासामि अनने एतकेन हकं तुफेनि अनुसासितु छंदं च वेदि

९. तु आ मम धिति पटिना च अचल [।] स हेवं कटू कंमे चलितविये अस्वासनिया च ते एन ते पापने

१०. यु अथा पित हेवं ने लाजा ति अथ अतानं अनुकंपति हेवं अफेनि अनुकंपति अथा पजा हे

११. वं मपे लाजिने [।] तुफेन हकं अनुसासित छांद च वेदित आ मम धिति पटिना चा अचल सकल

१२. देसाआयुतिके होसामी एतसि अथसि [।] अलं हि तुफे अस्वासनाये हितसुखाये च तेसं हिद

१३. लोगिकपाललोकिकाये [।] हेवं च कलंतं स्वगं च आलधयिसथ मम च आननेयं षसथ [।] ए

१४. ताये च अथाये इयं लिपि लिखित हिद एन महामाता सास्वतं समं युजेयू अस्वासनाये च

१५. धंमचलनाये च अंतानं [।] इयं च लिपि अनुचातुंमासं सोतविया तिसेन [।] अंतला पि च सोतविया [।]

१६. खने संतं एकेन पि सोतविया [।] हेवं च कलंतं चवथ संपटिपातयितवे [॥]

लघु शिलालेख

(रूपनाथ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आहा [।] सातिरकेकानि अढतियानि व य सुमि प्रकास सके [।] नो चु बाढि पकते [।] सातिलेके चु छवछरे य सुमि हकं सघ उपेते

२. बाढि च पकते [।] या इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा [।] पकमसि हि एस फले [।] तो च एसा महतता पापोतवे खुदकेन

३. पि पकममिनेना सकिये पिपुले पा स्वगे आरोधेवे [।] एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमतु ति । अता पि च जानंतु इय पकरा व

४. किति चिरठितिके सिया [।] इय हि अठे वढि वढिसति विपुल च वढिसति अपलधियेना दियढिय वढिसत [।] इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालत [।] हुध च अथि

५. सालाठभे सिलाठंभसि लाखापेतवय त [।] एतिना च वयजनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवाय ति [:] व्युठेना सावने कटे [।] २०० ५० ६ स

६. त विवासा त [।।]

पाद-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति : सेना व ब्युलर ने 'सातिरकेकानि' को 'सातिलेकानि' पढ़ा है। इसे शुद्ध करके 'सातिरेकानि' पढ़ें। 'अढतियानि' के उपरांत 'व' 'वसानि' का संक्षिप्त रूप है। 'प्रकास सके' को ब्युलर ने 'पाका सावके' पढ़ा है। 'छवछरे' को संवछरे पढ़ें। तृतीय पंक्ति : ब्युलर ने 'पकममिनेना' को 'पकममिनेन' पढ़ा है। 'पिपुले' को 'विपुले' पढ़ें, उसके बाद 'पा' को 'पि' तथा 'आरोधेवे' को 'आराधे' 'तवे'। पंक्ति ४ : 'हुध' का पाठ ब्युलर व सेना ने 'हिध' प्रस्तावित किया है पंक्ति ५ : प्रथम अक्षर 'साला' को 'सिला' पढ़ें, 'लाखापेतवय' को 'लिखापेतविये' उसके बाद 'त' को 'ति', 'तुपक' को 'तुफाकं, तथा 'सवर' को 'सवत'। पंक्ति ६ : अन्तिम 'त' को 'ति' पढ़ें।

द्वितीय पृथक् कलिंग शिलालेख

(जौगड़ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आह [।] समापायं महामता लाजवचनिक वतविया [।] अं किछि दखामि हकं तं इछामि हकं किति कं कमन

२. पटिपातयेहं दुवालते च आलभेहं [।] एस च मे मोखियमत दुवाल एतस अथस अं तुफेसु अनुशथि [।] सवमुनि

३. सा मे पजा [।] अथ पजाये इच्छामि किति मे सवेण हितसुखेन युजेयू अथ पजाये इछामि किति मे सवेन हित सु

४. खेन युजेयू ति हिदलोगिकपाललोकिकेण हेवंमेव मे इछ सवमुनिसेसु [।] सिवा अंतानं अविजिता

५. नं किछादे सु लाजा अफेसू ति [।] एताका वा मे इछ अंतेसु पापनेयु लाजा हेवं इछति अनुविगिन ह्वेयू

६. ममियाये अस्वसेयु च मे सुखंमेव च लहेयू ममते तो खं हेवं च पापुनेयु

७. ए सकिये खमितवे ममं निमितं च धंमं चलेयू ति हिदलोगं च पललोगं च आलाधयेयू [।] एताये

८. च अठाये हकं तुफेनि अनुसासामि अनने एतकेन हकं तुफेनि अनुसासितु छंदं च वेदि

९. तु आ मम धिति पटिना च अचल [।] स हेवं कटू कंमे चलितविये अस्वासनिया च ते एन ते पापने

१०. यु अथा पित हेवं ने लाजा ति अथ अतानं अनुकंपति हेवं अफेनि अनुकंपति अथा पजा हे

११. वं मपे लाजिने [।] तुफेन हकं अनुसासित छांद च वेदित आ मम धिति पटिना चा अचल सकल

१२. देसाआयुतिके होसामी एतसि अथसि [।] अलं हि तुफे अस्वासनाये हितसुखाये च तेसं हिद

१३. लोगिकपाललोकिकाये [।] हेवं च कलंतं स्वगं च आलधयिसथ मम च आननेयं षसथ [।] ए

१४. ताये च अथाये इयं लिपि लिखित हिद एन महामाता सास्वतं समं युजेयू अस्वासनाये च

१५. धंमचलनाये च अंतानं [।] इयं च लिपि अनुचातुंमासं सोतविया तिसेन [।] अंतला पि च सोतविया [।]

१६. खने संतं एकेन पि सोतविया [।] हेवं च कलंतं चवथ संपटिपातयितवे [॥]

लघु शिलालेख

(रूपनाथ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आहा [।] सातिरकेकानि अढतियानि व य सुमि प्रकास सके [।] नो चु बाढि पकते [।] सातिलेके चु छवछरे य सुमि हकं सघ उपेते

२. बाढि च पकते [।] या इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा [।] पकमसि हि एस फले [।] नो च एसा महतता पापोतवे खुदकेन

३. पि पकममिनेना सकिये पिपुले पा स्वगे आरोधेवे [।] एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमतु ति । अता पि च जानंतु इय पकरा व

४. किति चिरठितिके सिया [।] इय हि अठे वढि वढिसति विपुल च वढिसति अपलधियेना दियढिय वढिसत [।] इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालत [।] हध च अथि

५. सालाठभे सिलाठंभसि लाखापेतवय त [।] एतिना च वयजनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवाय ति [:] व्युठेना सावने कटे [।] २०० ५० ६ स

६. त विवासा त [।।]

पाद-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति : सेना व ब्युलर ने 'सातिरकेकानि' को 'सातिलेकानि' पढ़ा है। इसे शुद्ध करके 'सातिरेकानि' पढ़ें। 'अढतियानि' के उपरांत 'व' 'वसानि' का संक्षिप्त रूप है। 'प्रकास सके' को ब्युलर ने 'पाका सावके' पढ़ा है। 'छवछरे' को संवछरे पढ़ें। तृतीय पंक्ति : ब्युलर ने 'पकममिनेना' को 'परुममिनेन' पढ़ा है। 'पिपुले' को 'विपुले' पढ़ें, उसके वाद 'पा' को 'पि' तथा 'आरोधेवे' को 'आराधे' 'तवे'। पंक्ति ४ : 'हध' का पाठ ब्युलर व सेना ने 'हिध' प्रस्तावित किया है पंक्ति ५ : प्रथम अक्षर 'साला' को 'सिला' पढ़ें, 'लाखापेतवय' को 'लिखापेतविये' उसके वाद 'त' को 'ति', 'तुपक' को 'तुफाकं, तथा 'सवर' को 'सवत'। पंक्ति ६ : अन्तिम 'त' को 'ति' पढ़ें।

शब्दार्थ

सातकेकानि=कुछ अधिक , **अढतियानि**=ढाई ; **य**=यत् ; **सुमि**=हूँ ; **प्रकास**=प्रकाश्यरूप से; **सके**=शाक्यः, बौद्धउपासक ; **बाढि**=बाढं, तीव्र ; **पकते**=पराक्रमी ; **सातिलेके चु छवछरे**=एक वर्ष से कुछ अधिक ; **सघउपेते**=संघ (की शरण) गया ; **अमिसा**=अमिश्र ; **मिसा कटा** =मिश्र किए गए ; **महतता**=उच्च पद वाले ; **पापोतवे**=प्राप्त होता है ; **खुदकेन**=क्षुद्र द्वारा भी ; **पकममिनेना**=पराक्रम द्वारा ; **सकियो**=शक्य है ; **विपुले**=विपुल ; **आरोधेवे**=आराधयितुं, प्राप्त किया जा सकता है ; **सावने**=श्रावण, धर्म-संदेश ; **उडाल**=उदार ; **अता**=सीमावर्ती लोग ; **सिया**=होवे ; **इय हि अठे**=यह प्रयोजन ; **वढि वढिसिति**=अधिकाधिक बढ़ेगा ; **अपलधियेना**=कम या ज्यादा रूप से ; **दियढिय**=ड्योढ़ा , **इय च अठे**=इस विषय में ; **लेखापेत वालत**=सुयोग से लिखवाएँ ; **इध च अथि**=और यहाँ (राज्य में) जहाँ कहीं भी हों ; **सिलाठभ**=शिलास्तंभ ; **एतिना च वयजनेना**=इसके व्यञ्जन के अनुसार (इस आदेश के शब्दानुसार) ; **तुपक**=आपको ; **सवर**=सर्वत्र ; **विवसेतावाय**=भेजें ; **व्युठेना**=प्रवास के समय ।

अनुवाद

देवानांप्रिय ने ऐसा कहा—"ढाई से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हुए जब से मैं प्रकाश्यरूपेण शाक्य (=बौद्धोपासक) हूँ । किन्तु (मैं) तीव्र पराक्रमी (=तीव्र धर्मोद्यमी) नहीं रहा । एक से कुछ अधिक वर्ष से, जब से मैंने संघ की शरण ली है, (तब से) तीव्र पराक्रम (= उद्योग) कर रहा हूँ । इस काल तक जम्बूद्वीप में देवता (जो) (मानवों से) अमिश्र थे वे अब (मानवों से) मिश्र (सम्बन्धवान्) कर दिए गए हैं । यह फल पराक्रम (अर्थात् उद्योग) का ही है । यह केवल उच्च-पदस्थ व्यक्तियों को ही प्राप्तव्य नहीं है, क्षुद्र पराक्रम (= मामूली उद्योग) से भी विपुल स्वर्ग उपलब्ध हो सकता है । इस प्रयोजन के लिए श्रावण की व्यवस्था की गई—क्षुद्र और उदार (सभी लोग) पराक्रम (अर्थात् उद्योग)। करें और प्रत्यन्त (अर्थात् सीमावर्ती जन) भी जानें कि यह पराक्रम ही—क्या ?—चिरस्थायी हो । यह अर्थ (अर्थात् प्रयोजन, अर्थात् धर्म-श्रावण) अधिकाधिक बढ़ेगा, विपुल रूपसे बढ़ेगा, न्यूनाधिक रूप से ड्योढ़ा बढ़ेगा । इन अर्थ को (विषय को) (आप) सुयोग से पर्वतों पर लिखवायें । यहाँ (अर्थात् साम्राज्य में जहाँ कहीं भी) शिला-स्तंभ हैं (इसे) शिलास्तम्भों पर लिखवाया जाय । और इसके व्यञ्जनानुसार (अर्थात् इस आदेश के शब्दानुसार) जहाँ तक आपका आहार (कार्य-क्षेत्र) है सर्वत्र (अपने राजपुरुषों को) भेजें । यह श्रावण (अर्थात् धर्म संदेश) प्रवास के समय किया गया (जब) २५६ (दो सौ छप्पन रात अर्थात् दिन) पड़ाव बीत चुके थे ।

व्याख्या

(१) अशोक के लघु शिलालेख रूपनाथ, सहसराम, वैराट, मास्की, ऐर्रगुडी, सिद्धपुर, जटिंग-रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, गोविमठ, पलकिगुंडी, राजुलमण्डगिरि, गुजर्रा,

अहरौरा और नई दिल्ली से मिले हैं। इन स्थानों के परिचय के लिए दे०, पीछे। इनके अलावा कुछ लोग वैराट-कलकत्ता (भाब्रू) लेख को भी लघु शिलालेखों में ही सम्मिलित कर लेते हैं लेकिन यह शिलालेख न होकर पाषाण फलक-लेख है और इसका विषय सर्वथा भिन्न है। लघु शिलालेखोंमें जटिंगरामेश्वर, पलकिगुंडी तथा राजुलमंडगिरि का काफी भाग, सिद्धपुर का अन्तिम दो तिहाई भाग तथा अहरौरा का पूर्वार्द्ध काफी खंडित हो गये हैं।

(२) अशोक के अन्य लघु शिलालेख भाषा और मामूली से कुछ अन्य परिवर्तनों को छोड़कर रूपनाथ संस्करण के समान हैं परन्तु : (१) गुर्जरा और मास्की संस्करणों में अशोक का नाम से उल्लेख है (गुजर्रा : देवानांपियस असोकस राजस। मास्की : देवानांपियसा असोकस)। (२) मास्की तथा कुछ अन्य खण्डित लेखों में २५६ संख्या उल्लिखित नहीं है। (३) दक्षिण के ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंगरामेश्वर ल० शि० ले० का प्रारंभ इस प्रकार हुआ है : सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र और महामात्यों के वचन से इषिला में महामात्रों का आरोग्य पूछना चाहिए और सूचित करना चाहिए कि देवानांप्रिय ने ऐसा कहा—"। (४) ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंगरामेश्वर ल० शि० ले० में २५६ पड़ावों का उल्लेख करने के बाद कुछ और वाक्य जुड़े हैं जिनमें माता पिता व गुरुजनों की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कुछ विद्वान् इन्हें द्वितीय ल० शि० ले० कहते हैं। (५) अहरौरा-लेख के अन्त में बुद्ध के अवशेषों की स्थापना का उल्लेख है।

(३) **प्रकास सके**=प्रकाशं शाक्यः। शाक्यः=बौद्ध उपासक। रा० ब० पाण्डेय ने इसे 'उपासक' अर्थ में लिया है। परन्तु 'उपासक' शब्द ल० शि० ले० के अन्य संस्करणों में तो आया है लेकिन रूपनाथ और मास्की संस्करणों में स्पष्टतः 'सके' शब्द है। मास्की ल० शि० ले० के 'बुध सके' का अर्थ 'बुद्ध शाक्य'=बौद्ध ही हो सकता है। वराहमिहिर ने 'शाक्य' को बौद्धोपासक अर्थ में ग्रहण किया है। यही अर्थ कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में माना है। इस साक्ष्य से अतिरिक्त रूप से प्रमाणित है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था। कुछ विद्वान् 'सके' को 'श्रावक' अर्थ में ले लेते हैं। लेकिन यह सम्भव नहीं लगता।

(४) **नो चु बाढ़ि पकते**='किंतु तीव्र पराक्रमी नहीं रहा'। ब्रह्मगिरि व सिद्धपुर संस्करणों में इसके बाद "हुसं एकं सवछरं"="एक वर्ष तक" शब्द और आए हैं। कुछ विद्वान् इसका अर्थ यह मानते हैं कि अशोक ने 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय' तक तो विशेष पराक्रम नहीं किया परन्तु इस 'ढाई वर्ष से अधिक' के उपरान्त व्यतीत होने वाले एक वर्ष में विशेष पराक्रम दिखाया। इस प्रकार वह यहाँ कुल मिलाकर करीब चार वर्ष का वर्णन मानते हैं। परन्तु रूपनाथ-संस्करण का ब्रह्मगिरि व सिद्ध-पुर संस्करणों के साथ **समवेत अध्ययन करने पर** स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के तीव्र पराक्रम का 'एक वर्ष से कुछ अधिक समय' उसके द्वारा उल्लिखित 'ढाई वर्ष

से कुछ अधिक' समय के अन्दर सम्मिलित था। इस प्रकार वह अपने पराक्रम के समय को, जो ल० शि० ले० लिखवाने के पूर्व बीता कुल 'ढाई वर्ष से अधिक बताता है जिसमें एक वर्ष तक उसने विशेष पराक्रम नहीं दिखाया परन्तु इसके बाद, संघ में शरण लेने पर, उसने एक वर्ष से कुछ अधिक समय में तीव्र पराक्रम दिखाया।

(५) **सघ (संघं) उपेते (उपगते, उपयाते, उपयीते)** —उपेते=पास जाना सम्बद्ध होना, शरण में जाना। इसका अर्थ बहुत विवादग्रस्त है। ब्युलर तथा कर्न : अशोक कुछ समय के लिए भिक्षु हो गया था और उसने राजपद छोड़ दिया था क्योंकि राजपद भिक्षु जीवन के साथ संगत नहीं था। स्मिथ : अशोक राजपद छोड़े बिना भिक्षु हो गया था। इत्सिंग ने अशोक की भिक्षु रूप में प्रतिमा देखी थी। कुमारपाल चालुक्य तथा बर्मा व तिब्बत के कुछ नरेश राजपद का उपभोग करते हुए ही भिक्षु बन गए थे। सेना : अशोक ने संघ की यात्रा की और वहाँ अपने बौद्ध होने की घोषणा की। बरुआ : अशोक पहले उपासक था। इसका अर्थ कि वह सभी सम्प्रदायों में रुचि रखता था। इसके बाद वह संघ की शरण में गया अर्थात् बौद्ध उपासक बन गया। लेकिन इसके बाद भी वह राजा बना रहा। १०:वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा करते समय तथा २०वें वर्ष लुम्बिनी की यात्रा करते समय वह निश्चय ही राजपद का उपभोग कर रहा था। अपने मत के समर्थन में बरुआ ने बुद्धघोष द्वारा प्रदत्त उस कथा की ओर ध्यान दिलाया है जिसके अनुसार राजत्व प्राप्त करने के बाद अशोक ने क्रमशः कई सम्प्रदायों में दिलचस्पी ली। परन्तु सबको खोखला पाया। अन्त में एक युवा बौद्ध भिक्षु ने उसे बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख किया। बरुआ ने 'संघं उपेते' का अर्थ अन्य सम्प्रदायों से बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख होना माना है लेकिन रूपनाथ व मास्की अभिलेखों में, विशेषतः मास्की लेख में 'बुध सके' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि अशोक संघ में जाने के पूर्व ही बौद्ध बन गया था। हूल्त्ज़ तथा भाण्डारकर : अशोक बौद्ध भिक्षु तो कभी नहीं बना परन्तु उपासक के रूप में कुछ समय संघ में रहा था। अगर अशोक के संघ में जाने के बाद का 'एक वर्ष से कुछ अधिक समय' 'ढाई वर्षों से अधिक' के अन्तर्गत सम्मिलित है तो संघ में जाने का अर्थ भिक्षु बनना नहीं हो सकता क्योंकि वह स्पष्ट कहता है कि इन 'ढाई वर्षों से अधिक ममय' में वह 'उपासक' मात्र था (बैराट व सिद्धपुर ल० शि० ले०)। 'संघ उपेते' वास्तव में उपासकों द्वारा प्रव्रज्या मन्त्र में प्रयुक्त होने वाले 'संघं शरणं गच्छामि' का भावानुवाद मात्र हो सकता है। भाण्डारकर ने चरणदास चटर्जी का यह सुझाव माना है कि अशोक की इस स्थिति को जब वह उपासक मात्र होते हुए भी संघ से सम्बद्ध था 'भिक्षुगतिक' कहा जा सकता है। इस शब्द का प्रयोग 'महावग्ग' में मिलता है जहाँ 'भिक्षुगतिक' उन लोगों को कहा गया है जो भिक्षु जीवन की ओर पूर्णतः उन्मुख होते हुए और संघ से सम्बद्ध होते हुए भी किसी कारणवश भिक्षु नहीं बन पाते थे। यह उपासकत्व व

भिक्षुत्व के बीच की अवस्था होती थी। इस मत को रा० ब० पाण्डेय ने भी माना है।

(६) **इमाय कालाय**—कुछ ने इसका तात्पर्य ल० शि० ले० लिखे जाने से पूर्व व्यतीत हुए 'ढाई वर्ष से अधिक' का समय माना है। परन्तु इसका सही तात्पर्य है 'पूर्वकाल में' या 'अबतक'। दे०, मास्की संस्करण का 'पुरे' (= पूर्वकाल में) और सहसराम संस्करण का 'एतेन अंतलेन' (= अब तक)।

(७) **जम्बुदिपसि** = भारतवर्ष। बौद्ध भूगोलानुसार पृथिवी का दक्षिणी भाग। हिमालय के दक्षिण में स्थित उप-महाद्वीप। यहाँ अशोक के साम्राज्य से तात्पर्य है।

(८) **अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा** = (अब तक) देवता (मनुष्यों से) अमिश्र थे उन्हें अब मिश्र कर दिया गया। रूपनाथ व मास्की संस्करणों में 'मानुसेहि' शब्द नहीं है, अन्य संस्करणों में मनुष्यों का उल्लेख करने वाला शब्द प्रयुक्त है। यह वाक्य अत्यन्त विवादग्रस्त है। हरप्रसाद शास्त्री : 'मिसा' शब्द को मृषा= 'मिथ्या' मानकर और 'देव' को भूदेव='ब्राह्मण' अर्थ में लेकर शास्त्री जी ने सुझाया था कि यहाँ अशोक यह दावा कर रहा है कि उसने ब्राह्मणों को जो असली देवता माने जाते थे, मिथ्यादेवता सिद्ध कर दिया। परन्तु 'मिसा' के लिए भाब्रु लेख में 'मुसा' शब्द का प्रयोग हुआ है 'मिसा' का नहीं। दूसरे, जैसा कि लेवी ने ध्यान दिलाया था, प्रस्तुत लेख के मास्की संस्करण में मिसिभूता=संस्कृत का 'मिश्रीभूता' शब्द आता है जिससे स्पष्ट है कि यहाँ अशोक देवताओं और मनुष्यों को 'मिश्रित' करने का ही दावा कर रहा है। एफ० डब्ल्यू० टॉमस : अशोक ने एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में भारत को वन्य जातियों को ब्राह्मण देवताओं से परिचित करा दिया। मुखर्जी : इस बीच वे लोग जिनका कोई धर्म या देवता नहीं थे देवोपासक बना दिए गए। यह अशोक के संघ के साथ संबंधित होने का परिणाम था। भाण्डारकर : अशोक यहाँ दावा कर रहा है कि उसने मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से इतना श्रेष्ठ बना दिया कि वह स्वर्ग में देवताओं का सामीप्य प्राप्त करने लगे। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार पहिले देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। बाद में देवता अपने कर्मों की उत्तमता के कारण (यज्ञ करने के कारण) स्वर्ग चले गए, मनुष्य पृथिवी पर ही रह गए। अतः अशोक के कथन का अर्थ यह प्रतीत होता है कि उसने मनुष्यों को धर्म के मार्ग पर चलाकर देवताओं का सामीप्य प्राप्त करा दिया। लेकिन 'आपस्तम्ब' में जिन देवताओं की बात कही गई है वे पितर हैं, देवता नहीं जो यज्ञ करने के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए थे। दूसरे, यहाँ अशोक का दावा यह है कि पहिले जंबूद्वीप में देवता और मनुष्य अमिश्र थे, अब मिश्रित हो गए हैं जब कि आपस्तम्ब० में इससे ठीक उल्टी बात कही गई है। तीसरे, अशोक देवतओं और मनुष्यों के इसी पृथिवी पर मिश्रित होने की बात करता

है, परलोक में नहीं। यह सही है कि इसी लेख में वह 'विपुल स्वर्ग' प्राप्त करने की चर्चा करता है और अन्य अभिलेखों में पराक्रम (= उद्योग) द्वारा स्वर्ग प्राप्ति को जीवन का उद्देश्य बताता है (दे० ४ था, ९वाँ व १०वाँ शि० ले०), लेकिन यहाँ वह स्वयं पृथिवी पर ही देवताओं और मनुष्यों के मिश्रित होने की ही बात कह रहा है। बरुआ : तत्कालीन बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के देवता बताए गए हैं—उपपत्ति देव (जो जन्म से देवता हैं अर्थात् स्वर्गीय देवता), सम्मुति देव (वे जो आदर के लिए देवता कहे जाते हैं यथा राजा, राजकुमार, वायसराय आदि) तथा विसुद्धि देव (ब्राह्मण और श्रमण आदि) तु० 'अर्थशास्त्र' १२.३ : ये देवा देवलोकेषु, मानुषेषु ब्राह्मणः। बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय है कि उसने सम्मुति देवों और विसुद्धि देवों को सामान्य जनों के निकटला दिया था।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अशोक के कथन का शाब्दिक अर्थ करन उचित नहीं है। देवताओं और मनुष्यों का स्वयं इसी पृथिवी पर मिलाप प्राचीना भारत में एक लोकप्रिय धार्मिक कल्पना और साहित्यिक प्रतीक था। 'वेदान्तसूत्र' की टीका करते समय शंकराचार्य ने देवताओं के द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की सम्भावना का समर्थन करते हुए कहा है कि देवताओं का भी व्यक्तित्व होता है जो वैदिक मन्त्रों, अर्थवाद, इतिहास, पुराणों और स्मृति ग्रन्थों से प्रमाणित है। स्मृतियों और पुराणों में कहा ही गया है कि व्यास आदि ऋषि देवताओं से वार्तालाप करते थे। यह कहना कि आज पृथिवी पर देवता नहीं हैं इसलिए पहिले भी नहीं थे उसी प्रकार तर्कहीन बात है जैसे यह कहना कि क्योंकि आजकल पृथिवी पर चक्रवर्ती नरेश नहीं हैं इसलिए पहिले भी होते ही नहीं थे। अतः यह मानना अनुचित नहीं है कि प्राचीन लोग देवताओं से वार्तालाप किया करते थे (एस. बी. इ. ३४, पृ० २२२-३)।

प्राचीन भारतीय साहित्य में पृथिवी पर देवताओं और मनुष्यों के मिलाप का काल्पनिक वर्णन कई स्थलों पर मिलता है। 'महाभारत' के वनपर्व (१३१.३४) में कहा गया है कि शिवि उशीनर के सदन में मुनियों और देवताओं का मिलन महात्मा ब्राह्मण लोग सदैव देख सकते थे :

तत्र वै सततं देवा मुतयश्च सनातनाः।
दृश्यन्ते ब्राह्मणैर्राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः॥

एक अन्य स्थल पर इस ग्रन्थ में सुबाहु नामक नरेश के राज्य को देवताओं के सम्पर्क में रहने वाला कहा गया है। रामराज्य का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ (२.३.६०) में कहा गया है :

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां च सर्वशः।
पृथिव्यां सहवासोऽभूत् रामराज्ये प्रशासति॥

इसी प्रकार 'रामायण' के उत्तरकाण्ड (४१.१७-१८) में कहा गया है :

भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम् ।
विबुधात्मानि दृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशासति ॥ १७ ॥
अमानुषाणि सत्त्वानि व्याहृतानि मुहुर्मुहुः ।

'हरिवंश' (३.३२.१) में भी एक स्थल पर आया है : 'देवतानां मनुष्याणां सहवासो भवत्तदा'' 'मणिमेखलाई' में २८ दिन तक चलने वाले दीपकोत्सव का उल्लेख मिलता है जिसमें लोग इसलिए कोई अपकृत्य नहीं करते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि उन दिनों देवता उनके बीच आकर रहते हैं। स्वयं प्राचीन अभिलेखों में देवताओं और मनुष्यों के सम्पर्क की कल्पना उल्लिखित मिलती है। एक अभिलेख (आई.ई.१,२९ पृ० ३५) में कहा गया है कि शैलोद्भव नरेश अयशोभीत माधवराज (लग० ६६५-९५ ई०) दिवंगत सन्तों को पृथिवी पर बुलाकर उनसे वार्तालाप कर सकता था। एक कम्बुज अभिलेख में कहा गया है कि एक बार जब एक मुनि ने शिवलिंग प्रतिष्ठापित किया तो स्वयं इन्द्रादि देवता उसे बधाई देने और उसे स्वर्ग चलने का निमन्त्रण देने आए थे जिसे मुनि ने नम्रतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया था (मजूमदार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव कम्बुज, पृ० ४३९ अ० ; दे०, नेगी, जे० एस०, सम इण्डोलोजिकल स्टडीज, १, पृ० १७५ अ०)। इस प्रसंग में जे० एस० नेगी ने ध्यान दिलाया है कि 'संयुक्त निकाय' के 'देवपदसुत्त' में श्रद्धालु श्रावकों को जो सील=शील का अभ्यास करते हैं, देवच्युत बताया गया है। इस सिद्धान्त को मानने पर स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी पर एक ही समय अनेक देवता विद्यमान हो सकते हैं। अतः हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक ने अपने धर्मप्रचार की सफलता का कुछ अतिरञ्जित रूप से वर्णन करने के लिए जन मानस में प्रचलित देवताओं के साथ मनुष्यों के सम्पर्क की इस अवधारणा का ही प्रतीकात्मक रूप से उपयोग किया है। इसका शाब्दिक अर्थ करना सर्वथा अनावश्यक है। यहाँ अशोक का तात्पर्य मात्र इतना है कि उसने जम्बूद्वीप में सतयुग की स्थापना कर दी थी। स्पष्टतः वह यहाँ अपने धर्म प्रचार की उपलब्धियों को उस भाषा में कह रहा है जिसे उसके युग के लोग आसानी से समझते थे।

(८) **खुदका च उडाला च**='क्षुद्र और उदार।' 'उडाला' के बजाय किसी-किसी संस्करण में 'महत्पा' शब्द मिलता है। भाण्डारकर ने उन्हें अशोक के छोटे और बड़े पदाधिकारियों के अर्थ में लिया है।

(९) **व्युठेन**—(मेरे द्वारा) जो 'दौरे पर' है अर्थात् पड़ाव में है। रूपनाथ संस्करण में 'व्युठेन सावने कटे २०० + ५० + ६ सत विवासा (सो) त (ति)' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि 'व्युठेन' या 'व्युथेन' तथा 'विवास' दोनों की व्युत्पत्ति वि √वस् से हुई है। 'विवास' शब्द का प्रयोग अशोक के अभिलेखों में अनेकत्र 'प्रवास' या 'दौरे' के अर्थ में हुआ है (यथा, विवासयाथ' तथा 'विवासा पयाथा' : सारनाथ ल० शि० ले०)। 'वि थ' स्पष्ट : संस्कृत 'व्युषित' का प्राकृत रूप है (दे० सरकार,

आई. एच. क्यू. ३८, पृ० २२२-४) अतः इसका यहाँ अर्थ होगा "यह श्रावण (घोषणा) तब की गई जब मुझे प्रवास में २५६ दिन बीत चुके थे।" 'व्युठेना' सावने कटे २०० + ५० + ६ सत विवासा त" के अन्य प्रस्तावित अर्थ : (१) ए० के० नारायण : विवुथेन = 'विवृतेन' या 'विवटेन' अर्थात् खुलेआम या प्रकाशित। परन्तु जैसा कि दि० च० सरकार ने कहा है यह अर्थ एकदम अस्वीकार्य है। 'श्रावण' (= घोषणा) तो स्वयं प्रकाशित होती है, इसके साथ प्रकाशित क्रिया-विशेषण अनावश्यक है। जैसा कि अब अधिकांश विद्वान् मानते हैं इस शब्द की व्युत्पत्ति वि√वस् से हुई है। (२) साम्राज्य के विभिन्न भागों में २५६ पदाधिकारी भेजे गए। (३) यह श्रावण बुद्ध परिनिर्वाण (ब्युलर व गो० रा० शर्मा) अथवा निर्वाण अर्थात् सम्बोधि (भाण्डारकर) के २५६ वें वर्ष में घोषित किया गया। (४-५) यह श्रावण २५६ प्रचारक (या प्रतिलिपियाँ) भेजकर घोषित किया गया। ये सभी सुझाव अब अधि- कांश विद्वानों को अस्वीकार्य हैं।

लघु शिलालेख

(अहरौरा संस्करण)

मूलपाठ

१. .... पियो (।*) साति
२. .... [सा] धि [का] ....
३. .... च बाढं पलकंते (।*)
४. .... च पलकंते (।*) एतेन
५. [अ] तले .... मिसंदेवा कटा (।*)
६. पलक [मस इ] .... [त्वन] व [स] क्य पापोतवे (।*) खुदकेन पि
७. पलकममीनेना विपुले पि स्वग [स] क्ये आलाधेतवे (।*) एताये अठाये
८. [इ] यं सावने (।*) खुदका च [उडा] ला च प [ल] कमंतु (।*) अंता पि च जानंतू (।*)
९. [च] ि लठीति के च पलकमे होतू (।*) इयं च अठे वढिसति विपुलं पि च
१०. वढिसति दियढि [यं अ] वलधिया वढिसती (।*) एस सावने विवुथे [न]
११. [दु] वे सपंना – लाति सति अं मं [चे] बुधस सलीले आलोढे ति

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति के अन्तिम अक्षरों को रा० व० पाण्डेय व ए० के० नारायण ने 'यजत' पढा है । मिराशी को प्रथम दो पंक्तियों में कोई अक्षर पढ़ने में नहीं आया । अगली ४ पंक्तियों का अधिकांश टूट गया है परन्तु ल० शि० लें० के अन्य संस्करणों की सहायता से उनको पुनर्योजित किया जा सकता है । नारायण दसवीं पंक्ति के बाद वाक्य को पूर्ण हुआ मानते हैं और ११ वीं पंक्ति में 'सति' के उपरान्त "अंमं (म्हं) [? च]" पढ़ते और अन्तिम अक्षर को 'त्वा' अथवा 'च' । मिराशी व पाण्डेय ने इन अक्षरों को "[।*] [सं] वं [सं]" तथा 'च' पढ़ा है । शर्मा ने अन्तिम पंक्ति में 'बुधस सलीले आलोके' पाठ माना है और शंकरनारायणन् ने 'आंमं च बुधस सलीले आलोढ़े ति' । नेगी ने 'आलोढ़े' के उपरांत मिलने वाले चिह्नों को '२५६' संख्या का अवशिष्ट अंश बताया है । हमने ऊपर सरकार द्वारा स्वीकृत पाठ दिया है ।

शब्दार्थ

दुवे सपंना लाति सति = दो सौ छप्पन वीं रात्रि में ; **मंच** = स्तूप ; **आलोढ़े** = आरूढ़, प्रतिष्ठापित ।

अनुवाद

१··· ··· ··· ···(देवानां ?) प्रिय । और अधिकं

२···· ···· ···· ···· ···· ···· ····

३ [ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय से मैं उपासक हूँ किन्तु नहीं] अधिक पराक्रम किया ।

४ [एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ मैं संघ की शरण गया, तब से अधिक] पराक्रम किया । इस

५ बीच में [जम्बूद्वीप में जो अमिश्र देवता थे वे इस समय] मिश्रदेवता कर दिए गए ।

६ पराक्रम [का यह फल है । यह केवल उदार जनों से ही] प्राप्त होना शक्य नहीं है । क्षुद्र

७ पराक्रम द्वारा भी विपुल स्वर्ग प्राप्त होना शक्य है । इस प्रयोजन के लिए

८ यह श्रावण (किया गया) । (जिससे) क्षुद्र और उदार (सभी लोग) पराक्रम करें । सीमावर्ती लोग भी जानें ।

९ और पराक्रम चिरस्थायी हो । और यह प्रयोजन बढ़ेगा और विपुल रूप से

१० बढ़ेगा । कम-से-कम डयोढ़ा बढ़ेगा । यह श्रावण प्रवास में

११ बुद्ध के अवशेषों के मञ्चारूढ़ किए जाने के दो सौ छप्पन रातों (अर्थात् दिनों) बाद किया गया ।

व्याख्या

(१) अहरौरा ल० शि० ले० की खोज का श्रेय कुछ विवाद का विषय बन गया है । इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'लीडर' के ११ नवम्बर १९६१ के अंक में (तथा कुछ अन्य पत्रों में) प्रेस ट्रस्ट ऑव इण्डिया द्वारा प्रचारित एक समाचार के अनुसार इस अभिलेख की खोज प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग के एक सर्वेक्षण दल ने प्रोफेसर गो० रा० शर्मा के नेतृत्व में अहरौरा का सर्वेक्षण करते समय की थी । इसी समाचार के साथ प्रोफेसर शर्मा के इस लेख के महत्त्व के विषय में विचार भी प्रकाशित हुए । परन्तु बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के कालिज ऑव इण्डोलाजी के तत्कालीन प्राचार्य

प्रोफेसर ए० के० नारायण ने 'भारती' (अंक ५ भाग १) में प्रकाशित अपने एक लेख में बताया है कि यद्यपि (अहरौरा के वाराणसी से केवल २५ मील दूर स्थित होने एवं अखबारों में इस महत्त्वपूर्ण लेख की इतनी अधिक चर्चा होने के बावजूद !) उनका ध्यान इस समाचार की ओर काफी समय तक नहीं गया (उन्हें इस खोज का पता दिल्ली में दिसम्बर १९६१ के दूसरे सप्ताह में चला) लेकिन दिल्ली में इस समाचार से अवगत कराते समय उनके कुछ विद्यार्थियों ने उनको बताया कि वे इस अभिलेख से पहिले से ही परिचित थे ! पता नहीं उन्होंने डॉ० नारायण को इतनी महत्त्वपूर्ण सूचना इसके पूर्व क्यों नहीं दी थी ।

(२) **दुवे सपंना लाति सति** = दो सौ छप्पन रात (अर्थात् दिन) । 'रात' का 'सम्पूर्ण दिन व रात' के अर्थ में प्रयोग प्राचीनकाल में खूब प्रचलित था (दे० महाभारत, ३.८२.६२) । दिन के स्थान पर रात्रि शब्द का प्रयोग दैनिक 'पड़ाव' का द्योतक है। ल० शि० ले० के अन्य संस्करणों में यह संख्या अंकों में २०० + ५० + ६ लिखी है, केवल सहसराम-संस्करण में शब्दों और अंकों दोनों में मिलती है। प्रस्तुत लेख में यह केवल शब्दों में लिखी है । लेकिन जे० एस० नेगी का कहना है कि 'आलोढ़े' शब्द के उपरान्त जो चिह्न दिखाई देता है (जिसे नारायण ने 'त्वा' अथवा 'च' पढ़ा है, मिराशी ने 'च' और सरकार ने विराम चिह्न माना है) वह वास्तव में अंकों में लिखित २५६ संख्या का, जो अब मिट भी गई है, अवशिष्ट भाग है ।

(३) **अं मंचे बुधस सलीले आलोढ़े** = जब से बुद्ध के देहावशेष मञ्चारूढ हुए (अर्थात् पूजार्थ मञ्च पर स्थापित किए गए) । सलीले = शरीरे = देहावशेष । आलोढ़े = आरुढम् : मंच = स्तूप। अन्य सुझाव : ए० के० नारायण ने इसे "अंमं (म्हं) [? च] बुधस सलीले आलोढ़े" पढ़ कर इसका अर्थ किया है "अपने बुद्ध (= गौतम, बुद्ध ; कनक मुनि आदि पूर्वगामी बुद्धों से भिन्न) के अवशेषों को प्रतिष्ठित कराने के बाद" । मिराशी ने इसका पाठ "संवसं बुधस सलीले आलोढे" मानकर यहाँ "सम्यक् सम्बुद्ध के देहावशेष को प्रतिष्ठित कराकर" अर्थ किया है । गो० रा० शर्मा ने 'बुधस सलीले आलोके' पाठ स्वीकृत करके इसका अर्थ "बुद्ध परिनिर्वाण के उपरान्त" बताया है । अहरौरा-लेख के उपलब्ध होने के पूर्व भी २५६ संख्या को ब्युलर ने महापरिनिर्वाण संवत् का वर्ष बताया था और भाण्डारकर ने इसे परि-निर्वाण के बजाय निर्वाण (बुद्ध द्वारा सम्बोधि प्राप्ति के वर्ष) से गिना था । लेकिन ब्युलर व शर्मा के मत को मानने पर यह लेख बुद्ध के परिनिर्वाण के २५६ वर्ष उपरान्त (४८३-२५६ = २२७ ई० पू०) मानना होगा और भाण्डारकर के मत को मानने पर २२७ से ४५ वर्ष पूर्व का अर्थात् २२७ + ४५ = २७२ ई० पू० का (क्योंकि बुद्ध को सम्बोधि महापरिनिर्वाण के ४५ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी) । ये दोनों सम्भा-वनाएँ ही गलत हैं । भाण्डारकर का मत तो प्रस्तुत लेख के कथन के (बुद्धस सलीले आलोढ़े) के भी विरुद्ध होगा । स्मरणीय है कि इस लेख को प्रायः अशोक के प्रारं-

म्भिक अभिलेखों में माना जाता है। दूसरे, यह प्रश्न भी उठता है कि अशोक ने बुद्ध-सम्वत् का प्रयोग केवल इसी लेख में क्यों किया है अन्य अभिलेखों में क्यों नहीं। शंकरनारायणन ने इस अंश का पाठ "आंमं च वुधस सलीले आलोढ़े ति" सुझाकर इसका संस्कृत रूप "आश्मं च बुद्धस्य शरीरं आरूढं (=आरोपितं इति)" बताया है और यहाँ बुद्ध अथवा उनके किसी प्रतीक की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख माना है। परन्तु 'शरीर' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य व अभिलेखों में 'प्रतिमा' अर्थ में नहीं वरन् 'देहावशेष' अर्थ में ही मिलता है। बौद्ध परम्परानुसार भगवान् बुद्ध के अवशेष पहिले कुसीनारा में मल्लों के पास थे जिनके राज्य में उनका देहावसान हुआ था। लेकिन बाद में मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के बुलियों, रामग्राम के कोलियों, वेठदीप के एक ब्राह्मण तथा पावा के मल्लों ने उनको कुसिनारा के मल्लों के साथ मिलकर आठ भागों में बाँट लिया और उनपर स्तूप बनवाए। बाद में अशोक ने उन स्तूपों को खुलवाकर उनके स्थान पर पवित्र अवशेषों को पुनर्स्थापित कराने के लिए ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। अहरौरा-अभिलेख अशोक द्वारा बुद्धावशेषों पर स्तूप बनवाने का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है। इस प्रकार यह अतिरिक्त रूपेण प्रमाणित करता है कि अशोक ने व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। शायद उसने इस लेख में जिस स्तूप का उल्लेख किया है वह साहित्य में उल्लिखित अशोकराम रहा होगा। बाद में बुद्ध के पवित्र अवशेषों को इस प्रकार स्थापित कराने की परम्परा बराबर प्रचलित रही। दे० पिप्राहवा-लेख, टि०।

(४) अहरौरा अभिलेख भाब्रु-लेख के अतिरिक्त दूसरा अशोकीय लेख है जिसमें गौतम बुद्ध का नाम आया है। यह एक मात्र अभिलेख है जिसमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि अशोक भगवान बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठित करने के तत्काल बाद दौरे पर निकल गया था। इससे अशोक के अभिलेखों का तिथिक्रम तय करने में सहायता मिलती है।

गुजर्रा लघु शिलालेख

(गुजर्रा संस्करण)

मूलपाठ

१. देव ([ानं]) पिय [स] पियदसिनो असोकराजस (।*) अ [ढ] तियानि स [ं] वछरानि उपासके (ऽ*) स्मि । (।*) साधिके स [ं] वछ [रे] य च मे संघे य [ा] ते ती [अह] ं वा -

२. ढ [ं] च परकंते ती [आ] हा (।*) एतेना अंतरेणा जंबुदीपसि देवानंपीय [स] [अ] मिसंदेवा संतो मुनिस मिसंदेवा कटा (।*) परकमस इयं फले (।*) नो [च इ] यं महतेता ति व

३. चकिये पापोतवे (।*) खुदाकेण पी परकममीनेना धंमं चरमीनेना पानेसू संयतेना विपुले पी स्वगे चकिये आराधयितवे (।*) चे एताये

४. अठा [ये] इयं सावणे (।*) खुदाके चा उडारे चा धंमं चरंतू [यो] गं युं जं तू (।*) अंता पि चा जानंतू किति च चिलथि [ति] के धंमच···

५. ···[सि] ति [च] एनं [वा] धंमं चर [ं] अति [यो] (।*) इयं [च] सावन विवुथे [न] [२००] (+*) ५० (+*) ६ (।*)

म्भिक अभिलेखों में माना जाता है। दूसरे, यह प्रश्न भी उठता है कि अशोक ने बुद्ध-सम्वत् का प्रयोग केवल इसी लेख में क्यों किया है अन्य अभिलेखों में क्यों नहीं। शंकरनारायणन ने इस अंश का पाठ "आंमं च बुधस सलीले आलोढ़े ति" सुझाकर इसका संस्कृत रूप "आश्मं च वुद्धस्य शरीरं आरूढं (=आरोपितं इति)" बताया है और यहाँ बुद्ध अथवा उनके किसी प्रतीक की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख माना है। परन्तु 'शरीर' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य व अभिलेखों में 'प्रतिमा' अर्थ में नहीं वरन् 'देहावशेष' अर्थ में ही मिलता है। बौद्ध परम्परानुसार भगवान् बुद्ध के अवशेष पहिले कुसीनारा में मल्लों के पास थे जिनके राज्य में उनका देहावसान हुआ था। लेकिन बाद में मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के वुलियों, रामग्राम के कोलियों, वेठदीप के एक ब्राह्मण तथा पावा के मल्लों ने उनको कुसिनारा के मल्लों के साथ मिलकर आठ भागों में बाँट लिया और उनपर स्तूप बनवाए। बाद में अशोक ने उन स्तूपों को खुलवाकर उनके स्थान पर पवित्र अवशेषों को पुनर्स्थापित कराने के लिए ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। अहरौरा-अभिलेख अशोक द्वारा बुद्धावशेषों पर स्तूप बनवाने का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है। इस प्रकार यह अतिरिक्त रूपेण प्रमाणित करता है कि अशोक ने व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। शायद उसने इस लेख में जिस स्तूप का उल्लेख किया है वह साहित्य में उल्लिखित अशोकराम रहा होगा। बाद में बुद्ध के पवित्र अवशेषों को इस प्रकार स्थापित कराने की परम्परा बराबर प्रचलित रही। दे० पिप्राहवा-लेख, टि०।

(४) अहरौरा अभिलेख भाब्रु-लेख के अतिरिक्त दूसरा अशोकीय लेख है जिसमें गौतम बुद्ध का नाम आया है। यह एक मात्र अभिलेख है जिसमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि अशोक भगवान बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठित करने के तत्काल बाद दौरे पर निकल गया था। इससे अशोक के अभिलेखों का तिथिक्रम तय करने में सहायता मिलती है।

भाब्रु (कलकत्ता-बैराट) शिलाफलक अभिलेख

मूलपाठ

१. प्रियदसि लाजा मागधे संघं अभिवादेतूनं आहा अपाबाधतं च फासु-
विहालतं चा [।]

२. विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे चं प्रसादे
च [।] ए केचि भंते

३. भगवता बुधेन भासिते सर्वे से सुभासिते वा [।] ए चु खो भंते हमियाये
दिसेया हेवं सधंमे

४. चिलठितीके होसती ति अलहामि हकं तं वातवे [।] इमानि भंते धंम-
पलियायानि विनयसमुकसे

५. अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेयसूते उपतिसपसिने ए चा
लाघुलो

६. वादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते एतानि भंते धंमपलिया-
यानि इछामि

७. किंति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनेयु चा उपधालयेयू
चा [।]

८. हेवंमेवा उपासका चा उपासिका चा [।] एतेनि भंते इमं लिखापयामि
अभिप्रेतं मे जानंतू ति [॥]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'प्रियदसि' को 'पियदसी' पढ़ा है तथा सरकार ने 'पियदसि' पाण्डेय ने एक स्थान पर 'प्रियदसि' पाठ माना है (हि० लि० इ०) तथा अन्यत्र 'पियदसि' (अशोक के अभिलेख) । सेना ने 'मागधे' को 'मागधं' पढ़ा है, पाण्डेय ने एक स्थान पर 'मागधं' (अशोक के अभिलेख) तथा अन्यत्र 'मागधे' (हि० लि० इ०) सेना ने प्रथम पंक्ति में 'अभिवादेतूनं' को 'अभिवादनं' पढ़ा है, दूसरी पंक्ति में 'गालवे' को 'गलवे' और 'प्रसादे' को 'पसादे', तीसरी में 'सर्वे' को 'सवे' तथा चौथी में 'वातवे' को 'वतवे' । सरकार दूसरी पंक्ति में 'प्रसादे', को 'पंसादे' पढ़ते हैं तथा पाँचवीं में 'अलियवसानि' को 'अलियवसाणि' । निकलसन ने 'अधिगिच्य' का पाठ 'अधिगिध्य' माना है ।

लघु शिलालेख

(ब्रह्मगिरि संस्करण)

मूलपाठ

१. सुवंणगिरीते अयपुतस महामातार्ण च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया हेवं च वतविया [।] देवाणंपिये आणपयति
२. अधिकानि अढातियानि वसानि य हकं ......सके [।] नो तु खो बाढं प्रकंते हुसं एकं सवछरं [।] सातिरेके तु खो संवछरें
३. यं मया संघे उपयीते बाढं च मे पकंते [।] इमिना चु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जंबुदीपसि
४. मिसा देवेहि [।] पकमस हि इयं फले [।] नो हीयं सक्ये महात्पेनेव पापोतवे कामं तु खो खुदकेन पि
५. पकमि...णेण विपुले स्वगे सक्ये आराधेतवे [।] एतायठाय इयं सावणे सावापिते
६. ....महात्पा च इमं पकमेयु ति अंता च मे जानेयु चिरठितीके च इयं
७. पक.......इयं च अठे वढिसिति विपुलं पि च वढिसिति अवरधिया दियढियं
८. वढिसिति [।] इयं च सावणे सावापिते व्यूथेन [।] २०० ५० ६ [।]
९. आह [।] मातापितिसु सुसूसितविये हेमेव गरुसु प्राणेसु द्रह्यितव्यं सचं
१०. वतवियं से इमे धमंगुणा पवतितविया [।] हेमेव अंतेवासिना
११. आचरिये अपचायितावियि जातिकेसु च कं य.......रहं पवतितविये [।]
१२. एसा पोराणा पकिती दीधावुसे च एस [।] हेवं एस कटिविये [।]
१३. चपडेन लिखिते लिपिकरेण [॥]

भाब्रु (कलकत्ता-बैराट) शिलाफलक अभिलेख

मूलपाठ

१. प्रियदसि लाजा मागधे संघं अभिवादेतूनं आहा अपाबाधतं च फासु-
विहालतं चा [।]

२. विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे चं प्रसादे
च [।] ए केचि भंते

३. भगवता बुधेन भासिते सर्वे से सुभासिते वा [।] ए चु खो भंते हमियाये
दिसेया हेवं सधंमे

४. चिलठितीके होसती ति अलहामि हकं तं वातवे [।] इमानि भंते धंम-
पलियायानि विनयसमुकसे

५. अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेयसूते उपतिसपसिने ए चा
लाघुलो

६. वादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते एतानि भंते धंमपलिया-
यानि इछामि

७. किति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनेयु चा उपधालयेयू
चा [।]

८. हेवंमेवा उपासका चा उपासिका चा [।] एतेनि भंते इमं लिखापयामि
अभिप्रेतं मे जानंतू ति [।।]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'प्रियदसि' को 'पियदसी' पढ़ा है तथा सरकार ने 'पियदसि' पाण्डेय ने एक स्थान पर 'प्रियदसि' पाठ माना है (हि० लि० इ०) तथा अन्यत्र 'पियदसि' (अशोक के अभिलेख)। सेना ने 'मागधे' को 'मागधं' पढ़ा है, पाण्डेय ने एक स्थान पर 'मागधं' (अशोक के अभिलेख) तथा अन्यत्र 'मागधे' (हि० लि० इ०) सेना ने प्रथम पंक्ति में 'अभिवादेतूनं' को 'अभिवादनं' पढ़ा है, दूसरी पंक्ति में 'गालवे' को 'गलवे' और 'प्रसादे' को 'पसादे', तीसरी में 'सर्वे' को 'सवे' तथा चौथी में 'वातवे' को 'वतवे'। सरकार दूसरी पंक्ति में 'प्रसादे', को 'पंसादे' पढ़ते हैं तथा पाँचवीं में 'अलियवसानि' को 'अलियवसाणि'। निकलसन ने 'अधिगिच्य' का पाठ 'अधिगिध्य' माना है।

शब्दार्थ

अभिवादेतूनं = अभिवादन करके ; **अपाबाधतं** = निर्विघ्नता, स्वास्थ्य ; **फासु-विहालतं** = सुखविहारता ; **भंते** = भदन्ताः अथवा भवन्तः ; **आवतके** = यावत् ; **गालवे** = गौरव, श्रद्धा ; **प्रसादे** = प्रसादः, परानुरक्ति, विश्वास ; **ए कोचि** = यत्-किञ्चित्, जो कुछ भी ; **ए च** = यत् च, और जो ; **खो** = खलु ; **हमियाये** = मया, मेरे द्वारा, मुझे ; **दिसेया** = दिखाई देता है ; **चिलठितीके** = चिरस्थितकः, चिरस्थायी ; **होसती** = होगा ; **अलहामि** = अर्हामि, मैं योग्य हूँ, मेरा कर्तव्य है ; **वातवे** = वक्तुं, कहना, घोषणा करना ; **हकं** = अहम् ; **मुसावादं** = मृषावाद, (मृषा = मिथ्या) ; **अधिगिच्य** = अधिकृत्य ; **मुसावादं अधिगिच्य** = मृषावाद का विवेचन करते हुए ; **पलियाय** = धर्मग्रन्थ ; **अभिखिने** = अभिखिनं = अभिक्षणं, प्रतिक्षण ; **सुनेयु** = सुनें, **उपधालयेयु** = मनन करें।

अनुवाद

मगध के राजा प्रियदर्शी ने संघ को अभिवादन करके कहा—("मैं आपके) स्वास्थ्य और सुखविहार की (कामना करता हूँ)। आप लोगों को विदित है (कि) बुद्ध, धम्म और संघ में मेरी कितनी श्रद्धा और अनुरक्ति है। भदन्तो ! जो कुछ भी भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित है वह सब सुभाषित है। किन्तु भदन्तो ! जो कुछ मुझे दिखाई देता है (अर्थात् प्रतीत होता है) कि 'धर्म चिरस्थायी होगा' योग्य हूँ मैं उसे कहने को (अर्थात् उसे कहना, उसकी घोषणा करना, मेरा कर्त्तव्य है)। भदन्तो ? ये धर्म पर्याय हैं—विनयसमुकस, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूत, उपतिस पसिन तथा लाघुलोवाद में मुषावाद का विवेचन करते हुए भगवान् बुद्ध द्वारा जो कुछ भी कहा गया है। भदन्तो ! मैं चाहता हूँ—क्या ?—कि इन धर्मपर्यायों को बहुसंख्यक भिक्षुपाद व भिक्षुणियाँ प्रतिक्षण सुनें और (उन-पर) मनन करें। इसी प्रकार उपासक और उपासिकाएँ भी। भदन्तो ! इसी प्रयो-जन के लिए इसे लिखवाता हूँ कि (लोग) मेरे अभिप्राय को जान लें।

व्याख्या

(१) यह लेख एक पाषाण फलक पर उत्कीर्ण है। सप्तम शि० ले० की २२वीं पंक्ति में शिला फलकों का उल्लेख मिलता है।

(२) **मागधे संघं**—हुल्त्ज़ व बरुआ ने 'मागध' को राजा का विशेषण माना है। उन्होंने अपने समर्थन में 'विनय पिटक' (राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो), महापरिनिब्बान सुत्तन्त (राजा मागधो अजातसत्तु) तथा भरहुत-लेख (राजा पसेनदि कोसलो) के उदाहरण दिए हैं। हुल्त्ज़ 'मागध' का अर्थ 'मगध का' करते हैं और बरुआ 'मगध जातीय'। लेकिन रा० ब० पाण्डेय का कहना है कि अशोक के अभिलेखों में राजा के विशेषण प्रायः पूर्वगामी हैं, इसलिए यहाँ 'मागध' शब्द संघ

का विश्लेषण होना चाहिए। परन्तु राजस्थान में उत्कीर्ण कराए गए लेख में 'मगध के संघ' की चर्चा होना संभव नहीं लगता। सरकार ने इस पद की संस्कृतच्छाया "राजा (मगधदेशीयः) संघं" दी है।

(३) **भंते**—'भन्त' और भदन्त' दोनों को सामान्यतः 'भवत्' से व्युत्पन्न माना जाता है। पालि में कभी-कभी 'द' का आगम हो जाता है जैसे 'स्वार्थ' से 'सदत्थ' बनते समय। बरुआ और सिनहा के अनुसार 'भदन्त' शब्द 'भद्रान्त' से निकलता है और कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार 'भद्रं ते' वाक्य से जिसके द्वारा भिक्षु-गण नमस्कार का उत्तर प्रायः देते थे।

(४) **पसाद**=प्रसाद=प्रसन्नता। 'चित्त पसाद' और 'मनोपसाद' शब्द में यह बौद्ध धर्म में 'सद्धर्म में विश्वास' के लिए प्रयुक्त हुआ है क्योंकि इससे बौद्ध धर्मावलम्बियों को मानसिक प्रसन्नता=शान्ति मिलती थी।

(५) **बुधसि, धमंसि संघसि**—यह बौद्ध धर्म का प्रवज्या मन्त्र है। इससे यह प्रश्नातीत रूप से प्रमाणित होता है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध था।

(६) **धंम पलियायानि**=धर्मपर्यायाः। अशोक के अभिलेखों में किसी धर्म के सिद्धान्तों की परम्परा के लिए 'आगम' शब्द का प्रयोग हुआ है। (दे० द्वादश शि० ले०—कलाणागमा)। 'निकाय' शब्द का प्रयोग भी उसने राजपुरुषों या सम्प्रदायों के वर्गों के लिए किया है, बौद्ध धर्म ग्रन्थों के समूह के लिए नहीं। 'पिटक' शब्द उसके लेखों में पूर्णतः अज्ञात है। इससे लगता है कि उसके समय तक 'पिटक' और उसके अन्तर्गत 'निकाय' साहित्य अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में नहीं आये थे। इस लेख में अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रन्थों के लिए 'पलियाय' शब्द का प्रयोग किया है। स्वयं बुद्ध ने यह शब्द धम्म के किसी पक्ष पर प्रदत्त तर्क संगत उपदेश के लिए सुझाया था (बरुआ, अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स् भाग २, पृ० २९)। स्वयं 'पालि' शब्द भी 'पलियाय' का संबंधी है। सर्वास्तिवाद-साहित्य में 'पर्यायसूत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अशोक के समय पालि त्रिपिटक तो अस्तित्व में नहीं आया था, कुछ धर्म पलियाय – धंम पर्याय थे जिसमें बुद्धवचन सुत्तों के रूप में संगृहीत थे। अशोक ने इनमें कुछ प्रमुख सुत्तों का चयन करके उन्हें लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। इस प्रकार के प्रयास अन्य लोगों ने भी किए जैसा कि 'महा-वंस', 'मलिन्दपञ्हो' व 'विसुद्धिमग्ग' आदि जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध इस प्रकार की सूचियों से स्पष्ट है।

अशोक ने निज धंम पलियायों का नाम लिया है उनकी पहिचान आजकल उपलब्ध किन प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से की जाय, इसके विषय में पर्याप्त विवाद है। कुछ विद्वान् जैसे एन० के० शास्त्री मानते हैं कि इन ग्रन्थों की पहिचान सदैव सन्देह-ग्रस्त रहेगी क्योंकि अशोक ने सिवाय 'राहुलवाद' के (जिसमें उसके अनुसार मृषावाद

का विवेचन था) और किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु की ओर संकेत नहीं किया है। दूसरे, प्राचीन काल में एक ही ग्रन्थ कई नामों से प्रचलित हो जाता था, इसलिए आजकल उनको पहिचानने में परेशानी होना स्वाभाविक है। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में जो मत रखे हैं उनमें प्रमुख मत निम्नलिखित हैं :

१. **विनय समुकस** = संस्कृत नाम 'विनय समुत्कर्ष। एन० एस० मित्र: 'दीघ निकाय' का 'सिगालोवाद सुत्त'। ज नार्दन भट्ट : 'पातिमोक्ख'। भाण्डारकर: 'सुत्त निपात' का 'तुवट्ठकसुत्त'। सरकार:, 'अंगुत्तर' का 'अट्ठवसवग्ग'। अन्य: 'धम्म-चक्कपवत्तन सुत्त, 'मज्झिम०' का 'सप्पुरिस सुत्त'।

२. **अलिवसानि** = आर्यवंशाः आर्यवासाः। वरुआ, भाण्डारकर और धर्मानन्द कौशाम्बी : 'अंगुत्तर', २, का 'महाअरियवंस'। रीज़डेविड्स : 'अंगुत्तर', ३, का अरियवास'।

३. **अनागतभयानि** = वरुआ : यह आगुत्तर, ३, में हैं।

४. **मुनिगाथा** = वरुआ : 'सुत्तनिपात' का 'मुनिसुत्त'। यह 'दिव्यावदान' 'में भी 'मुनिगाथा' नाम से उल्लिखित है।

५. **मोनेयसूत्त**—संस्कृत 'मौनेयसूत्रम्'। कौशाम्बी, भाण्डारकर व सरकार : 'सुत्त निपात' का 'नालक सुत्त'। रीज़डेविड्स: 'इतिवत्तुक' का लघु 'मौनेय सुत्त'।

६. **उपतिस पसिने**—संस्कृत उपतिष्यप्रश्न'। भाण्डारकर तथा सरकार: 'मज्झिम' का 'रथविनीतसुत्त'। रा० ब० पाण्डेय : 'सुत्तनिपात' का 'सारिपुत्त सुत्त'। उपतिस सारिपुत्त का ही दूसरा नाम था। 'रथविनीत सूत्त' में सारिपुत्त के के प्रश्न ही दिए गए हैं।

७. **लाहुलोवाद**—संस्कृत नाम राहुलवाद। सेना : 'मज्झिम', २, का 'अम्बलट्ठिक राहुलोवाद'। 'मज्झिम' में दो राहुलवाद और हैं 'महाराहुलवाद' और 'चूल (लघु) राहुलवाद'। स्पष्ट है अशोक की 'अम्बलट्ठिक राहुलवाद' के अलावा अन्य राहुलवाद भी ज्ञात थे।

भाण्डारकर ने अशोक के धर्मपर्यायों की पहचान के लिए बुद्धघोष के 'विशुद्धि-मग्ग' की एक कथा की ओर ध्यान दिया है इसमें कहा गया है कि एक तरुण भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के पास रहने के बावजूद यह कभी नहीं कहता कि "तू मेरी माँ है,मैं तेरा पुत्र हूँ"। वह इस आदर्श को निभा सका क्योंकि उसने बुद्ध द्वारा 'रथविनीतपटिपद्म', नालकपटिपद्म' 'तुवटक पटिपदम्' तथा 'महाअरियवंसपटि-पद्म' में बताए गए आचार-मार्ग का पालन किया था। इस प्रकार बुद्धघोष इन चार बौद्ध धर्मन्थों की उपयोगिता पर विशेष बल देता है।इनकी पहिचान अशोक के द्वारा प्रचारित 'मोनेयसुत' ('नालकपटिपद्म'), 'उपतिस पसिन', ('रथविनीतपटिपद्म')

'अलियवसानि' ('महाअरियवंसपटिपद्म) तथा 'विनयसमुकस' ('तुवट्ठकपटिपद्म') से की जा सकती है।

अशोक ने जिन ग्रन्थों को धंमपलियाय माना है उनके (अगर उनमें चार की पहिचान बुद्धघोष द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त ग्रन्थों से की जाय) अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि अशोक बौद्धधर्म के दार्शनिक या कर्मकाण्डीय पक्ष में नहीं वरन् नैतिक पक्ष में दिलचस्पी रखता था। उदाहरणार्थ 'महाअरियंसपटिपद्म' में भिक्षुओं के चार आचार मार्गों का विधान है। इसमें कहा गया है कि भिक्षुओं को सादे वेश, सन्मार्ग से प्राप्त किए हुए सादे भोजन, छोटे-से-छोटे मकान, एवं ध्यान में आनन्द लेना चाहिए। 'मुनिगाथा' और 'मोनेयसूत' भी लगभग ऐसी ही बात कहते हैं। 'मुनिगाथा' में, जो प्रारम्भिक बौद्ध काव्य का अच्छा उदाहरण है, एकाकी रूप से ध्यान करने वाले भिक्षु के जीवन की गृहस्थों के परेशानियों से भरे जीवन से तुलनात्मक श्रेष्ठता बताई गई है। अशोक द्वारा बताए गए इन चार ग्रन्थों में एक भी ऐसा नहीं है जिसमें धर्म की वाह्य बातों में या मात्र संघ के वाह्य अनुशासन में दिलचस्पी ली गई हो। शायद इसीलिए वह अनुरोध करता है कि इन्हें केवल भिक्षुभिक्षुणियाँ ही नहीं साधारण जन भी सुनें।

अशोक द्वारा बताए गये बाकी ग्रन्थ भी ऐसे हैं जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं एवं उनको दूर करने के उपायों का विवेचन है। उदाहरणार्थ 'अनागतभयानि' में भविष्य के (अनागत) उन भयों का उल्लेख है जो धार्मिक साधना में किसी समय भी बाधक हो सकते हैं—जैसे रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध, फूट, मृत्यु आदि। मनुष्य को इन सबका ध्यान रखते हुए अपनी शक्तियों का उपयोग करना चाहिए। लेकिन इन भयों के अलावा, जो प्रकृत्या वाह्य होते हैं, कुछ ऐसे भी भय होते हैं जो आतंरिक अर्थात् मानसिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं। वे मनुष्य की आध्यात्मिक सिद्धि में बाह्य भयों से भी अधिक बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इनको जानने के लिए अशोक ने 'राहुलवाद' की ओर ध्यान दिलाया जिसमें बुद्ध ने अंबलट्ठिक राहुल को यह उपदेश दिया है कि दीक्षा के समय एवं उसके उपरान्त काया, वाणी और मन की प्रत्येक प्रक्रिया की कड़ाई से जाँच करते रहना चाहिए जिससे मनुष्य उपर्युक्त बाधाओं के कारण मिथ्याचरण में न फँस जाए।

(७) अशोक के द्वारा उल्लिखित पलियायों को प्रायः 'ग्रन्थ' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उस समय तक ये 'ग्रन्थ' पुस्तकाकार नहीं थे, मौखिकरूपेण स्मरण किए जाते थे। स्वयं बौद्ध परम्परानुसार बौद्ध उपदेशों को लिखित रूप सर्वप्रथम लंका में प्रथम शती ई० पू० के अन्त में मिला था। दूसरे, जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही अशोक के युग में हुआ था। अतः उसके शासन काल में इन 'ग्रन्थों' का पुस्तकाकार होना असंभव न होते हुए भी दुःसम्भाव्य था।

का विवेचन था) और किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु की ओर संकेत नहीं किया है। दूसरे, प्राचीन काल में एक ही ग्रन्थ कई नामों से प्रचलित हो जाता था, इसलिए आजकल उनको पहिचानने में परेशानी होना स्वाभाविक है। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में जो मत रखे हैं उनमें प्रमुख मत निम्नलिखित हैं :

१. **विनय समुकस** = संस्कृत नाम 'विनय समुत्कर्ष'। एन० एस० मित्र: 'दीघ निकाय' का 'सिगालोवाद सुत्त'। ज नार्दन भट्ट : 'पातिमोक्ख'। भाण्डारकर : 'सुत्त निपात' का 'तुवट्ठकसुत्त'। सरकार:, 'अंगुत्तर' का 'अट्ठवसवग्ग'। अन्य: 'धम्म-चक्कपवत्तन सुत्त, 'मज्झिम०' का 'सप्पुरिस सुत्त'।

२. **अलिवसानि** = आर्यवंशाः आर्यवासाः । बरुआ, भाण्डारकर और धर्मानन्द कौशाम्बी : 'अंगुत्तर', २, का 'महाअरियवंस'। रीज़डेविड्स : 'अंगुत्तर', ३, का अरियवास'।

३. **अनागतभयानि** = वरुआ : यह आगुत्तर, ३, में हैं।

४. **मुनिगाथा** = वरुआ : 'सुत्तनिपात' का 'मुनिसुत्त'। यह 'दिव्यावदान' 'में भी 'मुनिगाथा' नाम से उल्लिखित है।

५. **मोनेयसूत्त**—संस्कृत 'मौनेयसूत्रम्'। कौशाम्बी, भाण्डारकर व सरकार : 'सुत्त निपात' का 'नालक सुत्त'। रीज़डेविड्स: 'इतिवत्तुक' का लघु 'मौनेय सुत्त'।

६. **उपतिस पसिने**—संस्कृत उपतिष्यप्रश्न'। भाण्डारकर तथा सरकार : 'मज्झिम' का 'रथविनीतसुत्त'। रा० ब० पाण्डेय : 'सुत्तनिपात' का 'सारिपुत्त सुत्त'। उपतिस सारिपुत्त का ही दूसरा नाम था। 'रथविनीत सूत्त' में सारिपुत्त के के प्रश्न ही दिए गए हैं।

७. **लाहुलोवाद**—संस्कृत नाम राहुलवाद। सेना : 'मज्झिम', २, का 'अम्बलट्ठिक राहुलोवाद'। 'मज्झिम' में दो राहुलवाद और हैं 'महाराहुलवाद' और 'चूल (लघु) राहुलवाद'। स्पष्ट है अशोक की 'अम्बलट्ठिक राहुलवाद' के अलावा अन्य राहुलवाद भी ज्ञात थे।

भाण्डारकर ने अशोक के धर्मपर्यायों की पहचान के लिए बुद्धघोष के 'विशुद्धि-मग्ग' की एक कथा की ओर ध्यान दिया है इसमें कहा गया है कि एक तरुण भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के पास रहने के वावजूद यह कभी नहीं कहता कि "तू मेरी माँ है, मैं तेरा पुत्र हूँ"। वह इस आदर्श को निभा सका क्योंकि उसने बुद्ध द्वारा 'रथविनीतपटिपद्म', नालकपटिपद्म' 'तुवटक पटिपदम्' तथा 'महाअरियवंसपटि-पद्म' में बताए गए आचार-मार्ग का पालन किया था। इस प्रकार बुद्धघोष इन चार बौद्ध धर्मन्थों की उपयोगिता पर विशेष बल देता है। इनकी पहिचान अशोक के द्वारा प्रचारित 'मोनेयसुत' ('नालकपटिपद्म'), 'उपतिस पसिन', ('रथविनीतपटिपद्म')

'अलियवसानि' ('महाअरियवंसपटिपदा) तथा 'विनयसमुकस' ('तुवट्ठकपटिपदा') से की जा सकती है।

अशोक ने जिन ग्रन्थों को धंमपलियाय माना है उनके (अगर उनमें चार की पहिचान बुद्धघोष द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त ग्रन्थों से की जाय) अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि अशोक बौद्धधर्म के दार्शनिक या कर्मकाण्डीय पक्ष में नहीं वरन् नैतिक पक्ष में दिलचस्पी रखता था। उदाहरणार्थ 'महाअरियंसपटिपदा' में भिक्षुओं के चार आचार मार्गों का विधान है। इसमें कहा गया है कि भिक्षुओं को सादे वेश, सन्मार्ग से प्राप्त किए हुए सादे भोजन, छोटे-से-छोटे मकान, एवं ध्यान में आनन्द लेना चाहिए। 'मुनिगाथा' और 'मोनेयसूत' भी लगभग ऐसी ही बात कहते हैं। 'मुनिगाथा' में, जो प्रारम्भिक बौद्ध काव्य का अच्छा उदाहरण है, एकाकी रूप से ध्यान करने वाले भिक्षु के जीवन की गृहस्थों के परेशानियों से भरे जीवन से तुलनात्मक श्रेष्ठता बताई गई है। अशोक द्वारा बताए गए इन चार ग्रन्थों में एक भी ऐसा नहीं है जिसमें धर्म की बाह्य बातों में या मात्र संघ के बाह्य अनुशासन में दिलचस्पी ली गई हो। शायद इसीलिए वह अनुरोध करता है कि इन्हें केवल भिक्षुभिक्षुणियाँ ही नहीं साधारण जन भी सुनें।

अशोक द्वारा बताए गये बाकी ग्रन्थ भी ऐसे हैं जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं एवं उनको दूर करने के उपायों का विवेचन है। उदाहरणार्थ 'अनागतभयानि' में भविष्य के (अनागत) उन भयों का उल्लेख है जो धार्मिक साधना में किसी समय भी बाधक हो सकते हैं—जैसे रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध, फूट, मृत्यु आदि। मनुष्य को इन सबका ध्यान रखते हुए अपनी शक्तियों का उपयोग करना चाहिए। लेकिन इन भयों के अलावा, जो प्रकृत्या बाह्य होते हैं, कुछ ऐसे भी भय होते हैं जो आतरिक अर्थात् मानसिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं। वे मनुष्य की आध्यात्मिक सिद्धि में बाह्य भयों से भी अधिक बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इनको जानने के लिए अशोक ने 'राहुलवाद' की ओर ध्यान दिलाया जिसमें बुद्ध ने अंबलट्ठिक राहुल को यह उपदेश दिया है कि दीक्षा के समय एवं उसके उपरान्त काया, वाणी और मन की प्रत्येक प्रक्रिया की कड़ाई से जाँच करते रहना चाहिए जिससे मनुष्य उपर्युक्त बाधाओं के कारण मिथ्याचरण में न फँस जाए।

(७) अशोक के द्वारा उल्लिखित पलियायों को प्रायः 'ग्रन्थ' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उस समय तक ये 'ग्रन्थ' पुस्तकाकार नहीं थे, मौखिकरूपेण स्मरण किए जाते थे। स्वयं बौद्ध परम्परानुसार बौद्ध उपदेशों को लिखित रूप सर्वप्रथम लंका में प्रथम शती ई० पू० के अन्त में मिला था। दूसरे, जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही अशोक के युग में हुआ था। अतः उसके शासन काल में इन 'ग्रन्थों' का पुस्तकाकार होना असंभव न होते हुए भी दुःसम्भाव्य था।

(८) अशोक द्वारा उल्लिखित 'ग्रन्थों' की भाषा न संस्कृत थी और न संभवतः पालि। वह जो नाम देता है उनमें मागधी बोली का प्रभाव है (जैसे 'अरिय' को 'अलिय' तथा 'राहुलो' को 'राघुलो' कहे जाने में)। अतः हो सकता है उसके काल में ये 'ग्रन्थ' मागधी प्राकृत में रहे हों। हर हालत में इतना स्पष्ट है कि उसके काल में त्रिपिटक-रचना की प्रारम्भिक अवस्था चल रही थी, सम्पूर्ण त्रिपिटक अस्तित्व में नहीं आया था।

प्रथम स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा [।] सडुवीसति
२. वसअभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता [।]
३. हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धंमकामताया
४. अगाय पलीखाया अगाय सुसूयाया अगेन भयेना
५. अगेन उसाहेना [।] एस चु खो मम अनुसथिया
६. धंमापेखा धंमकामता चा सुवे सुवे वढिता वढीसति चेवा [।]
७. पुलिसा पि च मे उकसा चा गेवया चा मझिमा चा अनुविधीयंती
८. संपटिपादयंति चा अलं चपलं समादपयितवे [।] हेमेव अंत
९. महामाता पि [।] एस हि विधि या इयं धमेन पालना धमेन विधाने
१०. धंमेन सुखियना धंमेन गोती ति

द्वितीय स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा)

मूलपाठ

१०. देवानंपिये पियदसि लाज
११. हेव आहा [।] धमे साधू कियं चु धंमे ति [।] अपासिनवे बहु कयाने
१२. दया दाने सचे सोचये [।] चखुदाने पि मे बहुविधे दिंने [।] दुपद
१३. चतुपदेसु पखिवालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान
१४. दाखिनाये [।] अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि [।] एताये मे
१५. अठाये इयं धंमलिपि लिखापिता हेवं अनुवटिपजंतु चिलं
१६. थितिका च होतू ती ति [।] ये च हेवं संपटिपजीसति से सुकटं कछतीति

पाठ-टिप्पणी—यह लेख प्रथम स्त० ले० की अन्तिम अर्थात् दसवीं पंक्ति से ही शुरू हो जाता है। इस तरह सम्पूर्ण लेख की १०वीं पंक्ति इस दूसरे लेख की प्रथम पंक्ति है। सेना और ब्युलर ने 'लाज' को 'लाजा' पढ़ा है। अन्तिम पंक्ति में 'होतू तीति' के स्थान पर अन्य संस्करणों 'होतू ति' पाठ है। दूसरी पंक्ति में—'वे' के बाद एक आधारवत् रेखा और तीसरी में 'मे' के बाद एक लम्बवत् रेखा निष्प्र-योजन उत्कीर्ण हैं।

शब्दार्थ

कियं चु=क्या है ? **अपासिनवे**=अल्पासिनव, अल्प पाप ; **बहुकयाने**=बहुकल्याण ; **चक्षुदाने**=चक्षुदान, ज्ञान दृष्टि, प्रज्ञादान ; **दिने**=दत्तम्, दिया गया ; **दुपद**=द्विपद, मनुष्य; **चतुपद**=चौपाये, पशु ; **वालिचल**=जलचर प्राणी; **आ पानदाखिनाए**='आप्राण-दक्षिणा तक' प्राणदान तक; **अठाये**=अर्थाय, प्रयोजन के लिए ; **अनुपटिपजंतु**=अनु-सरण करें; **संपटिपजीसति**=स्वीकार करेंगे; **सुकट**=सुकृत

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—"धर्म साधु है। (किन्तु) धर्म क्या है? अल्पपाप, बहुकल्याण, दया (करना), दान (देना) सत्य (बोलना) (और) शुचिता (पवित्रता)। ज्ञान दृष्टि भी मेरे द्वारा विविध प्रकार की दी गई। मनुष्यों, चौपायों (=पशुओं) जलचरों पर विविध प्रकार के अनुग्रह मेरे द्वारा किए गए, प्राणदान तक (अर्थात् उनकी होने वाली हत्याओं को रोकने तक)। और अन्य भी बहुत से कल्याण मेरे द्वारा किए गए। इस प्रयोजन के हेतु मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवाई गई जिससे (लोग) इसका अनुसरण करें और (यह) चिरस्थायी होवे। जो इसे इस प्रकार स्वीकार करेंगे वे सुकृत करेंगे।

व्याख्या

(१) **आपिसनवे, बहुकयाने**—स्वयं यह प्रश्न करके कि " 'धंम' क्या है " अशोक वे छः सिद्धान्त बताता है जो धंम के अन्तर्गत आते हैं। इनमें प्रथम दो 'आपिसनवे' तथा 'बहुकयाने' हैं। 'आपिसनवे' शब्द 'अप' तथा 'आसिनव' के योग से बना है। अप=अल्प। 'आसिनव' को तृतीय स्तम्भ अभिलेख में 'पाप' कहा गया है। 'आसिनव' स्पष्टतः 'कयाने' (कल्याण) का विलोमार्थक है। पाँचवें शि० ले० व ७ वें स्त० ले० में 'कयाने'='पुण्य'। अतः 'आसिनवे'='पाप'। पञ्चम शि० ले० में 'कयाने' और 'पाप' विलोमार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हैं भी। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की दृष्टि में 'आसिनवे' पापपूर्ण कृत्य का नैतिक परिणाम था, उसी तरह जैसे 'कयाने' या पुण्य साधुकृत्य का नैतिक परिणाम होता है। तृतीय स्त० ले० में अशोक ने उन मानसिक विकारों का उल्लेख किया है जिनसे 'आसिनव' उत्पन्न होता है। वे हैं : चंडिये=प्रचण्डता ; निठुलिये=निष्ठुरता ; कोधे=क्रोध ; माने=घमंड इस्या=ईर्ष्या। भाण्डारकर का मत है कि इस विषय में अशोक पर जैन धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म से भी अधिक पड़ा था। उनका तर्क इस प्रकार है : तीसरे स्त० ले० में 'आसिनव' का उल्लेख 'पाप' के साथ किया गया है और दशम शि० ले० में 'अपुण्य' के अर्थ में 'पलिसवे' शब्द मिलता है। इसलिये पहिले-पहल यह प्रतीत होता है कि अशोक का 'आसिनव' वही है जो बौद्ध धर्म में आसव (आस्रव) कहलाता था। परन्तु बौद्ध जन तीन प्रकार के आसव मानते हैं : (१) कामासव (कामसुख) (२) भवासव (जीवन का मोह) और (३) अविज्जासव (अविद्या दोष।)

कभी-कभी वे इनमें एक चौथा रिट्ठ-आसव (नास्तिकता) भी जोड़ देते हैं। परन्तु अशोक जिन पाँच आसिनवों का उल्लेख करता है वे भिन्न प्रकार के हैं (चंडिये, निठुलिये, कोधे, माने तथा इस्या)। दूसरे, तृतीय स्त० ले० में अशोक ने 'आसिनव' व 'पाप' को जिस प्रकार साथ-साथ रखा है, बौद्ध दर्शन में पाप और आसव को उस प्रकार साथ-साथ नहीं रखा गया है। यह बात हमें जैन दर्शन में मिलती है। जैन दर्शन अट्ठारह प्रकार के पाप और बयालीस प्रकार के आसव गिनाता है। इन दोनों सूचियों में 'क्रोध' और 'मान' भी सम्मिलित हैं और पापों की सूची में 'इस्या' का भी उल्लेख मिलता है। 'निठुलिये' और 'चंडिये' शायद इन सूचियों की 'हिंसा' के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि अशोक का 'आसिनव' जैन 'आस्रव' के निकट है। इसी प्रकार अशोक का 'पलिसव' जैनधर्म का 'परिस्सव' हो सकता है। भाण्डारकर ने अशोक के 'आसिनव' को जैन 'आचारांगसूत्र' में प्रयुक्त शब्द 'अण्हय' का संवादी माना है। परन्तु बरुआ का कहना है 'अण्हय' का मनोविकार अर्थ में प्रयोग बौद्ध ग्रन्थ 'औपपातिक सूत्र' में भी मिलता है। हमारे विचार से इस प्रकार के विचार तत्कालीन भारत के सभी धर्मों में प्रचलित थे। तु०

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।
—गीता १६-२१

तथा

पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥
—मनुस्मृति ७-४८.

(२) **दया दाने सचे सोचये**—ये चार गुण अशोक के धर्म का सकारात्मक पक्ष है। दया भावना अथवा अनुकम्पा से दान देने की प्रवृत्ति होती है। सच=सत्य निष्ठा और दृढ़भक्ति=सप्तम अभिलेख की दृढभतिता। सोचिये=शुद्धि=भावशुद्धि। यह संयम पर आधृत होती है। दया, दान सत्य व शुद्धि की महिमा हिन्दू धर्म मे भी मानी गई है। तु०

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षानितः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
— याज्ञवल्क्य, १.१२२

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरु शुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥
आर्जवं लोभ शून्यत्वं देवब्राह्मण पूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥
— विष्णु०, २.७–८

(३) **चखुदान**=प्रज्ञादान=ज्ञान दृष्टि का दान। यह नवें शि० ले० के धर्मदान का ही दूसरा नाम है। चखु=चक्षु=आलोक। 'इतिवत्तुक' में तीन प्रकार के चक्षुओं का उल्लेख है—मंस (मांस) चक्खु, दिव्व (दिव्य) चक्खु तथा पञ्ञा (प्रज्ञा) चक्खु। यहाँ तीसरा अर्थ अभीष्ट है। लेकिन सरकार के अनुसार इस लेख के चक्षुदान का आशय है कि अशोक ने उन अपराधियों को, जिनकी आँखें निकाल लिए जाने का दण्ड मिला था, माफ कर दिया था।

(४) **दुपद ……दाखिनाये**—अशोक द्वारा विभिन्न प्राणियों के साथ किए गए अनुग्रह के लिए दे० द्वितीय शि० ले० एवं पञ्चम तथा सप्तम स्त० ले०।

तृतीय स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१७. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] कयानंमेव देखति इयं मे

१८. कयाने कटे ति [।] नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटे ति इयं वा आसिनवे

१३. नामा ति [।] दुपटिवेखे चु खो एसा [।] हेवं चु खो एस देखिये [।] इमानि

२०. आसिनवगामीनि नाम अथ चंडिये निठूलिये कोधे माने इस्या

२१. कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं [।] एस बाढ देखिये [।] इयं मे

२२. हिदतिकाये इयंमन मे पालतिकाये [॥]

चतुर्थ स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा [।] सडुवीसतिवस
२. अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता [।] लजूका मे
३. बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयता [।] तेसं ये अभिहाले वा
४. दंडे वा अतपतिये मे कटे किंति लजूका अस्वथ अभीता
५. कंमानि पवतयेवू जनस जानपदसा हितसुखं उपदेहवू
६. अनुगहिनेवु चा [।] सुखीयनदुखीयनं जानिसंति धमयुतेन च
७. वियोवढिसंति जन जानपदं किंति हिदतं पालतं च
८. आलाधयेवू ति [।] लजूका पि लघंति पटिचलितवे पुलिसानि पि मे छंदंनानि [।]
९. छंदंनानि पटिचलिसंति [।] ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूका
१०. चघंति आलाधयितवे [।] अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु
११. अस्वथे होति वियत धाति चघति मे पजं सुखं पलिहटवे
१२. हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हितसुखाये [ ] येन एते अभीता
१३. अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवू ति एतेन मे लजूकानं
१४. अभिहाले व दंडे वा अतपतिये कटे [।] इछितविये हि एसा किंति
१५. वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा [।] अव इते पि च मे आवुति
१६. बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे
१७. योते दिंने [।] नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं
१८. नासंतं वा निझपयिता दानं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति [।]
१९. इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति [।] जनस च
२०. वढति विविधे धंमचलने संयमे दानसविभागे ति [।]

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने पंक्ति ३ में 'अभिहाले' के स्थान पर 'अभीहाले' पढ़ा है। सोलहवीं पंक्ति में सेना व ब्युलर ने 'तीलित' के स्थान पर 'तीलीत' पढ़ा है।

शब्दार्थ

सडुवीसति=छब्बीस ; **लजूका**=रज्जुक ; **पान**=प्राणी ; **आयता**=आयताः, नियुक्त ; **अभिहाले**=अभिहारः, अभियोग ; **अतपतिये**=आत्मपतिकः, अपने विवेक पर अवलम्बित, स्वतन्त्र ; **किंति**=क्यों ? **अस्वथ**=आश्वस्त ; **पवतयेवू**=प्रवृत्त हों ; **उपदहेवू**=व्यवस्था करें ; **अनुगहिनेवु**=अनुग्रह करे ; **सुखीयन**=सुख पहुँचाना ; **दुखीयन**=दुख पहुँचाना ; **जानिसंति**=जानेंगे ; **धंमयुतेन**=धर्मयुत द्वारा ; **वियोवदिसंति**=उपदेश करेंगे ; **हिदतं**=इहलौकिक ; **पालतं**=पारलौकिक ; **आलाधयेवू**=प्रयत्न करें ; **लघंति**=चेष्टा करते हैं ; **पटिचलितवे**=परिचर्या करने के लिए ; **पुलिसानि**=पुरुष अर्थात् राजपुरुषः, **छंदनानि पटिचलिसंति**=इच्छाओं का पालन करेंगे ; **चघंति**=चेष्टा करेंगे ; **आलाधयितवे**=प्रसन्न करने की ।

अथा=यथा, जिस प्रकार ; **पजं**=प्रजाको, सन्तानको ; **वियताये**=योग्य ; **निसिजितु**=सौंपकर ; **अस्वथे**=आश्वस्त ; **चघति**=चेष्टा करती है ; **पलिहटवे**=परिदातुम्, देने के लिए ; **अभीता**=निर्भय ; **अविमना**=प्रसन्नचित्त ; **पवतयेवू**=प्रवृत्त हों ; **अवुति**=आयुक्ति, आदेश ; **तीलिदंडानं**=दण्डप्राप्त ; **पतवधानं**=प्राप्तवधानं, मृत्युदण्ड-प्राप्त ; **योते**=योतकं, छूट ; **नातिका**=ज्ञातिकाः, जातिवाले ; **निझपयिसंति**=ध्यान आकृष्ट करेंगे ; **जीविताये तानं**=उनके जीवन (को बचाने) के लिए ; **नासंतं**=बध्यं ; **निझपयिता**=ध्यान करते हुए ; **दाहंति**=दास्यन्ति, देंगे ; **पालतिकं**=पारलौकिक कल्याण के लिए ; **इछा हि मे हेवं**=मेरी ऐसी इच्छा है ; **निलुधसि पि कालसि**=निरुद्ध काल में ; **पालतं आलाधयेवू**=परलोक की आराधना की जाय ; **धंमचलने**=धर्माचरण ; **दानसविभागे**=दानवितरण ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा है—छब्बीस वर्षों से अभिषिक्त मेरे द्वारा यह धम्मलिपि लिखवाई गई । मेरे रज्जुक कई लाख प्राणियों और जनों में नियुक्त हैं । उनको अभियोग अथवा दण्ड में (उनके) अपने विवेक पर अवलम्बित मैंने किया है (अर्थात् उनको अभियोग लगाने और दण्ड देने के अधिकार में जो स्वतन्त्रता है वह मेरे द्वारा दी गई है) । क्यों ?—(जिससे) रज्जुक आश्वस्त व निर्भय (होकर) कर्म में प्रवृत्त हों, जनों और जनपदों (नगरों और ग्रामक्षेत्र के निवासियों) को हितसुख पहुँचाने की व्यवस्था करें और (उनपर) अनुग्रह करें । वे सुखीयन व दुखीयन (के कारणों) को जानेंगे और धर्मयुत (लोगों या अधिकारियों) द्वारा जनपद के जनों को उपदेश करें । क्यों ?—जिससे (वे) इहलौकिक व पारलौकिक (कल्याण के हेतु) प्रयत्न करें । रज्जुक मेरी परिचर्या के लिए चेष्टा करते हैं । मेरे पुरुष (नानक पदाधिकारी) भी मेरी इच्छाओं का पालन करेंगे । वे भी कुछ लोगों को उपदेश करेंगे जिससे रज्जुक मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा करेंगे ।

जिस प्रकार (माता-पिता) सन्तान को योग्य धाय (के हाथों में) सौंप कर आश्वस्त होते हैं—(ऐसा सोचकर कि) 'योग्य धाय मेरी सन्तान को सुख देने की चेष्टा करती है'—इसी प्रकार मेरे रज्जुक जानपदों के हित सुख के लिए नियुक्त हुए हैं। जिससे ये निर्भय और आश्वस्त होकर प्रसन्न मन से कर्मों में प्रवृत्त हों, इसलिए मेरे द्वारा रज्जुकों को अभिहार (=अभियोग लगाने का अधिकार) अथवा दण्ड (=दण्डाधिकार) में उनके अपने विवेक पर निर्भर (अर्थात् स्वाधीन) किया गया। इसकी इच्छा करनी चाहिए—क्या है वह (अर्थात् किस चीज की इच्छा) ? —व्यवहार-समता और दण्ड-समता होनी चाहिए। इसलिए यह मेरा आदेश है कि बन्दी मनुष्यों को. दण्ड प्राप्त (मनुष्यों) को (तथा) वधप्राप्त (अर्थात् मृत्यु-दण्ड प्राप्त) (मनुष्यों) को तीन दिनों की छूट मेरे द्वारा दी गई है। (उनकी) जाति वाले अथवा कोई (अर्थात् और कोई व्यक्ति) (रज्जुकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे उनके जीवन को बचाने के लिए अथवा (उनके) वध का ध्यान करते हुए दान देंगे (उनके) पारलौकिक कल्याण के लिए, अथवा उपवास करेंगे। ऐसी मेरी इच्छा है—निरुद्ध काल में (छूट के काल में अथवा कारावास के काल में) परलोक का ध्यान किया जाना चाहिए। लोगों का विविध धर्माचरण बढ़े, संयम (और) दान का वितरण भी।

व्याख्या

(१) **अभिहाले वा दण्डे वा अतपतिये मे कटे**—'अभिहाल' का पालि में अर्थ 'भेंट' होता है। इसलिए हूल्त्ज ने इसको 'पारितोषिक' अर्थ में लिया है। जायसवाल ने 'अभिहार' को 'युद्ध' अर्थ में लेकर यहाँ 'युद्ध विभाग' व दण्ड (=गृह) विभाग' का उल्लेख माना है (हिन्दूराजतन्त्र, भाग २) इनके विपरीत बरुआ ने 'अभिहाल' का अर्थ 'अभियोग' मानकर इसका तात्पर्य मुकदमों की सुनवाई माना है। 'अतपतिये कटे' पद में विवेक पर निर्भरता की बात कही गई है। एस० एन० मित्र का कहना था कि यहाँ अभियोग व दण्ड को अशोक के विवेक पर निर्भर कहा गया है अर्थात् अशोक ने इन विषयों को रज्जुकों के अधिकार-क्षेत्र से निकाल कर अपने अधिकार में लिया था। परन्तु शेष लगभग सभी विद्वान् यह मानते हैं कि यहाँ इन विषयों को रज्जुकों के विवेक पर छोड़ देने की बात कही गई है। अशोक अपने को प्रजा का का पिता मानता था (सवे मुनिसे पजा ममा – प्रथम व द्वितीय पृ० शि० ले०)। अतः यहाँ उसने रज्जुकों की तुलना एक चतुर धाय से की है जिसको उसने प्रजा की परिचर्या करने के खिए उसी प्रकार नियुक्त किया था। जिस प्रकार माता-पिता बच्चे की परिचर्या के लिए धाय को रखते हैं। उनको उसने अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दी। इससे लगता है कि इसके पूर्व उनको यह स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं थी।

(२) **धर्मयुत**—ब्युलर ने इसका अर्थ किया है 'धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार' परन्तु जैसा कि पाण्डेय ने कहा है, 'यह धर्मयुत' विशेषण है जो संज्ञा की तरह प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ इसका अर्थ होगा 'धर्मयुत लोगों अथवा अधिकारियों द्वारा'।

(३) **वियोहारसमता, दंडसमता**—व्यवहार (अर्थात् न्याय-प्रक्रिया) में समानता और दण्ड में समानता। इसे प्राप्त करने के लिए अशोक ने रज्जुकों को अपने विवेक से काम लेने की छूट दी। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार यहाँ आशय यह है कि अशोक ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिए जबकि रायचौधुरी के अनुसार अशोक का उद्देश्य न्याय और दण्ड-प्रक्रिया में प्रादेशिक अन्तरों को दूर करना था।

(४) **योते दिंने**—कर्न ने 'योते' को संस्कृत 'यौतकं' माना है। यूरोपीय विद्वान् इसका अर्थ 'छूट' करते हैं। बरुआ का कहना है कि 'यौतकं' शब्द प्राचीन-काल में केवल स्त्रियों को दहेज वा भेंट में प्राप्त स्त्री-धन के अर्थ में प्रयुक्त होता था। वह इसे संस्कृत के 'यौत्रम्' (छूट) का प्राकृत रूप मानते हैं।

(५) **नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं**—'मृच्छकटिक' (अंक १०) में कहा गया है कि चाण्डाल को चाहिए कि मृत्युदण्ड की घोषणा होते ही अपराधी को न मारे क्योंकि हो सकता है कोई दयालु व्यक्ति जीवन-शुल्क देकर अपराधी को छुड़ा ले, शायद राजा के पुत्र उत्पन्न हो जाने या यकायक किसी नए व्यक्ति के राजा बन जाने की खुशी में अपराधियों को छोड़ दिया जाय या किसी पागल हाथी के छूट जाने से उत्पन्न गड़बड़ी में बन्दी अवसर पाकर भाग ही जाए। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, शामशास्त्री का संस्करण, पृ० १४६) के अनुसार भी जीवन-शुल्क देने पर पुनर्विचार हो सकता था।

पञ्चम स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] सडुवीसतिवस
२. अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि से यथा
३. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे
४. जतूका अंबाकपीलिका दली अनठिकमछे वेदवेयके
५. गंगापुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले
६. सडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते
७. सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियती [।] अजकाना [न]
८. एळका चा सूकली चा गभिनी व पायमीना व अवधिय पतके
९. पि च कानि आसंमासिके [।] वधिकुकुटे नो कटविये [।] तुसे सजीवे
१०. नो झापेतविये [।] दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये [।]
११. जीवेन जीवे नो पुसितविये [।] तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं
१२. तिनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा
१३. अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये [।] एतानि येवा दिवसानि
१४. नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि
१५. न हंतवियानि [।] अठमीपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये
१५. पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये
१७. अजके एडके सूकले ए वा पि अने नीलखियति नो नीलखितविये [।]
१८. तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अस्वसा गोनसा
१९. लखने नो कटविये [।] यावसडुवीसतिवसअभिसितेन मे एताये
२०. अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि [।]

(३)**वियोहारसमता, दंडसमता**—व्यवहार (अर्थात् न्याय-प्रक्रिया) में समानता और दण्ड में समानता। इसे प्राप्त करने के लिए अशोक ने रज्जुकों को अपने विवेक से काम लेने की छूट दी। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार यहाँ आशय यह है कि अशोक ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिए जबकि रायचौधुरी के अनुसार अशोक का उद्देश्य न्याय और दण्ड-प्रक्रिया में प्रादेशिक अन्तरों को दूर करना था।

(४) **योते दिंने**—कर्न ने 'योते' को संस्कृत 'यौतकं' माना है। यूरोपीय विद्वान् इसका अर्थ 'छूट' करते हैं। बरुआ का कहना है कि 'यौतकं' शब्द प्राचीन-काल में केवल स्त्रियों को दहेज वा भेंट में प्राप्त स्त्री-धन के अर्थ में प्रयुक्त होता था। वह इसे संस्कृत के 'यौत्रम्' (छूट) का प्राकृत रूप मानते हैं।

(५) **नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं**—'मृच्छकटिक' (अंक १०) में कहा गया है कि चाण्डाल को चाहिए कि मृत्युदण्ड की घोषणा होते ही अपराधी को न मारे क्योंकि हो सकता है कोई दयालु व्यक्ति जीवन-शुल्क देकर अपराधी को छुड़ा ले, शायद राजा के पुत्र उत्पन्न हो जाने या यकायक किसी नए व्यक्ति के राजा बन जाने की खुशी में अपराधियों को छोड़ दिया जाय या किसी पागल हाथी के छूट जाने से उत्पन्न गड़बड़ी में बन्दी अवसर पाकर भाग ही जाए। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, शामशास्त्री का संस्करण, पृ० १४६) के अनुसार भी जीवन-शुल्क देने पर पुनर्विचार हो सकता था।

पञ्चम स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] सडुवीसतिवस
२. अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि से यथा
३. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे
४. जतूका अंबाकपीलिका दली अनठिकमछे वेदवेयके
५. गंगापुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले
६. सडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते
७. सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियती [।] अजकाना [न]
८. एळका चा सूकली चा गभिनी व पायमीना व अवधिय पतके
९. पि च कानि आसंमासिके [।] वधिकुकुटे नो कटविये [।] तुसे सजीवे
१०. नो झापेतविये [।] दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये [।]
११. जीवेन जीवे नो पुसितविये [।] तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं
१२. तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा
१३. अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये [।] एतानि येवा दिवसानि
१४. नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि
१५. न हंतवियानि [।] अठमीपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये
१५. पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये
१७. अजके एडके सूकले ए वा पि अने नीलखियति नो नीलखितविये [।]
१८. तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अस्वसा गोनसा
१९. लखने नो कटविये [।] यावसडुवीसतिवसअभिसितेन मे एताये
२०. अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि [।]

षष्ठ स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] दुवाडस
२. वसअभिसितेन मे धंमलिपि लिखापिता लोकसा
३. हितसुखाये से तं अपहटा तं तं धंमवढि पापोवा [।]
४. हेवं लोकसा हितसुखे ति पटिवेखामि अथ इयं
५. नातसु हेवं पतियासंनेसु हेवं अपकठेसु
६. किमं कानि सुखं अवहामी ति तथ च विदहामि [।] हेमेवा
७. सवनिकायेसु पटिवेखामि [।] सवपासंडा पि मे पूजिता
८. विविधाय पूजाया [।] ए चु इयं अतना पचूपगमने
९. से मे मोख्तमते [।] सडुवीसतिवसअभिसितेन मे
१०. इयं धंमलिपि लिखापिता

सप्तम स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

११. देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] ये अतिकंतं
१२. अंतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने
१३. धंमवढिया वढेया नो यु जने अनुलुपाया धंमवढिया
१४. वढिया [।] एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] एस मे
१५. हुथा [।] अतिकंतं च अंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने
१६. अनुलुपाया धंमवढिया वढेया ति नो च जनं अनुलुपाया
१७. धंमवढिया वढिया [।] से किनसु जने अनुपटिपजेया [।]
१८. किनसु जने अनुलुपाया धंमवढिया वढेया ति [।] किनसु कानि
१९. अभ्युंनामयेहं धंमवढिया ति [।] एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं
२०. आहा [।] एस मे हुथा [।] धंमसावनानि सावापयामि धंमानुसथिनि
२१. अनुसासामि [।] एतं जने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युंनमिसति
२२. धंमवढिया च बाढं वढिसति [।] एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आनपितानि य [था पुलि] सा पि बहुने जनसि आयता ए ते पलियोवदिसंति पि पविथलिसंति पि [।] लजूका पि बहुकेसु पानसतसहसेसु आयता ते पि मे आनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाथ
२३. जनं धंमयुतं [।] देवानंपिये पियदसि हेवं आहा [।] एतमेव मे अनुवेखमाने धंमथंभानि कटानि धंममहामाता कटा धंम [साव ने] कटे [।] देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं अंबावडिक्या लोपापिता [।] अढकोसिक्यानि पि मे उदुपानानि
२४. खानापितानि निंसिढया च कालापिता [।] आपानानि मे बहुकानि तत तत कालापितानि पटीभोगाये पसुमुनिसानं [।] ल [हुके चु] एस पटीभोगे नाम [।] विविधाया हि सुखायनाया पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोके [।] इमं चु धंमानुपटीपति अनुपटीपजंतु ति एतदथा मे
२५. एस कटे [।] देवानंपिये पियदसि हेवं आहा [।] धंममहामाता पि मे ते बहुविधेसु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटासे पवजीतानं चेव गिहिथानं च

सव [पासं] डेसु पि च वियापटासे [।] संघठसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे

२६. इमे वियापटा होहंति ति निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति पटिविसिठं तेसु तेसु ते [ते महा] माता [।] धंममहामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु [।] देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।]

२७. एते च अंने च बहुका मुखा दानविसगसि वियापटासे मम चेव देविनं च सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेन आकालेन तानि तानि तुठायतनानि पटी [वेदयंति] हिद चेव दिसासु च [।] दालकानं पि च मे कटे अंनानं च देविकुमालानं इमे दानविसगेसु वियापटा होहंति ति

२८. धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये [।] एस हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस हेवं वढिसति ति [।] देवानंपिये प [पि] प [यद सि] स लाजा हेवं आहा [।] यानि हि कानिचि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनूपटीपंने तं च अनुविधियंति [।] तेन वढिता च

२९. वढिसंति च मातापितिसु सुसुसाया गलुसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटीपतिया बाभनसमनेसु कपनवलाकेसु आव दासभटकेसु संपटीपतिया [।] देवानंपिय [पि] यदसि लाजा हेवं आहा [।] मुनिसानं चु या इयं धंमवढि वढिता दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निझतिया च [।]

३०. तत चु लहु से धंमनियमे निझतिया व भुये [।] धंमनियमे चु खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि [।] अंनानि पि चु बहुक [। नि] धंमनियमानि यानि मे कटानि [।] निझतिया व चु भुये मुनिसानं धंमवढि वढिता अविहिंसाये भुतानं

३१. अनालंभाये पानानं [।] से एताये अथाये इयं कटे पुतापपोतिके चंदम-सुलियिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति [।] हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदतपालते आलधे होति [।] सतविसति वसाभिसितेन मे इयं धंमलिबि लिखापापिता ति [।] एतं देवानंपिये आहा [।] इयं

३२. धंमलिवि अत अथि सिलाथंभानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया [॥]

लघु स्तम्भ (संघभेद) लेख

(साँची संस्करण)

मूलपाठ

१. ....

२. ····या भेत····[। [सं] घे [स] मगे कटे

३. भिखूनं च भिखुनीनं चा ति पुतप

४. पोतिके चेदमसूरियिके [।] ये संघं

५. भाखति भिखु वा भिखुनि वा ओदाता

६. नि दुसानि सनंधापयितु अनावा

७. ससि वासापेतविये [।] इच्छा हि मे किं

८. ति संघे समगे चिलथितीके सिया ति [।]

पाठ-टिप्पणी—इस लेख की प्रथम पंक्ति में, जो मिट गई है, संभवतः "देवानां-प्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञा करते हैं—साञ्ची प्रदेश में जो महामात्र हैं उनके प्रति—"ऐसा करना चाहिए जिससे किसी के द्वारा संघ····" जैसे अर्थवाले शब्द रहे होंगे। दे०, सारनाथ संघ भेद-लेख की तीसरी पंक्ति। दूसरी पंक्ति के प्रथम अक्षर को ब्युलर ने 'यं' पढ़ा है। उसके बाद का पूरा शब्द शायद 'भेतवे' रहा होगा। तीसरी पंक्ति के 'च' और 'चा' को ब्युलर ने 'वा' पढ़ा है, पांचवीं पंक्ति में ब्युलर और वॉयर ने 'भाखति' के स्थान पर 'भोखति' और अन्तिम पंक्ति में 'संघे समगे' को 'संघस भगे'।

शब्दार्थ

समगे कटे=समग्र अर्थात् संघटित किया गया ; **चंदनमसूरियिके**=जब तक चन्द्र सूर्य रहेंगे ; **भाखति**=भंग करता है ; **ओदातानि**=श्वेत ; **दुसानि**=वस्त्र ; **सनंधापयितु**=सन्निधाप्य, पहिनाकर ; **अनावससि**=अयोग्य आवास में ; **वासापेतविये**=बसाना चाहिए।

अनुवाद

....भंग नहीं किया जा सकता। संघ संघटित किया गया भिक्षुओं और भिक्षुणियों का (तब तक के लिए) जब तक (मेरे) पुत्र-पौत्र (राज्य करेंगे) (और) चन्द्र सूर्य (स्थित रहेंगे)। जो संघ भंग करता है (चाहे वह) भिक्षु (हो) या भिक्षुणी, (उसे) श्वेत वस्त्र पहिनाकर (भिक्षुओं के लिए) अयोग्य स्थान पर बसा देना चाहिए। मेरी इच्छा है—क्या ?—संघ संघटित (और) चिरस्थायी हो।

व्याख्या

(१) **संघे समगे कटे**='संघ समग्र कर दिया गया'। इसका अर्थ है कि इसके पूर्व संघ संघटित नहीं था। 'सुत्त विभंग' के अनुसार 'समग्र संघ' का मतलब था "एक आवास में एक सीमा के भीतर रहने वाले भिक्षुओं का समूह।" संघ को संयुक्त तब माना जाता था जब सब सदस्य अट्ठारह बातों (अट्ठारसहि वत्थूहि) पर एकमत रहते थे, जैसे धम क्या है, धंम क्या नहीं है, विनय क्या है, विनय क्या नहीं है, अपराध क्या है, अपराध क्या नहीं है आदि ('महावग्ग' १० ; 'चुल्लवग्ग' ७)। एकता की कसौटी किसी संघ की 'उपोस्था' होती थी। 'विनय' में बताया गया है कि किस प्रकार के अपराध से संघ में किस प्रकार का भेद होता था—भण्डनम्, कलह, विग्गह, विवाद, संघभेद, संघराजि, संघवत्थानम्, संघनानाकरणम् (विस्तार के लिए दे०, मुकर्जी, अशोक, पृ० १९६ अ०)। अशोक दावा करता है कि उसने संघ भेद को सदैव के लिए समाप्त कर दिया था। वह दावा स्पष्टतः अतिरञ्जित है। 'दीपवंस', 'महावंस' तथा 'समन्तपासादिका' में अशोक के संघभेद को दूर करने के प्रयास का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि अशोकाराम में सात वर्ष तक उपोस्था नहीं हुई क्योंकि श्रद्धावान् भिक्षु संघ में फूट डालने वालों के साथ इसमें सम्मिलित होने के लिए तैयार नहीं थे। संघ में फूट डालने वाले भिक्षु वास्तव में सद्धर्म में श्रद्धा नहीं रखते थे ; वे लोभ के कारण भिक्षु बन गये थे। परिणामतः संघ में अशोभनीय व्यवहार व दलबन्दी का बोलबाला हो गया था। अशोक ने इस पर एक उच्चपदाधिकारी को मतभेद समाप्त करके सब भिक्षुओं को उपोसथा में सम्मिलित करने का आदेश दिया। उस अधिकारी ने अशोक के आदेश को गलत समझा और उसने उपोसथा में सम्मिलित न होने वाले भिक्षुओं का वध कराना प्रारम्भ कर दिया। इसकी सूचना मिलने पर अशोक ने मोग्गलिपुत्त तिस्स को भेजा। उसने उन सब भिक्षुओं जो विभाज्यवाद में विश्वास करते थे श्वेत

वस्त्र पहिनाकर संघ से निकाल दिया (सेतकानि वत्थानि दत्वा उपपव्वजिसि) और इस तरह संघ एकता स्थापित की। इसी समागम में तिस्स ने 'कथावत्यु' की रचना की। इस कथा का समर्थन प्रस्तुत संघभेद अभिलेख से होता है। परोक्षत: इससे भिक्षुओं के समागम आयोजित्त किये जाने का समर्थन भी होता है। भाण्डारकर के अनुसार 'संघ को संघटित कर दिया गया है' वाक्य से प्रमाणित होता है कि अशोक के पूर्व अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे, लेकिन शायद उनमें मतभेद उतना ज्यादा नहीं था जितना सिंहली परम्परा में बताया गया है। दूसरे, यह भी ध्यान देने की बात है कि अशोक के अभिलेख में प्रयुक्त 'संघ' शब्द सापेक्ष है; इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह एक ही सम्प्रदाय के संघ की बात कह रहा है। शायद अशोक का मन्तव्य मात्र इतना ही था कि किसी एक विहार में एक ही बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी रहें जिससे उनमें मतभेद के कारण कलह न हो। किसी भिक्षु को मात्र इसलिए दण्डित करना क्योंकि वह अन्य भिक्षुओं से मतभेद रखता था, स्वयं अशोक की सहिष्णुता व समवाय नीति के विरुद्ध होता। परन्तु बौद्ध साहित्य निश्चय ही उसे थेरवादी सम्प्रदाय से सम्बन्धित बताता है। अन्य बौद्ध सम्प्रदाय उसकी विशेष चर्चा तक नहीं करते (बरुआ, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, भाग २, पृ० ३८०)।

(२) **ये संघं भाखति भिखु वा भिखुनिवा**—यहाँ 'संघ' का अर्थ सम्पूर्ण बौद्ध संघ नहीं, किसी प्रदेश का बौद्ध विहार मानना चाहिए। अशोक के इस कथन से ऐसा लगता है कि कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी संघभेद कर सकता था। परन्तु 'चुल्लवग्ग' ७. ५. में कहा गया है कि संघभेद केवल भिक्षु कर सकता है, भिक्षुणी, उपासक, उपासिकाएँ अथवा शिष्य गण संघ भेद का प्रयास मात्र कर सकते हैं। 'महावग्ग' ३.११.५ में भिक्षुणियों के द्वारा संघभेद की सम्भावना मानी गई है। 'पातिमोक्ख' में संघभेद की प्रक्रिया में इस प्रकार बताई गयी है : समागम (असेम्बली) में संघ में फूट डालने के लिए (संघस्स भेदाय) प्रयास करना; फूट डालने वाले विषयों को बार-बार उठाना; दोषी भिक्षुओं के दोष को उनका अपना पक्षधर मान-कर ढकने की कोशिश करना।

(३) **ओदातानि दुसानि सनंधापयितु**='श्वेत वस्त्र पहिनाकर'। अर्थात् काषाय वस्त्र उतरवाकर। पालि ग्रन्थों में श्वेत वस्त्रों को गृहस्थों और तित्थियों अर्थात् बौद्धेतर सम्प्रदायों के साधुओं का चिह्न बताया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्वेत वस्त्र पहिनाने से उन भिक्षुओं का गृहस्थ होना जरूरी नहीं था, वे अन्य सम्प्रदायों के साधुओं के रूप में भी लौट सकते थे। पालि ग्रन्थों में प्रदत्त उपर्युक्त कथा में (टि० २) 'उपपव्वाजेसि' का अर्थ यह माना गया है कि अशोक ने अशोका-राम के श्रद्धाहीन भिक्षुओं को अपने-अपने पुराने सम्प्रदायों के संघों में लौटने के लिए बाध्य किया था। यहाँ यह स्मरणीय है कि संघभेद के अपराधी को उसके अपराध की गरिमा के अनुसार दण्ड मिलता था। 'नासनं' या संघ से पूर्णतः निष्कासन

कठोरतम दण्ड था। किसी सामान्य अपराध का प्रायश्चित न करने या मिथ्यावाद को न छोड़ने पर संघ से निलम्बन (उक्खेपनं) का दण्ड मिलता था तथा प्रायश्चित योग्य असद् व्यवहार के लिए लघुकाल के लिए निष्कासन (पव्बजानं) का दण्ड दिया जाता था।

(४) संघभेद को रोकने के लिए अशोक द्वारा जारी किया गया आदेश बौद्ध संघ के इतिहास में अनूठा था। इस प्रकार का आदेश किसी और सम्प्रदाय के संघ के लिए जारी नहीं किया गया। अशोक ने अपने को बौद्ध संघ का अध्यक्ष तो नहीं बनाया परन्तु अपने को धर्म के रक्षक के रूप में अवश्य ही प्रस्तुत किया। हिन्दू धर्म में भी माना गया है कि कुल, जाति, जनपद अथवा संघ के नियमों की अवहेलना करने वालों को राजदण्ड दिया जा सकता था।

(५) **अनावाससि आवासयिये**—'समन्तपासदिका' में बुद्धघोष ने ऐसे स्थान को 'अभिक्खो आवासो' लिखा है। इसमें उन्होंने चेतियघर (समाधिस्थल), बोधि-घर, समन्जनी अट्टक (स्नान घर) दारूअट्टक, पानीय माल, वचोकुटी (मलमूत्र त्यागने का स्थान) और द्वार कोट्ठक गिनाये हैं। लेकिन श्वेत वस्त्र पहिनाकर निकाले गये भिक्षुओं को इन स्थान पर वास करने के लिए नहीं कहा जा सकता था।

(६) **चंद सुरियिके**—यहाँ इस पद का 'हमेशा के लिए' अर्थ में प्रयोग हुआ है। तु० परवर्ती लेखों का 'आचन्द्रार्क'।

(७) यह आदेश अशोक ने साँची के समीपस्थ काकनादवोट महाविहार के भिक्षुओं को चेतावनी देने के लिए लिखवाया होगा।

लघु स्तम्भ (संघभेद) लेख

(सारनाथ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवा [नां पिये]............

२. ए ल................

३. पाट [लि पु त] ˙ [न स कि] ये केनपि संघे भेतवे [।] ऐ चुं खो

४. भिखू वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि संनंधापयि या आनावाससि [।]

५. आवासयियिये [।] हेवं इयं सासने भिखुसंघसि च भिखुनिसंघसि च विनपयितवियेे [।]

६. हेवं देवानंपिये आहा [।] हेदिसा च इका लिपी तुफाकंतिकं हुवाति संसलनसि निखिता

७. इकं च लिपिं हेदिसमेव उपासकानंतिकं निखिपाथ [।] ते पि च उपासका अनुपोसथं यावु

८. एतमेव सासनं विस्वंसयितवे अनुपोसथं च धुवाये इकिके महामति पोसथाये

९. याति एतमेव सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च [।] आवते च तुफाकं आहाले

१०. सवत विवासयाथ तुफे एतेन वियंजनेन [।] हेमेव सवेसु कोटविषवेसु एतेन

११. वियंजनेन विवासापयाथा [॥]

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति का पूर्ण पाठ हो सकता है 'देवानंपिये पियदसि लाजा आनपयति' रहा हो (कौशाम्बी संघभेद लेख के आधार पर)। दूसरी पंक्ति करीव-करीब पूरी तरह मिट गई है। परन्तु इसमें अगर कुछ ऐसी भाषा रही होगी जैसी कौशाम्बी संघभेद स्तम्भ-लेख में है तो कहा गया होगा : "जो पाटलिपुत्र में महामात्र हैं उनके प्रति—मेरे द्वारा संघ संघटित किया गया।" तीसरी पंक्ति के प्रारंभ में 'पाटलिपुतं' पाठ रहा होगा। बॉयर ने इसके वाद 'न स कि' अक्षर पुनर्योजित करने का सुझाव रखा है जो सरकार को मान्य है। चौथी पंक्ति में 'संघ' के उपरान्त वेनिस ने 'भाखति' पढ़ा है, सेना तथा फोगल ने 'भिंखति' तथा बायर ने 'भोखति'।

शब्दार्थ

न सकिये=शक्य न हो ; **केनपि**=किसी के द्वारा भी ; **भेतवे**=भेदन ; **ए चुं खो**=जो भी कोई ; **भाखति**=भेदन करता है ; **ओदातानि दुसानि**=श्वेत वस्त्र ; **संनंधापयिया**=पहिनाकर ; **आनावससि**=अनावास, वह स्थान जो रहने योग्य न हो ; **आवासयिये**=रखा जाएगा ; **सासन**=शासन, आज्ञा ; **विनपयितवियेे**=विज्ञप्त होनी चाहिए ; **हेदिसा**=इस प्रकार की ; **तुफाकंतिकं हुवाति**=आप लोगों के पास होवें ; **संसलनसि**=आवास में (चौपाल में या कचहरी में) ; **निखिता**=सुरक्षित होनी चाहिए ; **हेदिसमेव**=इसी प्रकार की ; **अनुपोसथं**=उपवास के दिन ; **यावु**=आवें ; **विस्वंसयितवे**=विश्वास उत्पन्न करने के लिए ; **तुफाकं**=आपका ; **आहाले**=आहार, कार्यक्षेत्र ; **ऐतेन वियंजननें**=इस आज्ञा के व्यन्जनानुसार, अर्थात् इसका अक्षरशः पालन करते हुए ; **कोटविषवेसु**=कोट्ट और प्रान्तों में ।

अनुवाद

देवा [नांप्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञा करते हैं—] [जो पाटलिपुत्र में महामात्र हैं उनके लिए—"मेरे द्वारा संघ संघटित किया गया ।] पाट [लिपुत्र में ऐसा करना चाहिए जिससे] किसी के द्वारा संघ का भेदन शक्य न हो । जो भी कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ भंग करेगा, वह श्वेत वस्त्र पहिनाकर अयोग्य स्थान में (अर्थात् भिक्षुओं के लिए निषिद्ध स्थान में) रखा जाएगा (अर्थात् संघ से निकाल दिया जाएगा) । इस प्रकार यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ में विज्ञप्त होनी चाहिए। इस प्रकार देवानांप्रिय ने कहा, इसी प्रकार की एक लिपि (=प्रतिलिपि) आप लोगों के पास चौपाल (कचहरी ?) में सुरक्षित रखी होनी चाहिए। और इसी प्रकार की एक लिपि (=प्रतिलिपि) आप उपासकों (गृहस्थों) के पास सुरक्षित रखें। ये उपासक प्रत्येक उपोसथ दिवस को इस आज्ञा में विश्वास प्राप्त करने के लिए आवें। और उपोसथ के दिन निश्चित रूप से एक-एक महामात्र (अर्थात् प्रत्येक महामात्र बारी-बारी से) पोसथा के लिए इस आज्ञा में विश्वास प्राप्त करने के लिए और अच्छी तरह समझने के हेतु आवेगा । और जहाँ तक आपका आहार (कार्यक्षेत्र) है आप इस आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए (इस आदेश की प्रतिलिपियों को) सर्वत्र भेजिए। इसी प्रकार सभी कोट्टों (और) प्रान्तों में इस आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए (प्रतिलिपियों को) भेजिए ।

व्याख्या

(१) **पाटलिपुत्र**—आधुनिक पटना, मगध की राजधानी । इस लेख की तीसरी पंक्ति में आए 'पाट·····' अक्षरों के कारण हमने इसका अनुवाद यह मान कर किया है कि कौशाम्बी संघ-लेख की तरह इस लेख की दूसरी पंक्ति में, जो खण्डित हो गई है, पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित किया गया था । उस अवस्था में मानना होगा कि सारनाथ विहार मागध संघ के अन्तर्गत था । लेकिन इस लेख में भी अगर

कौशाम्बी के महामात्रों को ही सम्बोधित किया गया था तब हो सकता है कि इसके खण्डित अंश में पाटलिपुत्र में आयोजित तृतीय बौद्ध संगीति का उल्लेख रहा हो। सरकार का विचार है कि कौशाम्बी, साञ्ची व सारनाथ से उपलब्ध संघभेद-अभिलेख पाटलिपुत्र की संगीति के उपरान्त ही लिखवाए गये होंगे।

(२) कौशाम्बी व साँची संघभेद लेख के समान यह अभिलेख भी प्रधानतः महामात्रों के लिए था। लेकिन अशोक इसे भिक्षु, भिक्षुणिओं तथा उपासकों को भी पढ़वाए जाने का आदेश देता है।

(३) **संसलन**=संस्कृत संसरण। पाण्डेय ने इसका अर्थ आने जाने या एकत्र होने का स्थान अर्थात् 'चौपाल' किया है, हूल्त्ज़ ने 'आफिस', भाण्डारकर ने 'कचहरी' तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इसे सभाभवन, कोई अन्य आवास अथवा कोई पदनाम माना है। कुछ ने इसे 'स्मृति' अर्थ में भी लिया है। संस्कृत में 'संसरण' का अर्थ 'घण्टापथ' 'राजपथ' या 'पथ-संगम' होता है अथवा 'पुर (नगर) के समीप स्थित भूमि' (अमरकोश)। 'विनय पिटक' (चुल्लवग्ग) में 'संसरण' शब्द का प्रयोग 'गतिशील' अर्थ में हुआ है और बुद्धघोष ने इसे 'जनपथ' अर्थ में प्रयुक्त किया है।

(४) **पोसथा**, **उपोसथ**—सामान्यतः पोसथ और उपोसथ में कोई अन्तर नहीं होता था। बौद्ध व जैन धर्मों में इनका प्रयोग प्रायः शुक्ल पक्ष की अष्टमी के लिए होता था जब दोपहर बाद व्रत रखा जाता था। वैदिक धर्म में उपवसथ वैदिक यज्ञ दर्श और पूर्णमास का दिन माना जाता था जो व्रत और उपवास के लिए निश्चित था। 'शतपथ' के अनुसार यजमान यह विश्वास करता था कि उस दिन देवता उसके पास वसते थे (उप+वस) और वह अपनी पत्नी के साथ देवता (=अग्नि) के पास रहता था। वैदिक परम्परा में भी पक्ष का आठवाँ दिन उपवास व कथा-वार्ता का होता था। प्रस्तुत अभिलेख में 'पोसथ' और 'उपोसथ' के अर्थ में जरा-सा अन्तर है। यहाँ 'पोसथ' का प्रयोग पक्ष के आठवें दिन उपासकों के संघ में आने पर होने वाली धर्मचर्चा आदि के लिए किया गया है और 'उपोसथ' का भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा उस दिन पतिमोक्ख नियमों के दोहराने के लिए।

(५) **कोटविषवेसु**—भाण्डारकर व मुकर्जी : 'प्राचीरों से सुरक्षित नगरों में'। बरुआ : 'प्राचीरों से सुरक्षित प्रदेशों में'। 'कोटविषय' स्पष्टतः आहार के अन्तर्गत बताए गए हैं, अतः यहाँ इनसे तात्पर्य कोट्टों (अर्थात् दुर्गों) और विषयों (=जिले जैसी प्रादेशिक इकाई) हो सकता है।

लघु स्तम्भ (संघ भेद) लेख

(प्रयाग संस्करण)

मूलपाठ

१. [देवानं] [पि] ये आनपयति [।] कोसंबियं महाम [।] त
२. [संघे] [स] म [गे] [कटे] [।] स [ं] घसि नो लहियेे
३. ....[संघं] [भा] खति भि [खु] व [ा] भि [खु] नि वा [से] [पि] चा
४. [ओ] दात [ा] नि दुसानि [स] नंघापयितु अ [नावा] स [सि] [आ] व [ा] सयि [ये] [॥]

रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
२. अतन आगाच्च महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति [।]
३. सिळा-विगडभी-चा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
४. हिद भगवं जाते ति [।] लुंमिनिगामे उबलिके कटे
५. अठभागिये च [।]

लघु स्तम्भ (संघ भेद) लेख

(प्रयाग संस्करण)

मूलपाठ

१. [देवानं] [पि] ये आनपयति [।] कोसंबियं महाम [।] त
२. [संघे] [स] म [गे] [कटे] [।] स [ं] घसि नो लहिये
३. ....[संघं] [भा] खति भि [खु] व [ा] भि [खु] नि वा [से] [पि] चा
४. [ओ] दात [ा] नि दुसानि [स] नंधापयितु अ [नावा] स [सि] [आ] व [ा] सयि [ये] [॥]

रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
२. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति [।]
३. सिळा-विगडभी-चा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
४. हिद भगवं जाते ति [।] लुंमिनिगामे उबलिके कटे
५. अठभागिये च [।]

शब्दार्थ

अतन आगाच=स्वयं आकर ; **महीयते**=गौरवान्वित किया ; **जाते**=पैदा हुए थे ; **सिला विगडभी चा**=शिला विकट भित्तिका, पत्थर की दृढ़ दीवार ; **कालापित**= बनवाई गई ; **उसपापित**=खड़ा किया किया ; **उबलिके**=उद्‌वलिक:, वलि रहित ।

अनुवाद

बीस वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वयं आकर (इस स्थल को) गौरवान्वित किया गया क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि उत्पन्न हुए थे। पत्थर की दृढ़ दीवार बनवाई गई और पाषाण स्तम्भ स्थापित किया गया, क्योंकि यहाँ भगवान् उत्पन्न हुए थे। लुम्बिनी ग्राम वलि (नामक कर से) मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया।

व्याख्या

(१) **बुधे जाते सक्यमुनि ति**—'महापरिनिब्बानसुत्त' में 'इध तथागतो जातो ति' वाक्यांश आता है। लगता है उसी का रूपान्तर यहाँ दिया गया है। रुम्मिनदेई-स्तम्भ से कुछ दूर एक मन्दिर स्थित है जिसमें बनी एक प्राचीन मूर्ति में बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है। पास के गाँव वाले इस मूर्ति को 'रूपमदेही' देवी की मूर्ति कहते हैं। उसी के नाम पर यह गाँव भी 'रुपमदेही' कहा जाता है जिसका विकृत रूप 'रुम्मिनदेई' हो गया है।

(२) हूल्त्ज़ और शार्पेण्टियर ने 'सिला विगड भी' का अर्थ किया है 'विगड (=अश्व) धारण करती हुई शिला', ब्युलर ने 'सूर्य चिह्न से अंकित शिला' और बरुआ ने 'युवा हाथी की शीर्ष मूर्ति'। लेकिन ये सभी अर्थ अनुमानाश्रित हैं। वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इसका अर्थ माना है 'शिला विकट भित्तिका' अर्थात् पत्थर की दृढ़ दीवार। दे० घोसूण्डी-अभिलेख। हमें यही अर्थ सही लगता है। इस लेख में उल्लिखित स्तम्भ वही होगा जिस पर लेख उत्कीर्ण हैं। शुआन-च्वांग ने लुम्बिनी के अश्व शीर्ष वाले स्तम्भ की चर्चा की है।

(३) **भगवं**=भगवान्। बौद्ध धर्म में ईस्सरीय, धम्म, यस, सिरी, काम तथा पयतन (ईश्वरत्व, धर्म, यश, काम, प्रयत्न) धारण करने वाले को 'भगवान्' माना गया है।

(४) **उबलिके**=उद्‌बलिक: = बलि नामक कर से मुक्त। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में लुम्बिनी गाँव को वलिमुक्त कर दिया था। बलि नामक कर के लिए दे०, प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख में 'बलि' के ऊपर टि०।

(५) **अठभागिये**=अष्टभागी=आठवें भाग वाला। प्राचीन काल में राज्य किसानों से उपज का षष्ठांश कर रूप में लेते थे (घोषाल, हिन्दू, रिवेन्यु सिस्टम, पृ० ५८)। यह 'भाग' नामका कर कहलाता था। इसी के कारण राजा 'षड्भागी'

कहे जाते थे। लेकिन यह निश्चित नियम नहीं सिद्धान्त मात्र था। 'अर्थशास्त्र' में भाग को उपज का १/४ या १/५ बताया गया है। मेगास्थने (मेगस्थनिज़) के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में भूमिकर उपज का १/४ होता था। दे०, प्रथम रुद्रदामा के शिलालेख में 'भाग' के ऊपर टिप्पणी। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में रुम्मिनदेई ग्राम का भाग नामक कर १/८ कर दिया था। मनु ने भाग की मात्रा उपज की १/८ ही बताई है। पुरातन इतिहासकार 'अठभागिये' का अर्थ भिन्न प्रकार से करते थे। ब्यूलर ने इसका अर्थ किया था 'अर्थभागी'='राजा के महान् दान का भागी'। यह अर्थ 'दिव्यावदान' के इस कथन पर निर्भर था कि अशोक ने लुम्बिनी वन पर १ लाख सुवर्ण मुद्राएँ खर्च की थीं। पिशेल के अनुसार 'अष्ट-भाग' का अर्थ है 'आठ क्षेत्र वाला'='वह जिसके व्यय के लिए आठ क्षेत्रों की आय अनुमानित थी।' परन्तु ये अर्थ सही नहीं लगते।

(६) कुछ लोगों का दावा है रुम्मिनदेई-स्तम्भ लेख की एक प्रति एक पाषाण फलक पर उड़ीसा से भी मिली है। लेकिन जैसा कि सरकार ने ध्यान दिलाया है, यह लेख प्रकृत्या ऐसा है कि इसकी प्रति कहीं अन्यत्र मिलने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता (दे०, सरकार, इण्डियन एपिग्राफी, पृ० ४३६–७)।

शब्दार्थ

अतन आगाच=स्वयं आकर ; **महीयते**=गौरवान्वित किया ; **जाते**=पैदा हुए थे ; **सिला विगडभी चा**=शिला विकट भित्तिका, पत्थर की दृढ़ दीवार ; **कालापित**= बनवाई गई ; **उसपापित**=खड़ा किया किया ; **उबलिके**=उद्‌वलिकः, वलि रहित ।

अनुवाद

बीस वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वयं आकर (इस स्थल को) गौरवान्वित किया गया क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि उत्पन्न हुए थे। पत्थर की दृढ़ दीवार बनवाई गई और पाषाण स्तम्भ स्थापित किया गया, क्योंकि यहाँ भगवान् उत्पन्न हुए थे। लुम्बिनी ग्राम वलि (नामक कर से) मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया।

व्याख्या

(१) **बुधे जाते सक्यमुनि ति**—'महापरिनिब्बानसुत्त' में 'इध तथागतो जातो ति' वाक्यांश आता है। लगता है उसी का रूपान्तर यहाँ दिया गया है। रुम्मिनदेई-स्तम्भ से कुछ दूर एक मन्दिर स्थित है जिसमें बनी एक प्राचीन मूर्ति में बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है। पास के गाँव वाले इस मूर्ति को 'रूपमदेही' देवी की मूर्ति कहते हैं। उसी के नाम पर यह गाँव भी 'रुपमृदेही' कहा जाता है जिसका विकृत रूप 'रुम्मिनदेई' हो गया है।

(२) हूल्त्ज़ और शार्पेण्टियर ने 'सिला विगड भी' का अर्थ किया है 'विगड (=अश्व) धारण करती हुई शिला', ब्युलर ने 'सूर्य चिह्न से अंकित शिला' और बरुआ ने 'युवा हाथी की शीर्ष मूर्ति'। लेकिन ये सभी अर्थ अनुमानाश्रित हैं। वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इसका अर्थ माना है 'शिला विकट भित्तिका' अर्थात् पत्थर की दृढ़ दीवार। दे० घोसूण्डी-अभिलेख। हमें यही अर्थ सही लगता है। इस लेख में उल्लिखित स्तम्भ वही होगा जिस पर लेख उत्कीर्ण हैं। शुआन-च्वांग ने लुम्बिनी के अश्व शीर्ष वाले स्तम्भ की चर्चा की है।

(३) **भगवं**=भगवान्। बौद्ध धर्म में ईस्सरीय, धम्म, यस, सिरी, काम तथा पयतन (ईश्वरत्व, धर्म, यश, काम, प्रयत्न) धारण करने वाले को 'भगवान्' माना गया है।

(४) **उबलिके**=उद्‌वलिकः = बलि नामक कर से मुक्त। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में लुम्बिनी गाँव को बलिमुक्त कर दिया था। बलि नामक कर के लिए दे०, प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख में 'बलि' के ऊपर टि०।

(५) **अठभागिये**=अष्टभागी=आठवें भाग वाला। प्राचीन काल में राज्य किसानों से उपज का षष्ठांश कर रूप में लेते थे (घोषाल, हिन्दू, रिवेन्यु सिस्टम, पृ० ५८)। यह 'भाग' नामका कर कहलाता था। इसी के कारण राजा 'षड्भागी'

कहे जाते थे। लेकिन यह निश्चित नियम नहीं सिद्धान्त मात्र था। 'अर्थशास्त्र' में भाग को उपज का १/४ या १/५ वताया गया है। मेगास्थने (मेगस्थनिज़) के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में भूमिकर उपज का १/४ होता था। दे०, प्रथम रुद्रदामा के शिलालेख में 'भाग' के ऊपर टिप्पणी। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में रुम्मिनदेई ग्राम का भाग नामक कर १/८ कर दिया था। मनु ने भाग की मात्रा उपज की १/८ ही वताई है। पुरातन इतिहासकार 'अठभागिये' का अर्थ भिन्न प्रकार से करते थे। ब्यूलर ने इसका अर्थ किया था 'अर्थभागी'='राजा के महान् दान का भागी'। यह अर्थ 'दिव्यावदान' के इस कथन पर निर्भर था कि अशोक ने लुम्बिनी वन पर १ लाख सुवर्ण मुद्राएँ खर्च की थीं। पिशेल के अनुसार 'अष्ट-भाग' का अर्थ है 'आठ क्षेत्र वाला'='वह जिसके व्यय के लिए आठ क्षेत्रों की आय अनुमानित थी।' परन्तु ये अर्थ सही नहीं लगते।

(६) कुछ लोगों का दावा है रुम्मिनदेई-स्तम्भ लेख की एक प्रति एक पाषाण फलक पर उड़ीसा से भी मिली है। लेकिन जैसा कि सरकार ने ध्यान दिलाया है, यह लेख प्रकृत्या ऐसा है कि इसकी प्रति कहीं अन्यत्र मिलने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता (दे०, सरकार, इण्डियन एपिग्राफी, पृ० ४३६–७)।

रानी का प्रयाग स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानंपियषा वचनेना सवत महमता
२. वतविया [।] ए हेता दुतियाये देवीये दाने
३. अंबा-वडिका वा आलमे व दान [गहे] [व] [ए] [वा] [पि] [अ] ॱ ने
४. कीछि गनीयति ताये देविये षे [।] नानि [हे] वं [ग] [न] [तविये]
५. दुतीयाये देविये ति तीवल-मातु कालुवाकिये [॥]

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में हूल्त्ज़ ने 'महामता' को 'महमता' पढ़ा है तथा दूसरी में सेना तथा ब्युलर ने 'हेता' को 'हेत'। हूल्त्ज़ ने चौथी पंक्ति के अन्तिम शब्द को 'विनति' रूप में पुनर्योजित किया है।

शब्दार्थ

सवत = सर्वत्र ; **वतविया** = कहना चाहिए ; **ए हेता** = ये जो ; **अंबावडिका**= आम्रवाटिका ; **आलम** = आराम, विश्रामगृह ; **कीछि** = कुछ ; **गनीयति** = गिने जाने चाहिए अर्थात् पञ्जीकृत होने चाहिए ; **ताये** = ये ; **हेवं गनतविये** = अवश्य गिने जाने चाहिए।

अनुवाद

देवानांप्रिय के वचन (अर्थात् आज्ञा) से महामात्रों को सर्वत्र कहना चाहिए, ये जो द्वितीय देवी के दान हैं (जैसे) आम्रवाटिका, विश्रामगृह, दानगृह अथवा अन्य, कुछ ये सब देवी के नाम में गिने जाने चाहिए (अर्थात् पञ्जीकृत होने चाहिए) ये अवश्य गिने जाने चाहिए। द्वितीय देवी तीवर की माता कारुवाकी की (ऐसी इच्छा है)।

व्याख्या

(१) **महामता** = महामात्र। सप्तम स्त० ले० के अनुसार भी महामात्र रानियों के दान कार्यों को भी देखते थे।

(२) **कारुवाकी, तीवर**—कारुवाकी अशोक की एक मात्र रानी है जो अभिलेखों में नाम से उल्लिखित है। जनार्दन भट्ट ने कारुवाक को गोत्र नाम माना है। कुछ ने कारुवाकी को 'चारुवाकी' अर्थ में लिया है। तीवर नाम भी बाद में काफी लोकप्रिय हुआ।

निगलीसागर लघु स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानंपियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसाभिसितेन
२. बुधस कोनाकमनस थुबे दुतियं वढिते [।]
३. [विसति] [व] साभिसितेन च अतन आगाच महीयिते
४. [सिलाथ भं] [च] [उस] पापिते [।]

पाठ-टिप्पणी—तीसरी व चौथी पंक्तियों का पूर्णपाठ रुम्मिनदेई स्तम्भ-लेख के आधार पर ब्युलर ने सुझाया था ।

शब्दार्थ

थुबे = स्तूप ; **अतन आगाच** = स्वयं आकर ; **महीयते** = गौरवान्वित किया ।

अनुवाद

चौदह वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कनकमुनि बुद्ध का स्तूप दोबारा बढ़ाया गया । बीस वर्षों से अभिषिक्त (राजा) द्वारा स्वयं आकर (उसको) गौरवान्वित किया गया (और शिला स्तम्भ) खड़ा किया गया ।

व्याख्या

(१) **कोनाकमन**—एक प्रत्येक बुद्ध । चौबीस बुद्धों में से एक । गौतम बुद्ध के पूर्व तीसरे । इस कल्प में बुद्ध और कनकमुनि के बीच में कस्सप तथा कनकमुनि के पूर्व कुकुसन्ध, ये चार बुद्ध हो चुके हैं, पाँचवें मेत्रेय आगे होंगे । कनकमुनि ने निर्वाण के लिए स्वयं तो सम्बोधि प्राप्त कर ली थी परन्तु विश्व को उपदेश नहीं दिया था । उत्तरी बौद्धों में उन्हें कनकमुनि या कोनाकमुनि कहा गया है और दक्षिणी बौद्धों में कोणागमन । एक भरहुत-लेख में 'कोनागमेन' पाठ मिलता है (ए० इं०, २१, २२९, स० ३०) । इस लेख से सिद्ध है कि गौतम बुद्ध के अतिरिक्त अन्य बुद्धों के अस्तित्व में विश्वास तीसरी शती ई० पू० में भी प्रचलित था ।

(२) **दुतिय बढिते**—संस्कृत में द्वितीय 'दुगुने' अर्थ में प्रयुक्त होता है । लेकिन विद्वान् यहाँ इसको प्रायः 'द्वितीयं वारम्' अर्थ में ही लेते हैं—अर्थात् यह स्तूप एक बार पहिले भी बढ़ाया जा चुका था, अब दोबारा बढ़ाया गया । पालि में भी 'दुतिय' का प्रयोग 'दो बार' अर्थ में ही होता है । तु० दुतियं पि बुद्धं शरणं गच्छामि ।

(३) कनकमुनि का स्तूप एक बौद्ध तीर्थ था । शुआन-च्वांग ने इसकी यात्रा की थी और यहाँ एक अशोकीय स्तम्भ एवं उस पर उत्कीर्ण लेख को देखा था ।

शार-ए-कुना (कन्धार) लघु शिलालेख

(यूनानी-एरेमाइक संस्करण)

यूनानी संस्करण के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

दस वर्ष बीत जाने पर (अर्थात् अभिषेक से दस वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद) राजा प्रियदर्शी ने लोगों को धर्म का मार्ग दिखाया है। और उस समय से उसने मानवजाति को अधिक धर्मात्मा बनाया है। और सम्पूर्ण संसार में सभी वस्तुओं की उन्नति हुई है। और राजा पशुओं से (उनको मार कर खाने से) परहेज करता है, और दूसरे मनुष्यों ने भी, मय राजा के शिकारियों तथा मछुओं के, शिकार करना छोड़ दिया है। और जिनको अपने पर संयम नहीं था, उन्होंने ऐसा करना अर्थात् असंयम करना छोड़ दिया है उतना जितना वे कर सकते हैं। और अपने माता-पिता और गुरुजनों के प्रति आज्ञाकारी बनकर जैसा कि पहले नहीं होता था और भविष्य में, वे आगे इस प्रकार आचरण करके श्रेष्ठतर और हर प्रकार से अधिक लाभप्रद जीवन वितायेंगे।

एरेमाइक संस्करण के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

दस वर्ष बीत जाने पर (अर्थात् अभिषेक से दस वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद) ऐसा हुआ कि हमारे स्वामी प्रियदर्शी ने धर्मोपदेश प्रारंभ किया। तब से सब मनुष्यों में पाप कम हो गया। और सब का दुःख उसने दूर कर दिया है; और सारे संसार में शान्ति (और) आनन्द (व्याप्त है)। और दूसरी बातों में, जिनका सम्बन्ध भोजन से है, हमारे स्वामी राजा के लिए बहुत कम (जीव) मारे जाते हैं। इसको देख कर और लोगों ने भी (जीव-हत्या) बन्द कर दी है यहाँ तक (?) मय उनके जो मछली पकड़ते हैं। उन पर निषेध लागू है। इसी प्रकार जिनमें संयम नहीं था, उन्होंने संयम के बिना रहना बन्द कर दिया है। अब माता, पिता और गुरुजनों के प्रति आज्ञा-कारिता का (बोलबाला है), उन कर्तव्यों के अनुसार जो भाग्य ने किसी पर लागू किए हैं। धार्मिक लोगों पर अब अभियोग नहीं लगाया जाता। यह (अर्थात् धर्म का पालन) सभी मनुष्यों के लिए लाभदायक है और यह भविष्य में भी बराबर रहेगा।

व्याख्या

(१) प्रस्तुत द्विभाषी शिलालेख अशोक के प्राकृत लघु शिलालेखों के आधार पर तैयार किया गया था, परन्तु यह किसी भी अन्य प्राकृत लघु शिलालेख का यथावत् भाषान्तर नहीं है। यूनानी व एरेमाइक संस्करणों में भी कुछ अन्तर है।

(२) प्रस्तुत अभिलेख का अनुवाद रा० ब० पाण्डेय ने डी० श्लूम्बेरगर

तथा अन्य विद्वानों द्वारा 'जर्नल एशियाटीक'. १९५८, में पृ० २-३ व २२ पर प्रकाशित अनुवाद के आधार पर किया है (अशोक के अभिलेख, पृ० १९२)। हमने ऊपर जे० फिलिओजेट के द्वारा, ई० आई०, ३४ में प्रदत्त अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद दिया है। लेख के दोनों संस्करणों की संस्कृच्छायाओं के लिए दे० सरकार, स० इ०, पृ० ५२७-८)।

(३) ये अभिलेख स्पष्टतः अशोक के यवन और काम्बोज जातीय प्रजाजनों के लिए थे। इनके प्राप्तिस्थल से यूनानी साक्ष्य द्वारा प्रदत्त यह सूचना कि सिल्यूकस ने काबुल, कन्धार और हिरात प्रदेश मौर्यों को दे दिए थे, सत्य प्रमाणित हो गई है।

(४) सरकार के अनुसार प्रस्तुत अभिलेखों से यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि अशोक के धम्म का प्रचार अभिषेक से दस वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद प्रारम्भ किया। इससे उसके उपासकत्व के विषय में प्रचलित वादविवाद का अन्त हुआ मानना चाहिए (दे०, सरकार, ई० आई०, १, ३४, पृ० ३३३ अ०)।

(५) इस लेख में स्पष्टतः कहा गया है कि अशोक के काल में शिकारियों व मछुओं ने अपना काम बन्द कर दिया था और उनके काम पर निषेध लगा दिया गया था।

तक्षशिला एरेमाइक–अभिलेख

(लैटिन लिप्यन्तर)

1. .... UT......
2. Id KMYRTY 'I.........
3. KYNVTA 'I...
4. Ar Kn ZV ŚKYNVTA...
5. V LABVHY HUH...
6. HVPTYXTY ZNH...
7. ZK BHVVd Nr RH...
8. HVBŚTVK RZY HUT...
9. MRAN PRYDR...
10. H...IKVTH
11. VAP BNVHY
12. IMRAN PRAYDRŚ

व्याख्या

(१) प्रस्तुत अभिलेख का लैटिन लिप्यन्तर हर्ज़फल्ड के आधार पर दिया गया है (ई० आई०, १९, पृ० २५१)। इसकी सभी पंक्तियों का उत्तरार्द्ध भग्न मिलता है।

(२) इस लेख में अशोक का नाम नहीं है। कुछ विद्वान् इसे तीसरी शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध का बताते हैं और इसमें उल्लिखित नरेश को चन्द्रगुप्त मौर्य या बिन्दुसार मानते हैं (तु० 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को 'प्रियदर्शन' कहा जाना)। सरकार (सं० इ०, पृ० ७९, टि० ३) इसके नरेश को अज्ञात मानते हुए भी उसके अशोक होने की सम्भावना सर्वाधिक बताते हैं। परन्तु इस नरेश को प्रियदर्शी कहे जाने से हमें हर्ज़फल्ड का यह मत सही लगता है कि वह स्वयं अशोक ही होना चाहिए। आखिर अशोक के शेष अधिकांश अभिलेखों में भी तो उसे मात्र प्रियदर्शी ही कहा गया है।

(३) हर्ज़फल्ड के अनुसार चौथी पंक्ति में किसी 'निवास स्थान' का उल्लेख हुआ लगता है, पाँचवीं के प्रथम दो शब्दों का अर्थ है 'और उसके पिता को', सातवीं पंक्ति का दूसरा शब्द भारतीय शब्द 'बहुव्रीहि' हो सकता है, ९ वीं पंक्ति के शब्दों का अर्थ है 'हमारे स्वामी प्रियदर्शी', ११ वीं का अर्थ है 'और उसके पुत्र भी' तथा १२ वीं का अर्थ है 'हमारे स्वामी प्रियदर्शी को'। हर्ज़फल्ड ने १० वीं पंक्ति में अन्तिम शब्द को पुनर्योजित करके उसको 'और उसकी रानियाँ' अर्थ में लिया है।

(४) हर्ज़फल्ड का विचार है कि पाँचवीं पंक्ति का अन्तिम अक्षर नैतिक विचार-क्षेत्र का है (जैसे जरथुष्ट्री 'पवित्र विचार, पवित्र वचन और पवित्र कार्य')। यहाँ इसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग के सम्यक् दृष्टि, सम्यक् व्यायाम तथा सम्यक् वाक् आदि से हो सकता है। इससे इस लेख के प्रियदर्शी की अशोक से पहिचान विषयक मत को बल मिलता है।

बराबर गुहा-लेख

(प्रथम)

१. लाजिना पियदसिना दुवाडस [वसाभिसितेना]
२. इयं निगोहकुभा दिना आजीविकेहि [।।]

पाठ-टिप्पणी—इस लेख में और अगले दोनों लेखों में 'लाजा' उपाधि 'पिय-दसि' नाम के बाद लिखी है।

शब्दार्थ

दुवाडस=द्वादश, बारह ; **निगोह कुभा**=न्यग्रोध गुफा (गुफा का नाम) ; **दिना**=दी गई ।

अनुवाद

द्वादश वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा यह न्यग्रोध (नामक) गुफा आजीविकों को दी गई ।

व्याख्या

'आजीविक' एक वैदिकेतर सम्प्रदाय का नाम था। इसके प्रवर्तक मक्खलि-गोसाल थे, जो बुद्ध के समकालीन थे। उनके अलावा इस सम्प्रदाय में बाद में नन्दवच्छ, किससं किञ्च, पुराण कस्सप, पकुध कच्चायन, अजित के सकम्बलि और सम्जय वेलट्ठ पुत्र को भी मान्यता मिली।

बराबर गुहा-लेख

(द्वितीय)

मूलपाठ

१. लाजिना पियदसिना दुवा
२. डसवसाभिसितेना इयं
३. कुभा खलतिक पवतसि
४. दिना आजीविकेहि

अनुवाद

द्वादश वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा खलतिक पर्वत पर यह गुफा आजीविकों को दी गई।

व्याख्या

अशोक के समय बराबर नाम की पहाड़िया खलतिक पर्वत कहलाती थीं। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में खलतिक पर्वत का उल्लेख है। खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख में इसे गोरथगिरि कहा गया है। अनन्तवर्मा मौखरी के लेख में बराबर को 'प्रवरगिरि' कहा गया है (फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० २२३)। इसी से आधुनिक नाम 'बराबर' व्युत्पन्न हुआ है।

बराबर गुहा-लेख

(तृतीय)

मूलपाठ

१. लाज पियदसि एकुनवी
२. सतिवसाभिसिते जलघो
३. सागमथात वे इयं कुभा
४. सुपिये ख [लतिक] [पवतसि] दि
५. ना [॥]

पाठ-टिप्पणी—इसमें दूसरी-तीसरी पंक्ति में सरकार ने 'जलघोसागमे थात वे' पाठ माना है और एस० एन० मित्र ने 'जलूघा उगम थातवे'। हूल्त्ज व पाण्डेय ने तीसरी पंक्ति में 'वे' को 'मे' पढ़ा है। चौथी पंक्ति के खण्डित अंश को दूसरे लेख की सहायता से पूरा किया गया है। लेख के अन्त में स्वस्तिक, खड्ग और मत्स्य की आकृतियाँ बनी हैं।

शब्दार्थ

एकुनवीसति=उन्नीस ; **जलघोसागम**=वर्षागम (वर्षाकाल) में ; **थात वे**=स्थातवे, रहने के लिए ; **सुपियै**=सुप्रिय ।

अनुवाद

उन्नीस वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा वर्षा काल में निवास के लिए सुप्रिय खलतिक पर्वत पर यह गुहा दी गई ।

व्याख्या

शायद यह गुफा भी आजीविकों को ही दी गई थी यद्यपि इसमें उनका नाम से उल्लेख नहीं है । प्रस्तुत अभिलेखों से अशोक की आजीविक सम्प्रदाय में रुचि प्रमाणित होती है । 'महावंस टीका' के अनुसार जनसान या जरसान (या जरसोण) नाम के आजीविक ने अशोक की भावी महत्ता की भविष्यवाणी की थी । जब अशोक राजा बना, उसने जनसान को बुलाकर सम्मानित किया था । 'दिव्यावदान' में यह कथा बिन्दुसार के विषय में दी गई है और भविष्यवाणी करने का श्रेय आजीव-परिव्राजक पिंगलवत्स को दिया गया है । भाण्डारकर (अशोक, पृ० १७९) ने उन आजीविकों को, जिन्हें गुहाएँ दान दी गई थीं, ब्राह्मण माना है । परन्तु यह मान्यता निराधार है ।

परिशिष्ट

अशोक के अभिलेखों का महत्त्व

अशोक के अभिलेख भारत के प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख हैं। सैन्धव युग और अशोक के शासनकाल के मध्य का कोई अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं है, इसलिए याथार्थिक दृष्टि से भारत के ऐतिहासिक युग का प्रारंभ अभिलेखों से ही होता है। इनका महत्त्व अन्य अनेक दृष्टियों से भी है जिन पर हम यहाँ विचार करेंगे। प्रस्तुत पुस्तक में अन्य राजाओं और युगों के अभिलेखों का अध्ययन करते समय हमने प्रत्येक लेख के महत्त्व पर अन्त में अलग से विचार किया है, परन्तु अशोक के लेख संख्या में बहुत अधिक ही नहीं हैं (उसके अब तक ज्ञात अभिलेखों की कुल संख्या १६१ है) वरन् ये परस्पर घनिष्ठतः सम्बन्धित भी हैं। अतः हमने उसके जिन अभिलेखों का इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप से अध्ययन किया है उनके अपने महत्त्व को उनके अन्त में प्रदत्त टिप्पणियों में बता दिया है; यहाँ हम उसके समस्त अभिलेखों को समवेत लेते हुए उनके महत्त्व का विवरण देंगे। लेकिन उसके विविध अभिलेखों की टिप्पणियों में जिन समस्याओं पर विस्तार से विचार किया गया है उनका यहाँ उल्लेख मात्र किया गया है। इन समस्याओं के विस्तृत अध्ययन के लिए पाठक 'कोष्ठकों' में उल्लिखित अभिलेखों के मूलपाठ व टिप्पणियों से लाभ उठा सकते हैं। यहाँ हमारा आशय मात्र यह दिखाना है कि अशोक के अभिलेख समवेतरूपेण किन-किन दृष्टियों से महत्त्व पूर्ण हैं।

अशोक के परिवार, व्यक्तिगत जीवन व तिथिक्रम विषयक महत्त्व—अशोक के अभिलेख स्वयं उसके परिवार एवं व्यक्तिगत जीवन पर प्रामाणिक सूचनाएँ देते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि उसके बहुत से भाई-बहिन थे जिनके अपने अन्तः पुर थे (५ वाँ शि० ले०) तथा उसकी कम-से-कम दो रानियाँ थीं क्योंकि प्रयाग-स्तम्भ के 'रानी के लेख' में राजकुमार तीवर की माता कारूवाकी को द्वितीय रानी कहा गया है। सप्तम स्त० ले० में प्रधानरानी (देविनं) अवरोधनों (ओलोधनसि) रानियों (दालकानां) व राजकुमारों (देविकुमालंनं) का उल्लेख है। ल० शि ले० के दाक्षिणात्य संस्करणों में उल्लिखित 'आर्यपुत्र' व जौगड़ व धौली पृथक् शि० ले० के कुमार भी उसके भाई या पुत्र होंगे। उसके लेखों में उसके अपने व्यक्तिगत नाम 'अशोक' (गुजर्रा व मास्की ल० शि० ले०) तथा 'प्रियदर्शी' बताए गए हैं तथा उपाधियाँ 'देवानांप्रिय' और 'राजा'। इन अभिलेखों से उसका व्यक्तिगत इतिहास भी ज्ञात होता है। इनसे स्पष्ट है कि उसने आठवें वर्ष कलिंग जीता (१३ वां शि०

ले०) जिसकी भीषणता से अनुतप्त होकर उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। बौद्ध उपासक बनने के बाद पहिले एक साल तक उसने कम पराक्रम किया। दूसरे वर्ष से उसने तीव्र पराक्रम प्रारंभ किया और दसवें वर्ष में सम्बोधि की यात्रा की (अष्टम शि० ले०)। स्पष्टतः उसी वर्ष, निश्चय ही ल० शि० ले० जारी करने के २५६ दिन पूर्व, उसने बुद्ध के अवशेष मञ्चारूढ़ कराए। ११ वें वर्ष उसने ल० शि० ले० जारी किया और बारहवें वर्ष आजीवकों को दो गुफाएँ दान दीं तथा प्रथम चार शि० ले० जारी किए। १३ वें वर्ष उसने धर्म महामात्रों की नियुक्ति की। १४ वें वर्ष संभवतः शेष शि० ले० जारी किए एवं कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को दुगना कराया (निगालीसागर स्त० ले०)। १९ वें वर्ष उसने आजीवकों को नई गुफाएँ दान दीं। २० वें वर्ष कनकमुनि बुद्ध के स्तूप (निगालीसागर स्त० ले०) व लुम्बिनी की यात्रा की (रुम्मिनदेई स्त० ले०)। २६ वें वर्ष में उसने प्रथम छः स्तम्भ-लेख लिखवाए और २७ वें वर्ष ७ वाँ स्तम्भ-लेख

साम्राज्य की सीमाएँ—अशोक के अभिलेखों से उसके साम्राज्य के विस्तार का ज्ञान होता है। इनके प्राप्ति-स्थलों से निश्चित होता है कि उसका साम्राज्य उत्तर में कालसी एवं नेपाल की तराई, दक्षिण में ब्रह्मगिरि-सिद्धपुर आदि स्थलों, पूर्व में कलिंग, पश्चिम में जूनागढ़ तथा उत्तर-पश्चिम में कन्धार तक विस्तृत था। उसके शार-ए-कुना (कन्धार) लेख से यूनानी साक्ष्य की यह सूचना प्रश्नातीतरूपेण प्रमाणित हो जाती है कि सेल्युकस ने काबुल, कन्धार, हिरात व बलूचिस्तान प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य को दे दिए थे। अशोक के अभिलेखों में उसके पड़ोसी यूनानी राज्यों व सुदूर दक्षिण के स्वतन्त्र भारतीय राज्यों की जो सूचियाँ मिलती हैं (२ रा शि० ले० ; १३ वाँ शि० ले०) उससे भी उसके साम्राज्य की यही सीमाएँ निर्धारित होती हैं।

प्रशासन संबंधी सूचनाएँ—अशोक के अभिलेख साम्राज्य के प्रशासन पर रोचक प्रकाश देते हैं। उसका साम्राज्य एक केन्द्रीभूत साम्राज्य था। अपने लेखों में कुछ जातियों का उल्लेख अवश्य करता है (५ वाँ शि० ले०) जो कुछ आन्तरिक स्वतन्त्रता का उपभोग करती होंगी, परन्तु सारे ही साम्राज्य में सम्राट् का प्रत्यक्ष नियन्त्रण था। अशोक ने आटविक जातियों को सम्बोधित करते हुए अपनी शक्ति का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे लगता है कि वह अपने साम्राज्य में विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को सहन नहीं करता था। उसका साम्राज्य बहुत से प्रांतों में बँटा हुआ था जिनके कुछ नगर स्वर्णगिरि, इसिला (दक्षिणी ल० शि० ले०) समापा, तोसाली, तक्षशिला, उज्जैनी (कलिंग के पृथक् शि० ले०) आदि अभिलेखों में उल्लिखित हैं। इनमें स्पष्टतः ज्यादातर नगर प्रान्तीय राजधानियाँ और वहाँ राजकुमार लोग 'वायसराय' के रूप में नियुक्त थे। साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी पाटलिपुत्र थी (दे० ५ वाँ शि० ले० टि० ३)।

उन पर मनन करने को कहा। इसको वह 'समवाय' आदर्श बताता है (१२वां शि० ले०)। अपने अभिलेखों में वह सर्वत्र सभी सम्प्रदायों के हित सुख की कामना करता है। उसने बौद्ध होने के बावजूद आजीवकों को गुफाएँ दान दीं तथा ब्राह्मणों व निग्रन्थों आदि के हित का ध्यान रखने के लिए अपने धर्म महामात्रों को आदेश दिये (७वां स्त० ले०)।

धंम प्रचार के उपाय—अशोक ने अपने धंम को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक की धारणा है कि उसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही इसी उद्देश्य से कराया था जिससे वह अपने धंम के आदर्शों को चिरस्थायी करा सके और जनता के कम-से-कम एक वर्ग—राजकर्मचारियों व भिक्षुओं आदि—को इस लिपि को पढ़ा कर इसके माध्यम से अपना संदेश जनता तक पहुँचा सके। आजकल यह धारणा सर्व-स्वीकृत सी हो गई है कि उसने अपने लेख आम जनता के लिए लिखवाये थे, इसलिए उसके पूर्व भी भारत के लोग ब्राह्मी से परिचित रहे होंगे। परन्तु यह तर्क गलत है। अगर अशोक यह समझता कि भारत के सामान्यजन ब्राह्मी पढ़ सकते हैं तो वह इस लिपि के साथ आम जनता की भाषा भी प्रयुक्त करता जैसा कि उसने पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी लिपि व एरेमाइक भाषाओं और लिपियों का प्रयोग करते समय किया। लेकिन भारत के शेष सभी भागों में वह ब्राह्मी लिपि के लेखों में मागधी प्राकृत का बहुत ही मामूली अन्तरों के साथ प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि इस भाषा को सभी प्रदेशों के भारतीय नहीं समझ पाते होंगे। उदाहरण के लिए तत्कालीन मैसूर वासी जनता निश्चय ही द्रविड बोलियाँ बोलती होंगी। अत: निष्कर्ष स्पष्ट है कि उसके लेख आम जनता के लिए नहीं, मैसूर के उन बौद्ध धर्म प्रचारकों, राजकर्मचारियों आदि के लिए थे जो राज-भाषा के साथ नवीन आविष्कृत लिपि सीख रहे थे। अशोक के युग में ब्राह्मी लिपि का समस्त भारत में एक सा रूप भी इस बात का प्रमाण है कि इसका आविष्कार तभी हुआ था। अगर इसका प्रचलन अशोक से पाँच-सात सौ वर्ष पूर्व से होता तो अशोक के समय तक इसके अनेक प्रादेशिक रूप हो गये होते। इसलिए हमें यह निश्चित सा लगता है कि अशोक ने ही ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कराया था और इसकी सहायता से अपने धंम का प्रचार किया (दे० अध्याय १ का परिशिष्ट)।

अशोक ने अपने पूरे साम्राज्य की शक्ति को धंम प्रचार में लगाया। इसे वह भेरिघोष (युद्ध घोष) के स्थान पर धर्मघोष कहता है (४ था शि० ले०)। उसने पूर्व-गामी राजाओं में प्रचलित विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएं प्रारम्भ कीं (८ वां शि० ले०), सामान्य मंगलोत्सवों के स्थान पर धर्म-मंगलों का प्रचार किया, तत्कालीन युग में प्रचलित सामान्य समाजों के स्थान पर धर्म समाजों को प्रोत्साहित किया (१ ला० शि० ले० ७ वां स्त० ले०) व पुण्य करने पर मिलने वाले स्वर्गीय सुखों की ओर जनता को उन्मुख करने के लिए इन सुखों के दृश्यों को विमानों में दिख-

प्रशासन व न्याय-व्यवस्था के बहुत से क्षेत्रों में अशोक ने नये प्रयोग किये। इन प्रयोगों व उनसे सम्बन्धित पदाधिकारियों—महामात्रों (६ वां शि० ले० व अन्य कई ले), धर्ममहामात्रों, राजुकों (४ था स्त० ले० ; ७वां स्त० ले०) स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों, (१२वां शि० ले०) व्रजभूमिकों (१३वां शि० ले०), अन्तःमहामात्रों, युक्तों (३रा शि० ले०) प्रादेशिकों (३रा शि० ले०) आदि का काफी विस्तृत उल्लेख उसके अभिलेखों में मिलता है। हमने इनका विस्तृत अध्ययन पीछे अभिलेखों के अन्त में प्रदत्त टिप्पणियों में किया है। उसकी परिषद् के लिए दे० ६ठा शि० ले०, पदाधिकारियों के पञ्चवर्षीय दौरों व अनुसंधानों के लिए दे० ३रा शि० ले०, दण्ड-समता व व्यवहार-समता की स्थापना के लिए दे० ४था स्त० ले०, न्याय-व्यवस्था में नये प्रयोगों के लिए देखें ४था स्त० ले० व ५वां शि० ले०। कर-व्यवस्था पर उसके लेख कम प्रकाश देते हैं, परन्तु रूम्मिनदेई स्त० ले० में 'बलि' नामक कर के घटाये जाने का उल्लेख है।

अशोक समस्त प्रजा को अपनी सन्तान मानता था (सव मुनिसा में पजा)। उसने प्रजा के कल्याण के लिए अनेक उपाय किये जिनके लिए उसने बौद्ध धर्म से प्रेरणा ली। उसने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की (२रा शि० ले०), मार्गों में जगह-जगह छायादार पेड़ लगवाये, जलशालाएँ बनवाईं, आम्रवाटिकाएँ लगवाईं ; तथा आधे-आधे कोस पर कुएँ खुदवाये (७वां स्त० ले०)। यह सब कार्य उसने धंम की अभिवृद्धि के हेतु धंम पराक्रम के रूप में किये थे।

अशोक के बौद्ध होने के प्रमाण—अब इस बात में कोई शंका नहीं की जा सकती कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध था। भाब्रु शिलाफलक-लेख में वह बुद्ध, धर्म व संघ में अपनी श्रद्धा बताता है एवं कुछ बौद्ध धर्मग्रन्थों (धंम पलियायों) के ऊपर मनन करने को कहता है, अहरौरा ल० शि० ले० में बुद्ध के अवशेषों को स्थापित करने का उल्लेख करता है, निगालीसागर स्त० ले० में कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को दोबारा बनवाने व उसकी यात्रा करने का उल्लेख करता है, अष्टम शि० ले० में सम्बोधि की यात्रा करने का उल्लेख करता है। प्रयाग, सारनाथ व साञ्ची संघभेद-लेखों में बौद्ध संघ के भेद दूर करने के प्रयास का वर्णन करता है, तथा अपने मास्की लघु शि० ले० में अपने को 'बुद्ध शाक्य' कहता है।

धंम की परिकल्पना—लेकिन अशोक ने आम जनता में जिस धंम का प्रचार किया व बौद्ध धर्म का वह रूप था जिसे स्वीकृत करने में अधिकतर सामान्य जनों को संकोच नहीं होता। इस 'धंम' का सकारात्मक पक्ष २रे शि० ले० व ७वें स्त० ले० आदि में मिलता है और निषेधात्मक पक्ष ३रे शि० ले०, ७वें शि० ले० व ७वें स्त० लेख में। भाब्रु शिलाफलक-लेख में बताये गये धंम पलियायों के अध्ययन से भी यह ज्ञात हो सकता है कि अशोक बौद्ध धर्म के किस रूप को जनता में प्रचारित करना चाहता था (दे०, सम्बन्धित टि०)। इसको लोकप्रिय बनाने के लिए उसने किसी सम्प्रदाय के विरुद्ध प्रचार नहीं किया वरन् सभी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को सुनने व

उन पर मनन करने को कहा। इसको वह 'समवाय' आदर्श बताता है (१२वां शि० ले०)। अपने अभिलेखों में वह सर्वत्र सभी सम्प्रदायों के हित सुख की कामना करता है। उसने बौद्ध होने के बावजूद आजीवकों को गुफाएँ दान दीं तथा ब्राह्मणों व निग्रन्थों आदि के हित का ध्यान रखने के लिए अपने धर्म महामात्रों को आदेश दिये (७वां स्त० ले०)।

धंम प्रचार के उपाय—अशोक ने अपने धंम को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक की धारणा है कि उसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही इसी उद्देश्य से कराया था जिससे वह अपने धंम के आदर्शों को चिरस्थायी करा सके और जनता के कम-से-कम एक वर्ग—राजकर्मचारियों व भिक्षुओं आदि—को इस लिपि को पढ़ा कर इसके माध्यम से अपना संदेश जनता तक पहुँचा सके। आजकल यह धारणा सर्व-स्वीकृत सी हो गई है कि उसने अपने लेख आम जनता के लिए लिखवाये थे, इसलिए उसके पूर्व भी भारत के लोग ब्राह्मी से परिचित रहे होंगे। परन्तु यह तर्क गलत है। अगर अशोक यह समझता कि भारत के सामान्यजन ब्राह्मी पढ़ सकते हैं तो वह इस लिपि के साथ आम जनता की भाषा भी प्रयुक्त करता जैसा कि उसने पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी लिपि व एरेमाइक भाषाओं और लिपियों का प्रयोग करते समय किया। लेकिन भारत के शेष सभी भागों में वह ब्राह्मी लिपि के लेखों में मागधी प्राकृत का बहुत ही मामूली अन्तरों के साथ प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि इस भाषा को सभी प्रदेशों के भारतीय नहीं समझ पाते होंगे। उदाहरण के लिए तत्कालीन मैसूर वासी जनता निश्चय ही द्रविड बोलियाँ बोलती होंगी। अतः निष्कर्ष स्पष्ट है कि उसके लेख आम जनता के लिए नहीं, मैसूर के उन बौद्ध धर्म प्रचारकों, राजकर्मचारियों आदि के लिए थे जो राज-भाषा के साथ नवीन आविष्कृत लिपि सीख रहे थे। अशोक के युग में ब्राह्मी लिपि का समस्त भारत में एक सा रूप भी इस बात का प्रमाण है कि इसका आविष्कार तभी हुआ था। अगर इसका प्रचलन अशोक से पाँच-सात सौ वर्ष पूर्व से होता तो अशोक के समय तक इसके अनेक प्रादेशिक रूप हो गये होते। इसलिए हमें यह निश्चित सा लगता है कि अशोक ने ही ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कराया था और इसकी सहायता से अपने धंम का प्रचार किया (दे० अध्याय १ का परिशिष्ट)।

अशोक ने अपने पूरे साम्राज्य की शक्ति को धंम प्रचार में लगाया। इसे वह भेरिघोष (युद्ध घोष) के स्थान पर धर्मघोष कहता है (४ था शि० ले०)। उसने पूर्व-गामी राजाओं में प्रचलित विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएं प्रारम्भ कीं (८ वां शि० ले०), सामान्य मंगलोत्सवों के स्थान पर धर्म-मंगलों का प्रचार किया, तत्कालीन युग में प्रचलित सामान्य समाजों के स्थान पर धर्म समाजों को प्रोत्साहित किया (१ ला० शि० ले० ७ वां स्त० ले०) व पुण्य करने पर मिलने वाले स्वर्गीय सुखों की ओर जनता को उन्मुख करने के लिए इन सुखों के दृश्यों को विमानों में दिख-

प्रशासन व न्याय-व्यवस्था के बहुत से क्षेत्रों में अशोक ने नये प्रयोग किये। इन प्रयोगों व उनसे सम्बन्धित पदाधिकारियों—महामात्रों (६ वां शि० ले० व अन्य कई ले), धर्ममहामात्रों, राजुकों (४ था स्त० ले० ; ७वां स्त० ले०) स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों, (१२वां शि० ले०) व्रजभूमिकों (१३वां शि० ले०), अन्तःमहामात्रों, युक्तों (३रा शि० ले०) प्रादेशिकों (३रा शि० ले०) आदि का काफी विस्तृत उल्लेख उसके अभिलेखों में मिलता है। हमने इनका विस्तृत अध्ययन पीछे अभिलेखों के अन्त में प्रदत्त टिप्पणियों में किया है। उसकी परिषद् के लिए दे० ६ठा शि० ले०, पदाधिकारियों के पञ्चवर्षीय दौरों व अनुसंधानों के लिए दे० ३रा शि० ले०, दण्ड-समता व व्यवहार-समता की स्थापना के लिए दे० ४था स्त० ले०, न्याय-व्यवस्था में नये प्रयोगों के लिए देखें ४था स्त० ले० व ५वां शि० ले०। कर-व्यवस्था पर उसके लेख कम प्रकाश देते हैं, परन्तु रूम्मिनदेई स्त० ले० में 'बलि' नामक कर के घटाये जाने का उल्लेख है।

अशोक समस्त प्रजा को अपनी सन्तान मानता था (सव मुनिसा में पजा)। उसने प्रजा के कल्याण के लिए अनेक उपाय किये जिनके लिए उसने बौद्ध धर्म से प्रेरणा ली। उसने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की (२रा शि० ले०), मार्गों में जगह-जगह छायादार पेड़ लगवाये, जलशालाएँ बनवाईं, आम्रवाटिकाएँ लगवाईं ; तथा आधे-आधे कोस पर कुएँ खुदवाये (७वां स्त० ले०)। यह सब कार्य उसने धंम की अभिवृद्धि के हेतु धंम पराक्रम के रूप में किये थे।

अशोक के बौद्ध होने के प्रमाण—अब इस बात में कोई शंका नहीं की जा सकती कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध था। भाब्रु शिलाफलक-लेख में वह बुद्ध, धर्म व संघ में अपनी श्रद्धा बताता है एवं कुछ बौद्ध धर्मग्रन्थों (धंम पलियायों) के ऊपर मनन करने को कहता है, अहरौरा ल० शि० ले० में बुद्ध के अवशेषों को स्थापित करने का उल्लेख करता है, निगालीसागर स्त० ले० में कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को दोबारा बनवाने व उसकी यात्रा करने का उल्लेख करता है, अष्टम शि० ले० में सम्बोधि की यात्रा करने का उल्लेख करता है। प्रयाग, सारनाथ व साञ्ची संघभेद-लेखों में बौद्ध संघ के भेद दूर करने के प्रयास का वर्णन करता है, तथा अपने मास्की लघु शि० ले० में अपने को 'बुद्ध शाक्य' कहता है।

धंम की परिकल्पना—लेकिन अशोक ने आम जनता में जिस धंम का प्रचार किया व बौद्ध धर्म का वह रूप था जिसे स्वीकृत करने में अधिकतर सामान्य जनों को संकोच नहीं होता। इस 'धंम' का सकारात्मक पक्ष २रे शि० ले० व ७वें स्त० ले० आदि में मिलता है और निषेधात्मक पक्ष ३रे शि० ले०, ७वें शि० ले० व ७वें स्त० लेख में। भाब्रु शिलाफलक-लेख में बताये गये धंम पलियायों के अध्ययन से भी यह ज्ञात हो सकता है कि अशोक बौद्ध धर्म के किस रूप को जनता में प्रचारित करना चाहता था (दे०, सम्बन्धित टि०)। इसको लोकप्रिय बनाने के लिए उसने किसी सम्प्रदाय के विरुद्ध प्रचार नहीं किया वरन् सभी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को सुनने व

उन पर मनन करने को कहा। इसको वह 'समवाय' आदर्श बताता है (१२वां शि० ले०)। अपने अभिलेखों में वह सर्वत्र सभी सम्प्रदायों के हित सुख की कामना करता है। उसने बौद्ध होने के बावजूद आजीवकों को गुफाएँ दान दीं तथा ब्राह्मणों व निग्रन्थों आदि के हित का ध्यान रखने के लिए अपने धर्म महामात्रों को आदेश दिये (७वां स्त० ले०)।

धंम प्रचार के उपाय—अशोक ने अपने धंम को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक की धारणा है कि उसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही इसी उद्देश्य से कराया था जिससे वह अपने धंम के आदर्शों को चिरस्थायी करा सके और जनता के कम-से-कम एक वर्ग—राजकर्मचारियों व भिक्षुओं आदि—को इस लिपि को पढ़ा कर इसके माध्यम से अपना संदेश जनता तक पहुँचा सके। आजकल यह धारणा सर्व-स्वीकृत सी हो गई है कि उसने अपने लेख आम जनता के लिए लिखवाये थे, इसलिए उसके पूर्व भी भारत के लोग ब्राह्मी से परिचित रहे होंगे। परन्तु यह तर्क गलत है। अगर अशोक यह समझता कि भारत के सामान्यजन ब्राह्मी पढ़ सकते हैं तो वह इस लिपि के साथ आम जनता की भाषा भी प्रयुक्त करता जैसा कि उसने पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी लिपि व एरेमाइक भाषाओं और लिपियों का प्रयोग करते समय किया। लेकिन भारत के शेष सभी भागों में वह ब्राह्मी लिपि के लेखों में मागधी प्राकृत का बहुत ही मामूली अन्तरों के साथ प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि इस भाषा को सभी प्रदेशों के भारतीय नहीं समझ पाते होंगे। उदाहरण के लिए तत्कालीन मैसूर वासी जनता निश्चय ही द्रविड बोलियाँ बोलती होंगी। अतः निष्कर्ष स्पष्ट है कि उसके लेख आम जनता के लिए नहीं, मैसूर के उन बौद्ध धर्म प्रचारकों, राजकर्मचारियों आदि के लिए थे जो राज-भाषा के साथ नवीन आविष्कृत लिपि सीख रहे थे। अशोक के युग में ब्राह्मी लिपि का समस्त भारत में एक सा रूप भी इस बात का प्रमाण है कि इसका आविष्कार तभी हुआ था। अगर इसका प्रचलन अशोक से पाँच-सात सौ वर्ष पूर्व से होता तो अशोक के समय तक इसके अनेक प्रादेशिक रूप हो गये होते। इसलिए हमें यह निश्चित सा लगता है कि अशोक ने ही ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कराया था और इसकी सहायता से अपने धंम का प्रचार किया (दे० अध्याय १ का परिशिष्ट)।

अशोक ने अपने पूरे साम्राज्य की शक्ति को धंम प्रचार में लगाया। इसे वह भेरिघोष (युद्ध घोष) के स्थान पर धर्मघोष कहता है (४ था शि० ले०)। उसने पूर्व-गामी राजाओं में प्रचलित विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएं प्रारम्भ कीं (८ वां शि० ले०), सामान्य मंगलोत्सवों के स्थान पर धर्म-मंगलों का प्रचार किया, तत्कालीन युग में प्रचलित सामान्य समाजों के स्थान पर धर्म समाजों को प्रोत्साहित किया (१ ला० शि० ले० ७ वां स्त० ले०) व पुण्य करने पर मिलने वाले स्वर्गीय सुखों की ओर जनता को उन्मुख करने के लिए इन सुखों के दृश्यों को विमानों में दिख-

लाना शुरू किया (४ था शि० ले०)। उसने आम जनता में अहिंसा का प्रचार करने के लिए स्वयं मांस भक्षण कम कर दिया (१ ला शि० ले०), और अनेक अवसरों पर अनुसूचित पशुओं की हत्या का सर्वथा निषेध कर दिया (५ वां स्त० ले०)।

बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक के कार्य—अशोक के 'धंम' प्रचार के सभी उपायों से बौद्ध धर्म का परोक्ष रूप से प्रभाव बढ़ा। परन्तु विशेष रूप से उसने बौद्ध धर्म के लिए क्या-क्या कार्य किए इनका वर्णन अभिलेखों में नहीं है। फिर भी इतना निश्चित रूप से ज्ञात है उसने (१) बौद्ध संघ के मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया (संघ-भेद-लेख)। इससे यह साहित्य परम्परा कि उसने एक समागम आयोजित करवा कर सब लोभी तथा श्रद्धाहीन भिक्षुओं को संघ से निष्कासित करवा दिया था और तत्पश्चात् तृतीय संगीति बुलाई थी, सही प्रतीत होने लगती है। (२) अशोक ने कुछ बौद्ध ग्रन्थों का प्रचार किया (भाब्रु-लेख के धर्म-पर्याय)। (३) उसने बुद्ध के देहावशेषों पर स्तूप बनवाया (अहरौरा ल० शि० ले०)। इससे यह साहित्यिक परम्परा कम-से-कम अंशतः समर्थित होती है कि उसने बुद्ध के देहावशेषों पर ८४,००० स्तूप बनवाए थे। (४) उसने स्तम्भों और उन पर बनी मूर्तियों और स्तूपों के रूप में बौद्ध प्रस्तर-कला का श्री गणेश किया और बौद्ध प्रतीकों को लोकप्रिय बनाया।

अशोक के विषय में बौद्ध साहित्य में कहा गया है कि उसने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भारत के विभिन्न भागों में व विदेशों में धर्म-प्रचारक भेजे थे। इस बात का उल्लेख उसके अभिलेखों में तो नहीं है परन्तु वह अपने पड़ोसी देशों में—मय यूनानी राज्यों के—धंम विजय की नीति की सफलता का दावा करता है (२ रा तथा १३ वां शि० ले०)। उसने जिन लोगों के माध्यम से अपने आदर्श वहां प्रचारित करने का प्रयास किया होगा उनमें वे धर्म प्रचारक भी रहे होंगे जिनकी चर्चा साहित्य में है। जो भी हो अशोक के अभिलेख मिस्र व पश्चिमी एशिया के यूनानी राज्यों और राजाओं का उल्लेख करने वाले अकेले भारतीय लेख हैं।

लिप्यात्मक, भाषात्मक व साहित्यिक महत्त्व—अशोक के अभिलेख बहुसंख्यक एवं भारत के प्राचीनतम अभिलेख होने के कारण तत्कालीन भारत की लिप्यात्मक, भाषात्मक एवं साहित्यिक स्थिति पर रोचक प्रकाश प्रदान करते हैं। अशोक ने अपने पश्चिमोत्तर प्रदेशों के अभिलेखों में यूनानी, एरेमाइक एवं खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया। उसके शहबाजगढ़ी व मानसेहरा अभिलेख खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम विस्तृत लेख हैं। शेष समस्त भारत में उसने ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया। इस लिपि का रूप सर्वत्र समान है जिससे प्रमाणित है कि इसे स्वयं अशोक ने प्रचारित किया था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अगर इसका प्रचलन अशोक के कुछ सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया होता तो अशोक के काल तक विभिन्न प्रदेशों में इसका रूप उसी प्रकार बदलता हुआ मिलता जैसा गुप्तकाल में मिलता है। उसके अभिलेखों का

साहित्यिक महत्त्व भी कई दृष्टि से है। एक, इनसे अशोक के काल में बौद्ध त्रिपिटक के विकास की अवस्था का कुछ ज्ञान होता है (दे०, भाब्रु शिला फलक-लेख की टि० ६)। दूसरे, अशोक के अभिलेखों की भाषा में पालि त्रिपिटक की भाषा व वाक्य-विन्यास आदि का गहरा प्रभाव मिलता है। हमने ऐसे कुछ वाक्यों की ओर टिप्पणियों में ध्यान दिलाया है। विस्तृत विवेचन के लिए दे०, बरुआ, अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स्, २, पृ० ३४० अ०। तीसरे, अशोक के अभिलेख बौद्धेतर साहित्य के अध्ययन के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, उसके द्वारा प्रयुक्त 'परिस्रवे', 'अपरिस्रवे', (१० वां शि० ले०) तथा 'आसिनवे' (२ रा स्त० ले०) शब्द बौद्ध न हो कर जैन साहित्य से लिए गए लगते हैं। अवध्य पशुओं की उसकी सूची (५ वां स्त० लेख) बौधायन० और वशिष्ठ० से मेल खाती है, उसका 'समवाय' सिद्धान्त भारत में लगभग सभी सम्प्रदायों में आदर्श माना गया है, उसकी 'देवानांप्रिय' उपाधि ब्राह्मण साहित्य में चर्चित है (१ ला शि० ले०), तथा उसके द्वारा तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों को प्रदत्त महत्त्व कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से स्पष्ट होता है आदि (विस्तृत विवेचन के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०)। इसी प्रकार अशोक के अभिलेख तत्कालीन भारत के भाषात्मक मानचित्र को समझने में भी अमूल्य सहायता प्रदान करते हैं। इस विषय में हमने कुछ चर्चा प्रथम अध्याय में की है।

मौर्यकाल : अशोकेतर अभिलेख

दशरथ के नागार्जुनी गुहा-लेख

लेख-परिचय—ये लेख, जो संख्या में तीन हैं, अशोक के पौत्र दशरथ ने लिखवाये थे। ये नागार्जुनी पर्वत (गया जिला, बिहार) में बनी नागार्जुनी की पहाड़ी में उपलब्ध हुए हैं। इनमें दशरथ द्वारा आजीवकों को गुहा दान देने का उल्लेख है। लेखों की लिपि अशोकीय ब्राह्मी है। वर्तनी की दृष्टि से इनमें तालव्य 'श' (यथा 'दशरथ' का 'दषरथ' रूप में) और कहीं दन्त्य 'स' का (यथा 'निसृष्टा' का 'निपिठे' रूप में) प्रायः (सर्वत्र नहीं) मूर्धन्य 'ष' में परिवर्तन द्रष्टव्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—ब्युलर, आई० ए०, २०, पृ० ३६४ ; सरकार, स० इ०, पाण्डेय अशोक के धर्मलेख, पृ० १३६–८।

प्रथम लेख

मूलपाठ

१. वहियक [।] कुभा दषलथेन देवानंपियेना
२. आनंतलियं अभिषितेना [आजीविकेहि]
३. भदंतेहि वाष–निषिदियाये निषिठे
४. आ–चंदम षूलियं [॥]

पाठ-टिप्पणी—'आजीविकेहि' शब्द को बाद में किसी ने मिटाने की चेष्टा की लगती है।

शब्दार्थ

आनंतलियं=तुरन्त ; **वाष**=वर्षों ; **निषि दियाये**=आवास के लिए (निषिद्या=आवास) ; **निषिठे**=दान दी गई ; **आचंदमषूलियं**=जब तक चन्द्र सूर्य हैं ।

अनुवाद

तुरन्त अभिषिक्त हुए देवानांप्रिय दशरथ द्वारा वहियका (नामकी) गुफा आजीविक भदन्तों को वर्षावास के लिए चन्द्र (और) सूर्य की स्थिति तक के लिए (अर्थात् जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं तब तक के लिए) दान दी गई ।

व्याख्या

प्राकृत के 'भन्त' और 'भदन्त' दोनों शब्द संस्कृत 'भवत्' से व्युत्पन्न हैं । लेकिन बरुआ और सिनहा ने 'भदन्त' को 'भद्रान्त' से व्युत्पन्न माना है ।

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१. गोपिका कुभा दषलथेना देवा [न] ' पि
२. येना आनंतलियं अभिषितेना आजी
३. विके [हि] [भद] तेहि वाष–निसिदिया
४. निसिठा आ चंदम षूलियं [॥]

पाठ-टिप्पणी—इसमें 'निसिठा' में दन्त्य 'स' सुरक्षित है जब कि प्रथम लेख में 'ष' मिलता है। 'आजीविकेहि' शब्द बाद में किसी ने कुछ मिटा दिया है।

शब्दार्थ

आनंतलियं=तुरन्त ; **वाष**=वर्षों ; **निषि दियाये**=आवास के लिए (निषिद्या=आवास) ; **निषिठे**=दान दी गई ; **आचंदमषूलियं**=जब तक चन्द्र सूर्य हैं।

अनुवाद

तुरन्त अभिषिक्त हुए देवानांप्रिय दशरथ द्वारा वहियका (नामकी) गुफा आजीविक भदन्तों को वर्षावास के लिए चन्द्र (और) सूर्य की स्थिति तक के लिए (अर्थात् जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं तब तक के लिए) दान दी गई।

व्याख्या

प्राकृत के 'भन्त' और 'भदन्त' दोनों शब्द संस्कृत 'भवत्' से व्युत्पन्न हैं। लेकिन बरुआ और सिनहा ने 'भदन्त' को 'भद्रान्त' से व्युत्पन्न माना है।

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१. गोपिका कुभा दषलथेना देवा [न] ˙ पि
२. येना आनंतलियं अभिषितेना आजी
३. विके [हि] [भद] तेहि वाष-निसिदिया
४. निसिठा आ चंदम षूलियं [॥]

पाठ-टिप्पणी—इसमें 'निसिठा' में दन्त्य 'स' सुरक्षित है जब कि प्रथम लेख में 'ष' मिलता है। 'आजीविकेहि' शब्द बाद में किसी ने कुछ मिटा दिया है।

अनुवाद

तुरन्त अभिषिक्त हुए देवानांप्रिय दशरथ द्वारा गोपिका (नाम की) गुहा आजीविक भदन्तों को वर्षावास के लिए चन्द्र (और) सूर्य की स्थिति तक के लिए दान दी गयी।

तृतीय लेख

मूलपाठ

१. वडथिका कुभा दषलथेना देवानं
२. पियेना आनंतलियं अ [भि] षितेना [आ]
३. [जी] विकेहि भदंतेहि वा [ष निषि] दियाये
४. निषिठा आ चंदम षूलियं [।।]

अनुवाद

तुरन्त अभिषिक्त हुए देवानांप्रिय दशरथ द्वारा वडथिका (नाम की) गुफा आजीविक भदन्तों को वर्षावास के लिए चन्द्र (और) सूर्य की स्थिति तक के लिए दान दी गई।

व्याख्या

बराबर व नागार्जुनी गुहा लेखों में 'आजीविक' शब्द मिटाने की चेष्टा हो सकती है मौखरी अनन्तवर्मा के काल में किसी ने की हो। अनन्तवर्मा ने बराबर की गुफाओं में से एक को कृष्ण-पूजा के लिए व नागार्जुनी गुफाओं में एक को शिव-पूजा के हेतु और दूसरी को पार्वती की पूजार्थ दान दिया था।

पिप्राहवा बौद्ध पात्र-अभिलेख

लेख परिचय—यह अभिलेख उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के उत्तर-पूर्वी सिरे पर नेपाल की सीमा से आध मील दक्षिण की ओर स्थित पिप्राहवा स्थल से प्राप्त हुआ है। इस स्तूप की खुदाई १८९७–९८ में डब्ल्यु० सी० पेपे ने की थी और हाल ही में १९७२ में के० एम० श्रीवास्तव ने की है। इसकी **भाषा** प्राकृत है और **लिपि** मौर्य-कालीन ब्राह्मी (दे०, नीचे) इसमें दो पंक्तियाँ हैं जिन्हें कुछ विद्वान् छन्दवद्ध मानते हैं। टॉमस ने इसे आर्या **छन्द** में लिखित माना है और फ्लीट ने उपगीति अथवा उद्-गीति छन्द में। यह अभिलेख एक भाण्ड की गर्दन पर लिखा है। इसका **उद्देश्य** भग-वान बुद्ध के अवशेषों की स्थापना का उल्लेख करना है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—ब्युलर, जे० आर० ए० एस० १८९८, पृ० ३८७ अ०; ब्लॉख, वही, १८९९, पृ० ४२ अ० ; फ्लीट, वही, १९०५, पृ० ६७९ अ० ; टॉमस, वही, १९०६, पृ० ४५२ अ० ; १९०७, पृ० १०५ अ० ; लूडर्स, सूची सं० ९३१ ; सरकार, स० इं०, पृ० ८१ ; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० १ ; श्रीवास्तव, के० एम०, स्टडीज इन इण्डियन एपिग्राफी, २, पृ० १०० अ०।

मूलपाठ

सुकिति भतिनं स--भगिनिकनं स– पुतः दलनं (।*)
इयं सलिल निधने बुधस भगतवे सकि [यानं] (॥*)

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर, स्मिथ, बार्थ, रीज डेविड्स् आदि प्रथम पंक्ति को द्वितीय पंक्ति मानते थे और द्वितीय पंक्ति को प्रथम। फ्लीट ने सर्वप्रथम उपयुक्त क्रम सुझाया। पाण्डेय ने 'सकियानं' को 'सकियनं' पढ़ा है।

शब्दार्थ

सुकिति = सुकीर्ति ; **भतिनं** = भाई (अथवा भक्ति) ; **दलनं** = स्त्रियाँ ; **सलिल निधनं** = अवशेष पात्र ; **सकियानं** = शाक्यानां या स्वकीयानां

अनुवाद

भगवान् बुद्ध के शरीर (=अवशेषों) का यह पात्र सुकीर्ति के भाइयों ने (अथवा सुकीर्ति और भक्ति ने) अपनी बहिनों, पुत्रों, स्त्रियों व प्रियजनों सहित (प्रतिष्ठापित किया) ।

व्याख्या

(१) **सुकिति-भतिनं**—सुकिति = सुकीर्ति । कुछ के अनुसार 'सुकृति' । भतिनं = भ्रातृणां । इस पद का अनुवाद प्रायः 'सुकीर्ति के भाइयों का' किया जाता है । रा० ब० पाण्डेय ने सुकीर्ति को भगवान् बुद्ध का विरुद माना है और लेख का अनुवाद इस प्रकार किया है : 'बुद्ध के शाक्यजातीय भाइयों ने अपनी बहिनों, पुत्रों व स्त्रियों सहित....आदि' । इस प्रकार वह इस लेख को स्वयं भगवान् बुद्ध के भाइयों द्वारा महानिर्वाण के तत्काल उपरान्त (४८३ ई० पू०) लिखवाया गया मानते हैं । परन्तु यह मत समीचीन नहीं है । जैसा कि हम अन्यत्र प्रमाणित कर चुके हैं स्वयं ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही अशोक के काल में हुआ था । कुछ विद्वान् 'सुकीति भतिनं' को 'बुद्ध के भक्त' अर्थ में लेते हैं जिससे इस लेख की तिथि ४८३ ई० पू० मानना जरूरी नहीं रह जाता । सरकार ने 'सुकिति भतिनं' को सुकीर्ति और भक्ति' ये दो व्यक्तिवाचक नाम माना है । यह अर्थ भी गलत प्रतीत नहीं होता (दे०, सरकार, स० इ० पृ० ८१) ।

(२) **सकियानं** = स्वकीयानां । यह अर्थ फ्लीट ने सुझाया है । ब्युलर, बार्थ, सेना, रीज डेविड्स्, स्मिथ, के० एम० श्रीवास्तव तथा पाण्डेय जैसे कुछ विद्वान् इसे 'शाक्यानां' अर्थ में लेते हैं ।

अभिलेख का महत्व

पिप्राहवा अभिलेख कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है । कुछ विद्वान् इसे भारत के अब तक उपलब्ध ऐतिहासिकयुगीन अभिलेखों में प्राचीनतम मानते हैं (दे०, ऊपर, टि० १) इस लेख में दीर्घ स्वरों का प्रयुक्त न होना भी उसके प्राङ् मौर्ययुगीन होने का प्रमाण बताया गया है । परन्तु जैसा कि सरकार ने कहा है यह भाषायी विशेषता प्राचीन अभिलेखों में प्रायः मिलती है । दूसरे, यह लेख एक प्रस्तर भाण्ड पर खरोंच कर (खोदकर नहीं) लिखा गया है । इसलिए इसके अक्षरों की बनावट पत्थरों पर उकेरकर लिखे गए अक्षरों से कुछ भिन्न होना स्वाभाविक था । तीसरे, यह लेख इतना लघु है कि मात्र इसकी भाषा के आधार पर इसे इतना प्राचीन नहीं माना जा सकता । सरकार महोदय ने लिपि के आधार पर इसे तीसरी शती ई० पू० में रखा है ।

पिप्राहवा—लेख प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख हैं जिसमें बुद्ध के देहावशेषों के प्रतिष्ठान की चर्चा है। बौद्ध साहित्य व अन्य अनेक अभिलेखों में बुद्ध के अवशेषों या फूलों को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख हुआ है। 'महापरिनिब्बान सुत्त' के अनुसार बुद्ध के दाह-संस्कार के उपरान्त उनके अवशेषों की लिच्छवियों, शाक्यों, बुलियों, कोलियों, मल्लों, मोरियों आदि के मध्य आठ भागों में बाँट दिया गया था। इन अवशेषों को मञ्जूषाओं में रखकर उनके ऊपर स्तूप बनवाए गए थे। बुद्ध के अवशेषों की बाद में पुनर्स्थापना करने की चर्चा मिनेण्डर के शिनकोट-अभिलेख, थियोडोरस के स्वात-अभिलेख, पतिक के तक्षशिला-लेख व अन्य कई लेखों में हुई है।

सोहगौरा कांस्यपत्र-अभिलेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले की बाँसगाँव तहसील के सोहगौरा ग्राम से मिला था। आजकल यह कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी के पास सुरक्षित है। इसकी **भाषा** प्राकृत है और **लिपि** तीसरी शती ई० पू० की ब्राह्मी। रा० ब०.पाण्डेय जैसे कुछ विद्वान् इसे प्राङ्-मौर्य युग का मानते हैं। परन्तु सरकार का विचार है कि इसके 'व' (पंक्ति २), 'ड' (पंक्ति २), ह्रस्व 'इ' की मात्रा (यथा पंक्ति १ के 'ति' तथा चौथी पंक्ति के 'यि' अक्षरों में) निश्चय ही अशोक से बाद की तिथि की द्योतक हैं। लेख में कोई **तिथि नहीं** दी गई है। इसका **उद्देश्य** आपत्ति काल के लिए निर्मित दो कोष्ठागारों का उल्लेख करना है। लेख के ऊपर दो तिमञ्जिले मकानों के चित्र कुछ चिन्हों के साथ बने हैं। शायद इनके मकानों द्वारा लेख में उल्लिखित कोष्ठागारों की ओर ही संकेत है। लेख का पाठ कहीं-कहीं पर्याप्त विवादग्रस्त है।

सन्दर्भ ग्रन्थ व लेख—फ्लीट जे० आर० ए० एस, १९०७, पृ० ५१ अ०; जायसवाल, ई० आई०, २२, पृ० २; सरकार, स० इ०, पृ० ८२; ब्युलर आई० ए०, १८९६, पृ० २६१; बरुआ, ए० बी० ओ० आर० आई०, ११, पृ० ३२ अ०; लूडर्स, सूची, सं० ९३७; पाण्डेय रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० २।

मूलपाठ

१. **सवतियान महमतन ससने मनवसिति-क-**
२. **ड [ा] सि [ि] ल माते वसगमे व एते दवे कोठगलनि [।]**
३. **ति [घ] वनि-माथुल-चचु मोदाम-भलकन छ**
४. **ल कयियति अतियायिकय [।] नो गहितवय [॥]**

पाठ-टिप्पणी—फ्लीट व सरकार 'महमतन' को 'महमगन' पढ़ते हैं। फ्लीट ने इसे 'महामार्ग' अर्थ में लिया है और सरकार ने 'महमतन' को गलती में 'महमगन' लिख दिया माना है। जायसवाल दूसरी पंक्ति में 'वसगमे' को 'उसगमे' पढ़ते हैं। सरकार ने दूसरी पंक्ति का प्रथम अक्षर 'द' पढ़ा है। विभिन्न विद्वानों ने लेख इसके विभिन्न अक्षरों को अन्य अनेक प्रकार से पढ़कर और जोड़कर इसके अन्य अनेक पाठ और अर्थ सुझाए हैं।

शब्दार्थ

महमतन = महामात्राणां ; **ससने** = शासनं, आदेश ; **कडा** = कैम्प, शिविर ; **मनवसिति** = एक स्थान का नाम ; **सिलिमाते** = श्रीमान् ; **वसगमे** = वंश ग्रामे ; **दवे** = दो ; **कोठगलनि** = कोष्ठागार ; **तिघवनि** = तीन तल या मञ्जिल वाले ; **माथुल, चचु मोदाम भलकन** = ये सभी ग्रामों के नाम हैं ; छल=क्षार : , अनाज का वितरण ; **कयियति**=कार्येते, किया जाये ; **अतियायिकय**=आत्यायकार्यां, दुर्भिक्ष आदि आपत्तियों के समय ; **नो गहितवय** = नो ग्रहीतव्यम्, नहीं लिया जाये ।

अनुवाद

श्रावस्ती के महामात्रों का मानवाशीति (नामक) शिविर से (यह) आदेश (है) : श्रीमान् वंशग्राम में ये दो तिमञ्जिले कोष्ठागार (स्थापित हैं) । ये माथुर, चञ्चु, मोदाम, भल्लक (नामक ग्रामों) में विपत्तिकाल में (अर्थात् दुर्भिक्ष आदि के समय) काम में लाए जाएँ । (सुभिक्षकाल में इन्हें काम में) नहीं लिया जाए ।

व्याख्या

(१) जिस पत्र पर यह लेख लिखा है उसे कुछ विद्वान ताँबे का बताते हैं कुछ काँस्य का । इससे तीसरी शती ई० पू० की भारतीय धातु-विद्या पर प्रकाश मिलता है ।

(२) लेख के ऊपर कोष्ठागारों के अतिरिक्त 'कमल की कली' व 'वेदिका से परिवेष्टिक वृक्ष' तथा 'पर्वत पर चन्द्र' चिन्ह बने हैं । ये मौर्यकालीन आहत मुद्राओं पर भी मिलते हैं ।

(३) **सवतियान** = श्रावस्तीयानां । श्रावस्ती पूर्वी उत्तर प्रदेश के कोसल जनपद का प्रख्यात नगर था ।

(४) **वसगमे** = वंशग्रामे । आधुनिक बांसगाँव । यह सोहगौरा से छः मील दूर स्थित है ।

(५) इस अभिलेख में उल्लिखित अन्य स्थानों को अभी तक पहिचाना नहीं जा सका है ।

(६) छल = 'अनाज आदि का वितरण' । जायसवाल द्वारा प्रस्तावित यह अर्थ सरकार को स्वीकार है । ब्युलर ने इस शब्द को 'संग्रह' अर्थ में लिया है ।

(७) ब्युलर ने इस लेख के 'भल्लक' का अर्थ 'भारक' किया है, 'माथु' को 'मधु' (= महुआ) अर्थ में लिया है, 'माथु' के उपरान्त 'लच' अक्षरों का तात्पर्य 'लाज' माना है और उसके बाद के अक्षरों को 'अचुमोदा' (= अजमोदा) तथा 'अम' (= आम) पढ़ा है । उनका विचार है कि इस लेख में आपत्तिकाल के लिए इन वस्तुओं का संग्रह किये जाने की चर्चा है । परन्तु 'आम' तथा 'महुआ' ऐसे पदार्थ नहीं हैं जिनका आपत्ति काल में कुछ उपयोग हो या जो संग्रह किये जा सकें ।

(८) इस लेख के मुख्य भाग के अन्य प्रस्तावित अनुवाद इस प्रकार हैं। फ्लीट : "मार्गों के मनवसि नामक संगम पर ये दो कोष्ठागार तियवनि, मथुरा तथा चञ्चु स्थानों से आने वाले माल (भार) को संग्रह करने के लिए बनवाए गए।" जायसवाल : "केवल लगान देने वालों के (सिरिमात्र) केवल सूखा पड़ने पर (उष्माग में) त्रिवेणी के कोष्ठागार...आदि।"

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत लेख का महत्त्व अनेक कारणों से है। एक, प्रशासन की दृष्टि से यह सूचित करता है कि तीसरी शती ई० पू० में गोरखपुर की बाँसगाँव तहसील भी श्रावस्ती के महामात्रों के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आती थी। दूसरे, इससे मौर्यकाल में प्रशासन की ओर से दुर्भिक्ष के समय जन हितार्थ किए जाने वाले कार्यों की कुछ झलक मिलती है। तीसरे, इससे ज्ञात होता है कि आज की तरह मौर्यकाल में भी पूर्वी उत्तर प्रदेश को अकाल और बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ता था।

महास्थानगढ़ खण्डित पाषाण-लेख

मूलपाठ

१. नेन [।] स [ं] वगिय [ा] नं [तल दन स] सप दिन । [गु]
२. [म] ा ते । सुलखिते पुडनगलते । ए [त] ं
३. [नि] वहिपयिसति । संवगियानं [च] [दि] ने × ×
४. [धा] नि यं । निवहिसति । दग-तिया [ि] यके × ×
५. × × × [यि] कसि । सुअ तियायिक [सि] पि गंड [केही]
६. × × × [यि] केहि एस कोठागाले कोसं × × ×
७. × × × ×

(८) इस लेख के मुख्य भाग के अन्य प्रस्तावित अनुवाद इस प्रकार हैं। फ्लीट : "मार्गों के मनवसि नामक संगम पर ये दो कोष्ठागार तियवनि, मथुरा• तथा चञ्चु स्थानों से आने वाले माल (भार) को संग्रह करने के लिए बनवाए गए।" जायसवाल : "केवल लगान देने वालों के (सिरिमात्र) केवल सूखा पड़ने पर (उष्माग में) त्रिवेणी के कोष्ठागार""आदि।"

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत लेख का महत्त्व अनेक कारणों से है। एक, प्रशासन की दृष्टि से यह सूचित करता है कि तीसरी शती ई० पू० में गोरखपुर की बाँसगाँव तहसील भी श्रावस्ती के महामात्रों के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आती थी। दूसरे, इससे मौर्यकाल में प्रशासन की ओर से दुर्भिक्ष के समय जन हितार्थ किए जाने वाले कार्यों की कुछ झलक मिलती है। तीसरे, इससे ज्ञात होता है कि आज की तरह मौर्यकाल में भी पूर्वी उत्तर प्रदेश को अकाल और बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ता था।

महास्थानगढ़ खण्डित पाषाण-लेख

मूलपाठ

१. नेन [।] स [ं] वगिय [ा] नं [तल दन रा] सप दिन । [सु]
२. [म] । ते । सुलखिते पुडनगलते । ए [त] ं
३. [नि] वहिपयिसति । संवगियानं [च] [दि] ने × ×
४. [धा] नि यं । निवहिसति । दग-तिया [ि] यके × ×
५. × × × [यि] कसि । सुअ तियायिक [सि] पि गंड [केही]
६. × × × [यि] केहि एस कोठागाले कोसं × × ×
७. × × × ×

हेलिओदोर का बेसनगर गरुड़-स्तम्भ-अभिलेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख मध्यप्रदेश में भीलसा (प्राचीन विदिशा, दशार्ण अथवा आकर=पूर्वी मालवा की राजधानी) के समीपस्थ बेसनगर से प्राप्त हुआ है। इसे हेलिओदोर नामक यूनानी ने, जिसे यूनानी राजा अंतलिकित (Antialkidas) ने शुंग-नरेश भागभद्र के पास राजदूत के रूप में भेजा था, भागभद्र के शासनकाल के १४ वें वर्ष में लिखवाया था इसकी **भाषा** संस्कृत से प्रभावित प्राकृत है और लिपि द्वितीय शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। अशोककालीन ब्राह्मी से इसकी **लिपि** स्पष्टतः अधिक विकसित है, लेकिन सातवाहनों के नासिक-अभिलेखों एवं खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख से यह प्राचीनतर लगती है। अभिलेख के दो भाग हैं, एक में सात पंक्तियाँ हैं और दूसरे में केवल दो। इसका **लेखक** अज्ञात है परन्तु, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इसकी रचना में स्वयं हेलिओदोर का हाथ प्रतीत होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—फोगल, ए० एस० आई०, ए० आर०, १९०८-९, पृ० १२६ ; रेप्सन, एन्श्येण्ट इन्डिया, पृ० १५७ ; भाण्डारकर जे० ब्रो० बी० आर० ए० एस०, २३, पृ० १०४ ; रायचौधुरी, अर्ली हिस्टरी ऑव वैष्णव सेक्ट, पृ० ९९ अ०; गोस्वामी, के० जी०, आई० एच० क्यू० ३०, पृ० ३५७-९ ; लूडर्स, सूची, सं० ६६९ ; सरकार, स० इ०, पृ० ८८-९ ; पांडेय हि० लि०, इ०, पृ० ४३ अ०।

मूलपाठ

भाग १

१. [दे] व देवस वा [सुदे] वस गरुडध्वजे अयं
२. कारिते इ [अ] हेलिओदोरेण भाग
३. वतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेन
४. योन-दूतेन [आ] गतेन महाराजस
५. अंतलिकितस उप [ं] ता सकास रञो
६. [का] सी पु [त्र] स [भ] ागभद्रस त्रातारस
७. वसेन च [तु] दसेन राजेन वधमानस

भाग २

१. त्रिनि अमुत पदानि [इअ] [सु] अनुठितानि
२. नेयंति [स्वगं] दम चाग अप्रमाद [॥]

पाठ-टिप्पणी—भाण्डारकर ने 'कासीपुत्रस' को 'कोसीपुत्रस' पढ़ा है। 'दसेंन' को 'दसेन पढ़ें। भाण्डारकर ने ७ वीं पंक्ति को 'वासिना मझ [देसे] नई राजे नवध [ं] मा [नुसा] – [सनाय]' पढ़ा है। हमने इस लेख का सरकार द्वारा स्वीकृति पाठ दिया है।

शब्दार्थ

कारिते=कारितः ; **इअ**=इह, यहां ; **उपंता**=उपान्तात्, समीप से ; **सकासं**=सकाशं, पास को ; **रञ्ञो**=राज्ञः ; **कासीपुत्रस**=काशीपुत्रस्य ; **त्रातारस**=त्रातुः ; **चतुदसेन**=चतुर्दशेन ; **अमुत पदानि**=अमृत पदानि, अमृद पद ; **सुअनुठितानि**=स्वनुष्ठितानि, भली-भांति अचरण किए हुए ; **नेयंति**=नयन्ति, ले जाते हैं ; **चाग**=त्याग ; **दम**=संयम, इन्द्रियों का दमन ।

अनुवाद

देवदेव वासुदेव का यह गरुडध्वज यहां भागवत हेलिओदोर द्वारा स्थापित किया गया जो दिय (Dion) का पुत्र, तक्षशिला का निवासी, महाराज अन्तलिकित (Antialkidas) के पास से राजा काशीपुत्र भागभद्र त्राता वर्धमान के पास उसके राज्य के चौदहवें वर्ष में आया हुआ यवन दूत था । ये तीन स्वनुष्ठित(अर्थात् भली-भांति आचरण किए हुए) अमृतपद स्वर्ग ले जाते हैं—दम, त्याग और अप्रमाद ।

व्याख्या

(१) **कासी पुत्रस**—भाण्डारकर ने इसे 'कोसीपुत्रस' पढ़कर इसका संस्कृत रूपान्तर 'कौत्सीपुत्रस्य' किया है । लेकिन सरकार के अनुसार अगर मूल शब्द 'कौत्सीपुत्रस्य' रहा होता तो उसका प्राकृत रूप 'कोछीपुत्रस' बनता फोगल का भी यही मत है । लगता है भागभद्र की माता के पितृकुल का गोत्र काश था प्राचीन काल में कभी-कभी विवाह के बाद स्त्रियों का गोत्रान्तर नहीं होता था, पितृकुल गोत्र बना रहता था। दे०, प्रभावित गुप्ता का विष्णु वृद्ध गोत्रीय रुद्रसेन वाकाटक के साथ विवाह होने के बाद भी अपने को 'धारण सगोत्रा' कहना (स० इ० पृ० ४३६ टि० ९, दे० पी० आई० एच० सी०, १९४५, पृ० ४८ अ०) ।

(२) **अंतलिकित**=एण्टियाल्किडज । यह एक इण्डो-ग्रीक अर्थात् भारतीय-यवन राजा था । उसके सिक्के पञ्जाब से उपलब्ध हुए हैं । वह सम्भवतः यूक्रेटाइडिज-वंश का सदस्य था । गार्डनर आदि कुछ विद्वान् उसे यूक्रेटाइडिज़ का पौत्र और हेलियोक्लिज़ का पुत्र मानते हैं । सरकार का अनुमान है कि वह लाइसीयस (Lysias) का पुत्र था । और उसने मिनेण्डर के विरुद्ध भागभद्र से सहायता मांगी थी (ए० इ० यू०, पृ० ११५-७) । ए० के० नारायण ने (दि इण्डो-ग्रीक्स, पृ० ११९-२०) अन्तलिकित का वह शत्रु जिसके विरुद्ध भागभद्र की सहायता पाने हेलिओदोर को भेजा गया होगा, अपोलोडोटस को माना है ।

(३) **भागभद्र**—सम्भवतः शुंग वंश का शासक था । उसकी राजधानी विदिशा प्रतीत होती है । शुंग राजाओं की पुराणों में प्रदत्त सूची में पाँचवाँ नाम औद्रक, आर्द्रक, या अन्धक है जिसे 'भागवत पुराण' में भद्रक भी कहा गया है । रायचौधुरी व मार्शल के अनुसार यह भद्रक इस लेख का भागभद्र माना जा सकता है । ए० के० नारायण (दि इण्डो-ग्रीक्स, पृ० ११९) को इसमें आपत्ति है । उनका कहना है कि इस राजा को ज्यादातर पुराणों में आर्द्रक या अन्धक कहा गया है, भद्रक नहीं । दूसरे,

इसका शासन काल केवल दो या सात वर्ष का बताया गया है, जबकि भागभद्र ने कम-से-कम चौदह वर्ष शासन किया। उन्होंने उसकी पहिचान उस भागवत से की है जिसके काल का बेसनगर से ही एक अन्य अठपहलू गरुड-स्तम्भ-लेख मिलता है। इसके अनुसार वहाँ भागवत धर्म के अनुयायी किसी व्यक्ति ने महाराज भागवत के बारहवें वर्ष में भगवान् विष्णु के प्रसादोत्तम (श्रेष्ठ मन्दिर) के आँगन में गरुडध्वज स्थापित कराया था (गोतमीपुतने भागवतेन.......भगवतो प्रासादोतमस गरुडध्वज कारित द्वादस वसाभिसिते भागवते महाराजे—ए० एस० आई० ए०.आर० १९१३-१४, पृ० १९० अ०)। पुराणों में भी शुंगवंशीय राजाओं में नवां नाम भागवत का है। उसने बत्तीस वर्ष शासन किया था। इसलिए हेलिओदोर उसके शासन के १४ वें वर्ष विदिशा आ सकता था। जायसवाल व रेप्सन ने भी भागभद्र की पहिचान पुराणों के भागवत से की थी।

(४) **लेख की तिथि**—भागभद्र की पहिचान निश्चित हो जाने पर इस लेख की तिथि भी निश्चित हो सकती है। भद्रक के पूर्व चार शुंग राजाओं ने ६१ वर्ष शासन किया, इसलिए अगर पुष्यमित्र शुंग ने १८७ ई० पू० में शासन करना प्रारम्भ किया होगा तो भद्रक ने १८७-६१=१२६ ई० पू० में। और चूंकि यह अभिलेख उसके शासन के १४वें वर्ष में लिखवाया गया था, इसलिए इसकी तिथि होगी ११३ ई० पू०। परन्तु यह राजा अगर पुराणों का भद्रक न होकर भागवत है तब उसका राज्यारोहण पुष्यमित्र के ७८ वर्ष बाद पड़ेगा। उस अवस्था में इस लेख की तिथि १८७-७८-१४=९५ ई० पू० पड़ेगी। इन दोनों तिथियों में विशेष अन्तर नहीं है। अतः स्थूलतः इस लेख का समय १०० ई० पू० माना जा सकता है। यह निष्कर्ष इस तथ्य से संगत है कि इस लेख की लिपि अशोक के अभिलेखों से बाद की एवं हाथिगुम्फा-लेख एवं नागन्निका के नानाघाट-लेख की लिपियों से प्राचीनतर है।

(५) **अमुतपदानि**—स्वर्ग दिलाने वाले इन तीन मार्गों का उल्लेख 'महाभारत' (५.४३.२२) में भी मिलता है: दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्। (दे०, गीता, १६०.१-३)।

(६) **गरुध्वज**—गरुड को हिन्दू पुराकथाओं में विष्णु का वाहन माना गया है। बाद में यह गुप्त सम्राटों का राज चिह्न बना। वैष्णव धर्मावलम्बी राजा ध्वजस्तम्भों पर गरुड की प्रतिमा स्थापित कराते थे जिन्हें गरुडध्वज कहा जाता था। स्मिथ आदि विद्वानों ने गरुड को रोमक चील (eagle) का भारतीय रूप माना है। परन्तु गरुड का रोमक चील से कोई सम्बन्ध नहीं था। भारत में विष्णु वैदिक काल से ही सौर देवता माने जाते थे। इसलिए सौर पक्षी गरुड उनका वाहन माना गया।

(७) हेलियोदोर के इस लेख से व गौतमीपुत्र के ऊपर उद्धृत लेख से स्पष्ट है कि लगभग १०० ई० पू० में विदिशा वैष्णव धर्म का काफी महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। इस प्रसंग में भारहुत से प्राप्त एक रिलीफ चित्र उल्लेखनीय है। इसमें एक अश्वारोहिणी स्त्री एवं एक अश्वारोही पुरुष एक गरुड़ध्वज हाथ में लिए दिखाए गए हैं। पुरुष हाथी पर सवार राजा के पीछे चल रहा है। यह राजा सम्भवतः

रेवती मित्र है। उसका एवं उसकी रानी चापदेवी का उल्लेख वहीं ऊपर लिखे लेख में हुआ है : वेदिसा चापदेवाया रेवतिमित भारियाय पठम थमोदानं। लगता है रेवतीमित्र स्वयं वैष्णव था परन्तु वह और उसकी रानी बौद्ध धर्म का भी आदर करते थे (आई० एच० क्यू०, ३०, पृ०, ३६०)।

अभिलेख का महत्त्व

विदिशा के इतिहास पर प्रकाश—बेसनगर-अभिलेख का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व है। उससे मौर्योत्तर भारतीय इतिहास, विशेषतः शुंग व भारतीय-यवन (इण्डो-ग्रीक) इतिहास पर महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। जैसा कि सर्वज्ञात है मौर्य वंश के पतनोपरान्त उत्तर भारत में शुंग वंश का शासन स्थापित हुआ। शुंगों के अधिकार में विदिशा प्रदेश भी था। 'मालविकाग्निमित्रम' से ज्ञात होता है कि यह नगर उनकी शक्ति का एक मुख्य केन्द्र था। अग्निमित्र के उपरान्त विदिशा के इतिहास पर कुछ प्रकाश विशेषतः इसी लेख से मिलता है। इसमें उल्लिखित नरेश भागभद्र को लगभग सभी विद्वान् शुंगवंशीय मानते हैं और उसकी पहिचान इस वंश के पाँचवें नरेश भद्रक अथवा नवें राजा भागवत से करते हैं (दे० पीछे, टिप्पणियां)। लेकिन ए० के० नारायण को यह भी शंका है कि यह राजा शुंगवंशीय न होकर विदिशा का कोई स्थानीय राजा रहा होगा (पूर्वो, पृ० ११९ टि० ८)। उनकी शंका का आधार भागभद्र के लिए मातृपक्ष के नाम 'काशी-पुत्र' का प्रयोग है। मातृपक्ष के नाम का इस तरह प्रयोग शुंगों के लिए अन्य कहीं नहीं मिलता। परन्तु अभिलेखों से ज्ञात भागभद्र व भागवत में (अगर ये दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति रहे हों तब भी) कम-से-कम भागवत लगभग निश्चित रूप से शुंग-वंशीय था। इसलिए भागभद्र को भी शुंगवंशीय मानना ही बेहतर होगा।

'इण्डो-ग्रीक' इतिहास पर प्रकाश—बेसनगर-अभिलेख से द्वितीय शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों में पश्चिमोत्तर भारत के यवन राज्यों पर भी प्रकाश मिलता है। एक, इससे एण्टियाल्किडज़ की तिथि निर्धारित करने में सहायता मिलती है जिससे अन्य यवन राजाओं की तिथियाँ निश्चित करना भी सुगम हो जाता है। दूसरे, इससे मालूम होता है कि तक्षशिला एण्टियाल्किडज के राज्य में सम्मिलित था चाहे उसकी राजधानी रहा हो या न रहा हो। तीसरे, इससे ज्ञात होता है कि एण्टियाल्किडज़ भागभद्र से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। चौथे, यह भारत का प्रथम अभिलेख है जिसमें राजनीतिक दौत्यकर्म का उल्लेख हुआ है। प्राचीन भारतीय राजनीति में दौत्यकर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान था। 'महाभारत' में कृष्ण के दौत्यकर्म का उल्लेख है। 'रामायण' में अंगद ने राम के दूत रूप में कार्य किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मेगास्थने (मेगस्थनिज) का दूत बनकर आना सर्वज्ञात है। 'अर्थ-शास्त्र' में तो 'दूत प्रणिधि' पर एक सम्पूर्ण अध्याय ही लिखा हुआ है।

धार्मिक महत्त्व—प्रस्तुत अभिलेख धार्मिक इतिहास, विशेषतः वैष्णव धर्म के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैष्णव धर्म के प्रसार के इतिहास में घौसूंडी, मथुरा तथा नानाघाट-अभिलेखों से ज्ञात तथ्यों का समर्थन और परिवर्द्धन करता है। भागवत सम्प्रदाय के अस्तित्व का प्राचीनतम प्रमाण पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में मिलता है जिसके सूत्र ४.३.९८ (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्) के अनुसार 'वासुदेवक' शब्द का अर्थ है 'वह जिसके उपास्यदेव वासुदेव हैं'। पतञ्जलि के अनुसार पाणिनि के इस सूत्र में वासुदेव 'पूर्जार्ह' अर्थात् ईश्वर का नाम है (संज्ञा चैषा तत्रभवतः)। लगभग ३०० ई० पू० में भारत की यात्रा करने वाले यूनानी राजदूत मेगास्थने ने बताया है कि सूरसेनोई (अर्थात् शूरसेन=मथुरा जनपद के लोग) 'हेराक्लिज़ (=वासुदेव-कृष्ण) को पूजते थे। वासुदेव-कृष्ण द्वारा प्रतिपादित धर्म भागवत धर्म कहलाया। लेकिन प्रारंभिक बौद्ध युग अथवा मौर्य काल में यह धर्म बहुत लोकप्रिय नहीं था। 'अंगुत्तर निकाय' में विभिन्न सम्प्रदायों की एक लम्बी सूची दी गई है परन्तु उसमें वासुदेवक अथवा भागवत सम्प्रदाय शामिल नहीं है। अशोक के अभिलेखों में ब्राह्मणों, श्रमणों, आजीवकों व निग्रन्थों का उल्लेख हुआ है, परन्तु वासुदेवक लोग अनुल्लिखित हैं। 'महानिद्देश' और 'चुल्लनिद्देश' (लगभग प्रथम शती ई० पू०) में अवश्य ही वासुदेव और बलदेव के उपासकों की चर्चा है। परन्तु वहाँ उनके साथ ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य और चन्द्र के ही नहीं वरन् हाथी, कौओं और कुक्कुर तक के उपासक भी गिना दिए गये हैं। स्पष्ट है कि मौर्यकाल तक भागवत सम्प्रदाय यद्यपि अस्तित्व में आ चुका था, परन्तु इसकी लोकप्रियता कुछ लोगों में और विशेषतः मथुरा गन्धार प्रदेश तक सीमित थी।

प्रस्तुत अभिलेख, घोसूण्डी-अभिलेख तथा सातवाहनों के नानाघाट व नासिक-अभिलेख भागवत सम्प्रदाय के पश्चिमी भारत और मध्य भारत एवं उत्तरी दक्षिणापथ में फैलने के प्रमाण हैं। बेसनगर-अभिलेख से सिद्ध होता है कि उस समय तक वैष्णव धर्म विदेशी यूनानियों में भी लोकप्रिय होने लगा था। दूसरे, इससे ज्ञात होता है कि वासुदेव के उपासक, जो भागवत अर्थात् 'भगवत्' के उपासक कहलाते थे, उसे सर्वोच्च देवता (देवदेव) मानते थे। यहाँ यह विचारणीय है कि इस लेख में संकर्षण का उल्लेख, जिनका नाम घोसूण्डी-लेख में वासुदेव के साथ आया है, नहीं मिलता। हेलिओदोर अपने को भागवत कहता है। उसने सम्भवतः 'महाभारत' व 'गीता' का अध्ययन किया था। उसके लेख के दूसरे खण्ड में दम, त्याग तथा संयम को स्वर्ग ले जाने वाले तीन अमृतपद कहा गया है। इन तीनों का उल्लेख इसी रूप में 'महाभारत' में भी मिलता है। (दे०, पीछे, टि० ५)। 'गीता' के सोलहवें अध्याय में भी कृष्ण ने दम और त्याग आदि को दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरुषों के लक्षणों में गिनाया है (गीता, १६.१-२)। ('धंमपद' में भी अप्रमाद को एक 'अमृतपद' कहा गया है (अप्पमादो अमृतपद, २.१)।

भाषात्मक महत्त्व—बेसनगर-अभिलेख की भाषा पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ, इसमें भागभद्र के लिए प्रयुक्त 'त्रातार' उपाधि स्पष्टत: यूनानी sotres का प्राकृत रूप है। इसी प्रकार देवदेवस वासुदेव (देवताओं के देवता वासुदेव) यद्यपि विशुद्ध प्राकृत के शब्द है, परन्तु इन पर यूनानी उपाधि 'बेसिलियोस बेसिलियोन' (Basileos Basileon) तथा इसके खरोष्ठी लेखों में प्राप्त रूप 'महरजस रजातिरजस' आदि की छाया स्पष्टत: देखी जा सकती है। इसमें अंतलिकित के लिए प्रयुक्त 'महाराज' उपाधि भी यवन प्रभाव की सूचक है। ध्यातव्य है कि भारतीय नरेश इस समय तक केवल 'राजन्' उपाधि से सन्तुष्ट रहते आए थे। 'महाराज' और 'राजातिराज' (बाद में 'महाराजाधिराज') उपाधियां विदेशी यवनों और शकों ने चलाई थीं। स्वयं इस लेख में यवन राजा अंतलिकित के लिए 'महाराज' उपाधि प्रयुक्त है और भारतीय राजा भागभद्र के लिए 'राजा'। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि इस लेख की रचना में किसी यूनानी का, सम्भवत: स्वयं हेलिओदोर का हाथ रहा होगा।

भरहुत बौद्ध-स्तम्भ-लेख

लेख-परिचय—यह लेख भरहुत स्थान से (जिसको भारहुत, बरहुत और भड़ौत नामों से भी पुकारा जाता है) प्राप्त हुआ है जो मध्य प्रदेश के भूतपूर्व नागौद राज्य में स्थित एक सुपरिचित बौद्ध स्थल है। यहां से शुंगकालीन स्तूप के अवशेष मिले हैं। प्रस्तुत लेख इस स्तूप के पूर्वी तोरण-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि प्रथम शती ई० पू० की ब्राह्मी। कुछ विद्वान् इसकी लिपि को द्वितीय शती ई० पू० की मानते हैं। इसकी लिपि की एक विशेषता 'व' के निचले भाग का त्रिकोणाकार होना है। यह लेख उस समय से ज्ञात है जब से भरहुत स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—कनिंघम, स्तूप ऑव भरहुत, पृ० १२८ अ०; मित्र, आर० एल०, प्रो. ए. एस. आर., १८८०, पृ० ५८ अ०, हूल्तज़, आई० ए०,१४, पृ० १३८ अ०; पृ० २२७; बरुआ और सिन्हा, बरहुत इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० १ अ०; लूडर्स, सूची, सं० ६८७; सरकार, स० इ०, पृ० ८७-८१; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ४३।

मूलपाठ

१. **सुगनं रजे रञो गागीपुतस विसदेवस**
२. **पौतेण गोतिपुतस आगरजुस पूतेण**
३. **वाछिपुतेन धनभूतिन कारितं तोरनां**
४. **सिला कं मं तो च उपंण [॥]**

पाठ-टिप्पणी—कनिंघम ने 'रजे' को 'राञो' पढ़ा है, 'आगरजसु' को 'अगरजसु,' 'तोरनां' को 'तारनं' तथा 'सिलाकंमंतो' का 'सिलकम्मत'। हूल्त्ज़ ने 'तोरनां' को 'तोरणं' पढ़ा है तथा 'उपंण' को 'उपनी'।

शब्दार्थ

सुगनं=शुंगों के ; **रजे**=राज्य में ; **पूतेण**=पुत्रेण, पुत्र द्वारा ; **सिला कंमंतो**=शिला कर्मान्तः, प्रस्तर कार्य, प्रस्तर निर्मित प्राकार आदि ; **उपंण**=उत्पन्नः, निर्मित ।

अनुवाद

शुंगों के राज्य में गार्गीपुत्र राजा विसदेव (=विश्वदेव) के पौत्र गौप्तिपुत्र आगरजु (=अङ्गारद्युत) के पुत्र वात्स्यीपुत्र धनभूति द्वारा तोरण बनवाया गया। और (उसके द्वारा) प्रस्तर कार्य कराया गया ।

व्याख्या

(१) कनिंघम व रा० ला० मित्र ने 'सुगन' का संस्कृत रूप 'श्रुघ्न' किया था जबकि ब्यूलर, हूल्त्ज़ तथा लूडर्स ने इसका सही रूप 'शुंग' बताया है। कनिंघम ने 'गोतिपुतस' का संस्कृत रूपान्तर 'कौत्सीपुत्रस्य' किया था। इसके स्थान पर हूल्त्ज एवं लूडर्स ने 'गौप्तिपुत्रस्य' सुझाया है। 'आगरजु' का 'अंगारद्युत' रूपान्तर ब्यूलर, हूल्त्ज़ व लूडर्स ने माना है। कनिंघम व मित्र ने इसे 'अग्रराजस्य' अर्थ में लिया था। 'सिलाकंमंतो' को 'सिलकम्मत' पढ़ कर कनिंघम ने इसे 'शीलकर्म' अर्थ में लिया था। अन्य विद्वान् इसे 'प्रस्तरकर्म' अर्थ में लेते हैं। 'उपंण' का अर्थ मित्र ने आधार-चौकी किया है।

(२) विश्वदेव परवर्ती शुंगों के अधीन रहा प्रतीत होता है। शुंगों का विदिशा पर अधिकार 'मालविकाग्निमित्र' से प्रमाणित है।

लेख का महत्त्व

इस लेख का महत्व इसमें शुंगों का उल्लेख मिलने के कारण है। इससे प्रमाणित होता है कि द्वितीय अथवा प्रथम शती ई० पू० में, जब यह लेख लिखा गया, विदिशा प्रदेश शुंगों के अधिकार में था। दूसरे, इस लेख से भरहुत स्तूप की तिथि पर प्रकाश मिलता है।

धन (देव) का अयोध्या पाषाण-लेख

प्राप्ति स्थल और लेख परिचय—यह अभिलेख एक समतल पाषाण-शिला पर उत्कीर्ण है जो उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में अयोध्या से फैजाबाद जाने वाली सड़क पर अयोध्या से लगभग एक मील दूर स्थित राणोपली नामक भवन में बनी बाबा संगत बख्श की समाधि के पूर्वी द्वार से प्राप्त हुआ था। इस लेख में, जो गद्य में है, केवल दो पंक्तियाँ हैं। इसका उद्देश्य धन (देव ?) नामक नरेश द्वारा अपने पिता के सम्मान में एक केतन निर्मित कराए जाने का उल्लेख करना है।

भाषा, लिपि और तिथि—इस लेख की भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। इसमें कोई तिथि नहीं दी गई है। साधूराम व जगन्नाथ जैसे विद्वानों ने इसका समय प्रथम शती ई० पू० का पूर्वार्द्ध माना है, कुछ अन्य विद्वानों ने इसके भी पूर्व, जबकि सरकार (स० इ०, पृ० ९४) ने इसे प्रथम शती ई० में लिखा गया बताया है। अब, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि इस लेख के अक्षर शक क्षत्रपों के लेखों से बहुत सादृश्य रखते हैं और मौर्य ब्राह्मी के अक्षरों से बहुत विकसित हैं। यथा, इसमें 'ल' को छोड़ कर अन्य व्यजंनों में खड़ी रेखाएँ बराबर और छोटी हो गई हैं। दूसरे, इनमें खड़ी रेखाओं का उपरला भाग कुछ स्थूल हो गया है और 'शेरिफ' (=शीर्ष चिन्हों) का प्रयोग मिलता है। तीसरे, बहुत से अक्षर जैसे 'ज', 'द', 'प', 'म', 'ल', 'फ', 'ष', तथा 'स', अशोकीय ब्राह्मी में गोलाकार मिलते हैं और इस लेख में कोणाकार। इसलिए इस लेख को ईसा के जन्म के बहुत पहिले नहीं रखा जा सकता। परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इसको लिखवाने वाला धनदेव पुष्यमित्र की छठीं पीढ़ी में था अर्थात् पुष्यमित्र और उसके बीच में चार पीढ़ियाँ गुजर चुकी थीं। इसलिए एक पीढ़ी का औसत पच्चीस वर्ष मानने पर धनदेव के शासन का अन्त पुष्यमित्र की मृत्यु के सवा सौ वर्ष उपरान्त अर्थात् लगभग २५ ई० पू० में रखना होगा। इसलिए हमारे विचार से इस लेख को 'प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध' का मानना अनुचित नहीं होना चाहिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—रत्नाकर, जे० डी०, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ५, खण्ड १, पृ० ९९–१०४ ; ओझा, गो० ही०, वही, पृ० २०१ अ० ; जायसवाल, के० पी०, जे० बी० ओ० आर० एस०, १०, पृ० २०२–८ ; १३, पृ० २४७-९ ; साहनी दयाराम, इ० आई०, २०, पृ० ५४ अ० ; साधुराम, जे० जी० एन० जे० के० बी० (=जे० जी० एन० जी० आर० आई०) २२, खण्ड १-२, पृ० ९४ अ० ; २७, पृ० ९४ अ० ; मजूमदार, एन० जी०, ए० बी० ७, खण्ड १-२, पृ० १६०-३ ; बनर्जी

शास्त्री, ए०, मोडर्न रिव्यु, १९२५ (जनवरी), पृ० ५९ ; भट्टसाली, वही, फरवरी १९२५, पृ० २०२ ; सरकार, स० इ०, पृ० ९४-५ ; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ४४-५। दे०, को० हि० हि० (पृ० १०५, १३३) ए० इ० यू० एवं पो० हि० ए० इ० के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः
   पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन……
२. धर्मराज्ञा पितुः फलगुदेवस्य केतनं कारितं (तम्) (।।❀)

पाठ-टिप्पणी—'धर्मराज्ञा' को 'धर्मराजेन' पढ़ें।

अनुवाद

द्विरश्वमेधयाजी सेनापति पुष्यमित्र से छठीं पीढ़ी में उत्पन्न, कौशिकी पुत्र, कोसलाधिपति धर्मराज धन (देव) द्वारा अपने पिता फल्गुदेव के केतन का निर्माण कराया गया।

व्याख्या

(१) **द्विरश्वमेधयाजिनः**—सेनापति पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया था, इस तथ्य का उल्लेख पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में हुआ लगता है। पाणिनि ३२.१२३ पर भाष्य करते समय पतञ्जलि ने ऐसे कार्य का उदाहरण, जो प्रारम्भ तो हो गया है परन्तु समाप्त नहीं हुआ है, 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' वाक्य से दिया है। 'मालविकाग्निमित्रम्' अंक ५ में पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध किए जाने का स्पष्ट उल्लेख है (सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रः)। 'हरिवंश' में एक सेनानी द्वारा कलियुग में अश्वमेध के पुनः आरम्भ किये जाने का वर्णन हुआ है।

(२) **सेनापतेः**—पुष्यमित्र के लिए 'सेनापति' उपाधि का प्रयोग 'मालविकाग्निमित्रम्' में भी हुआ है। अनुमानतः वह बृहद्रथ मौर्य के काल में सेनापति पद पर नियुक्त था। मगधाधिप बन जाने के उपरांत भी वह इस उपाधि को धारण करता रहा होगा। तु०, मैत्रक वंश के संस्थापक भटार्क के लिए 'सेनापति' उपाधि का प्रयोग।

(३) **पुष्यमित्रस्य**—इस लेख से प्रमाणित होता है कि 'शुंग' वंश के संस्थापक का नाम 'पुष्यमित्र' था, कुछ पुराणों में प्रदत्त पुष्पमित्र नहीं।

(४) **पुष्यमित्रस्य षष्ठेन**—इस पद का अर्थ विवादग्रस्त है। जब किसी राजा को उसके किसी पूर्वज की पाँचवीं, छठी या किसी अन्य पीढ़ी में बताया जाता है तो संस्कृत में वहाँ अपादानकारक का प्रयोग होना चाहिए। स्मृतियों में इसी प्रकार का प्रयोग मिलता है। तदनुसार यहाँ लेख का पाठ 'पुष्यमित्रात्' होना चाहिए था। परन्तु यहाँ लेख के रचयिता ने सम्बन्धकारक का प्रयोग किया है। इसलिए यहाँ इस पद का शाब्दिक अर्थ होगा 'पुष्यमित्र का छठा—भाई या पुत्र'। ए० बनर्जी शास्त्री, रत्नाकर तथा जायसवाल प्रभृति विद्वानों ने इसका यही अर्थ माना है। लेकिन धनदेव पुष्यमित्र का छठा पुत्र नहीं हो सकता क्योंकि धनदेव के पिता का नाम स्वयं इस लेख में ही फल्गुदेव दिया गया है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जायसवाल ने एक समय धनदेव को पुष्यमित्र का छठा भाई माना और फल्गुदेव को उन दोनों का पिता। लेकिन बाद में उन्होंने धनदेव को पुष्यमित्र का छठा पुत्र बताया और फल्गुदेव व पुष्यमित्र में भेद करने के लिए 'धर्मराज्ञा' का सही पाठ 'धर्मराज्ञः' मानकर (जो 'धर्मराज्ञी' का सम्बन्ध कारक एकवचन में रूप होगा) इस वाक्यांश का अर्थ इस प्रकार किया : 'पुष्यमित्र के छठे पुत्र धनदेव ने अपनी

धर्मराज्ञी के पिता फल्गुदेव का····। इसके विपरीत श्री रत्नाकर ने, जो धनदेव को पुष्यमित्र का पुत्र मानते हैं, पुष्यमित्र और फल्गुदेव की भिन्नता बनाए रखने के लिए सुझाव रखा है कि 'पितुः' और 'फल्गुदेवस्य' के बीच में 'पूज्यस्य' जैसा कोई शब्द छूट गया है। इस आधार पर उन्होंने इसका अर्थ किया है : 'धनदेव ने अपने पिता के (पूज्य = गुरु अथवा उपास्य देव) का —'। हमारे विचार से सबसे सही सुझाव ओझा एवं सरकार आदि विद्वानों का है जो धनदेव को पुष्यमित्र की छठीं पीढ़ी मे रखते हैं। उनका कहना है कि यहां 'पुष्यमित्रात्' के बजाय 'पुष्यमित्रस्य' पाठ लेख की भाषा पर प्राकृत प्रभाव के कारण है। लेख की लिपि को देखते हुए भी धनदेव को पुष्यमित्र से एक या डेढ़ शती उपरान्त रखना ही समीचीन होगा।

(५) **धन**—इस राजा के नाम का उत्तरार्द्ध मिट गया है। यह नाम धनदेव, धनद, धनक, धननन्दि, धनभूति, धनमित्र, धनदास, धनदत्त, कुछ भी रहा हो सकता है। लेकिन उसके पिता का नाम चूँकि फल्गुदेव था, इसलिए उसका अपना धनदेव रहा हो यह अधिक सम्भव है। राजघाट बनारस, से धनदेव नाम वाली बहुत सी मुहरें मिली हैं (को० हि० इ०, २, पृ० १०५, टि० १)।

(६) **केतनं**—केतन का अर्थ 'भवन' या 'ध्वज' होता है। यहाँ आशय किसी ऐसे भवन से है जिसमें फल्गुदेव की मूर्ति स्थापित की गई होगी अथवा उस ध्वजस्तम्भ से जो फल्गुदेव की समाधि पर स्थापित किया गया होगा।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख अत्यन्त संक्षिप्त है परन्तु परवर्ती शुंगकालीन लिपि का उदाहरण प्रस्तुत करने एवं भारत के प्राचीनतम संस्कृत अभिलेखों में एक होने के कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्त्व है। एक, यह एक मात्र अभिलेख है जो पुष्यमित्र, उसकी 'सेनापति' उपाधि एवं उसके द्वारा दो अश्वमेधों के सम्पादन का उल्लेख करता है। दूसरे, यह परवर्ती शुंगकालीन अयोध्या के इतिहास को ठोस आधार प्रदान करता है। अयोध्या के शुंगकालीन राजाओं में मूलदेव, वासुदेव, विशाखदेव, धनदेव, पाथदेव, शिवदत्त तथा नरदत्त आदि राजाओं के नाम सिक्कों से ज्ञात हैं। इस सूची में एक नाम हथदेव (हस्तिदेव ?) का भी जोड़ा जा सकता है जिसका एक सिक्का गोरखपुर-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में खुदाई किए जाने के समय गोरखपुर के समीपस्थ सौहगोरा ग्राम से मिला था। परन्तु मात्र इन सिक्कों से न तो इन सब राजाओं का कोसल पर शासन करना प्रमाणित होता है और न ही इनका पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होता है। यह लेख इनमें कम से कम धनदेव को कोशलाधीश सिद्ध करता है और उसके पिता फल्गुदेव का उल्लेख करता है। वह सम्भवतः उस मित्रदेव या मूलदेव का वंशज था जिसके विषय में 'हर्षचरित' का कथन है कि उसने नृत्य और गायन में रुचि रखने वाले सुमित्र

(=वसुमित्र, पुष्यमित्र का पौत्र ?) की हत्या कर डाली थी। इस मूलदेव की पहिचान अयोध्या से प्राप्त सिक्कों के मूलदेव से अनायास की जा सकती है। उसने वसुमित्र की हत्या के उपरान्त कोसल में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली होगी। परन्तु उस अवस्था में उसके वंशज धनदेव का पुष्यमित्र से सम्बन्ध कुछ विवादग्रस्त हो जाता है। ऐसा लगता है कि धनदेव अपने मातृपक्ष की तरफ से पुष्यमित्र से छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। जो भी हो, इस लेख से प्रमाणित होता है कि अपने को पुष्यमित्र का वंशज बताने वाले राजा प्रथम शती ई० पू० में कोसल पर शासन कर रहे थे।

ऊदाक के पभोसा गुहा-लेख
(प्रथम तथा द्वितीय : वर्ष १०)

लेख-परिचय—ये अभिलेख उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में कोसम के निकट पभोसा नाम की गुहा से मिले थे। ये ऊदाक नामक राजा के काल के हैं और इनका उद्देश्य आषाढसेन नामक एक अन्य राजा द्वारा एक गुहा बनवाने का उल्लेख करना है। लेखों की भाषा संस्कृत से प्रभावित प्राकृत है और लिपि प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों की लगती है। प्रथम लेख, जो गुफा के बाहर उत्कीर्ण हैं, आठ लघु पंक्तियों का है और दूसरे में, जो गुहा के अन्दर लिखा है, केवल तीन पंक्तियाँ हैं। इनको सर्वप्रथम हॉर्नले ने 'जर्नल एण्ड प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल' के १८८७ ई० के अंक में छापा था। इसके बाद इन्हें फ्युरर ने 'एपि० इण्डिका' के दूसरे अङ्क में सम्पादित किया।

तिथि—इन लेखों में कोई तिथि नहीं दी गई है, इसलिए इनके समय का निर्धारण इनकी लिपि व आन्तरिक साक्ष्य की सहायता से ही हो सकता है। फ्युरर ने इनका समय दूसरी अथवा प्रथम शती ई० पू० बताया है तथा ब्यूलर ने लग० १५० ई० पू०। जायसवाल तथा रेप्सन ने भी इन्हें द्वितीय शती० ई० पू० के उत्तरार्द्ध का माना है। परन्तु अब यह सामान्यतः स्वीकृत किया जाता है कि इन लेखों की लिपि इतनी पुरानी नहीं हो सकती। इनमें मथुरा के शक क्षत्रपों के (प्रथम शती ई० का प्रारम्भ) अभिलेखों की बहुत सी विशेषताएँ—यथा अक्षरों का तिकोना होना और 'शेरिफ' का प्रयोग मिलती हैं। इसलिए सरकार ने (स० इ०, पृ० ९६, टि० १) इन्हें प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों में लिखा गया माना है। उनका मत अब सामान्यतः माना जाता है (दे०, जगन्नाथ, को० हि० इ०, २, पृ० १०६)।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—हॉर्नले, जे० पी० ए० एस० बी०, १८८७, पृ० १०४ ; फ्युरर, ए०, ई० आई; २, पृ० २४२ अ०, लूडर्स, सूची, स० ९०४–५; सरकार, स० इ०, पृ० ९५–७। कै० हि० इ०, भाग १, ए० इ० यू० तथा को० हि० इ०, २, के सम्बद्ध अंश भी देखें।

प्रथम लेख

मूलपाठ

१. राञो गोपाली-पुत्रस
२. बहसतिमित्रस
३. मातुलेन गोपालिया
४. वैह [ि] दरी पुत्रेन [आसा]
५. आसाढसेनेन लेनं
६. कारितं ऊदाक [स] दस –
७. म सवछरे····हि····त्र अरहं
८. [त] ा·················(। ।)

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१. अधिछत्राया राजो शोनकायन पूत्रस्य वंगपालस्य
२. पुत्रस्य राज [ो] तेवणी पुत्रस्य भ्रागवतस्य पुत्रेण
३. वैहिदरी-पुत्रेण अ [ा] षाढसेनेन कारितं (।।)

पाठ-टिप्पणी—प्रथम लेख में चौथी पंक्ति के अंत के 'आसा' अक्षर अनावश्यक होने के कारण मिटा दिये गए थे। फ्युरर ने 'ऊदाकस' को 'उदाकस' पढ़ा है। इसका 'स' अक्षर अंशतः पठ्य है। सातवीं पंक्ति में फ्युरर ने 'संवछरे' के बाद 'कश्शपीयानं' पाठ माना था। परन्तु सरकार ने इसके स्थान पर, १० अहिच्छ' पाठ सुझाया है और इसके 'हि' तथा 'त्र' अक्षर पढ़े हैं। दूसरे लेख में 'शोनकायन' को सुधार कर शोनकायनी पढ़ें तया 'भ्रागवत' को 'भागवत'।

शब्दार्थ

मातुल=मामा, **लेनं**=गुहा, **सवछरे**=संवत्सरे, वर्ष में।

अनुवाद (प्रथम लेख)

राजा गोपालीपुत्र बृहस्पतिमित्र (अथवा बृहत्स्वाति मित्र) के मामा गोपालिका वैहिदरी आषाढसेन द्वारा ऊदाक के दसवें वर्ष (अहिच्छत्रा के अर्हतों के लिए ?) गुफा बनवाई गई।

अनुवाद (द्वितीय लेख)

अहिच्छत्रा के राजा शौनकायनीपुत्र वंगपाल के पुत्र राजा त्रैवर्णीपुत्र भागवत के पुत्र वैहिदरी पुत्र आषाढसेन द्वारा (गुफा) बनवाई गई।

व्याख्या

(१) **अधिछत्रा**—आधुनिक रामनगर (जिला बरेली, उत्तर प्रदेश) उत्तरी पन्चाल की राजधानी। इसके नाम का शुद्ध संस्कृत रूप अधिच्छत्रा और प्राकृत रूप अधिछत्रा, अहिच्छत्रा, अहिछत्रा, छत्रावती आदि हैं।

(२) **शोनकायन**—रेप्सन ने इसे वंगपाल के पितृपक्ष का नाम माना था। उनके विचार से वंगपाल शौनक का वंशज था। सरकार ने इस शब्द का पाठ 'शोन-कायनी' माना है और इसे वंगपाल की माता का नाम बताया है। यही मत सही है।

(३) **ऊदाक**—रेप्सन, जायसवाल व के० एन० शास्त्री ने ऊदाक की पहचान शुंग नरेश ओद्रक से की थी, परन्तु बरुआ (आई० एच० क्यू०, १९३०, पृ० २३) के अनुसार यहाँ ऊदाक नामक राजा का उल्लेख है ही नहीं। वह इसे स्थानवाचक नाम मानते हैं। हमारे विचार से ऊदाक बहसतिमित्र का कोई सम्बन्धी था। उसने बहसतिमित्र के बाद, जिसके मामा आषाढसेन ने उसके शासन काल में गुफा बनवाई, कौशाम्बी पर राज्य किया होगा। स्मरणीय है कि अगर ऊदाक शुंग सम्राट् होता तो उसके अधीन शासन करने वाला नरेश बहसतिमित्र स्वतन्त्र नरेश के समान सिक्के जारी न कर पाता।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख प्रथम शती ई० पू० के अन्त और प्रथम शती ई० के प्रारम्भ में शासन करने वाले उत्तर भारतीय राजवंशों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश देते हैं। एक, इनमें अहिच्छत्रा राजवंश की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है। इस राजवंश का अस्तित्व रामनगर, अनोला, बदाऊँ तथा बस्ती आदि स्थलों से उपलब्ध सिक्कों से भी ज्ञात है जिनसे भद्रघोष, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, जयमित्र, फाल्गुनिमित्र, विश्वपाल, रुद्रगुप्त, जयगुप्त, वंगपाल, दमगुप्त, वसुसेन, यज्ञपाल, वरुणमित्र आदि अनेक राजाओं का पता चलता है। (ए० इ० यू०, पृ० १७२)। इन्होंने प्रथम शती

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१. अधिछत्राया राञो शोनकायन पूत्रस्य वंगपालस्य
२. पुत्रस्य राञ [ो] तेवणी पुत्रस्य भ्रागवतस्य पुत्रेण
३. वैहिदरी-पुत्रेण अ [ा] षाढसेनेन कारितं (।।)

पाठ-टिप्पणी—प्रथम लेख में चौथी पंक्ति के अंत के 'आसा' अक्षर अनावश्यक होने के कारण मिटा दिये गए थे। फ्युरर ने 'ऊदाकस' को 'उदाकस' पढ़ा है। इसका 'स' अक्षर अंशतः पठ्य है। सातवीं पंक्ति में फ्युरर ने 'सवछरे' के बाद 'कश्शपीयानं' पाठ माना था। परन्तु सरकार ने इसके स्थान पर, १० अहिच्छ' पाठ सुझाया है और इसके 'हि' तथा 'त्र' अक्षर पढ़े हैं। दूसरे लेख में 'शोनकायन' को सुधार कर शोन-कायनी पढ़ें तया 'भ्रागवत' को 'भागवत'।

शब्दार्थ

मातुल=मामा, **लेनं**=गुहा, **सवछरे**=संवत्सरे, वर्ष में।

अनुवाद (प्रथम लेख)

राजा गोपालीपुत्र बृहस्पतिमित्र (अथवा बृहत्स्वाति मित्र) के मामा गोपालिका वैहिदरी आषाढसेन द्वारा ऊदाक के दसवें वर्ष (अहिच्छत्रा के अर्हंतों के लिए ?) गुफा बनवाई गई।

अनुवाद (द्वितीय लेख)

अहिच्छत्रा के राजा शौनकायनीपुत्र वंगपाल के पुत्र राजा त्रैवर्णीपुत्र भागवत के पुत्र वैहिदरी पुत्र आषाढसेन द्वारा (गुफा) बनवाई गई।

व्याख्या

(१) **अधिछत्रा**—आधुनिक रामनगर (जिला बरेली, उत्तर प्रदेश) उत्तरी पञ्चाल की राजधानी। इसके नाम का शुद्ध संस्कृत रूप अधिच्छत्रा और प्राकृत रूप अधिछत्रा, अहिच्छत्रा, अहिछत्रा, छत्रावती आदि हैं।

(२) **शोनकायन**—रेप्सन ने इसे वंगपाल के पितृपक्ष का नाम माना था। उनके विचार से वंगपाल शौनक का वंशज था। सरकार ने इस शब्द का पाठ 'शोनकायनी' माना है और इसे वंगपाल की माता का नाम बताया है। यही मत सही है।

(३) **ऊदाक**—रेप्सन, जायसवाल व के० एन० शास्त्री ने ऊदाक की पहचान शुंग नरेश ओद्रक से की थी, परन्तु बरुआ (आई० एच० क्यू०, १९३०, पृ० २३) के अनुसार यहाँ ऊदाक नामक राजा का उल्लेख है ही नहीं। वह इसे स्थानवाचक नाम मानते हैं। हमारे विचार से ऊदाक बहसतिमित्र का कोई सम्बन्धी था। उसने बहसतिमित्र के बाद, जिसके मामा आषाढसेन ने उसके शासन काल में गुफा बनवाई, कौशाम्बी पर राज्य किया होगा। स्मरणीय है कि अगर ऊदाक शुंग सम्राट् होता तो उसके अधीन शासन करने वाला नरेश बहसतिमित्र स्वतन्त्र नरेश के समान सिक्के जारी न कर पाता।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख प्रथम शती ई० पू० के अन्त और प्रथम शती ई० के प्रारम्भ में शासन करने वाले उत्तर भारतीय राजवंशों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश देते हैं। एक, इनमें अहिच्छत्रा राजवंश की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है। इस राजवंश का अस्तित्व रामनगर, अनोला, बदाऊँ तथा बस्ती आदि स्थलों से उपलब्ध सिक्कों से भी ज्ञात है जिनसे भद्रघोष, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, जयमित्र, फाल्गुनिमित्र, विश्वपाल, रुद्रगुप्त, जयगुप्त, वंगपाल, दमगुप्त, वसुसेन, यज्ञपाल, वरुणमित्र आदि अनेक राजाओं का पता चलता है। (ए० इ० यू०, पृ० १७२)। इन्होंने प्रथम शती

ई० पू० व प्रथम शती ई० में शासन किया होगा। प्रस्तुत लेख इस राज्य के तीन पीढ़ियों के तीन राजाओं—शौनकायनी पुत्र वंगपाल, उसके पुत्र त्रैवर्णीपुत्र भागवत एवं भागवत के पुत्र वैहिदरीपुत्र आषाढसेन, का जिसने लेख में उल्लिखित गुफा बनवाई, उल्लेख करता है जिनमें वंगपाल सिक्कों से भी ज्ञात है। इनके अतिरिक्त प्रथम लेख में ऊदाक नामक राजा का भी उल्लेख है। जायसवाल व रेप्सन ने उसकी पहिचान शुंग-नरेश ओद्रक (द्वितीय शती ई० पू० का उत्तरार्द्ध) से की है जिसका नाम, पुराणों में आन्ध्रक, पुलिन्दक व घोष रूपों में भी मिलता है। परन्तु इस लेख को इतना पुराना नहीं माना जा सकता।

इस लेख में उल्लिखित एक अन्य नरेश बहसतिमित्र है। वह कौशाम्बी प्रदेश का, जहाँ पभोसा की गुफा में यह लेख लिखवाया गया, राजा था। प्रथम शती ई० पू० के कौशाम्बी नरेशों में, जिनके नाम मुद्राओं से ज्ञात हैं, बहसतिमित्र नाम का राजा भी है। जगन्नाथ व के० एन० शास्त्री ने 'बहसतिमितस' लेख वाले सिक्कों को लिपि के आधार पर इस नाम के दो राजाओं के सिक्के बताया है (को० हि० इ० पृ० १०७, १३३)। परन्तु अन्य अधिकांश विद्वान् यह मत नहीं मानते। जो भी हो, इस बहसतिमित्र (=बृहत्स्वातिमित्र) की माता गोपाली अहिच्छत्रा-नरेश भागवत की पुत्री, वंगपाल की पौत्री एवं आषाढसेन की बहिन थी। इस प्रकार कोशाम्वी व अहिच्छत्रा राजवंश विवाह-सम्बन्ध द्वारा जुड़े थे।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इसी युग (प्रथम शती ई० पू० का अन्त) में कलिंगराज खारवेल मगध-नरेश बहसतिमित्र को हराने का दावा करता है। इस बहसतिमित की पहिचान कौशाम्बी-नरेश बहसतिमित्र से अनायास की जा सकती है।

ब्रहसतिमित्र का उल्लेख मथुरा के समीप उपलब्ध मोरा नामक इष्टिका-लेख में भी मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि उसकी पुत्री यशोमती का विवाह सम्भवतः मथुरा-नरेश से हुआ था। इस प्रकार मथुरा राजवंश प्रत्यक्षतः कौशाम्बी राजवंश से तथा परोक्षतः अहिच्छत्रा राजवंश से सम्बन्धित था। इस स्थिति को हम इस प्रकार तालिकाबद्ध कर सकते हैं :
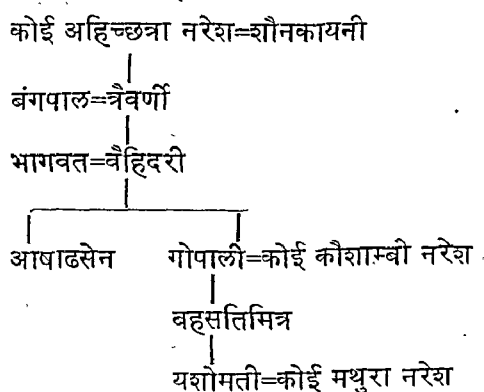
सर्वतात का घोसूण्डी (हाथीबाड़ा) शिलालेख

प्राप्ति स्थल—यह अभिलेख राजस्थान में चित्तौड़ के समीप स्थित आधुनिक नगरी नामक गाँव (=प्राचीन मध्यमिका) से मिला था। इस गाँव से पूर्व की तरफ आधे मील की दूरी पर हाथीवाड़ा नामक स्थान है। यह २९६ फुट १० इन्च लम्बा और १५१ फुट चौड़ा बाड़ा है जिसकी दीवारें पत्थर की हैं। दीवार के ऊपर पत्थर की ही मुण्डेर थी। कुल मिलाकर यह दीवार साढ़े नौ फुट ऊँची रही होगी। इस दीवार के बाहर एक ही लेख तीन पत्थरों पर खोदा गया था। ये तीनों प्रतियाँ आजकल खण्डशः उपलब्ध हैं। इनमें एक पत्थर तो हाथी वाड़े की दीवार में ही लगा है। इसे एन० पी० चक्रवर्ती ने १९३४-३५ में खोज निकाला था। दूसरा नगरी गाँव से छः मील दूर घोसूण्डी गाँव में लगा दिया था। कविराज श्यामलदास ने इसे ढूँढ कर निकाला था। लेख की तीसरी प्रति जिस शिला पर थी उसे हाथीवाड़े की दीवार से निकाल कर घोसूण्डी गाँव की सीमा पर लगा दिया गया था। इसके तीन टुकड़े हो गए थे जो भाण्डारकर को १९१५-१६ में मिले थे। इन तीनों में घोसूण्डी वाली प्रति सर्वाधिक सुरक्षित है।

उद्देश्य—इस लेख का उद्देश्य सर्वतात नामक राजा द्वारा नारायणवाटक बनवाए जाने का उल्लेख करना है जो हाथीबाड़े से अभिन्न प्रतीत होता है। इसकी दीवार पर एक पत्थर पर सातवीं शती के अक्षरों में 'श्री विष्णु पादाभ्याम्' लिखा भी है। (ई० आई०, २२, पृ० १९९)। जब अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी तब इसी बाड़े में उसके हाथी बाँधे गए थे। तभी से इसका नाम हाथीबाड़ा पड़ गया।

भाषा और लिपि—इस लेख की भाषा संस्कृत है और लिपि प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। भाण्डारकर के अनुसार हाथीबाड़ा लेख के अक्षर हेलिओदोर के बेसनगर-लेख से कुछ बाद के परन्तु पाभोसा-लेख से कुछ पहिले के लगते हैं।

अध्ययन इतिहास—इस लेख के घोसूण्डी ग्राम से मिले लेख को सर्व प्रथम श्यामलदास ने जे० बी० बी० आर० ए० एस० के ५६ वें अंक के प्रथम खण्ड में छापा तथा उसके बाद जायसवाल ने एपिग्राफिया इण्डिका १६ में तथा भाण्डारकर ने एम० ए० एस० आई० सं० ४ में। घोसूण्डी की सीमा से मिले तीन टुकड़ों को सर्वप्रथम गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने १९२६-२७ ई० में प्रकाशित किया। इसके बाद भाण्डारकर ने घोसूण्डी, हाथी-बाड़ा नगरी से प्राप्त तीनों प्रतियों पर उसी लेख को पहिचान कर पूरा लेख पढ़ा और ए० इ०, २२, में प्रकाशित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—कविराज श्यामल दास, जे० बी० बी० आर० ए० एस० ५६, खण्ड १, पृ० ७७, अ० ; जायसवाल, ई० आई०, १६, पृ० २७ ; लूडर्स,

सूची, स० ६ ; ओझा, ए० एस० आई० ए० आर०, १९२६-२७, पृ० २०५ ; बनर्जी जे० एन०, जे० आई० एस० ओ० ए०, १३, १९४५, पृ० ५५; भाण्डारकर, ई० आई०, २२, पृ० १९८ अ० ; सरकार, स० इ०, पृ० ९०-१ ; अग्रवाल, वी० एस०, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६२, पृ० ११६ अ० ; शोधपत्रिका, उदयपुर, ४,खण्ड ३, पृ० ३६-४२ ; जे० यू० पी० एच० एस०, ६, अंक २, पृ० १०९-१० ; अग्रवाल, आर० सी०, शोध पत्रिका, १९५४, पृ० १-१० ।

मूलपाठ

१. [कारितो अयं राज्ञा भागव] तेन गाजायनेन पाराशरी पुत्रेण स –
२. [र्वतातेन अश्वमेधया] जिना भगव (द्) भ्यां संकर्षण वासुदेवाभ्यां
३. [अनिहताभ्यां सर्वेश्वरा] भ्यां पूजाशिलाप्राकारो नारायणवाटका (। ।)

पाठ-टिप्पणी—'वाटका' को 'वाटकः' पढ़ें ।

अनुवाद

यह नारायणवाटक (नामक) पूजाशिला और प्राकार सर्वेश्वर, अनिहत भगवान् संकर्षण और वासुदेव के लिए पाराशरी के पुत्र गाजायन गोत्रोत्पन्न अश्व-मेधयाजी भागवत राजा सर्वतात द्वारा बनवाए गए।

व्याख्या

(१) **सर्वतात**—यह राजा अन्य साक्ष्य से अज्ञात है। भाण्डारकर का अनुमान था कि वह कण्ववंशीय रहा होगा क्योंकि गादायन (=गाजा यव) गोत्र 'मत्स्य पुराण' की गोत्रसूची में आंगिरस गोत्रगण के अन्तर्गत कण्व शाखा में मिलता है। लकिन सरकार के अनुसार वह सम्भवत: स्थानीय राजा था। सर्वतात नाम कण्व राजाओं की सूची में नहीं मिलता। हो सकता है उसका नाम सर्वत्रात रहा हो। भाण्डारकर सर्वतात को नाम न मानकर उपाधि मानते हैं।

(२) सर्वतात ने अश्वमेध किया था और वह भागवत धर्म में भी रुचि रखता था। यज्ञ धर्म का भागवत मत के साथ यह सम्बन्ध गुप्त वंश में भी मिलता है।

(३) **संकर्षणवासुदेवाभ्यां**—कृष्ण-बलराम। पाणिनि के 'देवता द्वन्द्वेच' सूत्र (३।३।२६) के अनुसार उन देवताओं का नाम एक साथ जोड़ा जा सकता था जिनका साहचर्य लोक प्रसिद्ध था। जैसे वैदिक काल में अग्निसोम, द्यावापृथिवी, सोमारुद्र आदि के जोड़े थे, वैसे ही पौराणिक देवताओं में 'संकर्षण-वासुदेव', 'स्कन्द-विशाख' आदि जोड़े बने।

(४) **अनिहत**—अपराजित। वा० श० अग्रवाल के अनुसार यहां 'अनिहत' शब्द 'अथर्ववेद' में आए 'अपराजित' और 'महाभारत' में प्रयुक्त 'अवध्य' शब्दों का भावानुवाद है। 'अथर्ववेद' के दशम काण्ड में 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी का वर्णन आया है। उसके अधिष्ठाता ब्रह्म माने गये हैं और उसमें अमृत का अधिष्ठान बताया गया है। क्योंकि प्राचीन काल में ब्रह्म की कल्पना यज्ञ के रूप में भी की जाती थी इसलिए प्राचीन मूर्तियों में यज्ञ को अमृतघट लिए दिखाया जाता था। 'महाभारत' में इस पुरी को ही अवध्य ब्रह्मपुर कहा गया है। प्रस्तुत लेख का 'अनिहत' शब्द 'अपराजित' और 'अवध्य' विशेषणों का ही भावानुवाद है।

(५) **पूजाशिला**—जे० सी० घोष तथा सरकार ने इसका अर्थ शालिग्राम किया है जिसकी वैष्णव धर्म में वही मान्यता है जो शिवलिंग की शैव धर्म में। 'महाभारत' (३, ८०१.०२) तथा 'अग्नि पुराण' में 'शालिग्राम' पूजा का विधान मिलता है। 'अग्निपुराण' में तो शालिग्राम के अनेक प्रकारों में दो प्रकारों को वासुदेव व संकर्षण से अभिन्न भी माना गया है। लेकिन भाण्डारकर के अनुसार ये प्रमाण परवर्ती युगीन हैं। वह 'पूजाशिलाप्राकार' को पूजा स्थान को घेरने वाली पाषाण प्राचीर मानते हैं। इसके विपरीत डॉ० अग्रवाल ने ध्यान दिलाया है कि उस

युग में जब देवमूर्तियां बनाने की प्रथा नहीं थी, लगभग दो फुट लम्बी दो फुट चौड़ी पाषाण-शिला पर स्वस्तिक आदि चिह्न अथवा देवमूर्ति उकेर कर किसी स्थाण्डिल या चबूतरे पर रख कर और उस पर पुष्प आदि चढ़ा कर देवपूजन करने की प्रथा थी। मथुरा से प्राप्त ऐसी चौकोर शिलाओं को आयगपट्ट (आर्यकपट्ट) कहा गया है। इनमें जिन पर स्वस्तिक चिह्न बना रहता था वे 'सोथिक पट्ट' (= स्वस्तिकपट्ट) कहलाती थीं और जिन पर चक्र बना रहता था वे चक्रपट्ट कही जाती थीं। अशोक ने लुम्बिनी में इसी प्रकार की पूजाशिला स्थापित कराई थी और उसके चारों तरफ एक प्राचीर खिंचवा दी थी जिसे उसके लेख में 'सिला विगडभीचा' कहा गया है। अग्रवाल के अनुसार हाथीबाड़े में भी सर्वतात ने इसी प्रकार की पूजाशिला स्थापित कराई होगी। भाण्डारकर को खुदाई करते समय बाड़े के मध्य भाग में एक छोटा चबूतरा, जिस पर कभी शिला रखी रही होगी, मिला भी था।

(५) **प्राकार**—प्राचीर या वेदिका। यह बाड़े के चारों तरफ की दीवार थी। यह साढ़े नौ फुट ऊंची थी। अशोक ने ऐसी ही दीवार के लिए 'विगड भीचा' शब्द प्रयुक्त किया है। उस युग में जब देवमूर्तियां नहीं बनती थीं, उपर्युक्त आयगपट्टों को खुले आकाश में चबूतरे के ऊपर रख कर प्राचीर से घेर दिया जाता था और उन पर पत्र-पुष्प, जल, धूप आदि चढ़ाए जाते थे और दीप जलाए जाते थे।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख लघु होने के बावजूद बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे न केवल सर्वतात नामक प्रतापी नरेश का, जो अन्य साक्ष्य से अज्ञात है, अस्तित्व मालूम होता है, वरन् वैष्णव मत के विकास से सम्बन्धित बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री भी मिलती है। जैसा कि हमने हेलिओदोर के बेसनगर-स्तम्भ-लेख का अध्ययन करते समय देखा है, ईसवी सन् के पूर्व की कई शताब्दी पहिले से मथुरा प्रदेश (=शूरसेन जनपद) भागवत धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। वहां से इस धर्म की तरंगें राजस्थान, पूर्वी मालवा व उत्तरी दक्षिणापथ में फैलीं। राजस्थान में इसका केन्द्र अरावड़ा (अरावली) पर्वत श्रेणी के दक्षिण-पूर्व में स्थित मध्यमिका नगर बना जो तत्कालीन शिवि जनपद की राजधानी था। आजकल यह नगरी नाम का छोटा सा गांव है। वा० श० अग्रवाल के अनुसार 'महाभारत' के आरण्यकपर्व, 'मारकण्डे पुराण' तथा 'ब्रह्माण्ड पुराण' में धुन्धुमार असुर के वध की जो कथा आई है उसमें भी राजस्थान में वैष्णव मत के प्रचार की सूचना प्रतीकात्मक रूप से छिपी है। इस कथा में कुवलाश्व नाम का राजा धुन्धु नामक दैत्य का, जो बालू से भरे समुद्र में बस गया था, 'वैष्णव तेज की सहायता से' वध करता है। 'महाभारत' में इस कथा को 'विष्णु का समनुकीर्तन' कहा गया है। अग्रवाल के अनुसार इस कथा में राजस्थान के 'बालू से भरे समुद्र' के ठीक नुक्कड़ पर मध्यमिका में वैष्णव धर्म के केन्द्र के उदय की सूचना छिपी है।

घोसूण्डी (हाथीवाड़ा) शिलालेख से भागवत धर्म के विकास के कई पक्षों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश मिलता है। एक, इसमें वासुदेव और संकर्षण अर्थात् कृष्ण और बलराम का एक साथ उल्लेख है। अब बलराम से साथ कृष्ण की प्रसिद्धि पतञ्जलि के काल तक हो चुकी थी (संकर्षण द्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम् : सूत्र २।२।२४)। इन दोनों देवताओं को राम और केशव भी कहते थे जिनके प्रासाद या पूजा स्थान पतञ्जलि के काल में बनाए जाते थे (प्रासादे धनपति राम केशवानाम: २।२।३४)। संकर्षण वासुदेव के उपासकों का उल्लेख 'महानिद्देश' और 'चुल्ल निद्देश' में भी मिलता है जिनकी रचना तिथि लगभग प्रथम शती ई० पूर्व० मानी जाती है। वासुदेव के साथ संकर्षण का उल्लेख सातवाहनों के नाना घाट-अभिलेख में भी हुआ है। संकर्षण-वासुदेव द्वन्द्व के पीछे भागवतों की वह धारणा थी जिससे कृष्ण के साथ बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इसके चतुर्व्यूह तथा बलराम, प्रद्युम्न अनिरुद्ध और साम्ब इन पांच वृष्णि वीरों की पूजा प्रचलित हुई। अग्रवाल के अनुसार चतुर्व्यूह का उल्लेख, जो भागवतों का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त था, पतञ्जलि ने किया है (जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव, ६।३।५) (द्वितीय शती ई० पू० का मध्य) पञ्चवीरों की पूजा का उल्लेख मथुरा के पास मोरा गांव से मिले शिलालेख में (प्रथम शती ई० का प्रथम पाद) आया है। 'वायु पुराण' में इन पञ्च वीरों को इस प्रकार गिनाया गया है :

संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।
अनिरुद्धश्च पञ्चैते वंश वीराः प्रकीर्त्तिताः॥

'विष्णुधर्मोत्तर' में अन्य देवताओं की प्रतिमाओं के साथ इन पञ्चवीरों की मूर्तियां बनाने के नियम भी दिए गए हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि चतुर्व्यूह और पञ्च वृष्णि वीरों की उपासना मथुरा प्रदेश में प्रथम शती ई० तक लोकप्रिय हो चुकी थी। परन्तु घोसूण्डी तथा नानाघाट-अभिलेखों में पञ्चवीरों और चतुर्व्यूहों में मात्र बलराम और संकर्षण का उल्लेख यह संकेत देता है कि ईसा से पहले की दो शतियों में अन्य वृष्णिवीरों की पूजा बहुत लोकप्रिय नहीं थी, यद्यपि वासुदेव-कृष्ण के साथ संकर्षण-बलराम पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर चुके थे। घोसूण्डी-लेख में संकर्षण और बलराम का जिस क्रम से उल्लेख हुआ है उससे लगता है कि यहाँ उनका उल्लेख दो व्यूहों के रूप में नहीं, दो प्रमुख पञ्चवीरों के रूप में हुआ है। (बनर्जी, कलकत्ता रिव्यू, जनवरी, १९४७, पृ० ८)। यही बात नानाघाट यज्ञ-लेख के विषय में भी कही जा सकती है। इन दोनों अभिलेखों के अलावा संकर्षण की महत्ता का प्रमाण 'महाभारत' (जिसमें वह दुर्योधन के आराध्य बताए गए हैं) 'अर्थशास्त्र' (जिसमें उनको 'देवता' मानने वाले उपासकों का वर्णन है) तथा पीछे चर्चित बौद्ध ग्रन्थ 'महानिद्देस' में भी मिलता है। इस प्रकार घोसूण्डी-शिलालेख भागवत धर्म में चतुर्व्यूह और पञ्चवीर सिद्धान्तों की लोकप्रियता के विकास के अध्ययन में सहायता देता है। परोक्षतः इससे गीता की तिथि पर भी

प्रकाश मिलता है। इस ग्रन्थ में ये सिद्धान्त ही नहीं स्वयं संकर्षण भी अनुल्लिखित हैं। इससे संकेत मिलता है कि इस ग्रन्थ को द्वितीय शती ई० पू० के काफी पहिले रचा गया होगा (दे०, भाण्डारकर, पूर्वो०, पृ० १५)।

घोसूण्डी-शिलालेख में वासुदेव और संकर्षण को भगवत् अनिहत और सर्वेश्वर कहा गया है। इन उपाधियों का पृथक्तः महत्त्व है। 'भगवत्' नाम की महिमा का वर्णन करते हुए 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि 'समस्त कारणों के कारण महा-विभूति संज्ञक परब्रह्म के लिए ही 'भगवत्' शब्द का प्रयोग होता है' (६.५.७२)। 'हे मैत्रेय ! इस प्रकार यह महान् 'भगवान्' शब्द परब्रह्मस्वरूप श्री वासुदेव का ही वाचक है किसी और का नहीं' (६.५.७६)। लेकिन घोसूण्डी-अभिलेख के अनुसार संकर्षण इस उपाधि के साथ जुड़ी महत्ता के बराबर के भागीदार थे। सर्वेश्वर उपाधि भी इसी प्रकार वासुदेव और संकर्षण की महत्ता बताने के लिए प्रयुक्त हुई है। जैसा कि अग्रवाल ने ध्यान दिलाया है भागवत धर्म के उदय काल में अन्य अनेक संप्रदाय प्रचलित थे जिनमें यक्षों, नागों, नदियों, पर्वतों, वृक्षों एवं स्कन्द, विशाख, रुद्र, इन्द्र तथा सूर्य आदि देवताओं की पूजा होती थी। भागवतों ने इन सब दैवी शक्तियों को स्वीकार किया परन्तु इन सब को वासुदेव की विभूतियां मानते हुए वासुदेव को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया। इसीलिए गीता के दसवें अध्याय में कृष्ण के मुख से कहलाया है कि 'आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में सूर्य हूँ, नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ, रुद्रों में शंकर हूँ, यक्षों में कुबेर हूँ, पर्वतों में सुमेरु हूँ, सेनानायकों में स्कन्द हूँ, हाथियों में ऐरावत हूं, नागों में अनन्त हूँ, सर्पों में वासुकि हूँ, पक्षियों में गरुड़ हूँ, आदि। घोसूण्डी-शिलालेख में 'सर्वेश्वर' उपाधि द्वारा वासुदेव (तथा संकर्षण) की इस सर्वोपरिता पर ही बल दिया गया है।

घोसूण्डी-शिलालेख में वासुदेव-संकर्षण के पूजास्थान को 'नारायणवाटक' कहा जाना भी महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रमाणित होता है कि इस समय तक वासुदेव की नारायण से अभिन्नता भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी। 'शतपथ ब्राह्मण' में एक स्थल पर नारायण नाम का एक व्यक्ति प्रजापति के कहने पर तीन बार यज्ञ करता है। लेकिन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र पुरुष नारायण पाञ्चरात्र सत्र करके 'परमेश्वर' पद प्राप्त करते हैं। विद्वानों ने भागवतों के पाञ्चरात्रिक नाम का सम्बन्ध इस पाञ्चरात्र सत्र से जोड़ा है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि नारायण और उनका पाञ्चरात्र सम्प्रदाय पहिले भागवत सम्प्रदाय से पृथक् थे। नारायण और विष्णु की अभिन्नता का उल्लेख सर्वप्रथम 'बौधायनधर्मसूत्र' में मिलता है और नारायण, विष्णु और वासुदेव की अभिन्नता का 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दशम प्रपाठक में। घोसूण्डी-शिलालेख इस अभिन्नता का प्राचीनतम अभिलेखिक प्रमाण प्रस्तुत करता है।

घोसूण्डी-अभिलेख भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उस युग में जब फ्लीट ने अपना ग्रन्थ लिखा (१९ वीं शती का उत्तरार्द्ध) भारत का प्राचीनतम

संस्कृत अभिलेख प्रथम रुद्रदामा का जूनागढ़-अभिलेख था। उससे प्राचीनतर सव लेख प्राकृत में थे। इसलिए रीज़ डेविड्स (वुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १५१) की मान्यता थी कि प्रथम शती ई० के अन्त तक भारत की वोल-चाल की भापा पालि थी, वह संस्कृत नहीं जिसमें पाणिनि और पतञ्जलि ने लिखा। इससे विपरीत पतञ्जलि हमें निश्चित रूप से सूचित करते हैं कि उनके युग में शिष्ट ब्राह्मणों की भापा संस्कृत थी जिसे वे बिना व्याकरण का अध्ययन किए वोलते थे। अव घोसूण्डी तथा अयोध्या आदि से प्राप्त संस्कृत लेखों से यह तथ्य प्रमाणित हो गया है।

बड़ली खण्डित पाषाण-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख राजस्थान के अजमेर जिले के बड़ली **स्थल** से प्राप्त हुआ है। यह अशोक के भाब्रु व वैराट लेखों के उपरान्त राजस्थान से प्राप्त प्राचीनतम लेख है। इसकी **भाषा** प्राकृत है और **लिपि** ब्राह्मी। यह अत्यन्त क्षत अवस्था में मिला है और इसका पाठ अत्यन्त विवादग्रस्त है। कुछ विद्वान् जैसे ओझा एवं पाण्डेय इसमें महावीर संवत् की ८४ **तिथि** उल्लिखित मानते हैं और तदनुसार इसे पाँचवी शती ई० पू० का लेख बताते हैं। परन्तु सरकार जैसे विद्वान् इसमें न तो तिथि का उल्लेख मानते हैं और न इसकी लिपि को इतनी प्राचीन ठहराते हैं। सरकार ने इसका समय द्वितीय शती ई० पू० माना है। लेख में कुल चार पक्तियाँ हैं जो पाषाण के तीन ओर लिखी हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—जायसवाल, जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, पृ० ६७-८ ; ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० २-३ ; सरकार, स० इ०, ८९-९० ; जे० बी० आर० एस० ३९, पृ० १-५ ; ४०, पृ० ८-१६ ; पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्रेफी, पृ० १८० ; हाल्दार, आई० ए०, १९२९, पृ० २२९ ; दानी, इण्डियन पेलियोग्रेफी, पृ० ५४ ; वर्मा, टी० पी०, दि पेलियोग्रेफी ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट, पृ० ७६।

मूलपाठ

१. (अ) द्वं	(ब) रय भगव –	(स) त....
२. (अ) ठ [भ]	(ब) चतुरसिति व –	(स) [व]....
३. (अ) काये	(ब) साला मालिनि	(स) [ये]
४. (अ) रं निसि	(ब) ठं माझिमिके	(स) [न]....

पाठ-टिप्पणी—ऊपर सरकार द्वारा स्वीकृत पाठ दिया गया है। अन्य विद्वानों ने इसके बहुत से अक्षर भिन्न रूप में पढ़े हैं। स्वयं सरकार के अनुसार पंक्ति १ (अ) में लिपिक ने हो सकता है 'सिद्धं' लिखना चाहा हो। पाण्डेय ने ओझा का अनुसरण करते हुए पंक्ति १ (अ–स) को 'वीराय भगवत' पढ़ा है। हाल्दार ने भी १ (अ) का पाठ 'वी' माना है। लेकिन ब्राह्मी 'वी' दीर्घ 'ई' की मात्रा इस तरह दाहिनी ओर कहीं मुड़ी नहीं मिलती जैसी इस लेख में है। दानी के अनुसार यह लेख इतने क्षत रूप में मिला है कि इसका पाठ तय करना असंभव है।

अनुवाद

सिद्धम् (?) ॥ राजाभागवत····चौरासी स्तम्भ····शाला,
मालिनी (?) ····माध्यमिका निवासी द्वारा निसृष्ट (अर्थात् प्रदत्त)····

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख का महत्त्व इसमें महावीर या वीर संवत् की तिथि के प्रयोग की सम्भावना होने के कारण है । ओझा और पाण्डेय मानते हैं कि इसकी प्रथम और द्वितीय पंक्तियों में वीर संवत् ८४ उल्लिखित है । परन्तु भारत में संवतों में तिथि देने की प्रथा पांचवीं शती ई० पू० में प्रचलित नहीं थी । वीर-संवत् का प्रयोग तो विशेषतः बहुत बाद में मिलता है। जायसवाल ने इस लेख के संवत् को ३७४-३७३ ई० पू० में प्रवर्त्तित माना था। परन्तु यह मत सर्वथा अनुमानाश्रित है। सरकार के अनुसार 'चतुरसिति' संख्या के द्वारा ८४ स्तम्भों के किसी भवन की ओर संकेत है। यह भी सम्भव है कि यहाँ ८४ गाँवों का उल्लेख हुआ हो। प्राचीन भारत में ८४ संख्या बहुत प्रयोग में आती थी।

उत्तर भारत : यूनानियों के अभिलेख

शिनकोट (बाजौर) शैलखड़ी-पेटिका-अभिलेख

लेख-परिचय—ये अभिलेख काली शैलखड़ी की एक पेटिका पर उत्कीर्ण है जो आधुनिक पाकिस्तान के भूतपूर्व उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के परे पञ्जकोर और स्वात नदियों के संगम से करीब तीस किलोमीटर पश्चिम की ओर स्थित शिनकोट स्थल से मिली है। यह कुछ कबाइलियों को एक नए किले की नींव खोदते समय मिली थी। इसके अन्दर एक रजतपेटिका और एक सुवर्ण पत्र थे जिनका अता-पता अज्ञात है। पेटिका के मुँह का व्यास ८.८" है तथा ढक्कन और तले का ११.३" और वह १.९" गहरी है। यह स्थान बाजौर का कबायली प्रदेश है इसलिए ये लेख बाजौर-अभिलेख भी कहलाते हैं। ये अभिलेख वस्तुतः लघु अभिलेखों के दो समूह हैं जो इस पेटिका के अन्दर व बाहर तथा उसके ढक्कन के ऊपर, किनारे पर तथा अन्दर लिखे हैं। इनमें प्रथम लेख समूह यवन राजा मिनेण्डर के शासनकाल में बुद्ध के देहावशेषों (धातुओं) को प्रतिष्ठापित कराते समय लिखवाया गया था। इनमें वियकमित्र नामक एक और राजा का उल्लेख है जो मिनेण्डर के अधीन रहा होगा। द्वितीय लेख-समूह उन्हीं देहावशेषों को पुनः प्रतिष्ठापित कराते समय विजयमित्र नामक राजा ने लिखवाया था।

भाषा व लिपि—इन अभिलेखों की भाषा प्राकृत है व लिपि खरोष्ठी। लिपि की दृष्टि से दोनों वर्गों के लेखों में स्पष्ट अन्तर है। प्रथम वर्ग के लेखों के अक्षर बड़े हैं और गहरे खुदे हैं, दूसरे वर्ग के अक्षर कम गहरे खुदे हैं और छोटे हैं। प्रथम वर्ग में 'ण' का शीर्ष भाग गोल है, दूसरे वर्ग में कोणाकार। इसी प्रकार प्रथम वर्ग के लेखों के 'न' व 'स' अक्षर अशोक के लेखों के 'न' व 'स' से सादृश्य रखते हैं तो दूसरे वर्ग के 'न' व 'स' कुषाण लेखों के 'न' व 'स' से। इससे लगता है कि इन दोनों लेखों के मध्य कम-से-कम अर्द्धशती से लेकर एक शती तक का अन्तर अवश्य होगा।

तिथि—प्रथम वर्ग के लेखों में मिनेण्डर के शासनकाल की तिथि दी गई थी, परन्तु पेटिका का वह अंश जहाँ यह तिथि लिखी थी, टूट गया है। दूसरा लेख-समूह विजयमित्र ने ५ वें वर्ष में लिखवाया था। दे० आगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ व निबन्ध—मजूमदार, एन० जी०; ई० आई०, २४, पृ० ७; सरकार, ई० आई०, २६, पृ० ३१८ अ०; स० इ०, पृ० १०२ अ०; कोनो, ई० आई०, २७, पृ० ५२ अ०; एन० आई० ए०, जनवरी, १९४०, पृ० ६३९ अ०। दे०, ए० के० नारायण 'दि इण्डो ग्रीक्स' तथा सरकार, ए० इ० यू०, के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

प्रथम लेख-समूह

(अ)

(ढक्कन के किनारे पर)

........**मिनेद्रस महरजस कटियस दिवस** ४ (+ *) ४ (+ *) ४ (+ *) १ (+ *) १ प्र [ण] - [स] मे [द] ....

(अ १)

(ढक्कन के बीच में)

········ [प्रति *] [थवि] त [। *]

(अ २)

(ढक्कन के अन्दर वाले तल पर)

प्रण समे [द] [शरिर *] [भगव *] [तो] शकमुनिस [। *]

(ब)

(पेटिका के अन्दर)

वियकमित्रस अप्रचरजस [। *]

द्वितीय लेख-समूह

(स)

(ढक्कन के बीच में)

१. विजय [मित्रे] ण ····
२. पते प्रदिथविदे (। *)

(द)

(पेटिका के अन्दर)

१. इमे शरिर पलुग भुद्रओ न सकरे अत्रित (। *)
स शरिअत्रि कलद्रेन शध्रो न पिंडोयकेयि
पित्रि ग्रिणयत्रि (। *)
२. तस ये पत्रे अपोमुअ (। *) वषये पंन्नमये
४ (+ *) १ वेश्रखस मसस दिवस पंचविश्रये इयो
३. प्रत्रिथवित्रे विजयमित्रेन अप्रचरजेन
भग्रवतु शकिमुणिस समस [˙] बुधस
शरिर (। *)

(इ)

(पेटिका के नीचे)

विश्पिलेन अणंकतेन लिखित्रे (। *)

पाठ-टिप्पणी—कोनो ने 'ब' लेख को (द) लेख की दूसरी पंक्ति में 'पंच-विश्रये' और 'इयो' के बीच में पढ़ा है। वह (स) लेख में प्रथम पंक्ति में 'विजय मित्र [प्रवर]' पढ़ते हैं और एन० जी० मजूमदार केवल 'विजयमित्र'। कोनो ने (द) लेख की प्रथम पंक्ति को 'इमे शरिर पलुग भुत ठन सकरेअति, तसशरिअति कलदे नोशध्रो न पितोंयकेयि पिति ग्रिणयति' पढ़ा है। हमने ऊपर मजूमदार का पाठ माना है। सरकार इस पंक्ति के 'न' का पाठ 'नो' मानते हैं। (इ) लेख के दूसरे शब्द का कोनो द्वारा प्रदत्त पाठ 'अणंकयेन' है।

शब्दार्थ

कटियस=कार्तिकस्य, कार्तिक के, **प्रण समेद**=प्राण समेतं, सप्राण ; **प्रतिथवित**=प्रतिष्ठापित ; **शरिर**=देहावशेष ; **अप्रचरजस**=अप्रत्यग्राज का, उसका जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है ; **पते**=पात्र ; **प्रदिथविदे**=प्रतिष्ठापित ; **पलुग**=भग्न ; **भुद्रओ**=भूतो, हो जाने पर ; **सकरेअत्रित**=न सत्कारैः आदृतम्, सत्कार पूर्वक आदर नहीं किया जाता है ; **शरिअत्रि कलद्रे**=तत् शीर्यते कालतः, समय वीतने के साथ जीर्ण-शीर्ण हो रहा है ; **न**=नहीं ; **पिंडोयकेयि** = पिण्डोदक आदि ; **शध्रो**=श्रद्धः ; **पित्रि**=पितरों को ; **ग्रिणयति** =ग्रहण करने देता है ; **पत्रे**=पात्र को ; **अपोमुअ**=अपमुक्तः, त्यक्तः ; **वषये**=वर्ष में ; **वेश्रखस**=वैशाख के ; **इयो**=यहाँ ; **समसं बुधस**=सम्यक् वुध के ; **अणंकतेन**=आज्ञा पाकर ।

अनुवाद–प्रथम लेख समूह

(अ) महाराज मीनेन्द्र के (शासनकाल में संवत्सर .... में) कार्त्तिक (मास) के १४ वें दिवस सप्राण (देहावशेष) .... (अ १) (भगवान् वुद्ध के) प्रतिष्ठापित किए गए। (अ २) प्राण समेत देहावशेष भगवान् शाक्य मुनि के। (ब) अप्रत्यग्राज वियकमित्र (=वीर्यकमित्र) का।

अनुवाद–द्वितीय लेख समूह

(स) विजयमित्र द्वारा....पात्र प्रतिष्ठापित किया गया। (द) यह देहावशेष भग्न होने के कारण सत्कार पूर्वक आदृत नहीं होता। यह समय बीतने के साथ जीर्ण-शीर्ष हो रहा है, (और) श्रद्धा (की दृष्टि से) नहीं (देखा जाता), (और अब यहाँ) पितरों को पिण्डोदक ग्रहण नहीं कराया जाता, (और) पात्र (=देहावशेषों के पात्र) को त्याग दिया गया है। (अब) पांचवें वर्ष में वैशाख मास के पच्चीसवें दिन (देहावशेषों के पात्र को) यहाँ (पुनः) प्रतिष्ठापित किया गया अप्रत्यग्राज विजयमित्र के द्वारा भगवान् शाक्यमुनि सम्यक् बुद्ध के देहावशेष को (इस पात्र में पुनः प्रतिष्ठापित किया गया)। (इ) आज्ञा पाकर विश्पिल द्वारा लिखा गया।

व्याख्या

(१) **मिनेंद्र**—मिनेण्डर। सिक्कों पर इस राजा का नाम यूनानी भाषा में मिनेण्डर मिलता है और प्राकृत में मेनन्द्र। 'मिलिन्द पञ्हों' में इस नाम का रूप मिलिन्द मिलता है और क्षेमेन्द्र की 'अवदानकल्पलता' एवं तिब्बती 'तंजूर', में मिलिन्द।

(२) **कटियस** १४—ध्यातव्य है कि १४ संख्या को ब्राह्मी लेखों की पद्धति के अनुसार १० + ४ नहीं लिखा गया है। लेखों का महीने का नाम देने की पर- : २ विदेशियों ने शुरू की।

शब्दार्थ

कटियस=कार्तिकस्य, कार्तिक के, **प्रण समेद**=प्राण समेतं, सप्राण ; **प्रतिथवित**=प्रतिष्ठापित ; **शरिर**=देहावशेष ; **अप्रचरजस**=अप्रत्यग्राज का, उसका जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है ; **पते**=पात्र ; **प्रदिथविदे**=प्रतिष्ठापित ; **पलुग**=भग्न ; **भुद्रओ**=भूतो, हो जाने पर ; **सकरेअलित**=न सत्कारैः आदृतम्, सत्कार पूर्वक आदर नहीं किया जाता है ; **शरिअत्रि कलद्रे**=तत् शीर्यते कालतः, समय बीतने के साथ जीर्ण-शीर्ण हो रहा है ; **न**=नहीं ; **पिंडोयकेयि** = पिण्डोदक आदि ; **शध्रो**=श्रद्धः ; **पित्रि**=पितरों को ; **ग्रिणयति** =ग्रहण करने देता है ; **पत्रे**=पात्र को ; **अपोमुअ**=अपमुक्तः, त्यक्तः ; **वषये**=वर्ष में ; **वेश्रखस**=वैशाख के ; **इयो**=यहाँ ; **समसं बुधस**=सम्यक् बुध के ; **अणंकतेन**=आज्ञा पाकर ।

अनुवाद–प्रथम लेख समूह

(अ) महाराज मीनेन्द्र के (शासनकाल में संवत्सर · · · · में) कार्त्तिक (मास) के १४ वें दिवस सप्राण (देहावशेष) · · · · (अ १) (भगवान् बुद्ध के) प्रतिष्ठापित किए गए। (अ २) प्राण समेत देहावशेष भगवान् शाक्य मुनि के। (ब) अप्रत्यग्राज वियकमित्र (=वीर्यकमित्र) का।

अनुवाद–द्वितीय लेख समूह

(स) विजयमित्र द्वारा····पात्र प्रतिष्ठापित किया गया । (द) यह देहावशेष भग्न होने के कारण सत्कार पूर्वक आदृत नहीं होता । यह समय बीतने के साथ जीर्ण-शीर्ष हो रहा है, (और) श्रद्धा (की दृष्टि से) नहीं (देखा जाता), (और अब यहाँ) पितरों को पिण्डोदक ग्रहण नहीं कराया जाता, (और) पात्र (=देहावशेषों के पात्र) को त्याग दिया गया है। (अब) पांचवें वर्ष में वैशाख मास के पच्चीसवें दिन (देहावशेषों के पात्र को) यहाँ (पुनः) प्रतिष्ठापित किया गया अप्रत्यग्राज विजयमित्र के द्वारा भगवान् शाक्यमुनि सम्यक् बुद्ध के देहावशेष को (इस पात्र में पुनः प्रतिष्ठापित किया गया)। (इ) आज्ञा पाकर विश्पिल द्वारा लिखा गया।

व्याख्या

(१) **मिनेद्र**—मिनेण्डर। सिक्कों पर इस राजा का नाम यूनानी भाषा में मिनेण्डर मिलता है और प्राकृत में मेनन्द्र। 'मिलिन्द पञ्हों' में इस नाम का रूप मिलिन्द मिलता है और क्षेमेन्द्र की 'अवदानकल्पलता' एवं तिब्बती 'तंजूर', में मिलिन्द।

(२) **कटियस** १४—ध्यातव्य है कि १४ संख्या को ब्राह्मी लेखों की पद्धति के अनुसार १० + ४ नहीं लिखा गया है। लेखों का महीने का नाम देने की परम्परा विदेशियों ने शुरू की।

(अ १)

(ढक्कन के बीच में)

······· [**प्रति** *] [**थवि**] **त** [। *]

(अ २)

(ढक्कन के अन्दर वाले तल पर)

प्रण समे [**द**] [**शरिर** *] [**भगव** *] [**तो**] **शकमुनिस** [। *]

(ब)

(पेटिका के अन्दर)

वियकमित्रस अप्रचरजस [। *]

द्वितीय लेख-समूह

(स)

(ढक्कन के बीच में)

१. **विजय** [**मित्रे**] **ण** ····
२. **पते प्रदिथविदे** (। *)

(द)

(पेटिका के अन्दर)

१. **इमे शरिर पलुग भुद्रओ न सकरे अत्रित** (। *)
   स शरिअत्रि कलद्रेन शघ्रो न पिंडोयकेयि
   पित्रि ग्रिणयत्रि (। *)
२. **तस ये पत्रे अपोमुअ** (। *) **वषये पंत्रमये**
   ४ (+ *) १ **वेश्रखस मसस दिवस पंचविश्रये इयो**
३. **प्रत्रिथवित्रे विजयमित्रेन अप्रचरजेन**
   भग्रवतु शकिमुणिस समस [˙] **बुधस**
   शरिर (। *)

(इ)

(पेटिका के नीचे)

विश्पिलेन अणंकतेन लिखित्रे (। *)

पाठ-टिप्पणी—कोनो ने 'ब' लेख को (द) लेख की दूसरी पंक्ति में 'पंच-विश्रये' और 'इयो' के बीच में पढ़ा है। वह (स) लेख में प्रथम पंक्ति में 'विजय मित्र [प्रवर]' पढ़ते हैं और एन० जी० मजूमदार केवल 'विजयमित्र'। कोनो ने (द) लेख की प्रथम पंक्ति को 'इमे शरिर पलुग भुत ठन सकरेअति, तसशरिअति कलदे नोशध्रो न पितोंयकेयि पिति ग्रिणयति' पढ़ा है। हमने ऊपर मजूमदार का पाठ माना है। सरकार इस पंक्ति के 'न' का पाठ 'नो' मानते हैं। (इ) लेख के दूसरे शब्द का कोनो द्वारा प्रदत्त पाठ 'अणंकयेन' है।

शब्दार्थ

कटियस=कार्तिकस्य, कार्तिक के, **प्रण समेद**=प्राण समेतं, सप्राण ; **प्रतिथवित**=प्रतिष्ठापित ; **शरिर**=देहावशेष ; **अप्रचरजस**=अप्रत्यग्राज का, उसका जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है ; **पते**=पात्र ; **प्रदिथविदे**=प्रतिष्ठापित ; **पलुग**=भग्न ; **भुद्रओ**=भूतो, हो जाने पर ; **सकरेअलित**=न सत्कारैः आदृतम्, सत्कार पूर्वक आदर नहीं किया जाता है ; **शरिअत्रि कलद्रे**=तत् शीर्यते कालतः, समय बीतने के साथ जीर्ण-शीर्ण हो रहा है ; **न**=नहीं ; **पिंडोयकेयि**=पिण्डोदक आदि ; **शध्रो**=श्रद्धः ; **पित्रि**=पितरों को ; **ग्रिणयति**=ग्रहण करने देता है ; **पत्रे**=पात्र को ; **अपोमुअ**=अपमुक्तः, त्यक्तः ; **वषये**=वर्ष में ; **वेश्रखस**=वैशाख के ; **इयो**=यहाँ ; **समसं बुधस**=सम्यक् वुध के ; **अणंकतेन**=आज्ञा पाकर।

अनुवाद–प्रथम लेख समूह

(अ) महाराज मीनेन्द्र के (शासनकाल में संवत्सर ···· में) कार्त्तिक (मास) के १४ वें दिवस सप्राण (देहावशेष) ···· (अ १) (भगवान् वुद्ध के) प्रतिष्ठापित किए गए। (अ २) प्राण समेत देहावशेष भगवान् शाक्य मुनि के। (ब) अप्रत्यग्राज वियकमित्र (=वीर्यकमित्र) का।

अनुवाद–द्वितीय लेख समूह

(स) विजयमित्र द्वारा····पात्र प्रतिष्ठापित किया गया। (द) यह देहावशेष भग्न होने के कारण सत्कार पूर्वक आदृत नहीं होता। यह समय बीतने के साथ जीर्ण-शीर्ष हो रहा है, (और) श्रद्धा (की दृष्टि से) नहीं (देखा जाता), (और अब यहाँ) पितरों को पिण्डोदक ग्रहण नहीं कराया जाता, (और) पात्र (=देहावशेषों के पात्र) को त्याग दिया गया है। (अब) पांचवें वर्ष में वैशाख मास के पच्चीसवें दिन (देहावशेषों के पात्र को) यहाँ (पुनः) प्रतिष्ठापित किया गया अप्रत्यग्राज विजयमित्र के द्वारा भगवान् शाक्यमुनि सम्यक् वुद्ध के देहावशेष को (इस पात्र में पुनः प्रतिष्ठापित किया गया)। (इ) आज्ञा पाकर विश्पिल द्वारा लिखा गया।

व्याख्या

(१) **मिनेद्र**—मिनेण्डर। सिक्कों पर इस राजा का नाम यूनानी भाषा में मिनेण्डर मिलता है और प्राकृत में मेनन्द्र। 'मिलिन्द पन्हों' में इस नाम का रूप मिलिन्द मिलता है और क्षेमेन्द्र की 'अवदानकल्पलता' एवं तिब्बती 'तंजूर', में मिलिन्द।

(२) **कटियस** १४—ध्यातव्य है कि १४ संख्या को ब्राह्मी लेखों की पद्धति के अनुसार १० + ४ नहीं लिखा गया है। लेखों का महीने का नाम देने की परम्परा विदेशियों ने शुरू की।

(३) **प्रण समेद**—प्राण समेतं। इस पद का आशय है कि बुद्ध के धातु-अवशेष सप्राण थे। बौद्ध धर्म में विश्वास प्रचलित था कि बुद्ध के अवशेषों में चमत्कार करने की शक्ति होती है।

(४) **अणंकतेन**—कोनो ने इसे 'अणंकयेन' पढ़ा है और इसका सम्बन्ध यूनानी शब्द anamkaios से जोड़ा है जिसे राजा के दरबारियों, मित्रों और सलाहकारों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। यह एक प्रकार की आदर सूचक उपाधि सी हो गई थी (दे०, जे० आर० ए० एस०, १९३६, पृ० २६५)। लेकिन मजूमदार व सरकार को कोनों के पाठ व अर्थ दोनों में शंका है।

(५) **अप्रचरज**—इसका अर्थ सामान्यतः अप्रत्यग्राज अर्थात् 'वह जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है' किया जाता है। कुछ ने इसे 'पश्चिम का शासक' अर्थ में लिया है। यह एक सामन्ती उपाधि थी।

(६) वियकमित्र—वीर्यकमित्र अथवा वीर्यांकमित्र।

(७) 'बुद्ध वंश' में बुद्ध के देहावशेषों को एक पात्र में वजिरा नाम स्थल पर प्रतिष्ठापित करने की कथा आती है (ई० आई०, २४, पृ० ६, टि० ३)। यह वजिरा स्थल बाजौर हो सकता है। सम्भव है इस अनुश्रुति के लेखक ने इसी पेटिका के प्रतिष्ठापित किए जाने की अफवाह सुनी हो।

(८) **पिण्डोदक**—पिण्डोदक की प्रथा यूनानियों में भी प्रचलित थी। 'अंगुत्तर निकाय' में 'पेत दक्खिना' को गृहस्थों का कर्तव्य बताया गया है। पुब्बपेतों को सन्तुष्ट करने का विधान 'पेतवत्थु' व 'मिलिन्दपञ्हो' में भी मिलता है।

अभिलेख का महत्त्व

यूनानी इतिहास की दृष्टि से महत्त्व—प्रस्तुत अभिलेखों का प्रथम वर्ग सुप्रतिथ यूनानी नरेश मिनेण्डर का एक मात्र उपलब्ध अभिलेख है। वास्तव में यह भारतीय-यूनानी राजाओं का उल्लेख करने वाले अत्यन्त विरल अभिलेखों में से एक है। इस लेख से प्रमाणित हो जाता है कि मिनेण्डर का अधिकार स्वात की घाटी में बाजौर के कबाइली इलाके पर भी था। दूसरे इससे हमें मिनेण्डर के सामन्त राजा वियकमित्र का पता चलता है जिसने बुद्ध की धातुओं को इस पेटिका में सुरक्षित रखवाया और यह लेख लिखवाया था। इस लेख में बुद्ध की धातुओं की चर्चा इस साहित्यिक अनुश्रुति के साथ संगत है कि मिनेण्डर एक बौद्ध नरेश था। 'मिलिन्द पञ्हो' से ज्ञात होता है कि योन (=यवन) राजा मिलिन्द, जिसकी राजधानी शाकल (=स्यालकोट) थी, बौद्ध विद्वान् नागार्जुन का शिष्य बन गया था।

क्या वियकमित्र और विजयमित्र अभिन्न थे ?—प्रस्तुत अभिलेखों का दूसरा समूह अप्रचरज विजयमित्र ने लिखवाया था। स्टेनकोनो लेख (ब) के 'वियकमित्रस अप्रचरज' शब्दों को (द) लेख के अन्तर्गत 'पंचविश्रये' और 'इयो' शब्दों के मध्य

पढ़ते हैं और वियकमित्र तथा विजयमित्र को अभिन्न मानते हैं। उनका विश्वास है कि प्रथम लेख समूह स्वयं मिनेण्डर ने लिखवाया था, वियकमित्र नामक सामन्त राजा ने नहीं। परन्तु मजूमदार व सरकार आदि विद्वान् इस मत को नहीं मानते। वियकमित्र व विजयमित्र दो सर्वथा भिन्न नाम हैं। किसी राजा के एक ही समय लिखवाए गए अभिलेखों में उनका नाम इस प्रकार दो रूपों में नहीं लिखा जा सकता था।

द्वितीय वर्ग के लेखों की तिथि—जहाँ तक इन अभिलेखों की तिथि का सम्बन्ध है, मजूमदार ने प्रथम वर्ग के लेखों को द्वितीय शती ई० पू० का बताया था और द्वितीय वर्ग को प्रथम शती ई० पू० का। लेकिन वह इन दोनों में केवल अर्द्ध शती का अन्तर आँकते थे जबकि कोनो ने इनका अन्तर एक शती आँका है। इनमें दूसरे वर्ग के लेखों की तिथि निर्धारित करने में अब मुद्रा साक्ष्य की सहायता उपलब्ध है क्योंकि दूसरे वर्ग के अभिलेखों में जिस अप्रचरज विजयमित्र का उल्लेख मिलता है उसकी पहिचान अब सिक्कों से ज्ञात उस विजयमित्र से की जा सकती है जिसके पुत्र अप्रचरज इन्द्रवर्मा के सिक्के खरोष्ठी (विजयमित्र पुत्रस इत्रवर्मस अप्रचरजस) यूनानी लिपि में लेख सहित मिलते हैं (दे०, ह्वाइट हेड, कैटेलाग ऑव क्वायन्स् इन दि पञ्जाब म्यूजियम, पृ० १६८)। ये सिक्के प्रथम शती ई० पू० के माने जाते हैं। अब, इन सिक्कों का इन्द्रवर्मा उस अश्ववर्मा का पिता था जो पहिले द्वितीय अज़ेज़ का और गोण्डोफर्निज़ का स्त्रेतेगस (=सेनापति अर्थ वाली यूनानी उपाधि) था। यह तथ्य द्वितीय अज़ेज़ व गोण्डोफर्निज के सिक्कों से स्पष्ट है (दे०, स० इ०, पृ० १२७)। इनमें गोण्डोफर्निज की तिथि (२१-४६ ई०) निश्चित है। इससे स्पष्ट है कि अश्ववर्मा का समय प्रथम शती ई० का पूर्वार्द्ध होगा और इसलिए उसके पिता इन्द्रवर्मा का प्रथम शती ई० पू० का उत्तरार्द्ध एवं इन्द्रवर्मा के पिता विजयमित्र का प्रथम शती ई० पू० का दूसरा व तीसरा पाद। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि प्रस्तुत लेखों का दूसरा समूह ५० ई० पू० के आस-पास लिखवाया गया होगा। इनमें विजयमित्र के स्वामी के अनुल्लेख से लगता है कि उस समय तक यूनानी सत्ता दुर्बल पड़ चुकी थी।

प्रथम वर्ग के लेखों की तिथि—जहाँ तक प्रथम वर्ग के लेखों का सम्बन्ध है, जिन्हें मिनेण्डर के अधीन राजा वियकमित्र ने लिखवाया था, उनकी तिथि इस अनुमान पर निर्भर होगी कि लिपिशास्त्रीय दृष्टि से वह द्वितीय वर्ग के लेखों से कितने पुराने हैं। सरकार का अनुमान है कि मिनेण्डर का अधीन राजा वियकमित्र विजयमित्र का पितामह रहा होगा। इसलिए वह मिनेण्डर व विजयमित्र को ११५-९० ई० के मध्य रखते हैं। परन्तु हमें यह सम्भव नहीं लगता क्योंकि उस युग में तक्षशिला प्रदेश पर, जो मिनेण्डर के अधिकार में अवश्य ही था एण्टियालकिडज़ शासन कर रहा था (दे०, हेलियोडोरस का बेसनगर-अभिलेख)। ए० के० नारायण (इण्डो ग्रीक्स, पृ० ७९) व अन्य अधिकांश विद्वान् मिनेण्डर की द्वितीय शती ई० पू० के मध्य ही रखते हैं।

यहाँ यह ध्यान दिलाना अनुचित न होगा कि नारायण ने द्वितीय वर्ग के अभिलेखों में प्रदत्त तिथि—५ वाँ वर्ष को उस संवत् की तिथि माना है जो उनके अनुसार मिनेण्डर ने १५५ ई० पू० में प्रारम्भ किया था (दे०, इण्डोग्रीक्स्)। परन्तु यह स्पष्टतः असम्भव है क्योंकि दूसरे वर्ग के अभिलेख और मिनेण्डर के काल में लिखे गए प्रथम वर्ग के अभिलेखों में लिपिशास्त्रीय दृष्टि से कम-से-कम अर्द्धशती का अन्तर तो अवश्य ही है।

थियोडोरस का स्वात मञ्जूषा-लेख

लेख-परिचय—यह लेख स्वात की घाटी में (प्राचीन उद्यान) पठानों के एक गाँव से मिला था। आजकल यह पंजाव संग्रहालय में सुरक्षित है। इसकी **भाषा** प्राकृत है और **लिपि** खरोष्ठी। यह तिथि विहीन है। लिपि के आधार से इसे कोनो ने दूसरी शती ई० पू० में रखा है और सरकार ने प्रथम शती ई० पू० में। इसका उद्देश्य थियोडोरस नामक यूनानी गवर्नर द्वारा भगवान् बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख करना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—कोनो, एस०, कार्पस २, i, पृ० ४:, सरकार, स० इ० पृ० १११।

मूलपाठ

१. थेउदोरेन मेरिदर्खेन प्रतिठविद्र इमे शरिर
शकमुणिस भग्रवतो बहु-जण – [हिति] ये [॥]

अनुवाद

मेरिदर्ख थेउदोर द्वारा भगवान् शाक्य मुनि के देहावशेष बहुजन हितार्थ प्रतिष्ठापित किए गए।

व्याख्या

(१) **थेउदोरेन मेरिदर्खेन**—मेरिडार्ख थियोडोरस द्वारा। मेरिडार्ख = यूनानी MERIDARKHES=गवर्नर=विषयपति। थियोडोरस कोई यूनानी था।

(२) **शरिर**=शरीर=देहावशेष। दे०, मिनेण्डर का शिनकोट (बाजौर) लेख।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत लेख से दूसरी—पहली शती ई० में यूनानियों पर पड़ने वाले भारतीय प्रभाव का ज्ञान होता है। स्पष्टतः थियोडोरस ने, मिनेण्डर की तरह, यूनानी होने के बावजूद बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। यूनानियों पर पड़ने वाले बौद्ध धर्म के अन्य प्रमाणों के लिए दे०, कोम्प्रेहेन्सिव हिस्टरी ऑव इण्डिया, २, पृ० १८४।

उत्तर भारत : प्राचीन शक-पह्लव सम्वत् की तिथि वाले व अन्य अभिलेख

पूर्वपीठिका

प्राचीन 'शक-पह्लव संवत्' की तिथि

प्राचीन भारत के स्वदेशी नरेश अपने अभिलेखों में अपने शासन के वर्ष की संख्या दिया करते थे। यद्यपि बाद में कलियुग-संवत्, निर्वाण-संवत् और महावीर-संवत् आदि कई ऐसे संवतों का प्रचलन हुआ जिनके प्रारम्भ की तिथियाँ मौर्यों के उत्थान के शताब्दियों पूर्व पड़ती हैं, परन्तु ये संवत् काफी बाद में गढ़े गए थे (सरकार, इण्डियन एपिग्राफी, पृ० २३७ अ०)। इनका प्रयोग प्राचीन अभिलेखों में बिल्कुल नहीं मिलता। अशोक, खारवेल, विविध सातवंशीय नरेश तथा अन्यान्य सभी तत्कालीन भारतीय राजा अपने अभिलेखों में अपने शासन के वर्ष की संख्या ही देते हैं। भारत में किसी संवत् के प्रयोग का प्रचलन सर्वप्रथम शक, पह्लव और कुषाण नरेशों ने किया। इससे यह सम्भावना अपने आप उत्पन्न हो जाती है कि भारतीय अभिलेखों में प्राप्त प्राचीनतम संवत् विदेशियों की देन होनी चाहिए।

भारत के प्राचीनतम खरोष्ठी और ब्राह्मी अभिलेखों में दो संवतों का प्रयोग मिलता है : एक, वह जिसकी तिथियाँ ५८ वें वर्ष (मैरा-लेख) से शुरू होती हैं और क्रमशः बढ़ती हुई ३९९ (स्कहूढेरी-अभिलेख) तक जाती है (यद्यपि इस 'सिरीज' में २०० और ३१८ तिथि के मध्य लिखा गया कोई लेख अभी तक नहीं मिला है)। ७८ वें वर्ष का तक्षशिला-ताम्रपत्र लेख, इसी तिथि का शोडास का मथुरा-लेख, १०३ तिथि का तख्त-ए-बही लेख, १३६ वें वर्ष का तक्षशिला-रजतवर्ति लेख आदि इसी 'सिरीज' में आते हैं। ये अभिलेख ज्यादातर शक-पह्लव नरेशों के हैं इसलिए इनमें प्रयुक्त संवत् को 'प्राचीन शक-पह्लव संवत्' कहा जा सकता है। इनमें ज्यादातर लेख खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण हैं। दूसरे सम्वत् का प्रचलन प्रथम कनिष्क के राज्यारोहण से प्रारम्भ हुआ। इसके लेखों की तिथियाँ उसके शासन के पहले या दूसरे वर्ष से प्रारम्भ होती हैं और निश्चित रूप से ९९ (मथुरा, कंकाली-टीला-अभिलेख) और सम्भवतः ११४ तक (मथुरा-लेख) तक जाती हैं। इस 'सिरीज' के सभी लेख स्पष्टतः कनिष्क वर्ग के राजाओं के शासन काल के हैं।

इन दो संवतों के अलावा प्राचीन भारतीय अभिलेखों में ज्यादातर मालव-विक्रम संवत्, शक संवत् और बाद में गुप्त-संवत् और कल्चुरि-चेदि संवत् आदि का प्रयोग मिलता है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'प्राचीन शक-पह्लव' और कुषाण अभिलेखों में प्रयुक्त इन संवतों का प्रारम्भ कब हुआ। हमने इनमें कनिष्क-संवत् की पहिचान अन्यत्र एक पृथक् परिशिष्ट में निर्धारित की है जिसमें हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कनिष्क ने जिस संवत् का प्रवर्तन किया था वही बाद में शक-संवत् नाम से विख्यात हुआ।

जहाँ तक 'प्राचीन शक-पह्लव संवत्' का सम्वन्ध है, इसके विषय में अनेक सुझाव रखे गये हैं (विविध मतों की समीक्षा के लिए दे०, सरकार, पूर्वो०)। हाल ही में ए० के० नारायण ने (दे०, वैशम, ए० एल० द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'दि डेट आव कनिष्क' में नारायण के लेख; नारायण, ए० के०, 'दि इण्डोग्रीक्स') कल्पना की कि है कि इन अभिलेखों में दो संवतों का प्रयोग हुआ है, एक, १५५ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाला 'यवन-संवत्' और दूसरा ८८ ई० पू० में प्रारंभ होने वाला 'पह्लव-संवत्'। परन्तु उनके द्वारा सुझाए गए इन दोनों संवतों का अस्तित्व केवल अनुमानाश्रित है। दूसरे नारायण महोदय यवन-संवत् को जिन लेखों पर लागू करते हैं उनकी तिथियाँ हैं ५, ५८, ६८, ७८, और ८१, तथा 'पह्लव-संवत्' को जिन लेखों पर लागू करते हैं उनकी तिथियाँ हैं ८१, १०० (?) १०२, १०३; १११, ११३, ११७ (?), १२२, १३४ आदि। इन संख्याओं से स्पष्ट है कि इनको दो पृथक् संवतों की तिथियाँ मानना सर्वथा अनावश्यक है। ये (शिनकोट लेख की तिथि ५ को छोड़कर) स्पष्टत: एक ही संवत् की क्रमश: वर्द्धमान तिथियाँ हैं। इन लेखों की लिपि भी इसी निष्कर्ष के पक्ष में है।

हमारे विचार से प्रस्तुत समस्या के विषय में सर्वोत्तम सुझाव दि० च० सरकार का है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि भारत के दो प्राचीनतम संवत् विक्रम और शक—ठीक उसी युग में प्रारम्भ हुए जिस युग में शक, पह्लव एवं कुषाण नरेशों ने शासन किया। इसलिए कनिष्क-संवत् के शक-संवत् एवं 'प्राचीन शक-पह्लव' अभिलेखों के संवत् के विक्रम-संवत् होने की सम्भावना अनायास उमड़ आ जाती है। हमारे विचार से इस सम्भावना को तक्षशिला-रजतवर्ति लेख निश्चित रूप बल प्रदान करता है। इस लेखके अनुसार ('प्राचीन शक-पह्लव संवत्' के) १३६ वें वर्ष में कोई 'देवपुत्र राजाधिराज कुषाण', जिसका नाम नहीं दिया गया है, तक्षशिला पर शासन कर रहा था। अब, जैसा कि चीनी साक्ष्य से ज्ञात होता है 'भारत' पर सर्वप्रथम विजय प्राप्त की विमकडफिसिज ने। जिसके लगभग तत्काल बाद प्रथम कनिष्क ने शासन किया। हम अन्यत्र कनिष्क-संवत् की तिथि विषयक परिशिष्ट में प्रमाणित कर चुके हैं कि विम और प्रथम कनिष्क के मध्य बहुत वर्षों का अन्तराल नहीं हो सकता। इसलिए स्पष्ट है कि १३६ वें वर्ष का तक्षशिला अभिलेख या तो विम का है, या प्रथम कनिष्क के शासन के प्रारम्भ का (जब तक हो सकता है उसने अपने संवत् का प्रयोग प्रारम्भ न किया हो) अथवा विम और कनिष्क के मध्य शासन करने वाले किसी अज्ञात राजा का। लेकिन हर हालत में इतना निश्चित है कि इस लेख की तिथि और कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि में बहुत अन्तर नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों मे 'प्राचीन शक-पह्लव संवत्' और कनिष्क-संवत् में लगभग १३६ वर्ष का अन्तर होना चाहिए। अब, विक्रम-संवत् (जो ५७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ) और शक-संवत् (जो ७८ ई० में प्रारम्भ हुआ) में ठीक १३५-६ वर्ष का अन्तर है। इसलिए 'प्राचीन शक-पह्लव संवत्' की पहिचान उस संवत् से करनी चाहिए जो बाद में कृत, मालव और विक्रम नामों से विख्यात हुआ।

हमारा उपर्युक्त निष्कर्ष गोन्दोफर्निज़ के तख्त-ए-वही अभिलेख के साक्ष्य की कसौटी पर खरा उतरता है और एक निश्चित तथ्य हो जाता है। जैसा कि सर्वज्ञात है गान्दोफर्निज़ का उल्लेख ईसाई अनुश्रुतियों में मिलता है जिनके अनुसार ईसा के बलिदान (२९ या ३१ ई०) के कुछ वर्ष बाद सन्त टॉमस उसके दरबार में आए थे। अब, गोन्दोफर्निज़ का उपर्युक्त लेख १०३ तिथि का है। जिसे विक्रम-संवत् की तिथि मानने पर निष्कर्ष निकलता है कि वह ४६ ई० में शासन कर रहा था। उस समय, इसी लेख के अनुसार, उसके शासन का २६वाँ वर्ष चल रहा था, इसलिए उसने २१ से ४६ ई० के मध्य अवश्य ही शासन किया। इस प्रकार यह ईसाई अनुश्रुति 'प्राचीन शक-पह्लव संवत्' को विक्रम-संवत् मानने के पक्ष में है।

शोडासकालीन मथुरा पाषाण फलक-लेख

(तिथियुक्त : वर्ष ६२)

लेख-परिचय—यह लेख एक पाषाण फलक पर उत्कीर्ण है जिसका क्षेत्रफल ३' २"×३' ८" है। इस पर एक रानी की मूर्ति भी बनी है जो दासियों से घिरी हुई है। एक दासी ने हाथ में छत्र ले रखा है। इस फलक को फ्युरर ने मथुरा में कंकाली टीले से १८९०-९१ में प्राप्त किया था। कंकाली टीले का अर्थ है 'कंकाली नामक योगिनी का टीला'। यह एक जैन-अभिलेख है और इसका उद्देश्य एक जैन श्राविका द्वारा आर्यवती (=आयागपट नामक पूजा शिला) की स्थापना का उल्लेख करना है। इसमें केवल चार पंक्तियाँ हैं और यह सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी भाषा संस्कृत से प्रभावित प्राकृत है जो पालि से मिलती-जुलती है तथा लिपि प्रथम शती ई० पू० के अन्त और प्रथम शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी है। इसमें एक तिथि भी दी गई है जो स्वामी महाक्षत्रप शोडास का ७२वाँ वर्ष है। लेकिन यह वर्ष किस संवत् का है यह नहीं बताया गया है।

इस लेख को सर्वप्रथम ब्युलर ने 'एपि० इण्डिका', अंक २, में फ्युरर द्वारा प्रदत्त छाप-चित्र की सहायता से प्रकाशित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—ब्युलर, ई० आई० २, पृ० १९९ ; लूडर्स, सूची, स० ५९ ; ई० आई० ९, पृ० २४३-४४ ; सरकार, स०इ०, पृ० १२०-१ ; पाण्डेय, हि० लि० इ० पृ० ६८-९ ; वानलो हुई जेन द लियु, दि स्कीथियन पीरियड, पृ० ६५-७२।

मूलपाठ

१. **नम अरहतो वर्धमानस (।*)**

२. **स्व [ा] मिस मह क्षत्रपस शोडासस स [ं] वत्सरे ७० (+*) २ हेम [ं] त मासे २ दिवसे ९ हरिति पुत्रस पालस भया ये सम (न*) स [ा] विकाये**

३. **कोछिये अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पालघोषेन पोठघोषेन घनघोषेन आर्यवति [प्र] तिथा पिता (।*) प्रिय····**

४. **आयवंति अरहन पूजाये (॥*)**

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने शुरू में इस लेख की तिथि की प्रथम संख्या को संवत्सर ४० या ७० माना था। बाद में (ई० आई०, ४, पृ० ५५ टि० २) वह ७० को सही मानने लगे। रेप्सन ने ४० को सही माना है (कैं० हि० इ०, १, पृ० ५७५) परन्तु आजकल ज्यादातर विद्वान् इसे ७० ही पढ़ते हैं। (विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, वान लो हुइ ज़ेन द लियु, दि स्कीथियन पीरियड, पृ० ६५ अ०)। 'समन साविकाये' का पुनर्योजन ब्युलर ने किया था। उन्होंने तीसरी पंक्ति में 'आर्यवति' को 'आयवती' पढ़ा है और चौथी पंक्ति में 'आयवंति' को 'आर्यवती'। तीसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द को वह 'प्राय भ' पढ़ते हैं। लिपिक का उद्देश्य शायद 'प्रियतां भगवती' लिखना था।

शब्दार्थ

भयाये=भार्यया, पत्नी द्वारा ; **समन साविकाये**=श्रमण श्रविकया, जैन श्रमण की शिष्या द्वारा ; **कोछिये**=कौत्स्या, कौत्सगोत्रोत्पन्ना ; **सहा**=साथ में ; **आर्यवति**= आयागपट नाम की पूजा-शिला जिसे जैनी लोग पूजते थे ।

अनुवाद

अर्हत वर्धमान को नमस्कार । स्वामी महाक्षत्रप शोडास के संवत्सर ७२ की हेमन्त ऋतु के २ रे मास के ९ वें दिन कौत्स गोत्रोत्पन्न जैन श्रमणों की शिष्या और हारीतिपुत्र पाल की पत्नी द्वारा (अपने) पुत्र पालघोप, पोठ (=प्रौष्ठ) घोष (तथा) धनघोष सहित आर्यवती को प्रतिष्ठापित किया गया ।........आर्यवती अर्हत की पूजा के हेतु है ।

व्याख्या

(१) **अरहतो वर्धमानस**—वर्धमान अथवा महावीर जैनधर्म के २४ वें तीर्थ-ङ्कर थे । अर्हत् की परिभाषा जैनधर्म में इस प्रकार दी गई है :

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोर्हन् परमेश्वरः ॥

—सरकार, स० इ०, पृ० १२०, टि० २ में उद्धृत ।

(२)**आर्यवती**—वे आयागपट जिन पर अर्हत् की प्रतिमा बनी रहती थी, आर्यवती कहलाते थे ।

(३) प्राचीन भारत में वर्ष को तीन ऋतुओं में बाँटा जाता था ग्रीष्म (चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ़), वर्षा (श्रावण, भाद्र, आश्विन तथा कार्तिक) एवं हेमन्त (मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन) । सातवाहन नरेशों ने अपने लेखों में प्रायः ऋतु के साथ उसके पक्ष या पखवाड़े की संख्या दी है (दे०, पुलुमावि के १९ वें वर्ष का नासिक-लेख) । इसके विपरीत विदेशी राजा वर्ष के साथ माह का उल्लेख करते थे (दे० मिनेण्डर के काल का शिनकोट-पेटिका लेख) । प्रस्तुत लेख इन दोनों विधियों में समन्वय प्रस्तुत करता है ।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख मथुरा के महाक्षत्रप शोडास का है । शोडास और उसके पिता राजूवुल के अन्य कई अभिलेख मथुरा से मिले हैं परन्तु किसी संवत् में तिथि केवल इसी लेख में मिलती है । यह संवत् कनिष्क द्वारा प्रवर्तित संवत् कदापि नहीं हो सकता, इसलिए इस लेख से प्रमाणित हो जाता है कि ये क्षत्रप प्राक्-कनिष्क युग के हैं । उन्होंने किस संवत् का प्रयोग किया है यह अनिश्चित है । कनिंघम ने शोडास को ८०-७० ई० पू० में रखा था । परन्तु आजकल प्रायः उसके द्वारा प्रयुक्त संवत् को विक्रम संवत् मानकर उसके इस लेख को १५ ई० का बताया जाता है । हमने इस समस्या पर अन्यत्र विचार किया है ।

शोडासकालीन मथुरा पाषाण-लेख-१

प्राप्ति स्थल : मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत । **लिपि :** ब्राह्मी

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : डाउसन, जे० आर० ए० एस०, एन० एस०, ५, पृ० १८८, सं० २९ ; कनिंघम, ए० एस० आर०, ३, पृ० ३० ; लूडर्स, ई० आई०, ९, पृ० २४७ ; सरकार, स० इ०, पृ०, १२१ ।

मूलपाठ

१. स्वामिस्य महाक्षत्रपस्य शोंडासस्य गंजवरेण ब्राह्मणेन शेग्रव-सगोत्रेण [पुष्क*]

२. रणि इमाषां यमड-पुष्करणीनं पश्चिमा पुष्करणि उदपानो आरामो स्तम्भो इ [मो*]

३. [शिला] पट्टो च .. ....(११*)

शोडासकालीन मथुरा पाषाण-लेख-२

प्राप्ति स्थल : मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत । **लिपि :** ब्राह्मी

तिथि : नहीं दी गई है

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : चन्दा, आर० पी०, एम० ए० एस० आई०, सं० ५, पृ० १६९-७३ ; लूडर्स, ई० आई०, २४, पृ० २०८ ; सरकार, स० इ०, पृ० १२३

मूलपाठ

१-५ ....
६. वसुना भगव [तो वासुदे*]
७. वस्य महास्थान [के देवकु *]-
८. लं तोरणं वे [दिका प्रति*]-
९. ष्ठापितं (तम्) (।*) प्रीतो भ [गवान् वासु*]-
१०. देवः स्वामि [स्य (नः) महाक्षत्र *]
११. पस्य शोडास [स्य शासनं *]-
१२. संवर्त्तयतां (ताम्) (॥ *)

पतिक का तक्षशिलाताम्रपत्र अभिलेख : वर्ष ७८

प्राप्ति स्थल : तक्षशिला

भाषा : प्राकृत । **लिपि :** खरोष्ठी

तिथि : सं० ७८

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : ब्युलर, ई० आई०, ४, पृ० ५५ अ०, कोनो, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० २८ ; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ६५-६ ।

मूलपाठ

१. [संवत्स] रये अठसततिमए २० (+) २० (+) २० (+) १० (+) ४ (+) ४ महरयस महंतस [मो] गस प [ने) मस मसस दिवसे पंचमे ४ (+) १ एतये पूर्वये क्षहर [स]

२. चुक्सस च क्षत्रपस लिअको कुसुलुको नम तस पुत्रो [पति को] तखशिलये नगरे [।] उतरेण प्रचुदेशो क्षेम नम [।] अत्र

३. [दे] शे पतिको अप्रतिठवित भगवत शकमुनिस शरिरं [प्र] [तिथ] [वेति] [सं] घरमं च सर्व-बुधन-पुयए मत पितरं पुयय [तो]

४. क्षत्रपस स-पुत्र-दरस अयु-बल वर्धिए भ्रतर सर्व [च] [ञतिग] [बं] धवस च पुययंतो [।] महदनपति पतिक सज उव [झ] ए [न]

५. रोहिणिमित्रेण य इम [मि] संघरमे नवकमिक [॥]

६. पतिकस क्षत्रप लिअक [॥]

राजूवुलकालीन मथुरा सिंहशीर्ष-अभिलेख

प्राप्तिस्थल : मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत। **लिपि :** खरोष्ठी

तिथि : नहीं दी गई है

सन्दर्भ ग्रन्थ व लेख : टॉमस, एफ० डब्ल्यू, ई० आई०, ९, पृ० १४१ अ० ; कोनो, कॉर्पस २, भाग १, पृ० ४८ ; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ६७-८

मूलपाठ

१. महछ[त्र]वस रजुलस
२. अग्रमहेषि अयसिअ
३. कमु[स]अ धित्र
४. खरओस्तस युवरञ
५. मत्र नदसिअकस [ए]
६. सध मत्र अबुहोल [ए]
७. पित्रमहि पिश्प्रस्रिअ भ्र
८. त्र हयुअरन सध हन धि[त्र]
९. अतेउरेन होरक प
१०. रिवरेन इश्र प्रढ्रवि प्रत्रे
११. श्रे निसिमे शरिर प्रत्रिठवित्रो
१२. भक्रवत्रो शकमुनिस बुधस
१३. मकिहिरयस इप[अ]भुसवित
१४. थुव च सघरम च चत्रु
७५. दिश्रस सघस सर्व
१६. स्तिवस्रन परिग्रहे [॥]

राजूवुल के पुत्र का मोरा (मथुरा) पाषाण-लेख

लेख-परिचय—यह लेख उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध तीर्थ मथुरा से करीब सात मील पश्चिम की तरफ मथुरा से गोवर्धन जाने वाली सड़क से दो मील उत्तर की ओर स्थित मोरा नामक स्थल से मिला था। यह एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण है जो एक अति प्राचीन कुएँ की जगत (चवूतरे) में लगा हुआ था। इस लेख की भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है और लिपि प्रथम शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी। यह बहुत क्षतिग्रस्त अवस्था में मिला है। इसमें सावधानी से उकेरी गई छः पंक्तियाँ थीं जिनमें अन्तिम दो एक दम मिट गई हैं और तीसरी और चौथी के कुछ अक्षरों को पढ़ने में भी बहुत दिक्कत होती है। लेख गद्य पद्य मिश्रित है। इसकी प्रथम दो पंक्तियाँ गद्य में हैं और शेष, सरकार के अनुसार, भुजंगविजृम्भित छन्द में रचित श्लोक के रूप में।

इस लेख की खोज १८८२ में कनिंघम ने की थी। उन्होंने इसे 'आवर्योलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्स्' के २० वें खण्ड में छापा। इसके वाद इसको फोगल, चन्दा व लूडर्स आदि ने सम्पादित किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ व निबन्ध—कनिंघम, ए० एस० आई०, ए० आर०, २०, पृ० ४९ ; फोगल, केटेलाग ऑव आर्क्योलोजिकल म्युजियम, मथुरा, पृ० १८४ ; लूडर्स, ई० आई० २४, पृ० १४९ अ०, सरकार, स० इ०, पृ० १२२।

१. [स्वस्तिक] महक्षत्रपस राजूवुलस पुत्रस स्वामि
[स्य महाक्षत्रपस्य शोडासस्य संवत्सरे *]....
२. भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमा [:] शैल देव
गृ [हे स्थापित : *]....
३. यस्तोष [।*] याः शैलं श्रीमद्गृहमतुलमुदधसमधार (?)....
४. आर्चा देशां शैलं पंच ज्वलत इव परम वपुषा..................(।*)
५. ....
६. .... (॥*)

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'स्वामि' के वाद एवं द्वितीय में 'देवगृ' के सरकार द्वारा पुनर्योजित शब्द दिए गए हैं। तीसरी और चौथी पंक्तियों के विषय में फोगल, चन्दा व लूडर्स में वड़ा मतभेद रहा है। ऊपर लूडर्स का पाठ गया है। सरकार ने भी यही पाठ माना है, केवल चौथी [illegible] लं को [illegible] जिसे वह 'शैलां' पढ़ते हैं।

अनुवाद

महाक्षत्रप राजूवुल के पुत्र स्वामी (महाक्षत्रप शोडास के संवत्सर···· ····में) वृष्णियों के पूज्य पञ्चवीरों की प्रतिमाएँ पाषाण निर्मित देवगृ (ह) (अर्थात् मन्दिर में स्थापित की गईं)—····जो तोषा के अतुलनीय श्रीमद् शैलगृह को—···· ('अतुलम्' के आगे के शब्दों का अर्थ अस्पष्ट है)।

व्याख्या

(१) यह लेख लगभग निश्चित रूप से शोडास के काल में लिखा गया। सम्भवतः प्रथम पंक्ति के खण्डित अंश में उसका व उसके शासन के वर्ष का उल्लेख रहा होगा।

(२) **पञ्चवीर**—फोगल ने पञ्चवीरों की पहिचान पाँच पाण्डवों से की थी जब कि लूडर्स ने पञ्चवीरों की खोज जैनधर्म और साहित्य में की और उनकी पहिचान जैनियों द्वारा उल्लिखित बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्टि, सारण और विदूरथ से सुझाई। लेकिन इस लेख में जिन पञ्चवीरों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध सम्भवतः भागवत धर्म से था। 'वायुपुराण' में पंचवीरों की गणना इस प्रकार की गई है :

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।
अनिरुद्धश्च पंचैतै वंश वीराः प्रकीर्तिताः॥

पञ्चवीर सिद्धान्त चतुर्व्यूह सिद्धान्त से घनिष्ठतः सम्बन्धित था। इन सिद्धान्तों के विस्तृत विवेचन के लिए दे०, सर्वतात का घोसूण्डी (हाथी वाड़ा)—लेख एवं हेलियोदोरस का वेसनगर-स्तम्भ-लेख।

(३) चौथी पंक्ति में आए शब्द **'आर्चा देशां शैलं पंच'** से आशय पाँच पाषाण प्रतिमाओं से हो सकता है जब कि तीसरी पंक्ति में आया 'तोषा' देवमन्दिर का निर्माण कराने वाली महिला का नाम रहा होगा।

राजूवुल के पुत्र का मोरा (मथुरा) पाषाण-लेख

लेख-परिचय—यह लेख उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध तीर्थ मथुरा से करीब सात मील पश्चिम की तरफ मथुरा से गोवर्धन जाने वाली सड़क से दो मील उत्तर की ओर स्थित मोरा नामक स्थल से मिला था। यह एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण है जो एक अति प्राचीन कुएँ की जगत (चवूतरे) में लगा हुआ था। इस लेख की भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है और लिपि प्रथम शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी। यह बहुत क्षतिग्रस्त अवस्था में मिला है। इसमें सावधानी से उकेरी गई छः पंक्तियाँ थीं जिनमें अन्तिम दो एक दम मिट गई हैं और तीसरी और चौथी के कुछ अक्षरों को पढ़ने में भी बहुत दिक्कत होती है। लेख गद्य पद्य मिश्रित है। इसकी प्रथम दो पंक्तियाँ गद्य में हैं और शेष, सरकार के अनुसार, भुजंगविजृम्भित छन्द में रचित श्लोक के रूप में।

इस लेख की खोज १८८२ में कनिंघम ने की थी। उन्होंने इसे 'आर्क्योलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्‌स्' के २० वें खण्ड में छापा। इसके बाद इसको फोगल, चन्दा व लूडर्स आदि ने सम्पादित किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ व निबन्ध—कनिंघम, ए० एस० आई०, ए० आर०, २०, पृ० ४९; फोगल, केटेलाग ऑव आर्क्योलोजिकल म्युजियम, मथुरा, पृ० १८४; लूडर्स, ई० आई० २४, पृ० १४९ अ०, सरकार, स० इ०, पृ० १२२।

१. [स्वस्तिक] महक्षत्रपस राजूवुलस पुत्रस स्वामि
[स्य महाक्षत्रपस्य शोडासस्य संवत्सरे *]....
२. भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमा [:] शैल देव
गृ [हे स्थापित : *]....
३. यस्तोष [।*] याः शैलं श्रीमद्गृहमतुलमुदधसमधार (?)....
४. आर्चा देशां शैलं पंच ज्वलत इव परम वपुषा...............(।*)
५. ....
६. .... (॥*)

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'स्वामि' के बाद एवं द्वितीय में 'देवगृ' के बाद सरकार द्वारा पुनर्योजित शब्द दिए गए हैं। तीसरी और चौथी पंक्तियों के पाठ के विषय में फोगल, चन्दा व लूडर्स में बड़ा मतभेद रहा है। ऊपर लूडर्स का पाठ दिया गया है। सरकार ने भी यही पाठ माना है, केवल चौथी पंक्ति के 'शैलं' को छोड़कर जिसे वह 'शैलां' पढ़ते हैं।

अनुवाद

महाक्षत्रप राजूवुल के पुत्र स्वामी (महाक्षत्रप शोडास के संवत्सर···· ····में) वृष्णियों के पूज्य पञ्चवीरों की प्रतिमाएँ पाषाण निर्मित देवगृ (ह) (अर्थात् मन्दिर में स्थापित की गईं)—····जो तोषा के अतुलनीय श्रीमद् शैलगृह को—···· ('अतुलम्' के आगे के शब्दों का अर्थ अस्पष्ट है)।

व्याख्या

(१) यह लेख लगभग निश्चित रूप से शोडास के काल में लिखा गया। सम्भवतः प्रथम पंक्ति के खण्डित अंश में उसका व उसके शासन के वर्ष का उल्लेख रहा होगा।

(२) **पञ्चवीर**—फोगल ने पञ्चवीरों की पहिचान पाँच पाण्डवों से की थी जब कि लूडर्स ने पञ्चवीरों की खोज जैनधर्म और साहित्य में की और उनकी पहिचान जैनियों द्वारा उल्लिखित बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्टि, सारण और विदूरथ से सुझाई। लेकिन इस लेख में जिन पञ्चवीरों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध सम्भवतः भागवत धर्म से था। 'वायुपुराण' में पंचवीरों की गणना इस प्रकार की गई है :

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।
अनिरुद्धश्च पंचैतै वंश वीराः प्रकीर्तिताः॥

पञ्चवीर सिद्धान्त चतुर्व्यूह सिद्धान्त से घनिष्ठतः सम्बन्धित था। इन सिद्धान्तों के विस्तृत विवेचन के लिए दे०, सर्वतात का घोसूण्डी (हाथी बाड़ा)—लेख एवं हेलियोदोरस का बेसनगर-स्तम्भ-लेख।

(३) चौथी पंक्ति में आए शब्द **'आर्चा देशां शैलं पंच'** से आशय पाँच पाषाण प्रतिमाओं से हो सकता है जब कि तीसरी पंक्ति में आया 'तोषा' देवमन्दिर का निर्माण कराने वाली महिला का नाम रहा होगा।

गोन्दोफर्निज़ का तख्त-ए-बाही पाषाण-लेख
शासन वर्ष २६ ; सं० १०३ (=४६ ई०)

प्राप्ति-स्थल—यह लेख भारतीय-पह्लव नरेश गुदुह्वर (गोन्दोफर्निज़) का है। यह १७" × १४½" बड़े पाषाण पर उत्कीर्ण है जो अब लाहौर-संग्रहालय में रखा हुआ है। यह आजकल तख्त-ए-बाही पाषाण-लेख नाम से विख्यात है, परन्तु इसके सही प्राप्ति स्थल के विषय में कुछ शंका है। जनरल कनिंघम ने सर्वप्रथम यह लिखा था कि यह पाषाण डॉ० बेलो को शहबाजगढ़ी में मिला था (आई० ए०, २, १८७३, पृ० २४२)। हारग्रीवृज़ ने इसका समर्थन किया। लेकिन बाद में कनिंघम ने इसका उल्लेख तख्त-ए-बाही-पाषाण-लेख नाम से किया और अपने पिछले लेख की चर्चा भी नहीं की। तब से वह तख्त-ए-बाही अभिलेख नाम से ही विख्यात हो गया है। लेकिन शहबाज़गढ़ी और तख्त-ए-बाही एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं। दोनों आधुनिक पाकिस्तान में युसुफज़ई प्रदेश में मर्दान के निकट स्थित हैं—शहबाज़-गढ़ी मर्दान से ६ मील पूर्व की तरफ है और तख्त-ए-बाही ८ मील उत्तर-पश्चिम की तरफ।

लेख-परिचय—अगर इस लेख के पाषाण को खोज निकालने का श्रेय डॉ० बेलो को प्राप्त है तो इस पर लिखे लेख की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय डा० लीटनर को है। कनिंघम के अनुसार यह पाषाण वर्षों तक, सम्भवतः शताब्दियों तक, पीसने की शिला की तरह प्रयोग में आता रहा था, इसलिए इसके लेख के बहुत से अक्षर मिट गए हैं। इसमें कुल छः पंक्तियाँ हैं जिनमें तीसरी व पाँचवीं को बहुत क्षति पहुँची है। कहीं-कहीं तो यह भी कहना कठिन है कि लिखे अक्षर लिपिक ने मिटा दिये थे, वे स्वयं मिट गए हैं अथवा वह जगह लिपिक ने पत्थर खराब होने के कारण खाली छोड़ दी थी।

भाषा, लिपि व तिथि—इस लेख की भाषा प्राकृत है और लिपि खरोष्ठी। अक्षरों की औसत ऊँचाई १¼" है। इसमें दो तिथियां २६ व १०३ दी गई हैं—पहली इसमें उल्लिखित नरेश गुदुव्हर के शासन का वर्ष है और दूसरी एक संवत् का। इन पर हमने आगे विचार किया है।

अध्ययन इतिहास—इस लेख की चर्चा सर्वप्रथम डाउसन ने Trubner's Rocords के जून १८७१ के अंक में की। इसके बाद कनिंघम ने उसी पत्र के जून १८७३ के अंक में इस पर टिप्पणी लिखी। इसके बाद इस लेख के कई संस्करण डाउसन, कनिंघम, सेना व बॉयर ने प्रकाशित किए। इसके बाद स्टेनकोनो ने इसे 'एपि० इण्डिका' व कॉपर्स, २, १, में के १८ वें अंक में प्रकाशित किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ व निबन्ध—डाउसन, ट्रूबनेयर्स रिकार्डस, जून १८७१। जे० आर० ए० यस०, १८७५, पृ० ३७६ अ० ; १८७७, पृ० १४४ अ० ; कनिंघम, ट्रूबनेयर्स रिकार्डस, जून १८७३ (आई० ए०, २, पृ० २४२) ; ए० एस० आई०, ए० आर०, ५, १८७५ पृ० ५८ अ० ; सेना, जे० ए० ८, पृ० १४४ अ० ; बॉयर, वही १९४०, १०, पृ० ४५७ अ० ; कोनो, स्टेन, ई० आई, १८ पृ० २६१ अ० ; कॉर्पस २, १, पृ० ६२ अ० ; सरकार , स० इ०, पृ० १२५, अ० ; पाण्डेय, रा० व०, हि० लि० इ०, पृ० ६६।

मूलपाठ

१. महरयस गुदुव्हरस वष २० (+*) ४ (+*) १ (+*) १
२. **संब [त्सरए] [ति] शतिमए १ (+*) १०० (+*) १ (+*) १ (+*) १ वेशखस मसस दिवसे**
३. **[प्रढमे] [पुजे] (ब)* [हु] ले पक्षे बलसमिस [बो] यणस**
४. **[परि] वर शघ-दण स-पुत्रस केणमिर (स ?) बोअणस**
५. **एर्झुणकप .. स पुअए (।*) मदु....**
६. **पिदु पुअए (॥*)**

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में राजा का नाम कोनो ने 'गुदुफर' पढ़ा था। अब इसे ज्यादातर विद्वान् 'गुदुव्हर' पढ़ते हैं। दूसरी पंक्ति का प्रथम शब्द कनिंघम ने 'सं' पढ़ा था, डाउसन ने 'संवत्सरस', तथा टॉमस व कोनो ने 'संवत्सरए'। इसके बाद का शब्द सेना ने 'तिशतमए' पढ़ा है। तीसरी पंक्ति डाउसन ने बिल्कुल नहीं पढ़ी थी, कनिंघम ने इसके मात्र कुछ अक्षर पढ़े थे, सेना ने इसके ज्यादातर शब्द पढ़े व अर्थ निकाला। सेना का इस पंक्ति का पाठ है 'प्रथमे दि १ इस दिणे पछे बल समिस वोयणस'। सरकार ने ऊपर प्रदत्त पाठ दिया है। बॉयर ने 'बल समिस' को 'बेल समिस' पढ़ा है और 'बोयणस' को 'गोयनस'। टॉमस 'बोयणस' को 'बायनस' पढ़ते हैं चौथी पंक्ति के प्रथम शब्द का 'परिवर' पाठ बॉयर ने सुझाया था। इसके आगे बॉयर ने 'शधदन' पढ़ा है और कोनो ने 'षधदण'। पांचवीं पंक्ति में 'एर्झुन' को बॉयर ने 'एझ्षुन पढ़ा है और कोनो ने इस पंक्ति के प्रथम अक्षरों को 'एर्झुन कपषस'। प्रथम पंक्ति ने 'गुदु०' के उपरान्त कुछ जगह खाली है। सरकार के अनुसार वहां लिपिक ने कुछ अक्षर लिखकर मिटा दिए थे। इसी प्रकार पांचवीं पंक्ति में 'कप' के उपरान्त करीब आठ अक्षरों की जगह खाली है। सरकार के अनुसार यहां के अक्षर पत्थर की घिसाई के कारण मिट गये हैं। लेकिन कोनो के अनुसार ये जगहें पत्थर में धरातल के उवड़-खावड़ होने के कारण खाली रह गई थीं, लिपिक ने यहां शब्द उकेरे ही नहीं थे।

शब्दार्थ

महरय=महाराज ; **तिशतिमए**=त्रिशततमके, एक सौ तीन ; **पुञे**=पुण्ये ; **बहुले पक्षे**=शुक्ल पक्ष में ; **परिवर**=दीवारों से घिरी जगह ; क्षुद्रवासगृह ; **शध**=श्रद्धा ; **दण**=दान ; **स पुत्रस**=सपुत्रस्य ; **पुअए**=पूजायै, सम्मान में ; **मदु पिदु**=माता पिता ।

अनुवाद

महाराज गुदुव्हर के (शासन के) २६ वें वर्ष में संवत्सर एक सौ तीन १०३ के वैशाख मास के प्रथम दिन पुण्य शुक्ल पक्ष में बलस्वामी बोयन का वासगृह पुत्र सहित केनमिर बोयन का एर्झुन (=कुमार ?) कप···के सम्मान में, माता पिता के सम्मान में श्रद्धादान है ।

व्याख्या

(१) **एर्झुण कप**—कोनो के अनुसार 'एर्झुन' एक खोतनी शब्द है जिसका अर्थ है 'कुमार'। बॉयर ने इसे 'एझ्षुन' पढ़ा था और व्यक्तिवाचक नाम माना था । कोनो ने 'एर्झुण कप' को 'एर्झुन कप्ष' पढ़ा है, इसके बाद के रिक्त स्थान को पाषाण का धरातल खराब होने के कारण छोड़ दिया गया मानकर पूरा पद एर्झुण-कप्षस पुयए' माना है तथा कुमार कप्ष की पहचान कुजुल कडफिसिज से की है । 'एर्झुण' शक शब्द था और 'श्वेत' अर्थ में प्रयुक्त होता था । 'अवेस्ता' का 'ऐरेज़त' (erezata) एवं संस्कृत का 'रजत' शब्द तथा दक्षिणी अमेरिका के देश 'अर्जेण्टाइना' का नाम—इन सब की व्युत्पत्ति एक ही मूल शब्द से हुई है। पाण्डव अर्जुन का नाम भी उसी मूल -शब्द से बना है। सामान्य जनों की तुलना में राजा को प्रभामय या श्वेत मानने के कारण 'एर्झुण' शब्द का प्रयोग 'राजा' या 'कुमार' अर्थ में होने लगा था। लेकिन कोनो का यह सुझाव कि इस लेख में कुजुल कडफिसिज का उल्लेख भी है आजकल सामान्यतः माना नहीं जाता।

(२) **परिवर** = प्राचीर अथवा दीवारों से घिरी कोई भी जगह। सुइविहार, वडकि तथा मणिक्याला लेखों में इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख भारत के एक सुप्रतिथ पह्लव नरेश गुदुव्हर का है। उसके नाम का फारसी रूप होगा विन्दफर्न। प्रारम्भ में सम्भवतः वह पार्थियायी सम्राट् का एरेकोशिया में नियुक्त गवर्नर था। बाद में उसने कावुल की घाटी की तरफ अपने राज्य का विस्तार किया और अन्त में स्वयं सम्राट् बन बैठा। प्रस्तुत अभिलेख से प्रमाणित है कि उसने अपने शासन के २६ वें वर्ष के पूर्व पेशावर प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। इस लेख में उसके द्वारा प्रयुक्त सवत् की तिथि (१०३) प्रायः विक्रम-संवत् की मानी जाती है। उस अवस्था में यह लेख ४६ ई० का होगा और गुदुव्हर का राज्यारोहण २१ ई० में रखना होगा। इस निष्कर्ष का समर्थन एक ईसाई अनुश्रुति से होता है जिसके सीरियायी यूनानी और लैटिन संस्करण

मिलते हैं। इसके अनुसार गूद्नफर (सीरियायी संस्करण) अथवा गाउन्दोफोरोस (यूनानी संस्करण) 'भारत-नरेश' था और ईसा के वलिदान (२९ या ३१ ई०) के कुछ वर्ष उपरान्त सन्त टॉमस उसकी राजसभा में पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने गुद्नफर व उसके भाई गैड को ईसाई धर्म में दीक्षित किया था। (विस्तार के लिए दे०, स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑव इण्डिया, ४ था संस्करण, पृ० २४६–५०; कैं० हि० ई०, पृ० १, ५७८)। रीनो, कनिंघम, कोनो व डाउसन आदि विद्वानों ने इस राजा की पहिचान गुदुव्हर से की है जो सही प्रतीत होती है। वानलो हुइ जैन द ल्यु (दि स्कीथियन पीरियड, पृ० ३५३–४) को इसमें शंका है, परन्तु उनकी शंका निराधार लगती है। (दे०, ए० इ० मेडलीकोट, इण्डिया एण्ड द अपोस्टल टॉमस, पृ० १६)।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत अभिलेख में प्रयुक्त संवत् की पहिचान विक्रम संवत् से ही करनी चाहिए। इससे अन्य खरोष्ठी लेखों की तिथियों को, जो तख्त-ए-बाही लेख में प्रयुक्त संवत् की तिथियाँ लगती हैं, विक्रम संवत् की तिथियाँ मानने के लिए कुछ सबल आधार मिल जाता है।

कुषाण नरेश का पंजतार पाषाण-लेख

सं० १२२ (=६५ ई०)

प्राप्ति स्थल—पाकिस्तान में पेशावर व हजारा जिले की सीमा के पास स्थित पञ्जतार।

भाषा—प्राकृत। **लिपि**—खरोष्ठी

तिथि—सं० १२२

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : कोनो, ई० आई०, २४, पृ० १३४; कॉपर्स, २, भाग १, पृ० ७० ; बनर्जी, आई० ए०, ३७, १९०८, पृ० ३१, ४४ ; सरकार, स० इ०, पृ० १३०

मूलपाठ

१. सं० १ (×*) १०० (+*) २० (+*) १ (+*) १ श्रवणस मसस दि प्रढमे १ महरयस गुषणस रज [मि]

२. स्पसुअस प्रच -- [देशो *] मोइके उरमुज-पुत्रे करविदे शिवथले (।*) तत्र दे मे

३. दनमि तरक १ (+*) १ (।*) पत्रकरे ण (णे ?) व अमत शिवथल रम ** म *

कलवान ताम्रपत्र–अभिलेख

सं० १३४ (७७ ई०)

प्राप्ति स्थल—पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में प्राचीन तक्षशिला (सिरकप) के समीपस्थ कलवान।

भाषा—प्राकृत। **लिपि**—खरोष्ठी

तिथि—सं० १३४

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—कोनो, एस०, ई० आई०, २१, पृ० २५९; सरकार, स० इ०, पृ० १३१–३२

मूलपाठ

१. सवत्सरये १ (× *) १०० (+ *) २० (+ *) १० (+ *) ४ अजस श्रवणस मसस दिवसे त्रेविशे २० (+ *) १ (+ *) १ (+ *) १ इमेण क्षुषेण चंद्रभि उअसिअ

२. ध्रंमस ग्रहवतिस धित भद्रवलस भय छडशिलए शरिर प्रइस्तवेति गहथू–

३. वमि सध भ्रदुण नन्दिवढणेण ग्रहवतिण सघ पुत्रेहि शमेण सइतेण च धितुण च

४. ध्रमए सघ ष्णषएहि रजए इद्रए य सध जिवणंदिण शमपुत्रेण अयरिएण य स [वं] स्ति—

५. वअण परिग्रहे रठ-णिकमो पुयइत सर्व-स्वत्वण पुयए (। *) णिवणस प्रतिअए होतु (। *)

२. केण इंतह्रिअ—पुत्रण वहलिएण णोअचए
णगरे वस्तवेण (।*) तेण इमे प्रदिस्तवित भगवतो धतुओ धमर-
३. इए तक्षशि(ल*) ए तणुवए बोसिसत्व गहमि
महरजस रजतिरजस देवपुत्रस खुषणस अरोग दक्षिणए
४. सर्वबुधण पुयए प्रचग बुधण पुयए अरह (त*) ण
पुयए सर्वस (त्व*) ण पुयए मत-पितु
पुयए मित्रमच-ञति-स
५. लोहि (त*) ण पुयए अत्वणो अरोग दक्षिणए
(।*) णि [व] ण ए होतु अ [व] दे
सम-परिचगो (।*)

पाठ-टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'केण' के बाद लिखा शब्द 'लोतन्ह्रिय०' हो सकता है। चौथी पंक्ति में 'प्रचग' को 'प्रचेग' पढ़ें।

शब्दार्थ

अयस = अय अर्थात् द्वितीय अजेज़ के ; **इश** = अस्मिन्, इस ; **धतुओ** = धातवः, देहावशेष ; **उरसकेण** = उरसक द्वारा ; **इंतव्हिअ पुत्रण** = इन्तप्रिय के पुत्र अथवा पुत्रों द्वारा ; **बहलियण** = वाह्लिक निवासी द्वारा ; **वस्तवेण** = वास्तव्येन, निवासी द्वारा ; **धमरइए** = धर्मराजिके, धर्मराजिक स्तूप में ; **तणुवए** = तणुव के ; **बोसिसत्व गहमि** = बोधिसत्वगृहे, बोधिसत्वगृह में ; **अरोग दक्षिणए** = आरोग्य दक्षिणायै, आरोग्य प्राप्ति के लिए ; **पुयए** = पूजायै, सम्मान में ; **प्रचेग** = प्रत्येक ; **सर्व सत्वण** = सर्वसत्वानां, सब प्राणियों के ; **मित्रमच** = मित्र और अमात्य ; **ञति-सलोहितण** = ज्ञातिसलोहितानां, सजातियों एवं रक्त सम्बन्धियों के ; **अत्वणो** = अपने ; **णिवणिए** = निर्वाणाय, निर्वाण के लिए ; **होतु** = भवतु, होवे ; **अवदे** = ले जाने वाला ; **सम परिचगो** = सम्यक् परित्याग, सम्यक् दान ।

अनुवाद

(द्वितीय) अजेज़ के (शासन काल में) संवत्सर १३६ में असाढ़ मास में १५ वें दिवस को, इस दिन को भगवान् की, धातुएँ (अर्थात् देहावशेष) वाह्लिक (प्रदेश) निवासी, णोअच नगर के रहने वाले इंतव्हिअ (=इन्तप्रिय) के पुत्र उरसक के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई। उसके द्वारा भगवान की ये धातुएं तक्षशिला (नगर) में तणुव के बोधिसत्वगृह में महाराज राजातिराज देवपुत्र खुषण (=कुषाण) के आरोग्य लाभ के लिए, सब बुद्धों के सम्मान में, प्रत्येक बुद्ध के सम्मान में, अर्हतों के सम्मान में, सब प्राणिओं के सम्मान में, (अपने) माता पिता के सम्मान में मित्रों, अमात्यों, सजातियों व रक्त सम्बन्धियों के सम्मान में (तथा) अपने आरोग्य लाभ के लिए प्रतिष्ठापित की गई। (यह) सम्यक् दान निर्वाण के लिए ले जाने वाला होवे।

व्याख्या

(१) **अयस**—मार्शल तथा सरकार ने 'अयस' को 'अयका' (= 'अजेज़ का') अर्थ में लिया है। इसके समर्थन में उन्होंने पतिक के तक्षशिला-लेख की तुलनीय तिथि शैली की ओर ध्यान दिलाया है जिसमें 'अयस' की जगह 'मोगस' शब्द आया है। फ्लीट, टॉमस, बॉयर, भाण्डारकर तथा कोनो इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह अभिलेख अगर अजेज़ के शासन काल में लिखवाया गया होता तो इसमें उसे सम्राटोचित उपाधियां दी गई होतीं। दूसरे, इस लेख को अजेज़ के काल का मानने पर अजेज़ की पहिचान इस लेख में आगे उल्लिखित कुषाण नरेश से करना अनिवार्य हो जाता है जो असम्भव है। इसके उत्तर में सरकार का कहना है कि १३६ वें वर्ष में अजेज़ की सत्ता मात्र नाम के लिए रह गई होगी इसलिए उसका इस प्रकार से उल्लेख हुआ है। फ्लीट व टॉमस ने 'अयस' को 'इसके' अर्थ में लिया है। परन्तु कोनो का कहना है कि यद्यपि 'अत्र' 'एतये' आदि शब्द तिथि के लिए प्रयुक्त होते हैं परन्तु

वे सामान्यतः तिथि के बाद आते हैं जैसा कि इसी लेख में प्रथम पंक्ति में ही १५ संख्या के बाद 'इश' शब्द आया है। बोयर का विचार है कि अयस को अय्यस—आद्यस्य (= वर्ष के प्रथम माह का) अर्थ में लेना चाहिए। उनके अनुसार इस लेख में उल्लिखित वर्ष आषाढादि था। भाण्डारकर ने भी 'अयस' का संस्कृत रूपान्तर 'आद्यस्य' किया है परन्तु उनका अनुमान है इस लेख में उल्लिखित वर्ष में दो आषाढ रहे होंगे—यहाँ प्रथम आषाढ का उल्लेख है। कोनो ने भाण्डारकर का समर्थन किया है यद्यपि वे इस विषय में पूर्णतः निश्चित नहीं है। लेकिन 'अयस' शब्द का ठीक इसी प्रकार से प्रयोग १३४ वें वर्ष के कलवान-ताम्रपत्र लेख में भी हुआ है और १३४ तथा १३६ इन दोनों वर्षों में दो-दो आषाढ नहीं हो सकते थे। वनर्जी शास्त्री तथा वान लो हुइ जेन द लिथु ने अयस को 'आर्यस्य' अर्थ में लिया है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'अभिधानराजेन्द्र' में आषाढ को 'आर्याषाढ' कहा गया है। परन्तु यह अर्थ भी यहाँ ठीक नहीं बैठता। इसलिए फिलहाल हम अयस को 'अज़ेज़ का' अर्थ में लेना ही उचित समझते हैं।

(२) **उरसकेण**—टॉमस, बायर तथा सरकार ने उरसक को व्यक्तिगत नाम न मानकर 'उरशा निवासी' अर्थ में लिया है (स० इ०, पृ० १३०-१)

(३) **इंतफ्रिह अ पुत्रण**—बहुत से विद्वान् इंतव्हिअ को स्थान का नाम मानते हैं और इस पद को 'इंतव्हिअ का निवासी' अर्थ में लेते हैं।

(४) **धमरइए** = धर्मराजिके—एक स्तूप का नाम। फोगल ने इसका अर्थ किया है 'वह स्तूप जो धर्मराज अशोक ने बनवाया था' जब कि कोनो ने इसे 'वह स्तूप जिसमें धर्मराज बुद्ध के अवशेष रखे हुए हैं, अर्थ में लिया है। कोनो ने इसकी पहिचान तक्षशिला के चीर स्तूप से की है जो बोयर के अनुसार युवान-च्वांग द्वारा उल्लिखित कुनाल स्तूप से अभिन्न था।

(५) **तणुवए**—मार्शल ने इसे तक्षशिला के किसी मुहल्ले का नाम माना था। बोयर ने इसे आगे उल्लिखित बोधिसत्वगृह का नाम बताया है। कोनो का कहना है कि यह शब्द तणुव नाम की महिला के नाम का षष्ठी एक वचन रूप है। वह बोधि-सत्वगृह की संस्थापिका रही होगी।

(६) **बोधिसत्व**—बोधिसत्व उसको कहते हैं जो भविष्य में बुद्ध बनने वाला हो। बुद्ध बनने के पूर्व स्वयं गौतम अनेक जन्मों में बोधिसत्व रहे थे।

(७) **खुषण** = कुषाण। इस लेख में कुषाण सम्राट् का नाम न होने से उसकी पहिचान विवादग्रस्त है। मार्शल व कोनो उसे कुजुल कडफिसिज़ मानने के पक्ष में लगते हैं और टॉमस विम कडफिसिज़ मानने के पक्ष में। दे०, आगे।

(८) **प्रचग बुधण**—उन बुद्धों को कहा जाता था जो निर्वाण पाने के हेतु सम्बोधि प्राप्त कर लेते थे परन्तु अपने ज्ञान का उपदेश दूसरों को नहीं देते थे।

अभिलेख का महत्त्व

इस अभिलेख का विशेष रूप से महत्त्व इसमें प्रयुक्त तिथि के कारण है। विद्वान् लोग अभी तक यह समस्या भली भांति नहीं सुलझा पाए हैं कि इस लेख में प्रयुक्त वर्ष किस सम्वत् का है। हमने इस समस्या पर अन्यत्र विचार किया है। और निष्कर्ष निकाला है कि यह सम्वत् वही होना चाहिए जो वाद में विक्रम-सम्वत् नाम से विख्यात हुआ। यह समस्या इस लेख में प्रयुक्त 'अयस' शब्द के सही अर्थ (दे०, टि० १) एवं आगे तीसरी पंक्ति में उल्लिखित नाम रहित कुषाण नरेश की पहिचान के साथ जुड़ी है (दे०, टि०)। हमारे विचार में इस विषय में यह मत सही हो सकता है कि यह नाम रहित राजा सिक्कों से ज्ञात 'सोटर मेगस' रहा होगा जिसे अपदस्थ कर कनिष्क ने (जिसका उदय सारनाथ—कौशाम्वी प्रदेश में ७८ ई० में हुआ) अपनो सत्ता स्थापित की होगी। जहाँ तक 'अय' का सम्वन्ध है हमने उसकी पहिचान द्वितीय अजेज़ से की है और इस लेख के लिखे जाने के समय (=७९ ई०) उसे नाम मात्र का सम्राट् माना है। विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, ऊपर लिखित टिप्पणियाँ 'प्राचीन शक-पह्लव सम्वत् की तिथि'—पूर्वपीठिका।

उविमिकस्तुस (?) का खलात्से पाषाण-लेख

वर्ष १८७ (? = १३० ई० ?)

लेख-परिचय—यह अभिलेख फ्रांके को कश्मीर के लद्दाख प्रदेश से खलात्से नामक स्थल से, जो लेह से ५२ मील दूर है, मिला था। यह एक अत्यन्त लघु लेकिन सम्भवतः अपूर्ण लेख है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि खरोष्ठी। इसमें उविमिकस्तु नामके किसी राजा का उल्लेख हुआ हो सकता है। इसमें उसकी तिथि भी दी गई है जिसे सामान्यतः १८४ या १८७ पढ़ा जाता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ— कोनो, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० ८१ ; सरकार, स० इ०, पृ० १३४ ; दे०, ए० इ० यू०, पृ० १३९ टि० ; को० हि० इ०, २, पृ० २३१–२

मूलपाठ

१. **सं० १ (×*) १०० (+*) २० (+*) २० (+*) २० (+*) २० (+*) ४ (+*) [१ (+*) १ (+*) १]**

२. **महरजस उविमिकस्तु (व्दु ?) सस (॥*)**

पाठ-टिप्पणी—इस लेख की तिथि को कुछ विद्वान् १८७ के बजाय १८४ पढ़ते हैं। कोनो ने 'उविमिकस्तुसस' के स्थान पर पर 'उविमिकव्थिसस' पढ़ा है। सरकार के अनुसार इसमें दूसरा अक्षर 'च' 'रि' या 'ति' भी पढ़ा जा सकता है। इसी प्रकार तीसरा अक्षर 'द' या 'दे' हो सकता है। पाँचवां अक्षर भी सन्दिग्ध है।

अनुवाद

सम्वत् १८७ महाराज उविमिकस्तुस का

लेख का महत्त्व

इस लेख का महत्व इसमें उल्लिखित राजा की विम कडफिसिज़ के साथ पहिचान हो सकने की सम्भावना के कारण है क्योंकि उस अवस्था में निष्कर्ष निकलेगा कि विम कडफिसिज़ किसी सम्वत् के १८७ वें वर्ष में शासन कर रहा था। कोनो ने इसमें राजा का नाम 'उविमकवृथिस' पढ़ कर उसकी पहिचान विम के साथ की थी। लेकिन (१) इस लेख में राजा के नाम का पाठ एकदम संदिग्ध है। (२) यह मानने के लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि विम ने लद्दाख पर भी अधिकार कर लिया था। (३) यह सर्वथा सम्भव है कि यह राजा कनिष्क के उत्तराधिकारियों का कोई गवर्नर रहा हो जो प्राचीन 'शक-पह्लव सम्वत्' का प्रयोग करता रहा हो। प्राचीन 'शक-पह्लव सम्वत्' जिसको परवर्ती युग के 'विक्रम' सम्वत् से अभिन्न माना जा सकता है, पश्चिमोत्तर प्रदेश में कनिष्क के समय से नए सम्वत् के चालू हो जाने के बाद भी बराबर लोकप्रिय बना रहा जैसा कि जिहोणिक के १९१ वें वर्ष के तक्षशिला रजत पात्र-लेख एवं अन्य अनेक लेखों से स्पष्ट है। इस प्रसंग में मालवा में, जो गुप्त-साम्राज्य का एक प्रान्त था, गुप्त-सम्वत् के साथ-साथ मालव-सम्वत् का प्रचलन उदाहरणीय है।

जिहोणिक का तक्षशिला रजतपात्र-अभिलेख

सं १९१ (= १३४ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में स्थित प्राचीन तक्षशिला स्थल (सिरकप) से प्राप्त हुआ था। यह प्राचीन शक-पह्लव सम्वत् की तिथि का प्रयोग करने वाले लेखों में से एक है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि खरोष्ठी।

सन्दर्भ ग्रन्थ—कोनो, एस०, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० ८२ ;
सरकार, स० इ०, पृ० १३५।

मूलपाठ

१. क १ (×) १०० (+) २० (+) २० (+) २०(+) २०(+) १० (+)
२. १ महरज..........स पुत्रस जिहोणिकस चुख्सस क्षत्रपस (॥)

पाठ-टिप्पणी—कोनो ने 'महरज' के उपरान्त 'भ्रत मणिगुल' अक्षर पढ़े हैं।

अनुवाद

सम्वत् १९१ में महाराज······के पुत्र चुक्ष (प्रदेश) के क्षत्रप जिहोणिक का।

लेख का महत्त्व

इस लेख में जिहोणिक का उल्लेख महत्वपूर्ण है उसकी पहिचान सिक्कों के जिओनाइसेज से जो क्षत्रप मनिगुल का पुत्र था, की जाती है और द्वितीय अजेज का समकालीन माना जाता है। लेकिन सरकार के अनुसार यह जिहोणिक जिओनाइसेस से भिन्न और उसका पुत्र हो सकता है। जिहोणिक का पिता सम्भवतः कोई 'महाराज' था।

स० १९१ (=१३४ ई०) के प्रस्तुत अभिलेख, व १८७ (=१३० ई०) के खलात्से-अभिलेख आदि से प्रमाणित है कि कुछ प्रदेशों में कनिष्क-सम्वत् के साथ प्राचीन शक-पह्लव-सम्वत् भी प्रचलित था। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण गुप्त काल में मालवा में गुप्त व मालव सम्वतों का साथ-साथ प्रचलन है।

इस लेख में सम्वत् के नाम के लिए 'क' का प्रयोग महत्वपूर्ण है। हो सकता है यह 'कृत' का लघुरूप हो।

उत्तर भारत : कनिष्क सम्वत् के कुषाण अभिलेख

पूर्वपीठिका

कनिष्क-सम्वत् की तिथि

कुषाण सम्राट् प्रथम कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के लेखों में प्रयुक्त सम्वत् की तिथि भारतीय इतिहास की सर्वाधिक विवादग्रस्त समस्याओं में से एक है। इसका महत्त्व न केवल कुषाण इतिहास की दृष्टि से है वरन् इसके सही समाधान पर ही शक-सम्वत् के प्रवर्त्तक की पहिचान, शक-सातवाहन तिथिक्रम, प्राचीनतर खरोष्ठी अभिलेखों में प्रयुक्त सम्वत् की पहिचान, भारत के अधिकांश विदेशी राजाओं का तिथिक्रम व अन्य अनेक समस्याओं के हल प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः निर्भर हैं। अब, यह प्रश्नातीत रूप से निश्चित है कि कुषाणों ने मौर्य-शुङ्गकाल के उपरान्त परन्तु गुप्त युग के पूर्व शासन किया था। परन्तु इस बीच में प्रथम कनिष्क ने, जो मुद्राओं और अभिलेखों से ज्ञात 'कनिष्क वर्ग' के नरेशों में प्रथम था और जिसके राज्यारोहण से उसके उत्तराधिकारियों द्वारा प्रयुक्त सम्वत् की गणना प्रारम्भ हुई, कब शासन करना आरम्भ किया यह निश्चित करना टेढ़ी खीर है। एक शती से अधिक समय हुआ जब प्रथम कनिष्क के सिक्के पहली बार प्रकाश में आए थे। उस समय से लेकर अब तक उसकी तिथि पर सैकड़ों शोध-निबन्ध लिखे जा चुके हैं जिनमें उसकी तिथि ५७ ई० पू० से लेकर २७८ ई० के बीच में सुझाई गई है। इस समस्या को सुलझाने के लिए कई बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हो चुके हैं। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन लन्दन में १९१३ ई० के जून मास में आयोजित किया गया था जिसमें एफ० डब्ल्यु० टॉमस, ई० जे० रेप्सन, जे० एफ० फ्लीट, विन्सेण्ट स्मिथ, एल० डी० बार्नेट, जे० कैनेडी तथा आर० बी० ह्वाइटहेड आदि ने भाग लिया था। (जे० आर० ए० एस० ,१९१३, २, पृ० ९११–१०४२) इस सम्मेलन के उपरान्त व्यतीत लगभग अर्द्ध शताब्दी में भारत और मध्य एशिया से कुषाण काल से सम्बन्धित काफी नवीन सामग्री प्रकाश में आई, परन्तु इस समस्या को हल करने वाला कोई निश्चायक प्रमाण नहीं मिला। इसलिए लन्दन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आव ओरियण्टल एण्ड एफ्रीकन स्टडीज' के तत्त्वावधान में २०–२१ अप्रैल, १९६० ई० को इस विषय पर प्रोफेसर ए० एल० बैशम की अध्यक्षता में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें अनेक भारतीय, इटालवी, फ्रान्सीसी, जर्मन, रूसी व अंग्रेज इतिहासकारों, मुद्राशास्त्रियों, अभिलेख शास्त्रियों व पुरातत्त्ववेत्ताओं आदि ने भाग लिया (बैशम, ए० एल०, 'दि डेट ऑव कनिष्क,' लीडेन, १९६८ ; इस ग्रन्थ की संक्षेप एवं विस्तृत समीक्षा के लिए दे०, गोयल, श्रीराम, कनिष्क की तिथि, 'इतिहास-समीक्षा', जयपुर, वर्ष २, अंक २, पृ० १४३–१८०)।

लन्दन सम्मेलन के उपरान्त व्यतीत होने वाले पिछले १४ वर्षों में कनिष्क की तिथि पर परोक्षतः प्रकाश देने वाली बहुत सी नई सामग्री प्रकाश में आई है जिसमें दानी, हुम्ब्राख तथा गोयब्ल द्वारा प्रकाशित तोची-अभिलेख (एन्श्येण्ट पाकिस्तान १, १९६४, पृ० १२५-३५) प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी-लेख (सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, १९६४, पृ० ५१९) तथा चष्टन का ११ वें वर्ष का अन्धौ-अभिलेख (शोभना गोखले, जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, २, कलकत्ता, १९७०, पृ० १०४–११ ; यही ग्रन्थ, अन्यत्र) विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। डेविडपिन्ग्री ने तो यहाँ तक दावा किया है कि उसने स्फूजिध्वज द्वारा २६९–७० ई० में रचित 'यवन जातक' के रूप में एक ऐसा साहित्यिक साक्ष्य खोज निकाला है जिसमें कुषाण-सम्वत् को शक-सम्वत् से पृथक् बताया गया है और जिससे संकेतित है कि कुषाण-सम्वत् २३ मार्च १४४ ई० को प्रारंभ हुआ था (जर्नल ऑव ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, ३१, १९६४, पृ० १६–३१, बी० एस० ओ० ए० एस०, ३३, १९७०, पृ० ६४६)। इतना ही नहीं इस बीच में सितम्बर-अक्टूबर १९६८ में कुषाण इतिहास पर रूस में ताजिकिस्तान की राजधानी दुशाम्बे में एक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो चुका है जिसमें अन्य समस्याओं के अतिरिक्त कनिष्क की तिथि पर भी विचार हुआ था।

कनिष्क की तिथि के विषय में लन्दन-सम्मेलन में और उसके बाद में जिस मत को सर्वाधिक विद्वानों का समर्थन मिला है उसके अनुसार कनिष्क ने ७८ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया और उसके द्वारा स्थापित सम्वत् ही कालान्तर में शक-सम्वत् कहलाया। इस पुस्तक के लेखक की श्रद्धा भी इसी मत में है। इसका समर्थन फर्ग्युसन, ओल्डनबर्ग, टामस, बनर्जी, रेप्सन, बेखोफर, वान लो हुइ जेन द लियु, रायचौधुरी, जगन्नाथ अग्रवाल व अन्यान्य विद्वान् पहिले भी कर चुके हैं। इस मत की स्थापना निम्न विचार-श्रेणी से की जा सकती है :

भारत में शासन करने वाले प्रारम्भिक कुषाण नरेश कम-से-कम दो वर्गों में विभाज्य हैं—कडफिसिज़ वर्ग और कनिष्क वर्ग। इनमें कडफिसिज वर्ग के राजा, कुजूल और विम, पिता-पुत्र सम्बन्ध द्वारा और कनिष्क वर्ग के राजा जिन्होंने कम-से कम ९८ वर्ष शासन किया, परस्पर कनिष्क-सम्वत् की तिथियों द्वारा जुड़े हैं। अब, इतना निश्चित है कि कडफिसिज-वर्ग ने पहिले शासन किया, कनिष्क वर्ग ने बाद में। प्रमाणः (१) चीनी साक्ष्यानुसार विम पहिला कुषाण राजा था जिसने तिएन-चू (भारत, सिन्धु प्रदेश) को जीता जबकि कनिष्क वर्ग के राजाओं का भारत पर अधिकार शुरू से ही था। (२) कडफिसिज़ वर्ग के राजाओं ने अपने सिक्कों पर अपने पूर्वगामी यूनानी और पह्लव राजाओं का अनुकरण करते हुए यूनानी और खरोष्ठी इन दोनों लिपियों का प्रयोग किया जबकि कनिष्क वर्ग के राजाओं ने केवल यूनानी लिपि का (दे० भास्कर चट्टोपाध्याय, 'दि एज ऑव

कुषाणज़, पृ० २०९)। (३) तक्षशिला के उत्खनन में कनिष्क-वर्ग के राजाओं की मुद्राएँ व अन्य सामग्री उपरले स्तरों में मिली हैं और कडफिसिज़-वर्ग की मुद्राएँ व अन्य सामग्री निचले स्तरों में (मार्शल, जे० आर० ए० एस०, १९१४ ; टॉमस, वही, १९१३ ; रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्टरी ऑव इन्श्येण्ट इण्डिया,' पृ० ४१२)। (४) कुजूल ने सुवर्ण मुद्राएँ जारी नहीं कीं, विम और कनिष्क वर्ग के राजाओं ने खूब कीं। इसलिए कुजूल को सुवर्ण मुद्राएँ जारी करने वाले कनिष्क वर्ग के बाद रखना उचित नहीं होगा। इन तथ्यों के प्रकाश में फ्लीट और कैनेडी का यह मत, जिसमें एक समय डाउसन, कनिंघम और फ्राँके को भी विश्वास था, कि कनिष्क वर्ग के राजाओं ने कडफिसिज वर्ग के राजाओं के पूर्व शासन किया और कनिष्क मालव-विक्रम सम्वत् का प्रवर्तक था, स्वतः निष्प्राण हो जाता है)।

कनिष्क वर्ग के राजाओं ने कडफिसिज़ वर्ग के उपरान्त शासन अवश्य किया परन्तु विम और कनिष्क के बीच में बहुत अधिक अन्तराल नहीं माना जा सकता। प्रमाणतः (१) कनिष्क के सिक्कों पर विम के सिक्कों की गहरी छाप मिलती है, उदाहरणार्थ 'वेदिका में वलि देते हुए राजा प्रकार' पर (चट्टोपाध्याय, पूर्वोद्धृत, पृ० ५६)। (२) माट से प्राप्त कुषाण देवकुल में विम की मूर्ति भी मिलती है जिस पर 'महाराज राजातिराज देवपुत्र वेम तक्षम' लिखा है। (३) विम के सिक्के अनेक स्थलों से प्रायः केवल कनिष्क, अथवा मात्र कनिष्क वर्ग के राजाओं के सिक्कों के साथ मिलते हैं। इस प्रसंग में निम्नलिखित स्थलों से प्राप्त निधियाँ उल्लेखनीय हैं : जलालाबाद, अहिनपोश स्तूप (विम, कनिष्क, हुविष्क) रानसिया (विम और कनिष्क), कनहियरा (विम, कनिष्क और वासुदेव), काल्का कसौली (विम और कनिष्क), मथुरा (विम, कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव) कसिया (विम और कनिष्क) भीटा (विम, कनिष्क और हुविष्क), संकिसा (विम, कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव), बुआडीह (विम और कनिष्क), कुम्रहार और बुलन्दीबाग (विम, कनिष्क और हुविष्क) तथा बक्सर (विम, कनिष्क और हुविष्क) (दे०, चट्टोपाध्याय, पूर्वो० पृ० २३२-८)। इन निधियों से स्पष्ट है कि विम और कनिष्क के बीच में बहुत अधिक समय नहीं गुजरा होगा। इस तथ्य से कनिष्क की तिथि निर्धारित करने में बहुत मदद मिलती है।

भारतीय साक्ष्य से स्पष्ट है कि गुप्तों के पूर्व उत्तर भारत पर नागों, मघों, मालवों तथा यौधेयों आदि ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। मौद्रिक, पौराणिक व अभिलेखिक साक्ष्य के आधार पर उनके लिए स्थूलतः कम-से-कम १०० वर्ष का समय देना होगा। उसके पहिले करीब १०० वर्ष तक कनिष्क-वर्ग ने शासन किया। इसलिए कनिष्क का राज्यारोहण लग० ३५० में समुद्रगुप्त के उदय से करीब २०० वर्ष पूर्व अर्थात् १५० ई० के बहुत बाद में नहीं रखा जा सकता। दूसरी तरफ चीनी साक्ष्य से स्पष्ट है कि कुजूल का उदय लग० १२५ ई० पू० में युए-ची के पास चीनी

राजदूत चांग-किएन के आगमन के '१०० वर्ष से अधिक बाद में' अर्थात् २५ ई० पू० के बाद हुआ। इसलिए कुजूल का सुदीर्घ शासन प्रथम शती ई० के पूर्वार्द्ध के पूर्व नहीं पड़ सकता। उसके सिक्कों पर रोमक सम्राट् आगस्टस (२७ ई० पू० –१४ ई० पू०) टाइबेरियस (१४–३७ ई०) और क्लॉडियस (४१–५४ ई०) के सिक्कों पर बने 'रोमक सिर' के स्पष्ट प्रभाव और क्लॉडियस के सिक्कों पर बनी 'उठाऊ कुर्सी' (क्यूरुल चेयर) मिलने से भी यही प्रमाणित है। दूसरे, उसके पुत्र विम ने गन्धार पर भी शासन किया। लेकिन तख्त-ए-बही लेख से स्पष्ट है कि ४६ ई० तक तक्ष-शिला पर गौण्डोफर्निज़ का शासन था। इसलिए हरहालत में विम ने गन्धार को ४६ ई० के उपरान्त जीता होगा। दूसरी तरफ उसकी यह विजय १२५ ई० के पूर्व अवश्य माननी पड़ेगी क्योंकि 'होउ हानशू' में अधिक-से-अधिक उस तिथि तक की घटनाएँ ही वर्णित हैं। इसलिए विम ने भारत पर विजय ४६ ई० के बाद परन्तु १२५ ई० के पूर्व प्राप्त की। अब चूँकि कनिष्क ने उसके लगभग तत्काल बाद शासन किया इस-लिए कनिष्क का राज्यारोहण भी प्रथम शती ई० के मध्य के उपरान्त और १२५ ई० के पूर्व रखना होगा। और क्योंकि उसके समय से एक सम्वत् का प्रारंभ हुआ तथा इस बीच में प्रवर्तित एक मात्र ज्ञात सम्वत् शक-सम्वत् है, इसलिए कनिष्क को शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक मानना चाहिए।

कनिष्क को ७८ ई० में रखने वाले मत को स्थापित करने के लिए ऊपर जो तथ्य रखे गए हैं उनका अन्य अनेक तर्कों की सहायता से समर्थन किया जा सकता है :—

एक, रूसी विद्वान, तोल्स्तोव ने मध्य एशिया में प्राचीन तोप्रक-कला राजा-प्रसाद के हाल ही में हुए उत्खनन से प्रमाणित किया है कि कुषाणों ने ख्वारिज में शक-सम्वत् को लोकप्रिय बनाया था। बी० स्ताविस्की ने भी सोवियत मध्य-एशिया से प्राप्त अन्य कुषाण सामग्री का उल्लेख कर इस मत का समर्थन किया है। दूसरी तरफ मारीच ने यह प्रदर्शित किया है कि बेग्राम से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री से कनिष्क की तिथि ७८ ई० संकेतित है न कि १४४ ई०, जैसा कि घिर्शमां का विचार था। इस तरह कुल मिलाकर मध्य-एशियायी पुरातात्त्विक सामग्री ७८ ई० के पक्ष में है (दे०, बैशम की पुस्तक में इन विद्वानों के लेख)।

दूसरे, सिन्धु प्रदेश पर प्रारंभिक कुषाण नरेशों ने '६० वर्ष से कुछ अधिक वर्ष' शासन किया क्योंकि चीनी साक्ष्यानुसार इस पर सर्वप्रथम विम कडफिसिज़ ने अधिकार किया था और प्रथम वासुदेव के शासनके प्रारंभिक वर्षों तक उनका अधिकार उस पर निश्चय ही बना हुआ था (जैसा कि वहाँ से प्रथम कनिष्क का सुई विहार लेख वं प्रथम वासुदेव की मोहनजोदाड़ो से १४३८ ताम्र मुद्राएँ मिलने से सिद्ध है)। सिन्ध प्रदेश पर कुषाण शासन के ये '६० से कुछ अधिक वर्ष' वहां १५० ई० में शासन करने वाले प्रथम रुद्रदामा के पहिले रखने होंगे। इसलिए कनिष्क की तिथि १५०–६०=९०

ई० के पूर्व रखनी होगी (दे०, वैशम का ग्रन्थ, वी० एन० मुखर्जी का लेख ; मुखर्जी का ग्रन्थ 'जीनियलोजी एण्ड क्रोनोलोजी आव दि कुपाणाज़' भी देखें)।

तीसरे, जैसा कि दि० च० सरकार ने ध्यान दिलाया है, प्राचीन खरोष्ठी अभिलेखों में प्रयुक्त 'प्राचीन शक-पह्लव सम्वत्' और कनिष्क-सम्वत् में एक शती से अधिक का अन्तर था, इसलिए कनिष्क-सम्वत् और 'प्राचीन शक-पह्लव सम्वत्' की पहिचान क्रमशः शक-सम्वत् और विक्रम-सम्वत् से, जिनमें १३५ वर्ष का अन्तर था, की जा सकती है (दे०, सरकार, वैशम के ग्रन्थ में उनका लेख, 'विक्रम वॉल्यूम', उज्जैन, १९४८ में उनका लेख, पृ० ५५७–८३ ; 'एज ऑव इम्पीरियल यूनीटी', वम्बई १९५१, पृ० १५, २१, १४४ ; इण्डियन एपीग्रेफी, दिल्ली, १९६५, पृ० २३५–६७)। उदाहरणार्थ, तक्षशिला से उपलब्ध सुप्रतिथ रजत-वर्तिलेख में 'प्राचीन शक पह्लव सम्वत्' की १३६ तिथि दी गई है। इसमें एक अज्ञात नाम कुपाण नरेश 'महरज रजतिरज देवपुत्र खुषण' का उल्लेख हुआ है। क्योंकि चीनी साक्ष्यानुसार 'भारत' पर विजय सर्वप्रथम विम ने प्राप्त की अतः यह अभिलेख या तो विम का है, या उसके लगभग तत्काल बाद शासन करने वाले नरेश प्रथम कनिष्क का (उसके द्वारा अपने शासनकाल के वर्षों में तिथि देने की प्रथा शुरू करने के पूर्वका) और या उनके बीच में लघु समय के लिए शासन करने वाले किसी अन्य नरेश का। लेकिन हर हालत में इसकी तिथि कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि से बहुत दूर नहीं हो सकती। इसलिए निष्कर्ष अनिवार्य है कि कनिष्क का राज्यारोहण 'प्राचीन शक-पह्लव सम्वत्' के १३६ वें वर्ष के आस-पास हुआ। अतः इस 'प्राचीन शक-पह्लव सम्वत्' और कनिष्क-सम्वत् में करीब १३६ वर्ष का अन्तर होना चाहिए। इसलिए इन सम्वतों की पहिचान क्रमशः विक्रम और शक सम्वतों से करना जिनमें १३५ वर्ष का अन्तर है गलत नहीं होगा।

चौथे, जैसा कि वैशम ने ध्यान दिलाया है (बी० एस० ओ० ए० एस०, १५, पृ० ८०–९७; २०, पृ० ८५–८८) पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों, कौशाम्बी के मघों नेपाल के लिच्छवियों तथा मध्य एशिया के ख्वारिज़्मी शासकों ने शक–सम्वत् का प्रयोग किया (नेपाल में शक-सम्वत् का प्रयोग अब प्रश्नातीत तथ्य है। दे०, गोयल, 'प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास', अध्याय २)। इस प्रकार ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में एक विशाल भूवृत्त में, जिसका केन्द्र गन्धार और पंजाब थे, शक-सम्वत् प्रचलित था। अब, जो विद्वान् यह मानते हैं कि शक-सम्वत् कनिष्क-सम्वत् से भिन्न है, वे गन्धार और पंजाब में शक-सम्वत् का प्रचलन सिद्ध नहीं कर पाते। पर यह कैसे सम्भव है कि यह सम्वत् नेपाल, गंगा की उपत्यका, पश्चिमी भारत और मध्य एशिया में तो प्रचलित हो गया हो परन्तु उनके मध्य स्थित गन्धार और पंजाब में अप्रचलित रहा हो ? स्पष्टतः इस सम्वत् को नेपाल, मध्य एशिया, गंगा की उपत्यका और पश्चिमी भारत में किसी ऐसी शक्ति ने लोक-

प्रिय किया होगा जिसका इन सब प्रदेशों पर न्यूनाधिक प्रभाव था और जिसकी शक्ति का केन्द्र पंजाब और गन्धार थे। ऐसी शक्ति कुषाण ही थे, इसलिए कनिष्क सम्वत् और शक-सम्वत् को एक माना जा सकता है। उस अवस्था में शक-सम्वत् का प्रयोग गन्धार और पंजाब में स्वतः प्रमाणित हो जाएगा।

पांचवें, पिछले वर्षों में पश्चिमी क्षत्रप नरेश चष्टन का एक नया अभिलेख, जो (शक) सम्वत् ११ का है, अन्धौ स्थल से प्राप्त हुआ है। इससे तय हो गया है कि चष्टन इस स्थान पर शक-सम्वत् ११ (८९ ई०) में भी शासन कर रहा था। मजूमदार ने इसके आधार पर चष्टन को शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक मान लिया है, परन्तु चष्टन की 'महाक्षत्रप' उपाधि से स्पष्ट है कि उसने अपना जीवन एक गवर्नर के रूप में प्रारंभ किया था क्योंकि 'क्षत्रप' उपाधि उस समय गवर्नर के अर्थ में ही प्रयुक्त होती थी (दे०, खरपल्लान, हगान, हगामष, शिवघोष आदि के उदाहरण। रुद्रदामा का मामला कुछ भिन्न है। उसने 'महाक्षत्रप' उपाधि उसी प्रकार धारण की लगती है जैसे पुष्यमित्र ने स्वाधीन नरेश बनने के बाद भी 'सेनापति' धारण की थी)। दूसरे, हमें ध्यान रखना चाहिए कि चष्टन की मूर्ति कुषाण नरेशों की मूर्तियों के साथ माट के देवकुल में मिली है। स्पष्टतः चष्टन किसी प्रकार से कुषाण नरेशों से संबंधित था। इसलिए चष्टन को कुषाणों का निकट संबंधी और गवर्नर मानना जरूरी है, और इसलिए उसके अभिलेख का ११ वां वर्ष उसके कुषाण स्वामी के शासन का ११ वां वर्ष होगा। और चूंकि यह तिथि स्पष्टतः शक-सम्वत् की है इसलिए मानना पड़ेगा कि उसके स्वामी कुषाण नरेश ने भी शक-सम्वत् का प्रयोग किया था।

छठें, शक नरेश प्रथम रुद्रसेन के शासन काल के हाल ही में उपलब्ध देवनीमोरी पाषाण-पेटिका-अभिलेख से कनिष्क को ७८ ई० में रखने वाले मत का समर्थन होता है (सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, १९६४, पृ० ५१९)। यह लेख १२७ वें वर्ष का है। यह तिथि निश्चित रूप से शक सम्वत् की है परन्तु इस लेख में इस कथिक नृपों के सम्वत् की तिथि बताया गया है [स्वप्तविंशत्यधिके कथिकनृपाणां समागते (ऽ) ब्दशते)। ये कथिकनृप कौन थे ? स्पष्टतः यहाँ आशय शकों के स्वामियों से है जो कुषाण ही हो सकते थे। शायद यहाँ 'कथिक' शब्द, 'बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले' अर्थ में प्रयुक्त है क्योंकि कुषाण नरेश प्रख्यात बौद्ध थे। यह भी सम्भव है 'कथिक' शब्द गलती से 'कणिक' = कनिष्क के बजाय लिख गया हो। जो भी हो, यहां शक-सम्वत् को कथिक नृपों का सम्वत् कहा गया है और परिस्थिति से स्पष्ट है कि कथिक नृपों से आशय कुषाणों से है।

सातवें, 'कल्पनामण्डतिका' नामक ग्रन्थ का, जिसके लेखक कुमारलात अश्वघोष के समकालीन थे, कुमारजीव ने ४०५ ई० में चीनी भाषा में 'सूत्रालंकार' नाम से अनुवाद किया था। उन्होंने गलती से इनका लेखक अश्वघोष को -

वता दिया था, परन्तु अब चीनी तुर्किस्तान से इसकी संस्कृत पाण्डुलिपि के कुछ अंश मिल गए हैं जिससे सिद्ध हो गया है कि चीनी भाषा में 'सूत्रालंकार' नाम से अनूदित ग्रन्थ वास्तव कुमारलात द्वारा रचित 'कल्पना मण्डतिका' था। अब 'सूत्रालंकार' और 'कल्पना मण्डतिका' को समवेत पढ़ने से स्पष्ट है कि इसके लेखक ने न केवल कनिष्क का एक पुराने राजा के रूप में उल्लेख किया है वरन् इसमें रुद्रदामा के सागल (=स्यालकोट) पर आक्रमण का उल्लेख भी है (जर्नल आँव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, १, कलकत्ता १९६७-८, पृ० ११५-६)। रुद्रदामा का यह आक्रमण १५० ई० के दो-चार वर्ष पहिले या बाद में हुआ होगा। हो सकता है जिस समय उसने यौधेयों को परास्त किया था उसी समय वह बहावलपुर के मार्ग से सागल तक गया हो। लेकिन स्यालकोट प्रदेश पर कनिष्क का अधिकार निश्चय ही था। उसके अभिलेख मथुरा और सुइ-विहार से मिले हैं और पुरुषपुर (पेशावर) नगर उसकी राजधानी था, इसलिए इनके मध्य स्थित स्यालकोट उसके अधिकार में अवश्य रहा होगा। अतः रुद्रदामा का इस प्रदेश पर आक्रमण कनिष्क और उसके निकट उत्तराधिकारियों के उपरान्त ही रखा जा सकता है। इससे कनिष्क को ७८ ई० में रखने वाले मत को बल मिलता है।

आठवें, एक पर्याप्त प्राचीन (चौथी शती ई० की) कश्मीरी परम्परानुसार सुराष्ट्र के रहने वाले सुप्रतिथ बौद्ध विद्वान् संघरक्ष कनिष्क के गुरु थे। ताओ-आन के एक ग्रन्थ की भूमिका से भी, जो ३८४ ई० में लिखी गई, हमें यही सूचना मिलती है। इसमें कहा गया है कि अपनी प्रव्रज्या के बाद संघरक्ष सुराष्ट्र से गन्धवती (गन्धार) गए जहाँ चन्दन कनिष्क ने उन्हें अपना गुरु बनाया। इतना ही नहीं ताओ-आन हमें यह भी बताता है कि यह सूचना उसे स्वयं कश्मीरी धर्मप्रचारक संघभद्र से मिली थी। अब, चीनी कैटेलागों के अनुसार संघरक्ष के एक ग्रन्थ 'योगाचारभूमि' अथवा उसके एक अंश का चीनी भाषा में अनुवाद सुप्रतिथ पार्थियन धर्म-प्रचारक आन शि-काओ ने किया था। क्योंकि इस अनुवाद की भाषा बड़ी पुरानी है, इसलिए इसे आन-शि-काओ की रचना मानने में किसी को शंका नहीं है। आन शि-काओ चीन में १४८ ई० में पहुँचा था, इसलिए वह पार्थिया से करीब १४० ई० में चला होगा क्योंकि बीच में वह कुछ समय मध्य एशिया में अवश्य रहा होगा (जैसा कि सर्वथा स्वाभाविक था और इस मार्ग से जाने वाले लगभग सभी तत्कालीन धर्म प्रचारक करते थे)। यहाँ यह भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि संघरक्ष के ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त करने में कि वह कश्मीर से पार्थिया पहुँच सके, कुछ दशक अवश्य लगे होंगे। इसलिए संघरक्ष और उसके संरक्षक कनिष्क का समय '१४० ई० के पर्याप्त पहिले' रखना ही उचित होगा।

लन्दन-सम्मेलन में अधिकांश विद्वानों ने कनिष्क को ७८ से १४४ ई० के मध्य रखने का समर्थन किया। उनमें केवल र० च० मजूमदार का लेख ही एक ऐसा

प्रिय किया होगा जिसका इन सब प्रदेशों पर न्यूनाधिक प्रभाव था और जिसकी शक्ति का केन्द्र पंजाब और गन्धार थे। ऐसी शक्ति कुषाण ही थे, इसलिए कनिष्क सम्वत् और शक-सम्वत् को एक माना जा सकता है। उस अवस्था में शक-सम्वत् का प्रयोग गन्धार और पंजाब में स्वतः प्रमाणित हो जाएगा।

पांचवें, पिछले वर्षों में पश्चिमी क्षत्रप नरेश चष्टन का एक नया अभिलेख, जो (शक) सम्वत् ११ का है, अन्धौ स्थल से प्राप्त हुआ है। इससे तय हो गया है कि चष्टन इस स्थान पर शक-सम्वत् ११ (८९ ई०) में भी शासन कर रहा था। मजूमदार ने इसके आधार पर चष्टन को शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक मान लिया है, परन्तु चष्टन की 'महाक्षत्रप' उपाधि से स्पष्ट है कि उसने अपना जीवन एक गवर्नर के रूप में प्रारंभ किया था क्योंकि 'क्षत्रप' उपाधि उस समय गवर्नर के अर्थ में ही प्रयुक्त होती थी (दे०, खरपल्लान, हगान, हगामष, शिवघोष आदि के उदाहरण। रुद्रदामा का मामला कुछ भिन्न है। उसने 'महाक्षत्रप' उपाधि उसी प्रकार धारण की लगती है जैसे पुष्यमित्र ने स्वाधीन नरेश बनने के बाद भी 'सेनापति' धारण की थी)। दूसरे, हमें ध्यान रखना चाहिए कि चष्टन की मूर्ति कुषाण नरेशों की मूर्तियों के साथ माट के देवकुल में मिली है। स्पष्टतः चष्टन किसी प्रकार से कुषाण नरेशों से संबंधित था। इसलिए चष्टन को कुषाणों का निकट संबंधी और गवर्नर मानना जरूरी है, और इसलिए उसके अभिलेख का ११ वां वर्ष उसके कुषाण स्वामी के शासन का ११ वां वर्ष होगा। और चूंकि यह तिथि स्पष्टतः शक-सम्वत् की है इसलिए मानना पड़ेगा कि उसके स्वामी कुषाण नरेश ने भी शक-सम्वत् का प्रयोग किया था।

छठें, शक नरेश प्रथम रुद्रसेन के शासन काल के हाल ही में उपलब्ध देवनीमोरी पाषाण-पेटिका-अभिलेख से कनिष्क को ७८ ई० में रखने वाले मत का समर्थन होता है (सरकार, सलेक्ट इन्क्रिप्शन्स, १९६४, पृ० ५१९)। यह लेख १२७ वें वर्ष का है। यह तिथि निश्चित रूप से शक सम्वत् की है परन्तु इस लेख में इस कथिक नृपों के सम्वत् की तिथि बताया गया है [स्वप्तविंशत्यधिके कथिकनृपाणां समागते (ऽ) व्दशते)। ये कथिकनृप कौन थे ? स्पष्टतः यहाँ आशय शकों के स्वामियों से है जो कुषाण ही हो सकते थे। शायद यहाँ 'कथिक' शब्द, 'बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले' अर्थ में प्रयुक्त है क्योंकि कुषाण नरेश प्रख्यात बौद्ध थे। यह भी सम्भव है 'कथिक' शब्द गलती से 'कणिक' = कनिष्क के बजाय लिख गया हो। जो भी हो, यहां शक-सम्वत् को कथिक नृपों का सम्वत् कहा गया है और परिस्थिति से स्पष्ट है कि कथिक नृपों से आशय कुषाणों से है।

सातवें, 'कल्पनामण्डतिका' नामक ग्रन्थ का, जिसके लेखक कुमारलात अश्वघोष के समकालीन थे, कुमारजीव ने ४०५ ई० में चीनी भाषा में 'सूत्रालंकार' नाम से अनुवाद किया था। उन्होंने गलती से इनका लेखक अश्वघोष को -

बता दिया था, परन्तु अब चीनी तुर्किस्तान से इसकी संस्कृत पाण्डुलिपि के कुछ अंश मिल गए हैं जिससे सिद्ध हो गया है कि चीनी भाषा में 'सूत्रालंकार' नाम से अनूदित ग्रन्थ वास्तव कुमारलात द्वारा रचित 'कल्पना मण्डतिका' था। अब 'सूत्रालंकार' और 'कल्पना मण्डतिका' को समवेत पढ़ने से स्पष्ट है कि इसके लेखक ने न केवल कनिष्क का एक पुराने राजा के रूप में उल्लेख किया है वरन् इसमें रुद्रदामा के सागल (=स्यालकोट) पर आक्रमण का उल्लेख भी है (जर्नल ऑव एन्श्यैण्ट इण्डियन हिस्टरी, १, कलकत्ता १९६७-८, पृ० ११५-६)। रुद्रदामा का यह आक्रमण १५० ई० के दो-चार वर्ष पहिले या बाद में हुआ होगा। हो सकता है जिस समय उसने यौधेयों को परास्त किया था उसी समय वह बहावलपुर के मार्ग से सागल तक गया हो। लेकिन स्यालकोट प्रदेश पर कनिष्क का अधिकार निश्चय ही था। उसके अभिलेख मथुरा और सुइ-विहार से मिले हैं और पुरुषपुर (पेशावर) नगर उसकी राजधानी था, इसलिए इनके मध्य स्थित स्यालकोट उसके अधिकार में अवश्य रहा होगा। अतः रुद्रदामा का इस प्रदेश पर आक्रमण कनिष्क और उसके निकट उत्तराधिकारियों के उपरान्त ही रखा जा सकता है। इससे कनिष्क को ७८ ई० में रखने वाले मत को बल मिलता है।

आठवें, एक पर्याप्त प्राचीन (चौथी शती ई० की) कश्मीरी परम्परानुसार सुराष्ट्र के रहने वाले सुप्रतिथ बौद्ध विद्वान् संघरक्ष कनिष्क के गुरु थे। ताओ-आन के एक ग्रन्थ की भूमिका से भी, जो ३८४ ई० में लिखी गई, हमें यही सूचना मिलती है। इसमें कहा गया है कि अपनी प्रव्रज्या के बाद संघरक्ष सुराष्ट्र से गन्धवती (गन्धार) गए जहाँ चन्दन कनिष्क ने उन्हें अपना गुरु बनाया। इतना ही नहीं ताओ-आन हमें यह भी बताता है कि यह सूचना उसे स्वयं कश्मीरी धर्मप्रचारक संघभद्र से मिली थी। अब, चीनी कैटेलागों के अनुसार संघरक्ष के एक ग्रन्थ 'योगाचारभूमि' अथवा उसके एक अंश का चीनी भाषा में अनुवाद सुप्रतिथ पार्थियन धर्म-प्रचारक आन शि-काओ ने किया था। क्योंकि इस अनुवाद की भाषा बड़ी पुरानी है, इसलिए इसे आन-शि-काओ की रचना मानने में किसी को शंका नहीं है। आन शि-काओ चीन में १४८ ई० में पहुँचा था, इसलिए वह पार्थिया से करीब १४० ई० में चला होगा क्योंकि बीच में वह कुछ समय मध्य एशिया में अवश्य रहा होगा (जैसा कि सर्वथा स्वाभाविक था और इस मार्ग से जाने वाले लगभग सभी तत्कालीन धर्म प्रचारक करते थे)। यहाँ यह भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि संघरक्ष के ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त करने में कि वह कश्मीर से पार्थिया पहुँच सके, कुछ दशक अवश्य लगे होंगे। इसलिए संघरक्ष और उसके संरक्षक कनिष्क का समय '१४० ई० के पर्याप्त पहिले' रखना ही उचित होगा।

लन्दन-सम्मेलन में अधिकांश विद्वानों ने कनिष्क को ७८ से १४४ ई० के मध्य रखने का समर्थन किया। उनमें केवल र० च० मजूमदार का लेख ही एक ऐसा

अपवाद था जिसमें २४८ ई० विषयक मत को माना गया था। लेकिन इस बीच में मजूमदार को कुछ और समर्थक मिल गए हैं। एक, आर० गोयब्ल ने जो १९६० में मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर कनिष्क को १४४ ई० में रखने के पक्ष में थे, १९६४ और १९६७ में प्रकाशित अपने ग्रन्थों में उसे, प्रधानतः मौद्रिक साक्ष्य के ही आधार पर, २३० ई० में रखने का आग्रह किया है (बी० एस० ओ० ए० एस०, ३३, १९७०, पृ० ६४६ ; बैशम के ग्रन्थ की भू०, पृ० ९ पर उद्धृत)। 'जर्नल ऑव एशियन हिस्टरी' १९६७, में भी इ० बी० जेमाल नामक एक रूसी विद्वान् का शोध-प्रबंध उल्लिखित है जिसमें कनिष्क को तीसरी शती ई० के मध्य रखने का समर्थन किया गया है। दुशाम्बे-सम्मेलन में तो एक सज्जन ने कनिष्क को २७८ ई० में रखने वाले आर० जी० भाण्डारकर के पुराने मत का समर्थन किया था (जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, २, कलकत्ता १९६८-९)। लेकिन कनिष्क को अब इतने बाद में रखना न तो संभव है और न उचित। मजूमदार ने पश्चिमोत्तर भारत में मौर्योत्तर और प्राक्-कुषाण युग के यवन-शक-पह्लव राजाओं की संख्या करीब चालीस मानकर उनके लिए कुषाण साम्राज्य की स्थापना के पूर्व करीब चार सौ वर्ष का समय देना आवश्यक माना है। इसीलिए वह कनिष्क की तिथि १५० ई० पू० के ४०० वर्ष बाद अर्थात् २५० ई० के लगभग मानकर उसे २४८ ई० के कल्चुरि—चेदि सम्वत् का प्रवर्त्तक मानते हैं। परन्तु उनके इस तर्क की सारहीनता इसी से स्पष्ट है कि वे स्वयं इस युग में तो पश्चिमोत्तर भारत में करीब चालीस राजाओं (२० यूनानी + २० शक-पह्लव) का शासन मानते हैं और अयोध्या और मथुरा आदि में केवल बीस-बीस का। स्मरणीय है कि ठीक इसी तर्क के आधार पर पी० एल० गुप्त ने कनिष्क को १४४ ई० में रखा है (दे०, आगे)। प्रथम रुद्रदामा और कनिष्क की समकालीनता से बचने के लिए भी कनिष्क को २४८ ई० में रखना आवश्यक नहीं है, उसे ७८ ई० में रखने पर भी इस दिक्कत से बचा जा सकता है। कनिष्क को २४८ ई० में (या २७८ ई०) में रखने पर उसके इतिहास को चीनी साहित्य से ज्ञात प्रारंभिक कुषाण इतिहास से संगत करना भी असंभव हो जाता है। यह मत इस पर्याप्त विश्वसनीय परम्परा के भी एक दम विरुद्ध है कि कनिष्क के गुरु संघभद्र के ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद १४८-७० ई० में आन-शि-काओ ने किया था (दे०, पीछे)। जहाँ तक गोयब्ल के द्वारा दिए गए मौद्रिक साक्ष्य के नवीन विवेचन का संबंध है, प्रस्तुत लेखक को इस प्रकार के आत्मनिष्ठ तर्कों में बिल्कुल श्रद्धा नहीं है। पुरातात्विक और मौद्रिक साक्ष्य प्रकृत्या भौतिक होने और मूल रूप में उपलब्ध होने के कारण बहुत विश्वसनीय होते हैं, लेकिन अगर उनकी व्याख्या गलत ढंग से हो जाती है तो वह हमें भ्रम के वनों में भटका देते हैं। गोयब्ल के साथ यही हुआ लगता है।

लन्दन-सम्मेलन में घिर्शमां द्वारा प्रतिपादित इस मत का समर्थन कि कनिष्क ने १४४ ई० में शासन करना प्रारंभ किया, दानी, गोयब्ल, पी० एल० गुप्त, तथा

पुलीब्लैंक ने किया। इसके तीन वर्ष पूर्व हेराल्ड इंघोल्ट ने विम की तक्षशिला विजय ९९ ई० में मानते हुए इस मत का स्थूलतः अनुसरण किया था (इंघोल्ट, 'गन्धारन आर्ट इन पाकिस्तान', न्यूयार्क, १९६७)। सम्मेलन के उपरान्त डेविड पिन्ग्री ने इसका समर्थन 'यवन जातक' के आधार पर किया है (वी० एस० ओ० ए० एस०, १९७०, पृ० ६४६) और बैजनाथ पुरी ('इण्डिया अण्डर दि कुषाणज़', बम्बई, १९६५, पृ० ३८–५०) ने बिना कोई नया तर्क दिए। १४४ ई० के विरुद्ध उठाई जा सकने वाली सबसे बड़ी आपत्ति इस तिथि का सर्वथा कल्पित और बनावटी होना है। इस तिथि से कोई ज्ञात सम्वत् शुरू नहीं होता। धिर्शमां की यह कल्पना निश्चय ही बड़ी अस्वाभाविक है कि कनिष्क ने विक्रम-सम्वत् के ठीक २०० वर्ष बाद शासन करना प्रारम्भ किया था और अपने लेखों में तिथियाँ देते समय २०० का अंक छोड़ने की प्रथा चलाई थी। उन्होंने इसके समर्थन में बेग्राम के जिस पुरातात्त्विक साक्ष्य को रखा है उसके विरुद्ध मारीच और नारायण ने (दे०, बैशम के ग्रन्थ में इन विद्वानों के लेख) बड़े ही सबल तर्क दिये हैं, उनको यहाँ दोहराना अनावश्यक है। गोयल्ल ने अपने लेख में इस तिथि का समर्थन मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर किया है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अब वह स्वयं इस मत को छोड़ चुके हैं। पी० एल० गुप्त का तर्क तो मौर्योत्तर और प्राक्-कनिष्क युग में शासन करने वाले भारतीय नरेशों के शासन की कुल अवधि के विषय में उनके सर्वथा आत्मनिष्ठ पूर्वाग्रहों पर आधृत है। वह यह मानकर चलते हैं कि कौशाम्बी, अहिच्छत्रा, मथुरा और श्रावस्ती में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना २१५ ई० पू० में हो गई थी। यह धारणा एकदम गलत है क्योंकि १५० ई० पू० तक इनमें ज्यादातर प्रदेश शुंगों के अधीन रहे होंगे। दूसरे, यह मानकर चला ही क्यों जाए कि ये सभी राजा स्वतन्त्र थे ? क्या कौशाम्बी के मघों ने जो कम-से कम शुरू में कुषाणों के अधीन थे अपनी स्वतन्त्र मुद्राएँ जारी नहीं की ? क्या स्वयं पी० एल० गुप्त के अनुसार अनेक शक क्षत्रपों ने, जो शक और कुषाण सम्राटों के अधीन थे, अपनी मुद्राएँ नहीं चलाईं ? और अगर पी० एल० गुप्त द्वारा गिनाए गए कुछ नरेश अपने सिक्के जारी करने के बावजूद पराधीन हो सकते थे तो यह तर्क स्वतः निष्प्राण हो जाता है कि कनिष्क का उदय इन राजाओं के पतन के उपरान्त रखना चाहिए। तीसरे, प्रश्न केवल प्राक्-कनिष्कयुगीन नरेशों का ही नहीं है, कुषाणोत्तर और प्राक्-गुप्तयुगीन नरेशों का भी है। उदाहरणार्थ, पुराणों के आधार पर हम जानते हैं कि पद्मावती पर कुषाणों के बाद नौ नाग राजाओं ने शासन किया। उनका अस्तित्व मौद्रिक व आभिलेखिक साक्ष्य से भी प्रमाणित है। अब, पी० एल० गुप्त को अपने ही तर्क का अनुसरण करते हुए इन राजाओं के लिए १८ × ९ = १६२ वर्ष का समय देना होगा। परन्तु प्रथम वासुदेव का पतन अगर १४४ के ९८ वर्ष बाद २४२ ई० में हुआ तो मानना पड़ेगा कि नाग नरेश पद्मावती पर २४२ + १६२ = ४०४ ई० तक शासन करते रहे। यह स्पष्टतः असंभव है। वस्तुतः ऐसे तर्कों से कुछ प्रमाणित नहीं होता। स्मरणीय है कि इस तर्क को कनिष्क की तिथि २४८ ई० सिद्ध

करते समय मजूमदार ने भी दिया है। वास्तव में मजूमदार और गुप्त महाशय यह भूल गए हैं कि इन सब राजाओं के पारस्परिक संबंध अज्ञात हैं जबकि औसत शासन-काल का तर्क केवल पीढ़ियों पर लागू होता है। उदाहरणार्थ सिक्कों से हमें करीब चालीस यूनानी शक और पह्लव नरेश ज्ञात हैं जिनके लिए ज्यादा-से-ज्यादा (कनिष्क को १४४ में रखने के बावजूद) २०० ई० पू० से १४४ ई० तक का, अर्थात् करीब ३५० वर्ष, समय दिया जा सकता है। इसलिए उनका औसत प्रति राजा १० वर्ष से भी कम पड़ता है जबकि इन्हें ४० पीढ़ी के राजा मानने पर इनके लिए ४० × १८ = ७२० वर्ष की जरूरत होगी।

कनिष्क को १४४ ई० में रखने के लिए अहमद हसन दानी ने पुरालिपिशास्त्र का सहारा लिया है और पुलीब्लैंक ने चीनी साहित्य का (दे०, बैशम के ग्रन्थ में इन विद्वानों के लेख)। लेकिन लिपिशास्त्र के आधार पर अभिलेखों की तिथियाँ निर्धारित करके इतने निश्चित निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। यह ध्यान रखना चाहिए कि लिपियों के विकास का इतिहास स्वयं अन्य स्रोतों से ज्ञात तथ्यों पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, फ्लीट ने, जो लिपिशास्त्र के पण्डित थे, वाकाटक अभिलेखों की लिपि के आधार पर द्वितीय प्रवरसेन का समय ७ वीं शती ई० का अन्त माना था जबकि बाद में यह प्रमाणित हुआ कि वह द्वितीय चन्द्रगुप्त का दामाद था और उसने पाँचवीं शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध में शासन किया। जहाँ तक चीनी साक्ष्य का प्रश्न है, यह बड़ा ही विवादग्रस्त है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की (दे० गोयल, पूर्वो०)

लन्दन सम्मेलन के उपरान्त १९६४ में डेविड पिन्ग्री ने कनिष्क को १४४ ई० में रखने के पक्ष में 'यवन जातक' के साक्ष्य की चर्चा की। उनके अनुसार यह ग्रन्थ स्फूजिध्वज ने २६९–७० में सम्भवतः उज्जैन में लिखा था। इसके एक श्लोक में शक-सम्वत् की तिथि को कुषाण-सम्वत् में बदलने का एक नियम दिया गया है। यह नियम स्पष्ट नहीं है परन्तु इससे पहिले के श्लोक में एक १६५ वर्षीय युग चक्र का वर्णन है जो २३ मार्च १४४ ई० पर लागू होता है। अगर यह साक्ष्य विश्वसनीय प्रमाणित हुआ तो इससे न केवल कनिष्क-सम्वत् और शक-सम्वत् भिन्न-भिन्न प्रमाणित हो जाएँगे वरन् कनिष्क-सम्वत् का प्रवर्तन १४४ ई० में हुआ मानने को अतिरिक्त आधार मिल जाएगा। परन्तु अभाग्यवश डेविड पिन्ग्री ने 'यवन जातक' को अब तक प्रकाशित नहीं किया है, इसलिए उनके दावा की सत्यता आँकने का कोई उपाय नहीं है। दूसरे, हम ध्यान दिलाना चाहेंगे कि १९६८ ई० में दुशाम्बे में कुषाण इतिहास पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पिन्ग्री की खोज की कोई चर्चा नहीं हुई। अभाग्यवश हमें इस सम्मेलन की पूरी 'रिपोर्ट' उपलब्ध नहीं है परन्तु दि० च० सरकार ने जिन्होंने इस सम्मेलन में भाग लिया था, 'जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी' के दूसरे अंक (१९६८–९) में इसके विषय में विस्तृत विवरण प्रकाशित किया है।

उसमें उन्होंने कनिष्क की तिथि पर पढ़े गये लेखों की चर्चा भी की है। लेकिन वह उनमें 'यवनजातक' के इस साक्ष्य का कहीं उल्लेख नहीं करते जबकि अगर यह साक्ष्य विश्वसनीय होता तो उस सम्मेलन में सर्वाधिक चर्चा का विषय होता और सरकार द्वारा प्रदत्त विवरण में इसका विशेषतः उल्लेख होता।

लन्दन-सम्मेलन में दो विद्वानों ने कनिष्क को द्वितीय शती के तीसरे या चौथे दशक (१२०-१४० ई०) में रखा। एल्विन ने तक्षशिला की पुरातात्त्विक सामग्री और विशेषतः अहिन-पोश स्तूप में उपलब्ध सिक्कों के आधार पर कनिष्क सम्वत् का प्रवर्तन १३०-४० ई० के मध्य माना और मैक्डानल ने प्रधानतः तक्षशिला के स्तूप नं० ४, मणिक्याला स्तूप और अहिनपोश स्तूप के साक्ष्य के आधार पर १२८-९ ई० में, यद्यपि वह यह भी मानते हैं कि इस साक्ष्य से कनिष्क को ११० ई० में अथवा उसके बाद १४४ ई० में रखने वाले मतों का पूर्णतः प्रत्याख्यान नहीं होता। इसके पूर्व स्टेनकोनो और वान विज्क भी कनिष्क को पहिले १३४ ई० में और फिर १२८-९ ई० में रख चुके थे और मार्शल ने १२८ ई० का समर्थन किया था। इसी प्रकार स्मिथ ने कनिष्क को १९०३ में १२५ ई० में रखा था और १९१९ में १२० ई० में। ये मत ज्यादातर जैडा-और उन्द-अभिलेखों की तिथियों में नक्षत्र-विद्या सम्बन्धी तथ्यों की वान विज्क द्वारा प्रस्तावित व्याख्याओं पर आधारित थे। वान विज्क ने कनिष्क की तिथियों के लिए पहिले गर्ग-सिद्धान्त के आधार पर ७९ ई०, ११७ ई० और १३४ ई० विकल्प रखे और बाद में १२८ ई० का समर्थन किया। मेक्डानल ने अपने लेख में उपर्युक्त पुरातात्त्विक सामग्री को ध्यान में रखते हुए वान विज्क के अन्तिम सुझाव को माना है। लेकिन यह साक्ष्य इतना अविश्वसनीय है कि स्वयं वान विज्क इसके आधार पर अपना मत कई बार बदलने को बाध्य हुए थे। स्मरणीय है कि गर्ग-सिद्धान्त का अवलम्बन करके वान विज्क ने एक विकल्प ७९ ई० भी रखा था जो अन्य साक्ष्य के साथ अधिक संगत है।

लन्दन-सम्मेलन में ए० के० नारायण ने कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १०३ ई० सुझाई। उनका कहना है कि 'होउ हान शू' के अनुसार युवान-चू काल (=११४-१९ ई०) में सू-ले (=काशगर) के राजा आन-कुओ ने अपने मामा छेन-फान को उसके किसी अपराध के कारण युएःची नरेश के पास निष्कासित कर दिया था। युएःची नरेश ने छेन-फान पर बड़ी कृपा दिखाई और जब आन-काओ की मृत्यु हो गई तो उसे अपनी सेना के साथ काशगर भेज कर वहाँ का राजा बना दिया। नारायण के अनुसार यह युएःची नरेश प्रथम कनिष्क था क्योंकि 'शी-यू-की' में शुआनच्वांग ने चीन के एक करद राज्य द्वारा, जो पीत नदी के पश्चिम की तरह स्थित था कनिष्क के पास राजकुमार (या राजकुमारों) को बन्धक रूप में भेजने का उल्लेख किया है। नारायण के अनुसार यह राज्य सू-ले (=काशगर) रहा होगा। नारायण के अनुसार इस प्रकार चीनी साहित्य से प्रमाणित है कि प्रथम कनिष्क

११४ ई० में शासन कर रहा था। इस तिथि को उसके शासन के २३ वर्षों का मध्य बिन्दु मानकर उसका राज्यारोहण १०३ ई० में रखा जा सकता है। लेकिन हमें नारायण का यह मत सही नहीं लगता। उन्होंने चीनी साक्ष्य में उल्लिखित दो पृथक् घटनाओं को एक मानने की गलती की है। ध्यातव्य है कि 'होउ हान शू' में छेन-फान को काशगर (सू-ले) वालों ने निष्कासित करके युए:ची नरेश के पास भेजा था जबकि शुआनच्वांग के अनुसार वे राजकुमार कनिष्क के पास बन्धक रूप में भेजे गए थे। दूसरे, 'होउ हान शू' में छेन-फान को काशगर-नरेश का मामा बताया गया है जबकि शुआन-च्वांग बन्धक रूप में रखे गए राजकुमारों को चीनी सम्राट् का पुत्र बताता है। तीसरे, शुआन-च्वांग के अनुसार ये राजकुमार गर्मी में कपिशा के निकट कनिष्क द्वारा बनाए गए संघाराम में रहते थे और जाड़ों में भारत के विभिन्न स्थानों पर जबकि छेन-फान स्पष्टतः स्वयं कुषाण-नरेश के पास पुरुषपुर में रहता था। जो भी हो लन्दन-सम्मेलन में ज्युर्चेर और पुलीब्लेंक आदि चीनी-विद्या-विशारद नारायण द्वारा चीनी साहित्य के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष से सहमत नहीं हुए। हमारे विचार से एक तरफ 'होउ हानशू' में काशगर में घटी एक ऐसी स्थानीय घटना का वर्णन है जो किसी भी राज्य में किसी भी समय घट सकती थी और दूसरी तरफ शुआन-च्वांग ने सम्भवतः 'चीनाभुक्ति' नाम की व्याख्या करने के लिए जनमानस द्वारा गढ़ी गई एक कथा दी है। इन दोनों को मिलाना जरूरी नहीं है। इसके अलावा स्मरणीय है कि १०३ ई० एक सर्वथा अनुमानाश्रित तिथि है। इस तिथि से कोई सम्वत् प्रारम्भ नहीं हुआ। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार नये सम्वत् गढ़ने की जरूरत ही क्या है ? १०३ ई० और ७८ ई० में केवल २५ वर्ष का अन्तर है जिसे तोप्रक-कला के साक्ष्य का विवेचन करते हुए नारायण ने स्वयं 'अत्यन्त लघु' कहकर महत्त्व नहीं दिया है। लेकिन लगता है कि नारायण महोदय को नए-नए सम्वत् स्थापित करने में बड़ी रुचि है। अपने लेख के परिशिष्ट में (उनके ग्रन्थ 'दि इण्डो ग्रीक्स' का छठा अध्याय भी देखें) उन्होंने तत्कालीन भारत में मालव-विक्रम सम्वत् (जिसे पता नहीं वह क्यों इस युग के किसी अभिलेख की तिथि पर लागू ही नहीं करते) और शक-सम्वत् के अलावा तीन अन्य सम्वतों का अस्तित्व सुझाया है : १५५ ई० पूर्व का यवन-सम्वत्, ८८ ई० पूर्व का पह्लव-सम्वत् और १०३ ई० का कनिष्क-सम्वत्। शायद वह हर तिथिक्रमिक समस्या को सुलझाने के लिए एक नया सम्वत् गढ़ने के पक्ष में हैं।

प्रथम कनिष्क के काल का कोसम-बौद्ध मूर्त्ति लेख
वर्ष २ (=८० ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख इलाहाबाद के समीप कोसम (प्राचीन कौशाम्बी) से प्राप्त हुई एक बोधिसत्व प्रतिमा पर उत्कीर्ण है जो अब प्रयाग संग्रहालय में रखी हुई है। प्रतिमा हर दृष्टि से उस सारनाथ प्रतिमा जैसी है जिस पर कनिष्क के शासन काल का तीसरे वर्ष का लेख खुदा है। प्रस्तुत लेख में कुषाण नरेश प्रथम कनिष्क के शासन के दूसरे वर्ष का उल्लेख है। इसकी भाषा संस्कृत से प्रभावित प्राकृत है और लिपि प्रारम्भिक कुषाणकालीन ब्राह्मी। इसे गोस्वामी ने सर्वप्रथम 'अमृत बाजार पत्रिका' कलकत्ता में उल्लिखित किया, फिर 'कलकत्ता रिव्यु' (जुलाई १९४३) में प्रकाशित किया और अन्त में 'एपि० इण्डिका' के २४ वें अंक में सम्पादित किया। इसमें केवल दो पंक्तियां हैं। अक्षर ३/८" से ११/८" तक बड़े हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ व निबन्ध—गोस्वामी, के० जी०, ई० आई०, २४, पृ० २१०-१२ ; सरकार, स० इ०, पृ० १३५-६।

मूलपाठ

१. महाराजस्य कणिष्कस्य संवत्सरे २ हे २ दि ८ बोधिसत्वो (त्वं) प्रति—
२. ष्ठापयति भिखुनि बुद्धमित्रा त्रैपिटिका भगवतो बुद्धस चंकमे (॥ *)

पाठ-टिप्पणी—सरकार ने 'संवत्सरे ३' पढ़ा है। हे २ =हेमन्त के दूसरे मास में, त्रैपिटिका=त्रिपिटकाचार्या, चंकमे=चंक्र में, विहार के प्रांगण में

अनुवाद

महाराज कनिष्क के (शासन के) संवत्सर २ के हेमन्त (अर्थात् जाड़े की ऋतु) के २ रे (मास) में ८ वें दिन भगवान् बुद्ध के चंक्रम में भिक्षुणी त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा बोधिसत्व (की प्रतिमा) को प्रतिष्ठापित कराती है।

व्याख्या

(१) **हे** २=हेमन्त के दूसरे महीने में। दे०, शोडास के ७२ वें वर्ष का मथुरा-लेख, टि०।

(२) **कणिष्कस्य**=कनिष्क के नाम की कणिष्क वर्तनी ध्यान देने योग्य है।

(३) **चंकमे**=चङ्क्रमे=विहार का वह खुला हुआ भाग जहाँ भिक्षुगण चहल-कदमी व ध्यान करते थे।

(४) **बुद्धमित्रा**=उसका उल्लेख कनिष्क के तीसरे वर्ष के सारनाथ अभिलेख (दे०, आगे) व हुविष्क के ३३ वें वर्ष के मथुरा-लेख में भी हुआ है।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख प्रथम कनिष्क का प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख है। अगर इसमें वर्ष की संख्या ३ भी दी गई है (जैसा कि सरकार महोदय मानते हैं) तब भी इसकी तिथि कनिष्क के सारनाथ-लेख से पहिले पड़ेगी क्योंकि यह हेमन्त ऋतु के दूसरे मास में लिखवाया गया था और सारनाथ लेख तीसरे मास में। इसमें उल्लिखित बुद्ध-मित्रा अपने समय की महत्त्वपूर्ण भिक्षुणी रही होगी क्योंकि उसका उल्लेख दो अन्य अभिलेखों में (कनिष्क के शासन के ३ रे वर्ष के सारनाथ लेख एवं हुविष्क के शासन के ३३ वें वर्ष के मथुरा-लेख में) भी हुआ है। वह भिक्षु बल की एक मात्र शिष्या है जिसका नाम तीसरे वर्ष के सारनाथ-लेख में आया है।

प्रस्तुत लेख से यह प्रमाणित हो जाता है कि कनिष्क अपने शासन के दूसरे वर्ष भी कोसम पर राज्य कर रहा था। इसलिए इस लेख की खोज से सारनाथ-अभिलेख का यह संकेत कि तीसरे वर्ष में कनिष्क का अधिकार बनारस पर था, सबलतर हो जाता है।

कनिष्क के राज्यारोहण से कुषाण-संवत् का प्रारम्भ होता है। इसकी पहिचान विवादग्रस्त है, परन्तु यह सम्भवतः शक-संवत् से अभिन्न था (दे० पीछे)।

इस लेख पर बहुत सी वे बातें लागू होती हैं जिनकी ओर हमने कनिष्क के तीसरे वर्ष के सारनाथ-लेख के महत्त्व पर विचार करते समय ध्यान दिलाया है।

प्रथम कनिष्क के शासनकाल के सारनाथ बौद्ध मूर्त्ति-लेख
सं० ३ (= ८१ ई०)

लेख-परिचय—ये अभिलेख १०' ऊँची ३' चौड़ी एक विशाल बोधिसत्त्व-प्रतिमा और एक अष्टपार्श्वीय पाषाण यष्टि के तीन पार्श्वों पर लिखे हैं। ये एफ० ओ० ओरटेल द्वारा १९०४–५ ई० में सारनाथ में खुदाई करते समय प्रकाश में आए। इस यष्टि पर किसी समय एक छत्र टिका रहा होगा। इन लेखों को इस मूर्ति और यष्टि के मुख्य दाता भिक्षु बल ने लिखवाया था। इस भिक्षु बल ने ही श्रावस्ती से प्राप्त उस मूर्त्ति को दान दिया था जो अब कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित रखी है। श्रावस्ती मूर्ति-लेखों (ब्लाख, 'जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल', ६५, भाग ६, पृ० २१७; आगे) से इन लेखों को समझने में बहुत सहायता मिलती है।

भाषा, लिपि व तिथि—प्रस्तुत लेखों की भाषा संस्कृत से प्रभावित प्राकृत और लिपि प्रारम्भिक कुषाणकालीन ब्राह्मी है। इनमें कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष का उल्लेख है। यष्टि पर लिखित लेख में दस पंक्तियाँ हैं जिनमें प्रथम नौ तीस-तीस सेण्टीमीटर लम्बी हैं जबकि अन्तिम पंक्ति की लम्बाई केवल नौ सेण्टीमीटर है। अक्षर एक से छः सेण्टिमोटर तक ऊँचे हैं। ये काफी अच्छी तरह खोदे गए हैं परन्तु कहीं-कहीं धरातल खराब हो जाने के कारण अस्पष्ट हो गए हैं। बाकी दो लेख क्रमशः दो और तीन पंक्तियों के हैं। इन लेखों को सर्वप्रथम फोगल ने एपि० इण्डिका, ८, में प्रकाशित किया था।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—फोगल, ई० आई०, ८, पृ० १७३ अ०; सरकार स० इ०, पृ० १३६-८; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ६९।

मूलपाठ

१. महारजस्य कणिष्कस्य सं ३ हे ३ दि २० (+) २
२. एताये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्यबुद्धिस्य सद्धयेवि
३. हारिस्य भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य
४. बोधिसत्वो छत्रयष्टि [च] प्रतिष्ठापितो
५. बाराणसिये भगवतो च [ं] कमे सहा मात [ा]
६. पितिहि सहा उपद्धयायाचर्येहि सद्धयेविहारि
७. हि अंतेवासिकेहि च सहा बुद्धमित्रये त्रेपिटिक-
८. ये सहा क्षत्रपेण वनस्परेन खरपल्ला
९. नेन च सहा च च [तु] हि परिषाहि सर्वसत्वनं
१०. हितासुखात्र्थं [॥]

पाठ-टिप्पणी—फोगल ने छठी पंक्ति में 'उपद्ध्यायाचर्येहि' को 'उपद्ध्याया-चेरेहि' पढ़ा है तथा नवीं पक्ति में 'सहा च चतुहि' को 'सहा चतुहि'।

शब्दार्थ

हे ३ = हेमन्त के तीसरे मास में; **एताये पूर्वये** = एतस्यां पूर्वायां, इस उपर्युक्त दिवस को; **सद्ध्येविहारिस्य** = बिहार के साथी, विहार में साथ रहनेवाले; **त्रैपिटकस्य** = त्रिपिटक के ज्ञाता; **सहा माता पितिहि** = माता पिता सहित; **उपध्यायाचर्येहि** = उपाध्यायाचार्यैः; **अंतेवासिकोहि** = शिष्यैः; **चतुहि परिषाहि** = चारों परिषद्; **सर्व-सत्वनं**=सब प्राणियों के।

अनुवाद

महाराज कनिष्क के (शासन के) वर्ष ३ में हेमन्त (अर्थात् जाड़े की ऋतु) के तीसरे माह में २२ वें दिन—इस उपर्युक्त (तिथि) को भिक्षु पुष्य वुद्धि (=पुष्य वृद्धि) के विहार-साथी, त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का (दान) बोधिसत्व (की यह मूर्ति) (और) छत्र तथा यष्टि वाराणसी में भगवान् के चंक्रम में (अर्थात् विहार के प्रांगण में) माता-पिता सहित, उपाध्यायाचार्यों सहित, विहार साथियों सहित, अन्तेवासियों (= शिष्यों) सहित, त्रिपिटकाचार्या वुद्धमित्रा सहित, क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लानसहित तथा चारों परिषदों सहित सब प्राणियों के हित व सुख के लिए स्थापित की गई।

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१ भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो।
२ महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनष्परेन॥

अनुवाद

त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का (दान) बोधिसत्व (की यह प्रतिमा) महा-क्षत्रप खरपल्लान (व) क्षत्रप वनष्पर सहित (अर्थात् उनके सहयोग से) स्थापित की गई।

तृतीय लेख

मूलपाठ

१. महारजस्य क [णिष्कस्य] सं ३ हे ३ दि २० (+*) [२]
२. एतयेपुर्वये भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिट [कस्य]
३. बोधिसत्वो छत्र य [ष्टि] [च] [प्रतिष्ठापितौ] *

अनुवाद

महाराज कनिष्क के (शासन के) वर्ष ३ के हेमन्त (अर्थात् जाड़े की ऋतु) के ३ रे मास २२ वें दिन—इस उपर्युक्त (तिथि को) त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का (दान) बोधिसत्व (की यह प्रतिमा) और छत्र तथा यष्टि प्रतिष्ठापित की गई।

व्याख्या

(१) इन लेखों में एक ही दिन उसी नाम के भिक्षु द्वारा ठीक वही दान दिए

जाने का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि आजकल उपलब्ध मूर्त्ति व यष्टि एक ही मूल प्रतिमा का अंग थीं, यद्यपि इस समय ये अलग-अलग मिली हैं।

(२) **एताये पुर्वये** = एतस्यां पूर्वायां = इस उपर्युक्त में। अन्य अभिलेखों में आए 'एतस्यां दिवस पूर्वायां' जैसे पदों से स्पष्ट है कि यहाँ आशय पूर्वोक्त तिथि से है।

(३) **पुष्य वुद्धि** = पुष्यवृद्धि। इसका उल्लेख भिक्षु वल के साथ श्रावस्तो मूर्त्ति-लेखों में भी हुआ है यद्यपि वहाँ उसके नाम का दूसरा भाग अपठ्य हो गया है।

(४) **'बलस्य त्रेपिटकस्य'** (षष्ठी एक वचन) का उसके उपरान्त आए वोधिसत्वो (प्रथम एकवचन) के साथ सम्वन्ध जोड़ना कठिन होता, परन्तु श्रावस्ती-मूर्त्ति-लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ 'दान' शब्द को अपनी तरफ से जोड़ना होगा। इससे लेखों का आशय स्पष्ट हो जाता है।

(५) **छत्र यष्टि** = छत्र और यष्टि—इसका अर्थ 'छत्र की यष्टि' भी हो सकता है। परन्तु श्रावस्ती मूर्त्ति लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ इसको द्वन्द्व समास मानना चाहिए, तत्पुरुष समास नहीं।

(६) खरपल्लान और वनस्पर नाम पह्लव लगते हैं, परन्तु नामों के आधार पर उनकी जाति निर्धारित करना भ्रामक हो सकता है। आनान्त नामों के उदाहरण हुगान व नहपान हैं। खरपल्लान का 'खर' खरोष्ठ और खरमोस्त का स्मरण दिलाता है (रेप्सन, इण्डियन क्वायन्स्, पृ० ९)। दूसरे लेख में 'वनष्पर' की वर्तनी द्रष्टव्य है।

(७) द्रष्टव्य है कि प्रथम लेख में वनस्पर को 'क्षत्रप' कहा गया है और खरपल्लान के लिए कोई उपाधि प्रयुक्त नहीं है जबकि दूसरे लेख में खरपल्लान को महाक्षत्रप एवं वनष्पर को क्षत्रप कहा गया है। क्षत्रप प्रायः महाक्षत्रप के अधीन होते थे।

(८) **चतुहि परिषाहि**—चारों परिषदें। बौद्ध धर्म में माने गए बौद्धों के चार वर्ग : भिक्षु, भिक्षुणियाँ, उपासक व उपासिकाएँ।

अभिलेखों का महत्त्व

राजनीतिक महत्त्व—प्रस्तुत अभिलेख कुषाण वंश के सुप्रतिथ नरेश प्रथम कनिष्क के शासनकाल के तीसरे वर्ष के हैं। अभी हाल तक ये कनिष्क के प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख थे। लेकिन अब कनिष्क के शासनकाल के दूसरे वर्ष में लिखवाया गया एक अन्य बौद्ध मूर्ति अभिलेख कोसम से उपलब्ध हो गया है। प्रस्तुत अभिलेख के आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान था कि कनिष्क अपने शासन के तीसरे वर्ष में भी सारनाथ प्रदेश का स्वामी था जबकि फोगल इत्यादि को इसमें शंका थी। उनका कहना था कि इस लेख में उल्लिखित दाता स्वयं बनारस के निवासी थे, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है, हो सकता है वे वहाँ तीर्थ यात्रा के रूप में मथुरा से पहुँचे हों। परन्तु कोसम से प्राप्त उपर्युक्त लेख की उपलब्धि से अब यह सम्भावना सबलतर हो गई है कि इलाहाबाद-बनारस प्रदेश तीसरे वर्ष भी कनिष्क के नियन्त्रण में था।

शब्दार्थ

हे ३ = हेमन्त के तीसरे मास में ; **एताये पूर्वये** = एतस्यां पूर्वायां, इस उपर्युक्त दिवस को ; **सद्ध्येविहारिस्य** = बिहार के साथी, विहार में साथ रहनेवाले ; **त्रैपिटकस्य** = त्रिपिटक के ज्ञाता ; **सहा माता पितिहि** = माता पिता सहित ; **उपध्यायाचर्येहि** = उपाध्यायाचार्यैः ; **अंतेवासिकोहि** = शिष्यैः ; **चतुहि परिषाहि** = चारों परिषद् ; **सर्व-सत्वनं**=सब प्राणियों के ।

अनुवाद

महाराज कनिष्क के (शासन के) वर्ष ३ में हेमन्त (अर्थात् जाड़े की ऋतु) के तीसरे माह में २२ वें दिन—इस उपर्युक्त (तिथि) को भिक्षु पुष्य वुद्धि (=पुष्य वृद्धि) के विहार-साथी, त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का (दान) बोधिसत्व (की यह मूर्ति) (और) छत्र तथा यष्टि वाराणसी में भगवान् के चंक्रम में (अर्थात् विहार के प्रांगण में) माता-पिता सहित, उपाध्यायाचार्यों सहित, विहार साथियों सहित, अन्तेवासियों (= शिष्यों) सहित, त्रिपिटकाचार्या वुद्धमित्रा सहित, क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लानसहित तथा चारों परिषदों सहित सब प्राणियों के हित व सुख के लिए स्थापित की गई ।

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१ भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो ।
२ महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनष्परेन ॥

अनुवाद

त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का (दान) बोधिसत्व (की यह प्रतिमा) महा-क्षत्रप खरपल्लान (व) क्षत्रप वनष्पर सहित (अर्थात् उनके सहयोग से) स्थापित की गई ।

तृतीय लेख

मूलपाठ

१. महारजस्य क [णिष्कस्य] सं ३ हे ३ दि २० (+ *) [२]
२. एतयेपुर्वये भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिट [कस्य]
३. बोधिसत्वो छत्र य [ष्टि] [च] [प्रतिष्ठापितौ] *

अनुवाद

महाराज कनिष्क के (शासन के) वर्ष ३ के हेमन्त (अर्थात् जाड़े की ऋतु) के ३ रे मास २२ वें दिन—इस उपर्युक्त (तिथि को) त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का (दान) बोधिसत्व (की यह प्रतिमा) और छत्र तथा यष्टि प्रतिष्ठापित की गई ।

व्याख्या

(१) इन लेखों में एक ही दिन उसी नाम के भिक्षु द्वारा ठीक वही दान दिए

प्रथम कनिष्क का ब्रिटिश संग्रहालय अभिलेख
वर्ष १० (=८८ ई०)

प्राप्ति-स्थल : अज्ञात
भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत **लिपि :** ब्राह्मी
तिथि : सं० १०
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : लूडर्स, ई० आई०, ९, पृ० २४० ; सरकार, स० इ० पृ० १३८

मूलपाठ

१. सिद्ध [ं] (॥ *) महाराजस्य देव [पुत्रस्य]
२. काणिष्कस्यं सवत्सरे [१०]
३. ग्रि २ दि ९ एतये पू [र्वये]
४. उतरायं न [व] मिकायं [हा] –
५. [र्म्यं] न्दत (। *) प्रियतां देवि ग्राम [स्य] (॥ *)

बौद्ध धर्म व कला की दृष्टि से महत्त्व—प्रस्तुत लेखों का बौद्ध संघ व कला के इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। इस प्रसंग में ये तथ्य बड़े रोचक हैं : (१) जिस भिक्षुणी त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा का उल्लेख कोसम से प्राप्त मूर्ति लेख में मिलता है, स्पष्टतः उसका ही उल्लेख हुविष्क के शासन के ३३ वें वर्ष के मथुरा बौद्ध मूर्ति अभिलेख में भिक्षु बल की शिष्या के रूप में मिलता है (भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य अन्तेवासिनीये भिक्षुणीये त्रैपिटकाये बुद्धमित्रायें—ए० इ०, पृ० १५३)। इसलिए प्रस्तुत सारनाथ मूर्ति लेख में भिक्षु बल के साथ उल्लिखित त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा भी कोसम-लेख की बुद्धमित्रा ही होनी चाहिए। (२) भिक्षुबल का नाम सारनाथ मूर्ति-लेख व हुविष्क के मथुरा-लेख के अलावा श्रावस्ती मूर्ति लेखों में भी मिलता है और वहाँ उसका साथी भिक्षु पुष्यवुद्धि भी उल्लिखित है। (३) इन सब लेखों की मूर्तियों की बनावट एक सी है। कोसम सारनाथ व श्रावस्ती की मूर्तियाँ आगरा की खदानों के लाल पत्थर से निर्मित, मथुरा शैली की हैं और एक कलाकार द्वारा ही निर्मित लगती हैं। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि (अ) प्रारम्भिक कुषाण काल में मथुरा, श्रावस्ती, सारनाथ व कोसम के भिक्षु संघों में परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क था। (आ) इन लेखों में उल्लिखित भिक्षु व भिक्षुणियाँ तत्कालीन बौद्ध-जगत् में बहुत प्रभावशाली रही होंगी। (इ) प्रारम्भिक कुषाण-युग में मथुरा में बौद्ध मूर्ति कला का एक केन्द्र उदित हो चुका था जहाँ कि मूतियाँ कम-से-कम कौसम सारनाथ व श्रावस्ती तक भेजी जा रही थी। (ई) परोक्ष रूप में इसका मतलब यह हुआ कि तब तक कोसम, सारनाथ व श्रावस्ती जैसे बौद्ध केन्द्रों में स्थानीय कलाकारों द्वारा निर्मित बुद्ध प्रतिमाएँ उपलब्ध नहीं थीं वरना भिक्षु बल व उनके साथी इन मूर्तियों को दूरस्थ मथुरा से ढोकर क्यों ले जाते ? (उ) सारनाथ, कोसम व श्रावस्ती जैसे केन्द्रों में भी बौद्ध प्रतिमाएँ अपेक्षया नई चीज थीं, इसका संकेत इस बात से भी मिलता है कि भिक्षु बल व भिक्षुणी बुद्धमित्रा ने इन पर यह लिखवाना आवश्यक समझा था कि ये 'बोधिसत्व' मूर्तियां हैं। परवर्ती युगों में जब बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा लोक प्रिय हो गई, इस प्रकार लिखवाना प्रायः आवश्यक नहीं समझा जाता था क्योंकि सभी दर्शक व भक्त किसी मूर्ति को देखकर यह अनायास जान जाते थे कि वह मूर्ति बुद्ध की है या बोधिसत्व की। (ऊ) यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि भिक्षु बल, जो अपनी उदर पूर्ति भी भिक्षा माँग कर करता होगा, इन मूर्तियों को किस प्रकार स्थापित करा सका होगा। ऐसा लगता है कि भिक्षु को इन मूर्तियों के लिए आवश्यक धन खरपल्लान व वनस्पर ने दिया था लेकिन इन्हें बनवाया था भिक्षु बल ने अपनी देखरेख में। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण इतिहास में ज्ञात हैं। इस प्रकार प्रस्तुत अभिलेखों से तत्कालीन बौद्ध संघ व कला पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश मिलता है।

इन लेखों की तिथि कनिष्क संवत् की है जिसकी पहिचान शक संवत् से की जाती है। इस समस्या पर हमने अन्यत्र विचार किया है।

प्रथम कनिष्क का ब्रिटिश संग्रहालय अभिलेख
वर्ष १० (= ८८ ई०)

प्राप्ति-स्थल : अज्ञात
भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत **लिपि :** ब्राह्मी
तिथि : सं० १०
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : लूडर्स, ई० आई०, ९, पृ० २४० ; सरकार, स० इ० पृ० १३८

मूलपाठ

१. सिद्ध [ं] (॥ *) महाराजस्य देव [पुत्रस्य]
२. काणिष्कस्यं सवत्सरे [१०]
३. ग्रि २ दि ९ एतये पू [र्वये]
४. उतरायं न [व] मिकायं [हा] -
५. [र्म्य] न्दत (। *) प्रियतां देवि ग्राम [स्य] (॥ *)

प्रथम कनिष्क का जेडा-अभिलेख
वर्ष ११ (=८९ ई०)

प्राप्ति-स्थल : पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में उण्ड के निकट जेडा

भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत **लिपि :** खरोष्ठी

तिथि : वर्ष ११

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सेना, जे० ए०, ८, १५ ; टॉमस, इ०, जे० आर० ए० एस०, १८७७, पृ० ९ ; बनर्जी १९०८, पृ० ४६, ७२ ; कोनो, कॉपर्स, २, भाग १, पृ० १४५ ; सरकार, स० इ०, पृ० १४०–४१,

मूलपाठ

१. सं १० (+ *) १ अषडस मसस दि २० उतर-फगुणे इशे क्षुणमि
२. खदे (णे ?) कुए [वेरो] डस मर्झकस कणिष्कस रजमि [तोयं] द च भुइ दणमुख हिपेअधिअस स [र्वस्ति] वदतिवधस पु [ज ?] ने लिअक—
३. स क्ष [त्र ?] पस उप [क] चअ म [डु] (। *) कत दण अनुग्र [हेण] [बुध] स संघमित्र-रजस (॥ *)

प्रथम कनिष्क का सुइ-विहार ताम्रपत्र-लेख
वर्ष ११ (=८९ ई०)

प्राप्ति-स्थल : पाकिस्तान में बहावलपुर के समीपस्थ सुइ विहार नामक स्तूप
भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत **लिपि** : खरोष्ठी
तिथि : सं० ११
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : डाउसन, जे० आर० ए० एस०, १८७०, पृ० ४७७ अ० ; हॉर्नले, आई० ए०, १०, पृ० ३२४ अ० ; इन्द्र जी, आई० ए०, ११, पृ० १२४ अ० ; कोनो, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० १४१ ; सरकार, स० इ०, पृ० १३९

मूलपाठ

१. महारजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य क [निष्कस्य] संव [त्स] रे एकदशे सं० १० (+ *) १ दइसिकस्य मस [स्य] दिवसें अठविशे दि २० (+ *) ४ (+ *) ४

२. [अ] त्र दिवसे भिक्षुस्य नगदतस्य ध [र्म] – कथिस्य अचर्य – दमत्रत – शिष्यस्य अचर्य-भवे-प्रशिष्यस्य यठि अरोपयत इह द [म] ने

३. विहरस्वर्मिणि उपसिक [व] लनंदि – [कु] टिंबिनि बलजय-मत च इमं यठि – प्रतिठनं ठप [इ] चं अनु परिवरं ददांर (। *) सर्वसत्वनं

४. हित-सुखय भवतु (॥ *)

प्रथम कनिष्क का मथुरा बौद्ध मूर्ति लेख

वर्ष १४ (=९२ ई०)

प्राप्ति-स्थल : मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी (कुछ अक्षरों की बनावट तीसरी शती के अक्षरों के सदृश)

तिथि : सं० १४

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : साह्नी, डी० आर०, ई० आई०, १९, पृ० ९६ अ० ; लूडर्स, मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ११६ ; सरकार, स० इ०, पृ० ५१८

मूलपाठ

१. महाराज—देवपुत्रस्य कणिष्कस्य स [ं] वत्सरे १० (+ *) ४ पौष मास—दिवसे १० अस्मि दिवसे प्रवरिक—ह [स्यिस्य]

२. भर्य्यं संघिला भगवतो पितमहास्य सम्यसंबुद्धस्य स्वमतस्य देवस्य पूजात्थं प्रतिमं प्रतिष्ठा—

३. पयति सर्व्व – दुक्ख – प्रहानात्थं ॥

प्रथम कनिष्क का माणिक्याला पाषाण अभिलेख
वर्ष १८ (=९६ ई०)

प्राप्ति-स्थल : आधुनिक पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में माणिक्याला

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

तिथि : स० १८

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सेना, जे० ए०, ९, ७ ; फ्लीट, जे० आर० ए० एस० १९१४, पृ० ३७२ ; कोनो, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० १४९ ; सरकार, स० इ०, पृ० १४२-३

मूलपाठ

A : १. सं १० (+ *) ४ (+ *) ४ [B : कतियस मस (स *) दिवसे २०]
[एत्र] पुर्वए महरजस कणे—
२. ष्क [स्य] गुषण-वश संवर्धक लल
३. दडणयगो वेश्पशिस क्षत्रपस
४. होरमु [र्तो] स तस अपनगे विहरे
५. होरमुर्तो एत्र णण भगव-बुद्ध-स्तुव
६. [प्र] तिस्तवयति सह तए [न] वेश्पशिएण खुदेचिए [न]

C : ७. बुरितेण च विहरकर [व्ह] एण
८. संवेण च परिवरेण सघ (। *) एतेन कु—
९. शलमुलेन बुधेहि च प [व] एहि [च]

D : १०. समं सद भवतु

E : ११. भ्रतर स्वरबुधिस अग्रप [डि] अशए

F : १२. सघ बुधिलेन नवकर्मिगेण (।। *)

प्रथम कनिष्क का मथुरा बौद्ध मूर्ति लेख
वर्ष १४ (=९२ ई०)

प्राप्ति-स्थल : मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी (कुछ अक्षरों की बनावट तीसरी शती के अक्षरों के सदृश)

तिथि : सं० १४

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : साहनी, डी० आर०, ई० आई०, १९, पृ० ९६ अ० ; लूडर्स, मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ११६ ; सरकार, स० इ०, पृ० ५१८

मूलपाठ

१. महाराज—देवपुत्रस्य कणिष्कस्य स [ं] वत्सरे १० (+ ★) ४ पौष मास—दिवसे १० अस्मि दिवसे प्रवरिक—ह [स्थियस्य]

२. भर्य्य संघिला भगवतो पितमहास्य सम्यसंबुद्धस्य स्वमतस्य देवस्य पूजार्त्थं प्रतिमं प्रतिष्ठा—

३. पयति सर्व्व – दुक्ख – प्रहानार्त्थं ॥

प्रथम कनिष्क का माणिक्याला पाषाण अभिलेख
वर्ष १८ (= ९६ ई०)

प्राप्ति-स्थल : आधुनिक पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में माणिक्याला

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

तिथि : स० १८

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सेना, जे० ए०, ९, ७ ; फ्लीट, जे० आर० ए० एस० १९१४, पृ० ३७२ ; कोनो, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० १४९ ; सरकार, स० इ०, पृ० १४२-३

मूलपाठ

A : १. सं १० (+ *) ४ (+ *) ४ [B : कातियस मस (स *) दिवसे २०]
[एत्र] पुर्वए महरजस कणे—
२. ष्क [स्य] गुषण-वश संवर्धक लल
३. दडणयगो वेश्पशिस क्षत्रपस
४. होरगु [र्तो] स तस अपनगे विहरे
५. होरमुर्तो एत्र णण भगव-बुद्ध-क्षुव
६. [प्र] तिस्तवयति सह तए [न] वेश्पशिएण खुदेचिए [न]

C : ७. बुरितेण च विहरकर [व्ह] एण
८. संवेण च परिवरेण सघ (। *) एतेन कु—
९. शलमुलेन बुधेहि च ष [व] एहि [च]

D : १०. समं सद भवतु

E : ११. भ्रतर स्वरबुधिस अग्रप [डि] अंशए

F : १२. सघ बुधिलेन नवकर्मिगेण (।। *)

कुर्रम ताम्र मञ्जूषा लेख
वर्ष २१ (=९९ ई०)

प्राप्ति-स्थल : पाकिस्तान में पेशावर के समीपस्थ कुर्रम

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी

तिथि : सं० २१

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : अय्यर और टॉमस, ई० आई०, १८, पृ० १५ अ० ; कोनो, एस०, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० १५५ ; सरकार, स० इ०, पृ० १४८

मूलपाठ

१. (A) [सं २० (+ *) १ सस] स अवदुनकस दि २० इ [शे] क्षुनंमि (B) इवेड्रवर्म यश-पुत्र तनु [व] कंमि रंञंमि (C) [नव-विह*] रंमि अचर्यन सर्वस्तिवदन परि – (D) [ग्रहं] मि थुबंमि भग्रवतस शक्य-मुनिस

२. (A) शरिर प्रदिठवेदि (।*) यथ वुत भग्रवद (B) अविज-प्रचग्र संकरं संकर-प्रचग्र विञन (C) [वि] ञन-प्रचग्र नम-रुव नमरुव-प्रचग्र षड्र [य] – (D) [दन] षड्रयदन-प्रचग्र फष फष-प्रचग्र

३. (A) वेदन वेदन-प्रचग्र तष्ण-प्रचग्र उवदन (B) उवदन – प्रचग्र भव भव-प्रचग्र जदि जदि-प्रच [ग्र] (C) जर-मर [न] – शोग्र – परिदेव-दुख – दोर्मनस्त-उपग्रस (।*) (D) [एवं] [अस] केवलस दुख-कंधस संमुदए भवदि (।*)

४. (D) सर्व-सत्वन पुयए अख च प्रतिच-संमुपते (।*) (A) लिखिद महिफतिएन सर्वसत्वन पुयए (॥ *)

प्रथम कनिष्क का मथुरा मूर्ति अभिलेख
वर्ष २३ (=१०१ ई०)

प्राप्ति-स्थल : आजकल उत्तर प्रदेश के मथुरा संग्रहालय में

भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष २३

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : छाबडा, इ० आई०, २८, पृ० ४२-४४; सरकार, स० इ०, पृ० १४६

मूलपाठ

१. महरस्य कनि २० (+ *) ३ ग्र १ एतस्य पुर्वयं वहारिस्य मस्यगु [त्त] स्य धिता पु [शद] [ता *]

२. (A) बोधिसत्व

(B) प्र [f] तष्ट [पयति]

३. स्व [के] विहरे (।*) [सर्वसत्वनं] [हितसुखाय भवतु*] (।।*)

प्रथम कनिष्क का सहेत-महेत बौद्ध-मूर्ति-लेख

लेख परिचय—यह लेख एक खण्डित बौद्ध मूर्ति पर उत्कीर्ण है जो जनरल कनिंघम ने उत्तर प्रदेश के सहेत-महेत (प्राचीन श्रावस्ती) नामक स्थल से खोज निकाली थी। यह आज कल इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता में है। मूर्त्ति की चौकी; जिस पर यह लेख लिखा है, ३ फुट चौड़ी और ६ इन्च ऊँची है। इसमें कुल तीन पंक्तियाँ हैं। अक्षरों का आकार ½'' से लेकर १¾'' तक है। इसकी भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि प्रारम्भिक कुषाण काल की ब्राह्मी। इसका उद्देश्य कनिष्क के शासनकाल में भिक्षु बल द्वारा बोधिसत्त्व प्रतिमा एवं उसके छत्र तथा दण्ड (यष्टि) के निर्माण और उन्हें श्रावस्ती के कौसंबकुटी के चंक्रम में स्थापित कराए जाने का उल्लेख करना है। लेख में तिथि लिखी हुई थी परन्तु अब उसका केवल '१९ वां दिवस' ही पढ़ा जा सकता है। श्रावस्ती से एक पाषाण छत्र-दण्ड भी उपलब्ध है। उस पर भी भिक्षु बल द्वारा एक बोधिसत्त्व प्रतिमा व उसके छत्र और दण्ड के निर्माण एवं उनको श्रावस्ती की कौसंबकुटी के चंक्रम में स्थापित कराए जाने का उल्लेख करना है। अभाग्यवश उसमें राजा का नाम एवं तिथि दोनों मिट गए हैं परन्तु उस लेख की विषय-वस्तु, भाषा, शैली, राजा की 'महाराज देवपुत्र' उपाधि, तथा छत्र-दण्ड में प्रयुक्त पाषाण और उसकी निर्माण शैली को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वह छत्र दण्ड इसी बोधिसत्त्व प्रतिमा का है। यह स्थिति कनिष्क के तीसरे वर्ष के सारनाथ बौद्धमूर्ति-लेख के साथ तुलनीय है।

इस मूर्ति लेख को ब्लाख़ ने ई० आई० के ८ वें अंक में सम्पादित किया और उपर्युक्त छत्र दण्ड लेख को उन्हीं ने 'एपि० इण्डिका' के ९ वें अंक में।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्लाख, ई० आई० ८, पृ० १८० अ०; सरकार स० इ०, पृ० १४५ ; छत्रदण्ड लेख के लिए दे० ब्लाख, ई० आई०, ९, पृ० २९१ ; सरकार स० इ०, पृ० १४४।

मूलपाठ

१. [महाराज देवपुत्रस्य कणिष्कस्य सं………… दि] १०
(+ *) ९ एतये पूर्वये भिक्षुस्य पुष्य [वु *]
२. [द्धिस्य *] सद्ध्ये विहारिस्य भिक्षुब [ल] स्य
त्रेपिटकस्य दान [ं] [बो] धिसत्वो छात्रं दाण्डश्च शावस्तिये भगवतो चंकमे
३. कोसंबकुटिये [अचर्यां] णां सर्वस्तिवादिनं परिगहे (॥ *)

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में दिन की संख्या से पहिले तक के अक्षरों का केवल निचला भाग अवशिष्ट है। पुष्य (वुद्धि) के नाम का केवल प्रथम भाग अवशिष्ट है परन्तु इसे तीसरे वर्ष के सारनाथ-बौद्ध मूर्त्ति लेखों की सहायता से, जिनमें भिक्षु बल और पुष्यवुद्धि दोनों उल्लिखित हैं, निश्चयपूर्वक पूरा किया जा सकता है। तीसरी पंक्ति दूसरी पंक्ति के 'दानं' के 'नं' अक्षर के नीचे से शुरू होती है।

अनुवाद

महाराज देवपुत्र कणिष्क के (शासन में) संवत्सर.........में १९ वें दिन, उपर्युक्त तिथि को, भिक्षु पुष्यबुद्धि के विहार-साथी त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल का दान (यह) बोधिसत्व (प्रतिमा) छत्र और दण्ड श्रावस्ती में कोसंबकुटी में भगवान् के चंक्रम में सर्वास्तिवादी आचार्यों की सम्पत्ति के रूप में (प्रतिष्ठापित किए गए)।

व्याख्या

(१) ब्लाख़ ने इस बात की सम्भावना मानी है कि यह लेख हुविष्क के शासन काल में लिखवाया गया हो।

(२) यह लेख एवं सारनाथ बौद्ध मूर्ति अभिलेख एक दूसरे को समझने में बहुत सहायता देते हैं। उदाहरणार्थ, सारनाथ लेखों में 'बलस्य त्रैपिटकस्य' के बाद 'दानं' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रस्तुत लेख के उदाहरण को ध्यान में रखकर वहाँ 'दानं' शब्द की पूर्ति करने पर उनका आशय स्पष्ट हो जाता है। दूसरी तरफ सारनाथ-लेखों से इस लेख में उल्लिखित भिक्षु 'पुष्य' के नाम को पूरा पढ़ने में मदद मिलती है।

(३) **शावस्तिये**—इस लेख से प्रमाणित होता है कि प्राचीन श्रावस्ती नगर वहीं स्थित था जहाँ आज कल सहेत-महेत स्थल है।

(४) **कौसंबकुटी**—ब्लाख़ के अनुसार कोसंबकुटी श्रावस्ती के निकट स्थित जेतवन के अन्दर स्थित थी।

लेख का महत्त्व

इस लेख से कोसम और सारनाथ से प्राप्त तत्कालीन बौद्ध मूर्ति अभिलेखों का अर्थ व महत्त्व स्पष्ट होते हैं। विस्तृत विवेचन के लिए दे०, तीसरे वर्ष के सारनाथ बौद्ध मूर्त्ति लेख का महत्त्व।

प्रथम कनिष्क का सहेत-महेत पाषाण छत्र यष्टि अभिलेख

प्राप्ति-स्थल : सेत (अथवा सहेत) महेत, उत्तर प्रदेश

भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : मिट गई है

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : ब्लॉख, ई० आई०, पृ० २९१ ; सरकार, स०, इ०, पृ० १४४

मूलपाठ

१. [म] [हाराजस्य*]........[दे*]
२. [वपु] [त्रस्य*] [कणिष्कस्य ?] सं........दि........]
३. [भिक्षुस्य*........] [सद्धेय*] ि[व] हा [ि] र -
४. [स्य] भिक्षुस्य*] [पुस्यबुद्धिस्य*] [सद्धेयर्यविहारि*] -
५. स्य [भिक्षुस्य*] [बलस्य*] [त्रेपिट] कस्य
६. दानं बोधि [स] त्वो छत्रं दण्डश्च
७. शावस्तिये [भगवतो*] [चं*] क [मे] कोसंब -
८. [कुटिये*] [आचार्य्यानं] [सर्वास्ति*] वादिन [ं*]
९. [परिग्रहे] (।।*)

वासिष्क का ईसापुर यूप अभिलेख
वर्ष २४ (=१०२ ई०)

प्राप्ति-स्थल : मथुरा (उत्तर प्रदेश) के समीपस्थ ईसापुर

भाषा : संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : सं० २४

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : फोगल, ए० एस० आई०, ए० आर०, १९१०-११, पृ० ४० अ० ; सरकार, ए० एस० आई०, ए० आर०, स०, इ०, पृ० १४९-५०

मूलपाठ

१. सिद्धम् (॥*) महाराजस्य राजातिराजस्य देवपु -
२. त्रस्य षाहेर्व्वासिष्कस्य राज्य-संवत्सरे च -
३. तुर्व्विशे २० (+ *) ४ गृष्मा (ग्रीष्म) - मासे चतुर्थे ४ दिवसे
४. त्रिंशे ३० अस्यां पूर्व्वायां रुद्रिल-पुत्रेण द्रोण -
५. लेन ब्राह्मणेन भारद्वाज-सगोत्रेण मा -
६. णचछन्दोगेन इष्ट्वा सत्रे (त्त्रे) ण द्वादशरात्रेण
७. यूपः प्रतिष्ठापितः (। *) प्रियन्तामग्नयः (।। *)

वासिष्क का साञ्ची बौद्ध मूर्ति-अभिलेख
वर्ष २८ (= १०६ ई०)

प्राप्ति-स्थल : मध्यप्रदेश में साञ्ची

भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : सं २८

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : ब्युलर, ई० आई०, पृ० ३६९-७० ; लूडर्स, ई० आई०, ९, पृ० २४४ ; फ्लीट, जे० आर० ए० एस०, १९०३, पृ० ३२६ अ० ; सरकार, स० इ०, पृ० १५०-५२

मूलपाठ

१. [महाराज *] स्य र [ा] जा [ि] तराजस्य [देव *] पुत्रस्य मा [ि] ह - वा [ि *] सष्कस्य सं २० [+ *] ८ हे १ [दि ५] [ए *] तस्या [ं *] पुर्वा [यां * [भगव -

२. तो *] [····स्य जम्बुछाया - शैल [ा] ग्र [स्थ ?] स्य धर्मदेव-विहारे प्रति [ष्ठ] ापिता खरस्य धितर मधुरिक *

३. ······ णं देयधर्म-परि [त्यागेन] ········

हुविष्क का मथुरा पाषाण लेख
वर्ष २८ (= १०६ ई०)

प्राप्ति-स्थल : मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष २८

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : जायसवाल, के० पी०, जे० बी० ओ० आर० एस०, १८, पृ० ४ अ० ; देब, आई० एच० क्यू०, ८, पृ० ११७ अ० ; कोनो, ई० आई०, २१, पृ० ६० अ० ; सरकार, स० इ०, ६० अ० ।

मूलपाठ

१. सिद्ध [चिह्न] (॥ *) संवत्सरे २० (+ *) ८ गुर्प्पिये दिवसे १ अयं पुण्य -

२. शाला प्राचिनीकन सरुकमान-पुत्रेण खरासले -

३. र- पतिन वकन - पतिना अक्षय-नीवि दिन्न [ा] (। *) तुतो वृ [द्धि]-

४. तो मासानुमासं शुद्धस्य चतुदिशि पुण्य-शा [ला] -

५. यं ब्राह्मण - शतं परिविषितव्यं (। *) दिवसे दिव [से]

६. च पुण्य-शालाये द्वार-मुले धारिये साद्यं सक्तना [˙] आ -

७. ढका ३ लवण-प्रस्थो १ शक्त-प्रस्थो १ हरित - कलापक -

८. घटक [ा] ३ मल्लक [ा] ५ [। *] एतं अनाध [ा] नां कृतेन व [ातव्य]

९. बभक्षितन पिबसितनं (। *) य चत्र पुण्य तं देवपुत्रस्य

१०. षाहिस्य हुविष्कस्य (। *) येषा च देवपुत्रो प्रियः तेषामपि पुण्य

११. भवतु (। *) सर्वाये च पृथिवीये पुण्य भवतु (अक्षय-निवि दिन्ना

१२. .... [र] ाक - श्रेण [ि] ये पुराण-शत ५०० (+ *) ५० समितकर - श्रेणी -

१३. [ये च] पुराण-शत ५०० (+ *) ५० (॥ *)

कनिष्क का सुर्खकोतल-अभिलेख

वर्ष ३१ (=१२९ ई०)

(संक्षेप मात्र, व्याख्या सहित)

अब से करीब २० वर्ष पूर्व अफगानिस्तान में फ्रांसीसी पुरातात्त्विक आयोग ने बैक्ट्रिया (अफगानिस्तान का उत्तरी भाग) में बघलान के समीप कुन्दुज नदी के तट पर स्थित सुर्खकोतल में (प्राचीन बागोलाँगो), जो काबुल से मजार-ए-शरीफ जाने वाले मार्ग पर स्थित है, आन्द्रे मारीच के नेतृत्व में उत्खनन करके कुषाणकालीन भवनों के अवशेष खोज निकाले। इनमें उन्हें १९५७ में एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिला जो तोखारी भाषा (भारतीय-बैक्ट्रियायी) और यूनानी लिपि में लिखा है। इसमें कनिष्क द्वारा निर्मित परन्तु उसके बाद कुछ टूट-फूट गए एक देवगृह का उल्लेख है जिसे नोकोन्जोको (Nokonzoko) नाम के पदाधिकारी ने, जो सम्राट् का निष्ठावान् सेवक था और वहाँ ३१ वें वर्ष के प्रथम 'निशान' (माह का नाम) में आया था, सुधरवाया। अभिलेख में इस भवन को 'कनिष्क निकाटोर का देवगृह' (कनिष्क बर्गो) कहा गया है। नोकोन्जोको ने वहाँ पर गढ़ी को प्राचीर द्वारा सुदृढ़ कराया, एक कुआँ खुदवाया और सम्भवतः एक जलकुल्या निर्मित करायी जिससे वहाँ शुद्ध जल की कमी न रहे। स्पष्टतः यह अभिलेख उसके इस स्थान पर ३१वें वर्ष में आगमन के कुछ समय उपरान्त लिखवाया गया होगा। इस काम में समान पद वाले कुछ अन्य पदाधिकारियों ने उसे सहयोग प्रदान किया था। इस लेख को उत्कीर्ण किया था मिहरमन (Mihiraman) और बुर्ज्मिहरपुर (Burzmihr-puhr) ने, जिन्होंने इस पर अपने हस्ताक्षर भी किए।

सुर्खकोतल-अभिलेख पद्य में है। इसमें दी गई मुख्य सूचनाएँ इस प्रकार हैं : एक, कनिष्क ने 'कनिष्क बर्गो' का निर्माण कराया और इसका उद्‌घाटन मिथ्र की पूजा के साथ किया। दो, उसके धर्म में होम (Hoama=वैदिक सोम) को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। तीन, ३१ वें वर्ष के प्रथम निशान में 'राजा और महान् मिथ्र' को (अर्थात् उनकी मूर्त्ति या मूर्त्तियों को) स्थापित किया गया। यहाँ आशय उनकी दो पृथक्-पृथक् मूर्त्तियों से भी हो सकता है और 'मिथ्र रूप में कनिष्क' की केवल एक मूर्त्ति से भी। चार, आठवें पद में कनिष्क को 'कोज़गष्क का पुत्र' और 'मिथ्र का पुत्र' कहा गया है। इस पद में उसे ऐसी उपाधियां भी दी गई हैं जो तीसरे पद में मिथ्र के लिए प्रयुक्त हैं।

सुर्खकोतल-अभिलेख कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक, इसमें कनिष्क के पिता का नाम 'कोज़गष्क' बताया गया है। दो, इसमें ३१ वें वर्ष का उल्लेख है जो स्पष्टतः कनिष्क-संवत् का होना चाहिए। दि० च० सरकार ने यही सम्भावना स्वीकार की है। लेकिन उस अवस्था में प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कनिष्क ३१ वें वर्ष तक

जीवित था ? मारीच के अनुसार इस विषय में दो विकल्प हैं—या तो कनिष्क ने भारत में ज्ञात अपने २३ वें वर्ष के उपरान्त गन्धार इत्यादि अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दिए थे और स्वयं बैक्ट्रिया में रहने लगा था जहाँ वह कम-से-कम ३१ वें वर्ष तक जीवित रहा और या प्रस्तुत लेख की तिथि कनिष्क-सम्वत् की नहीं है। इसके विपरीत हैनिंग का विचार है कि प्रस्तुत अभिलेख में उल्लिखित देवगृह तो कनिष्क ने बनवाया था परन्तु लेख लिखवाया गया था हुविष्क के काल में। बुस्सागली का भी यही मत है। लेकिन इस अभिलेख में कनिष्क के लिए प्रयुक्त BADOSHAO तथा MAEZOMO उपाधियां तथा यह कथन कि नोकोन्जोको सम्राट् के प्रति निष्ठावान् था, यह संकेत देते हैं कि कनिष्क इस लेख के लिखवाए जाने तक जीवित था। इस-लिए एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि इस अभिलेख का कनिष्क प्रथम कनिष्क न होकर आरा-लेख में उल्लिखित द्वितीय कनिष्क हो।

सुर्खकोतल-अभिलेख में जिस देवगृह का उल्लेख हुआ है वह स्पष्टतः कुषाणों का देवकुल था। इस भवन से कुषाण राजाओं और राजकुमारों की मूर्त्तियां भी मिली हैं जो माट (मथुरा) से प्राप्त कुषाण देवकुल की मूर्त्तियों से घनिष्ठ सादृश्य रखती हैं (दे०, बैशम द्वारा सम्पादित 'दि डेट ऑव कनिष्क' में बुस्सागली का लेख 'दि प्रोब्लम ऑव कनिष्क एज सीन बाई दि आर्ट हिस्टोरियन', पृ० ५०)। इस प्रकार प्रस्तुत अभिलेख से यह अतिरिक्तरूपेण प्रमाणित होता है कि कुषाणों में पूर्वजों की मूर्त्तियाँ बनाकर पूजने की प्रथा बड़ी लोकप्रिय थी। इस प्रसंग में सातवाहनों के नानाघाट से प्राप्त मूर्त्ति-लेख (जो सातवाहन राजाओं की मूर्त्तियों के नीचे लिखे हैं) एवं भास के 'प्रतिमा नाटक' में रघुवंशी राजाओं के देवकुल का उल्लेख (जहाँ रघुवंश के सभी पुराने राजाओं की मूर्त्तियाँ रखी हुई थी और जिनके साथ दशरथ के स्वर्ग-वासी होने पर उसकी प्रतिमा भी रख दी गई थी) अनायास स्मरण हो आता है। ये तथ्य प्राचीन भारत में राजाओं के दैवत्व विषयक सिद्धान्त पर रोचक प्रकाश देते हैं।

आनुषंगिक रूप से ध्यान दिलाया जा सकता है कि इस लख से यह अतिरिक्त रूपेण प्रमाणित होता है कि कुषाण राजा धार्मिक दृष्टि से बड़े उदार और विभिन्न धर्मों में समान रूप से श्रद्धा प्रकट करने वाले थे। अगर इस लेख का नरेश प्रथम कनिष्क है तो मानना होगा कि उसने केवल बौद्ध स्तूप ही नहीं बनवाए, मिथ्र पूजा, अग्निपूजा और सम्भवतः सोम यागों में भी दिलचस्पी ली थी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—मारीच, आन्द्रे, जर्नल एशियाटिक, १९५८, पृ० ३४५-४४६ ; हैनिंग, डब्ल्यु० बी०, बी० एस० ओ० ए० एस०, २३, १९६०, पृ० ४७ अ० ; सरकार, स० इ०, पृ० ५२८ (केवल सूचनामात्र) ; बल्देव कुमार, दि अर्ली कुषाणज़, पृ० २८६-८ ; हुम्वाख, एच०, बैशम द्वारा सम्पादित 'दि डेट ऑव कनिष्क' में लेख, पृ० १२१-२ ; कौशाम्बी, डी० डी०, वही, पृ० १२३-४.

हुविष्क के काल का मथुरा बौद्ध मूर्त्ति-लेख
वर्ष ३३ (=१११ ई०)

लेख-परिचय—यह लेख उत्तर प्रदेश के मथुरा नगर में चौबारा नामक टीले से प्राप्त एक बौद्ध मूर्त्ति की खण्डित चौकी पर उत्कीर्ण है। यह मूर्त्ति अब लखनऊ-संग्रहालय में रखी हुई है। लेख का आकार ३'×२½" है। इसमें कुल २ पंक्तियाँ हैं जिनके अक्षरों का आकार ½" से १¾" तक है। इसे कुषाण सम्राट् हुविष्क के शासन काल में भिक्षुणी बुद्धमित्रा की बहन की पुत्री धनवती ने यह बोधिसत्व प्रतिमा दान देते समय लिखवाया था। लेख की **भाषा** प्राकृत मिश्रित संस्कृत है और **लिपि** प्रारम्भिक कुषाणकालीन ब्राह्मी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—लूडर्स, आई० ए०, ३३, पृ० ३९ ; ब्लाख, इ० आई०, ८, पृ० १८१ अ०, सरकार, स० इ० पृ० १५३-४।

मूलपाठ

१. **महारजस्य देवपुत्रस्य हुविष्कस्य सं ३० (+ *) ३ गृ**
   १ दि ८ भि [क्षु] स्य बलस्य त्रैपिटकस्य
   अन्तेवासि [नी] ये भिक्षुणीये त्रे [पिटका] ये बुद्धमित्राये

२. **भागिनेयीये भिक्षुणीये धनवतीये बोधिसत्वो प्रतिथा [वितो]**
   [म] धुरवण के सहा माता पिति [हि] ···· ···· (।। *)

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'गृ' को 'ग्री' पढ़ें। **गृ (ग्री)** = ग्रीष्म ; **अन्तेवासिनी**=शिष्या ; **भागिनेयी**=बहिन की पुत्री ; **प्रतिथावितो**=प्रतिष्ठापितः ; **मधुरवणके** = मधुरवन अर्थात् मथुरा में।

अनुवाद

महाराज देवपुत्र हुविष्क के (शासन में) संवत्सर ३३ की ग्रीष्म ऋतु के (प्रथम) महीने के ८ वें दिन त्रिपिटक के ज्ञाता भिक्षु बल की शिष्या त्रिपिटिकाचार्या भिक्षुणी बुद्धमित्रा की बहिन की पुत्री भिक्षुणी धनवती द्वारा अपने माता-पिता के साथ मथुरा में बोधिसत्व (की यह प्रतिमा) स्थापित की गई।

व्याख्या

(१) भिक्षु बल व भिक्षुणी बुद्धमित्रा का उल्लेख कनिष्क के शासन काल के कोसम, सारनाथ व सहेत-महेत मूर्त्ति लेखों में भी हुआ है।

(२) **मधुरवण**=मधुरवन=मधुरा = मथुरा।

द्वितीय कनिष्क का आरा पाषाण लेख
(वर्ष : ४१)

प्राप्ति स्थल व लेख-परिचय—यह पाषाण अभिलेख आधुनिक पाकिस्तान में अटक नगर से करीब दस मील दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित चाह् वाग निगलाब के समीपस्थ आरा स्थल से एक कुएँ से उपलब्ध हुआ था। स्टेनकोनो ने इस स्थान के नाम का उच्चारण आर (आरा नहीं) दिया है। बनर्जी के अनुसार यह् जिस लघु पाषाण पर लिखा है उसकी लम्बाई २ फुट ८ इंच तथा चौड़ाई ९ इंच है। स्टीन ने इसे लाहौर-संग्रहालय को भेंट कर दिया था। इसमें कुल छः पंक्तियाँ हैं। पाषाण का धरातल खुरदरा है। उकेरने वाले ने इसके धरातल को चिकना करने का विशेष प्रयास नहीं किया था।

भाषा और लिपि—आरा-अभिलेख की भाषा प्राकृत है और लिपि कुषाण-कालीन खरोष्ठी। इसके कुछ शब्दों के सही पाठ, उच्चारण व अर्थ के विषय में विद्वानों में वाद-विवाद रहा है। इसमें कुछ समस्याएँ कुषाणों की भाषा के शब्दों के सही उच्चारण और कुषाण लिपि में विभिन्न अनुनासिकों व संयुक्ताक्षरों की सही पहिचान के विषय में मतभेद होने के कारण हैं।

तिथि—इस लेख में ४१ वें वर्ष का उल्लेख है। यह वर्ष स्पष्टतः कनिष्क-सम्वत् का है। इसलिए कनिष्क सम्वत् अगर ७८ ई० में प्रारम्भ हुआ तो इस लेख की तिथि ११९ ई० होगी। इस समस्या पर हमने अन्यत्र विचार किया है।

उद्देश्य—आरा-अभिलेख कुषाण सम्राट् (द्वितीय) कनिष्क के शासन-काल का है। यह एक प्रतिष्ठा शासन है। इसमें दषव्हर नामक व्यक्ति ने अपने माता-पिता का की पूजा के हेतु एक कूप बनवाने का उल्लेख किया है।

अध्ययन-इतिहास—इस लेख को सर्वप्रथम १९०८ में आर० डी० बनर्जी ने 'इण्डियन एण्टिक्वरी' में प्रकाशित किया था। इसके कुछ वर्ष बाद लूडर्स ने इसे उसी पत्र में पुनः सम्पादित किया और फ्लीट ने इसके ऊपर जे० आर० ए० एस० में कुछ टिप्पणियाँ लिखीं। अन्त में इसे स्टेनकोनो ने एपि० इण्डिका में प्रकाशित किया। तब से कुषाण इतिहास पर लिखित लगभग सभी ग्रन्थों में इस पर कुछ-न-कुछ लिखा जाता रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ एवं निबन्ध—बनर्जी, आई० ए० १९०८, पृ० ५८ अ० ; लूडर्स, वही, १९१३, पृ० १३२ अ० ; फ्लीट, जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० ९७, अ०, कोनो, स्टेन, ई० आई०, २२, पृ० १३० अ० ; कॉर्पस, भाग २, पृ० १६५ ; सरकार, स० इ०, पृ० १५४-५ ; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ७१। इनके अलावा को० हि०

हि० इ०, भाग २; राय चौधुरी की पो० हि० ए० इ०, पुरी की 'इण्डिया-अण्डर दि कुषाणाज़,' मुखर्जी की 'कुषाण क्रानोलाजी' आदि पुस्तकों की प्रासंगिक सामग्री भी द्रष्टव्य है।

मूलपाठ

१. महरजस रजतिरजस देव पु [त्रस] [क] इ [स] रस
२. व [झि] ष्य पुत्रस कनिष्कस संवत्सर एकचप [रि] -
३. [शए] सं० २० (+) २० (+) १ जेठस मसस दिव [से]
१ इ [शं] दिवस-क्षुणमि ख [दे]
४. [कुपे] दषव्हरेन पौषपुरिअ पुत्रण मतर पितरण पुय [ए]
५. [अत्म] णस सभर्य [स] [स] पुत्रस
अनुग्रहर्थए सर्व [सप] ण
६. जति [षु] [हि] तए (।) इमां च लिखितो म (धु) .... (। ।)

पाठ-टिप्पणी—'कइसरस' को लूडर्स ने 'पथदरस' पढ़ा है। 'वझिष्प' को बनर्जी 'वसिष्प' पढ़ते हैं और लूडर्स तथा स्टेनकोनो 'वझेष्क'। फ्लीट, वाई० आर० गुप्त व सरकार 'वझिष्प' ही पढ़ते हैं। बनर्जी ने 'कनिष्कस' का पाठ 'कणिष्कस' सुझाया है। दिवसे ? इशे 'को कोनो ने 'दि २० ४ १ इशें' पढ़ा है। इस स्थल पर 'व' और 'स' के मध्य कुछ स्थान, पत्थर की खराबी के कारण, छूटा हुआ है। 'दषव्हरेन' को 'दषव्होतेन' 'दषभैरन' तथा 'दषफोतेण' आदि भी पढ़ा गया है। 'अत्मणस' को सरकार आदि 'हिरंणस' पढ़ते हैं और 'हितए' को 'छतए'। कोनो ने इमो च लिखितो मधु' के स्थान पर 'इमो च ल १ खिप मि धमदण' पढ़ा है।

शब्दार्थ

कइसर = कैसर, रोमक सम्राटों के Caesar विरुद का कुषाण रूप ; **एकचपरिशए** = एकचत्वारिंशे; ४१ वें **जेठस** = ज्यैष्ठस्य ; **मस** = मास ; **इशे दिवस क्षुणाभि** = अस्मिन् दिवस क्षणे, इस दिन और क्षण में या इस दिन की तिथि में; **खदे** = खातः, खुदवाया गया ; **कुपे** = कूप, कुआं ; **पोषपुरिअ पुत्रण** = पौषपुर अर्थात् पेशावर के निवासी ; **पुयए** = पूजायै, पूजा के लिए ; **अत्मणस** = अपने ; **सभर्यस** = सभार्यस्य, भार्या अर्थात् पत्नी सहित; **सर्वसयण** = सर्वसत्वानां, सब प्राणियों के, **जतिषु** = जातिषु, जन्म जन्मे में, **हितए**=हित के लिए ।

अनुवाद

वझिष्य के पुत्र, महाराज, राजातिराज, देवपुत्र, कैसर कनिष्क के (शासन-काल के) इकतालीसवें वर्ष, सं० ४१, में ज्येष्ठ मास के १ (प्रथम) दिन, इस दिन और क्षण में, पोषपुर निवासी दषव्हर द्वारा (अपने) माता पिता की पूजा के लिए अपनी भार्या और पुत्र सहित अपने अनुग्रह लाभ के लिए सब प्राणियों के जन्म-जन्म में हित के लिए कुआं खुदवाया गया । इसे लिखा मधु (नाम के व्यक्ति) ने ········

व्याख्या

(१) **महरज रजतिरजस देवपुत्रस कइसरस**—महाराज राजातिराज देवपुत्र कैसर । भारत में 'महाराज' उपाधि भारतीय-यवनों ने चलाई थी । खारवेल प्रथम भारतीय नरेश हैं जिसने यह उपाधि धारण की थी । 'राजातिराज' उपाधि मूलत प्राचीन ईरानी उपाधि 'क्षायथ्यक्षायथ्यानां' का रूपान्तर है । इसे सर्वप्रथम शक सम्राटों ने धारण किया था । 'देवपुत्र' चीनी सम्राटों की उपाधि 'तिएनृत्ज़ू' (सन ऑव हैवन) का भारतीयकरण है । 'कैसर' रोमक सम्राटों का विरुद था जिसे कनिष्क ने अपना लिया था ।

(२) **वझिष्प**—वह सम्भवतः २८ वें वर्य के सांची बौद्धप्रतिमा अभिलेख में उल्लिखित महाराज राजातिराज देवपुत्र षाहि वासिष्क है । षाहि=क्षायथ्य । 'राज-तरंगिणी' में हुष्क, जुष्क और कनिष्क का एक साथ उल्लेख मिलता है । 'राज-तरंगिणी' तथा सांची-लेख में आए वासिष्क व जुष्क नामों से लगता है कि इस लेख का लेखक भी वक्षिष्क नाम लिखना चाहता था, परन्तु असावधानी से वझिष्प लिख गया ।

(३) **पौषपुरिअ पुत्रण**—कोनो ने इसका अर्थ किया है 'पोषपुरी का पुत्र' । सरकार के अनुसार पुत्र शब्द यहाँ निवासी के अर्थ में आया हो सकता है और पोषपुर की पहिचान आधुनिक पेशावर, प्राचीन पुरुषपुर, से की जा सकती है । बैजनाथ पुरी भी यही अर्थ करते हैं ।

(४) कोनों ने लेख के अन्त में 'इमो च ल १ खिमपि धमदण' पढ़ा है और इसका अर्थ 'और मैं यहाँ एक लाख धर्मदान के रूप में फेंकता हूँ अर्थात् देता हूं' किया है। इसके बजाय सरकार ऊपर दिया गया पाठ व अर्थ मानते हैं।

(५) दषव्हर कोई पह्लव रहा होगा। तु० पार्थियन नरेश गुदुव्हर का नाम।

अभिलेख का महत्त्व

इस अभिलेख का महत्त्व प्रधानतः राजनीतिक है। कुषाण इतिहास में प्रथम कनिष्क की ज्ञात तिथियां १ से २३ तक हैं, वासिष्क की २४ से २८ तक, हुविष्क की २८ से ६० तक तथा वासुदेव की ६७ से ९८ तक। ये तिथियां स्पष्टतः कनिष्क सम्वत् की हैं, चाहे उसका प्रथम वर्ष हम कुछ भी क्यों न मानें। इनमें हुविष्क व वासिष्क ने कुछ समय तक अवश्य ही एक साथ शासन किया क्योंकि वासिष्क के अन्तिम ज्ञात वर्ष २८ में लिखे गये साँची-लेख की तिथि हुविष्क के उसी वर्ष में लिखवाए गए मथुरा-लेख की तिथि से बाद में पड़ती है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आरा-अभिलेख के कनिष्क का, जो अपने को वझिष्प (=वझिष्क ?= वासिष्क ?) का पुत्र कहता है, हुविष्क से क्या सम्बन्ध था क्योंकि उसके लेख की तिथि ४१ हुविष्क की ज्ञात तिथियों के बीच में पड़ती है। आर० डी० बनर्जी ने उसे प्रथम कनिष्क से अभिन्न माना है। लेकिन प्रथम कनिष्क के प्रचुर संख्या में मिले लेखों में से किसी में भी उसके पिता का नाम नहीं मिलता। दूसरे उसके सब लेख २३ वें वर्ष तक के हैं, २३ वें से ४१ वें वर्ष के बीच का कोई लेख नहीं मिलता। इसलिए ज्यादातर विद्वान् इस कनिष्क को द्वितीय कनिष्क मानते हैं। लूडर्स का अनुमान था कि वासिष्क के बाद साम्राज्य हुविष्क और द्वितीय कनिष्क में विभाजित हो गया था। स्टेनकोनो का भी अनुमान था कि द्वितीय कनिष्क ने कुषाण साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग पर ही शासन किया और उस पर भी इसके कुछ समय बाद हुविष्क ने अधिकार कर लिया था। इसके विपरीत फ्लीट ने, जो प्रथम कनिष्क को विक्रम-सम्वत् का प्रवर्तक मानकर ५७ ई० पू० में रखते थे, सुझाया है कि द्वितीय कनिष्क का पिता वझिष्प प्रथम कनिष्क के उत्तराधिकारी वासिष्क से भिन्न था। वह वझिष्प और उसके पुत्र द्वितीय कनिष्क को वासुदेव के उपरान्त रखते हैं। बैजनाथ पुरी फ्लीट के इस मत को तो नहीं मानते कि प्रथम कनिष्क ने विक्रम-सम्वत् का प्रवर्तन किया था, और न ही वह वासिष्क वझिष्प के पृथक्त्व को मानते हैं परन्तु वे आरा-अभिलेख के वासिष्क वझिष्प और द्वितीय कनिष्क को वासुदेव के उपरान्त रखते हैं। उनका कहना है कि वासिष्क-वझिष्प तथा द्वितीय कनिष्क के अभिलेखों में प्रदत्त तिथियों में सैकड़े का अंक छोड़ दिया गया है। उनकी वास्तविक तिथियां कनिष्क सम्वत में क्रमशः १२४ से १२८ तक तथा १४१ माननी चाहिए।

(४) कोनों ने लेख के अन्त में 'इमो च ल १ खिमपि धमदण' पढ़ा है और इसका अर्थ 'और मैं यहाँ एक लाख धर्मदान के रूप में फेंकता हूँ अर्थात् देता हूं' किया है। इसके बजाय सरकार ऊपर दिया गया पाठ व अर्थ मानते हैं।

(५) दषव्हर कोई पह्लव रहा होगा। तु० पार्थियन नरेश गुदुव्हर का नाम।

अभिलेख का महत्त्व

इस अभिलेख का महत्त्व प्रधानतः राजनीतिक है। कुषाण इतिहास में प्रथम कनिष्क की ज्ञात तिथियां १ से २३ तक हैं, वासिष्क की २४ से २८ तक, हुविष्क की २८ से ६० तक तथा वासुदेव की ६७ से ९८ तक। ये तिथियां स्पष्टतः कनिष्क सम्वत् की हैं, चाहे उसका प्रथम वर्ष हम कुछ भी क्यों न मानें। इनमें हुविष्क व वासिष्क ने कुछ समय तक अवश्य ही एक साथ शासन किया क्योंकि वासिष्क के अन्तिम ज्ञात वर्ष २८ में लिखे गये साँची-लेख की तिथि हुविष्क के उसी वर्ष में लिखवाए गए मथुरा-लेख की तिथि से बाद में पड़ती है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आरा-अभिलेख के कनिष्क का, जो अपने को वझिष्प (=वझिष्क ?= वासिष्क ?) का पुत्र कहता है, हुविष्क से क्या सम्बन्ध था क्योंकि उसके लेख की तिथि ४१ हुविष्क की ज्ञात तिथियों के बीच में पड़ती है। आर० डी० बनर्जी ने उसे प्रथम कनिष्क से अभिन्न माना है। लेकिन प्रथम कनिष्क के प्रचुर संख्या में मिले लेखों में से किसी में भी उसके पिता का नाम नहीं मिलता। दूसरे उसके सब लेख २३ वें वर्ष तक के हैं, २३ वें से ४१ वें वर्ष के बीच का कोई लेख नहीं मिलता। इसलिए ज्यादातर विद्वान् इस कनिष्क को द्वितीय कनिष्क मानते हैं। लूडर्स का अनुमान था कि वासिष्क के बाद साम्राज्य हुविष्क और द्वितीय कनिष्क में विभाजित हो गया था। स्टेनकोनो का भी अनुमान था कि द्वितीय कनिष्क ने कुषाण साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग पर ही शासन किया और उस पर भी इसके कुछ समय बाद हुविष्क ने अधिकार कर लिया था। इसके विपरीत फ्लीट ने, जो प्रथम कनिष्क को विक्रम-सम्वत् का प्रवर्तक मानकर ५७ ई० पू० में रखते थे, सुझाया है कि द्वितीय कनिष्क का पिता वझिष्प प्रथम कनिष्क के उत्तराधिकारी वासिष्क से भिन्न था। वह वझिष्प और उसके पुत्र द्वितीय कनिष्क को वासुदेव के उपरान्त रखते हैं। बैजनाथ पुरी फ्लीट के इस मत को तो नहीं मानते कि प्रथम कनिष्क ने विक्रम-सम्वत् का प्रवर्तन किया था, और न ही वह वासिष्क वझिष्प के पृथक्त्व को मानते हैं परन्तु वे आरा-अभिलेख के वासिष्क वझिष्प और द्वितीय कनिष्क को वासुदेव के उपरान्त रखते हैं। उनका कहना है कि वासिष्क-वझिष्प तथा द्वितीय कनिष्क के अभिलेखों में प्रदत्त तिथियों में सैकड़े का अंक छोड़ दिया गया है। उनकी वास्तविक तिथियां कनिष्क सम्वत में क्रमशः १२४ से १२८ तक तथा १४१ माननी चाहिए।

लेकिन इन सब कल्पनाओं को वस्तुतः कोई आवश्यकता नहीं है। जैसा कि सर्वज्ञात है, भारत के स्कीथियन नरेशों में सह-शासन की प्रथा प्रचलित थी। शक राजवंशों में इसके प्रचुर उदाहरण देखने में आते हैं। इसलिए सम्भव है कि यह प्रथा कुषाणों में भी प्रचलित रही हो। कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' (१. १६८-७३) में कश्मीर में तुरुष्क वंश के हुष्क, जुष्क और कनिष्क के संयुक्त शासन का उल्लेख किया गया है। इससे कुषाणों में संयुक्त शासन-व्यवस्था के प्रचलन का संकेत ही नहीं मिलता वरन् यह भी संकेत मिलता है कि कुषाणों में एक कनिष्क हुष्क = हुविष्क का कनीयस समकालीन था। दूसरे, जैसा कि हम देख आए हैं हुविष्क का शासन वासिष्क के शासन समाप्त होने के पूर्व प्रारम्भ हो चुका था, इसका आभिलेखिक प्रमाण उपलब्ध है। इसी प्रकार अगर २२ वें वर्ष के साँची-अभिलेख का राजा वक्षुषाण अगर वासिष्क था तो मानना पड़ेगा कि वासिष्क ने भी कुछ वर्ष प्रथम कनिष्क के सह-शासक के रूप में राज्य किया था। इसी प्रकार आरा-अभिलेख का यह द्वितीय कनिष्क भी हुविष्क का सह-शासक हो सकता है यद्यपि उसका हुविष्क से सम्बन्ध अभी तक अज्ञात है।

आरा-अभिलेख की तिथि स्पष्टतः कनिष्क द्वारा प्रवर्तित सम्वत् की है। इस सम्वत् के प्रथम वर्ष अर्थात् प्रथम कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि पर हमने अन्यत्र विचार किया है।

हुविष्क का मथुरा जैन मूर्ति लेख–१

वर्ष ४४ (=१२२ ई० ?)

प्राप्ति-स्थल : कंकाली टीला, मथुरा, उत्तर प्रदेश
भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत   **लिपि :** ब्राह्मी
तिथि : वर्ष ४४
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : ब्युलर, ई० आई०, १, पृ० ३८७ अ०, सं० ९; वही, २, पृ० २१२, सं० ३७ ; सरकार, स० इ०, पृ० १५५-६ ; बनर्जी, ई० आई०, १०, पृ० ११४, स० ७।

मूलपाठ

१. स्थ [चिह्न] (॥*) नम [अ ?] र [हु] तव (।*) महरजस्य हुवक्षस्य सवसरे ४० (+*) ४ पन गृ [स्य]-मस ३ दिविस २ ए [ति]-

२. य पूर्वय……गने अर्यचेटियिग-कुले हरितमाल-कढि [यक-शखय]……[वा*]-चकस्य हगनंदिस्य शिसगन……तगसेण दन….

हुविष्क का मथुरा जैनमूर्ति लेख-२
वर्ष ५१ (=१२९ ई०)

प्राप्ति-स्थल : जमालपुरटीला, मथुरा, उत्तर प्रदेश
भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत लिपि : ब्राह्मी
तिथि : वर्ष ५१
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : बनर्जी, ई० आई०, १०, पृ० ११३, सं० ६ ; सरकार, स० इ०, पृ० १५७-५८।

मूलपाठ

१. महारजस्य दवपुत्रस्य हुवष्कस्य सवत्सरे ५० (+*) १ हेमन्त-मास १ दव....[एतस्यां] पु [र्व्वा] यां [भिक्षुणा] [बु] द्धवर्म [णा] [भग*] वतः श [क्य] [मुनेः *]
२. प्रतिमा प्रतिष्ठापित सर्व-बुद्ध-पूजार्त्थं [म्] (।*) अ [नेन] [दे] यधर्म-परि-त्यागेन उपध्यायस्य सघदासस्य [निवनावा] प्तये (ऽ*) स्तु मा [तापित्रो च] (।*) [बुद्धार्थम् इदं च दानं ?]
३. बुद्धवर्मस्य सर्व-[दु] खोपशम [ा] य सर्व-सत्व-हित-सुखार्थ [ं] [म] हाराज-दे [वपुत्र-वि] हरे (।।*)

हुविष्क का वर्डाक कांस्य-पात्र लेख
वर्ष ५१ (= १२९ ई०)

प्राप्ति-स्थल : अफगानिस्तान में खवात (वर्डाक) में स्थित प्राचीन स्तूप
भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत **लिपि :** खरोष्ठी
तिथि : वर्ष ५१
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : डाउसन, जे० आर० ए० एस०, २०, पृ० २३१-६८ ; पार्जिटर ई० आई०, ११, पृ० २१० अ० ; कोनो, कॉर्पस, २, भाग १, पृ० १७० ; सरकार स० इ०, पृ० १५८-९ ।

मूलपाठ

१. सं २० (+*) २० (+*) १० (+*) १ म (स*) स्य अर्थ (?) मिसिय सस्तेहि १० (+*) ४ (+*) १ इमेण गड्रिग्रेण कमगुल्य-पुत्र वग्र-मरेग्र स्त्र इय खवदम्रि कदलयिग्र वग्रमरिग्र-विहरम्रि थुस्तिम्रिभग्रवद शक्यमुणे शरिर परिठवेति (।*)

२. इमेण कुशल-मुलेण महरज-रजतिरज-होवेष्कष्य अग्र-भग्रए भवतु (।*) मद-पिदर मे पुयए भवतु (।*) भ्रदर मे हुष्थुणः-मरेग्रस्य पुयए भवतु (।*) यो च मे भुय णतिग्र-मित्र-संभतिग्रण पुयए भवतु (।*) महिय च वग्र-मरेग्रस्य अग्र-भग्र-पड्रियंशं [ए]

३. भवतु (।*) सर्व-सत्वण अरोग-दक्षिणए भवतु (।*) अविय नरग्र-पर्यंत यव भवग्र यो अत्र अंतरं अंडजो जलयुग शप (फ ?) तिग अरुप्यत सर्विण पुयए भवतु (।*) महिय च रोहण सद सर्विण अवषड्रिगण सपरिवर च अग्र-भग-पड्रियंश [ए] भवतु मिथ्यगस्य च अग्र-भग भवतु (।।*)

४. एष विहरं अचं चर्यंण महसंधिगण परिग्रह (।।*)

प्रथम वासुदेव का मथुरा बौद्ध मूर्तिलेख
वर्ष ६४ या ६७ (=१४२ या १४५ ई०)

प्राप्ति-स्थल : पलिखड़ा, मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : प्राकृत लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ६४ या ६७

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : नागर, एम० एम०, पी० आई० एच० सी०, १९४१, पृ० १६३-४ ; सरकार, ई० आई०, ३०, पृ० १८१ अ० ; स० इ०, पृ० १६१।

मूलपाठ

१. ....स्य वासुदेवस्य सं ६० (+ *) [४ या ७] वर्षा-मासे द्विती (ये *) २ दिवसि (से)

२. ....नं सर्वेष यत्रोपनान पूजार्थं [*]

३. ....न परिग्रहा (य*) अचरियन महासधिका [नं *]

४. ....[नि] स्य प्रतिमा सगिहा मातापित्रणे अभसितनं

५. ....कुटुंबिकानं [गुह] सेने [न]....

प्रथम वासुदेव का मथुरा मूर्तिलेख
वर्ष ८० (= १५८ ई०)

प्राप्ति-स्थल : कंकाली टीला, मथुरा, उत्तर प्रदेश

भाषा : संस्कृत से प्रभावित **लिपि :** ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ८०

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : ब्युलर, ई० आई०, १, पृ० ३९२, सं० २४; लूडर्स, सूची, सं० ६६; बनर्जी, ई० आई०, १०, पृ० ११६, सं० १०; सरकार, स० इ०, पृ० १६२।

मूलपाठ

१. सिध (॥*) महरजस्य व [ा] सुदेवस्य स [ं] ८० हमव १
दि १० (+*) २ एतस पुव [ि] यां सनक [दसस ?]

२. धि [त्र] संघतिथिस वधुये बलस्य.... (॥*)

उत्तर भारत : परवर्त्ती कुषाणयुगीन कुषाणेतर अभिलेख

भद्रमघ का कोसम पाषाण-लेख
वर्ष ८६

लेख-परिचय—यह पाषाण-लेख उत्तर प्रदेश के कोसम (=कौशाम्बी) स्थल के समीप स्थित हसनाबाद ग्राम से एक कुएँ के पास पड़ा मिला था। इस पाषाण का प्रयोग सम्भवतः कोई व्यक्ति अपने औजार तेज करने में करता था। यह पत्थर ऊपर की तरफ अर्द्धगोलाकार है और नीचे से टूटा है। यह २' १०" ऊँचा, इतना ही चौड़ा और ३" मोटा है। अब इसमें केवल चार पंक्तियाँ बची हैं जिनमें अन्तिम दो काफी अपठ्य हो गई हैं। पहिले कुछ और भी पंक्तियाँ लिखी हुई थीं जिनके अब केवल एकाध अक्षर पढ़े जा सकते हैं।

भाषा, लिपि और तिथि—यह लेख प्राक्-गुप्त युग में कौशाम्बी पर शासन करने वाले मघ वंश के नरेश भद्रमघ का है। भाग्यवश इसमें लिखित तिथि—८६ पठ्य है। इसकी भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि तीसरी शती ई० की उत्तर भारतीय ब्राह्मी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—डी० आर० साहनी, ई० आई० १८, पृ० १६०; सरकार, स० इ०, पृ० १६३।

मूलपाठ

१. [स्वस्ति] महाराजस्य श्री भद्रम [घस्य]
२. [संवत्सरे] ८० (+*) ६ वर्षा पक्ष ३ दिवस ५
३. ....कस्य शम (प ?) रस्य पुत्र हेमाङ्गन
४. ....[दत्ता] अयाया देवदार।

पाठ-टिप्पणी—'स्वस्ति' के स्थान पर हो सकता है 'सिद्धम्' लिखा रहा हो। साहनी ने ८६ के स्थान पर ८८ वर्ष पढ़ा है। 'वर्षापक्ष' और 'दिवस' को क्रमशः 'वर्षापक्षे' व 'दिवसे' पढ़ें तथा 'पुत्र हेमाङ्गन' को 'पुत्रेण हेमाङ्गेन'। सरकार का अनुमान है कि 'दत्ता' का आशय 'दत्तं' से हो सकता है, 'अयाया' का 'आर्यायाः' से तथा 'देवदार' का 'देवद्वारं' से। साहनी ने 'आर्यायादवदारा' सुझाया है।

विशाखमित्र का केलवन प्रस्तर-पात्र अभिलेख

स० १०८ (=१८६ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख विहार में पटना जिले के केलवन ग्राम से एक खेत की जुताई के समय मिले विशाल कटोरे के आकार के एक प्रस्तर पात्र पर उत्कीर्ण है। पात्र चुनार के वलुआ पत्थर से बना है और १ मन १७ सेर भार का है। इस पर मूलतः मौर्य पॉलिश रही थी। लेख इसके मुँह पर लिखा है। इसकी भाषा संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है और लिपि द्वितीय शती ई० की कुषाण कालीन ब्राह्मी। वर्तनी की एक विशेषता 'शवछरे' (संस्कृत में 'संवत्सरे') में 'श' का प्रयोग है। लेख में १०८ तिथि दी गई है जो, जैसा कि इसकी लिपि से स्पष्ट है, कनिष्क-संवत् की होना चाहिए। तिथि का पाठ कुछ शंकाग्रस्त है।

सन्दर्भ-लेख—सरकार, ई० आई०, ३१, पृ० २२९ अ०

मूलपाठ

राज्ञो अर्य विशघमित्रस्य शवछरे सताठे १०० (+) ८ गिम्ह परवे स (अ) ठ मा (से) ८ दिवस पचमे ५ भगवतो अचरियस्य कुडे उपनीते [।] महनदके फगुनदिके कितिभूतिक सिश हि कुडे उपनित भगवत [ो] [॥]

शब्दार्थ

गिम्ह = ग्रीष्म; **परवे** = पक्ष में; **कूडे** = कुण्ड; **किति भूतिक मिश** = कीर्ति भूतिक मिश्र, कीर्ति व विभूति से मिश्रित; **उपनीते** = भेंट में चढ़ाया गया है।

अनुवाद

राजा आर्य विशाखमित्र के एक सौ आठ—१०८-वें वर्ष में ग्रीष्म के आठ—८-वें पक्ष के पाँच—५-वें दिन भगवत् आचार्य का कुण्ड भेंट में दिया गया (अर्थात् चढ़ाया गया)। भगवत् का कुण्ड, जो उसकी कीर्ति और विभूति से मिश्रित है, महानदक और फल्गुनदिका में (उनके नाम पर) चढ़ाया गया (अर्थात् उन नदियों के संगम में विसर्जित किया गया)।

व्याख्या

(१) **कुडे**—यहाँ आशय उस प्रस्तर पात्र से ही होना चाहिए जिस पर यह लेख लिखा है।

(२) **उपनीते** = भेंट में चढ़ाया गया। यहाँ आशय है कि उसे संभवतः आचार्य की मृत्युपरान्त उपर्युक्त नदियों के संगम पर समर्पित किया गया था। नदियों के संगम पर पात्र विसर्जित करना हिन्दू धर्म में अब भी प्रचलित है।

(३) **महानदक** = आधुनिक महना नदी। यह उस स्थल से, जहाँ यह पात्र मिला था, दो मील दूर है। फल्गुनदिका=फल्गु। इसकी धोवा नाम की एक शाखा महना से कुछ ही मील दूर पर बहती है। शायद धोवा ही प्राचीन काल में फल्गु कहलाती थी। फल्गु और महना का संगम उस युग में केवलन में होता होगा।

लेख का महत्त्व

यह लेख बिहार से प्राप्त एक मात्र अभिलेख है जिसमें कनिष्क-संवत् का प्रयोग हुआ है। इससे कुषाणों के मगध पर शासन करने वाली परम्परा को बल मिलता है। विशाखमित्र सम्भवतः मगध के ("मित्र') राजाओं से सम्बन्धित था। उसके साथ नाम के पूर्व 'आर्य' शब्द का प्रयोग रोचक है। या तो यह खारवेल के अभिलेख के 'ऐर' नाम की तरह वंश नाम है और या इस बात पर देने के लिए प्रयुक्त किया गया था कि विशाखमित्र के पूर्व मगध पर अनार्यों का शासन था।

भद्रमघ का कोसम पाषाण-लेख
वर्ष ८६

लेख-परिचय—यह पाषाण-लेख उत्तर प्रदेश के कोसम (=कौशाम्बी) स्थल के समीप स्थित हसनाबाद ग्राम से एक कुएँ के पास पड़ा मिला था। इस पाषाण का प्रयोग सम्भवतः कोई व्यक्ति अपने औजार तेज करने में करता था। यह पत्थर ऊपर की तरफ अर्द्धगोलाकार है और नीचे से टूटा है। यह २' १०" ऊँचा, इतना ही चौड़ा और ३" मोटा है। अब इसमें केवल चार पंक्तियाँ बची हैं जिनमें अन्तिम दो काफी अपठ्य हो गई हैं। पहिले कुछ और भी पंक्तियाँ लिखी हुई थीं जिनके अब केवल एकाध अक्षर पढ़े जा सकते हैं।

भाषा, लिपि और तिथि—यह लेख प्राक्-गुप्त युग में कौशाम्बी पर शासन करने वाले मघ वंश के नरेश भद्रमघ का है। भाग्यवश इसमें लिखित तिथि—८६ पठ्य है। इसकी भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि तीसरी शती ई० की उत्तर भारतीय ब्राह्मी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—डी० आर० साहनी, ई० आई० १८, पृ० १६०; सरकार, स० इ०, पृ० १६३।

मूलपाठ

१. [स्वस्ति] महाराजस्य श्री भद्रम [घस्य]
२. [संवत्सरे] ८० (+*) ६ वर्षा पक्ष ३ दिवस ५
३. ....कस्य शम (प ?) रस्य पुत्र हेमाङ्गन
४. ....[दत्ता] अयाया देवदार।

पाठ-टिप्पणी—'स्वस्ति' के स्थान पर हो सकता है 'सिद्धम्' लिखा रहा हो। साहनी ने ८६ के स्थान पर ८८ वर्ष पढ़ा है। 'वर्षापक्ष' और 'दिवस' को क्रमशः 'वर्षापक्षे' व 'दिवसे' पढ़ें तथा 'पुत्र हेमाङ्गन' को 'पुत्रेण हेमाङ्गेन'। सरकार का अनुमान है कि 'दत्ता' का आशय 'दत्तं' से हो सकता है, 'अयाया' का 'आर्यायाः' से तथा 'देवदार' का 'देवद्वारं' से। साहनी ने 'आर्यायादवदारा' सुझाया है।

अनुवाद

स्वस्ति ! महाराज श्री भद्रमघ के ८६वें वर्ष में वर्षा ऋतु के ३रे पक्ष में ५वें दिन..............के (निवासी ?) शमर के पुत्र हेमांगन द्वारा.....................प्रदत्त देवद्वार (?)..........

अभिलेख का महत्त्व

यह अभिलेख बुन्देलखण्ड-कौशाम्बी प्रदेश पर शासन करने वाले मघ नरेश भद्रमघ का है। अभिलेखों, सिक्कों और मुहरों से हमें इस प्रदेश पर शासन करने वाले भीमसेन, पोठसिरि, भद्रमघ, शिवमघ, वैश्रवण, भीमवर्मा, शतमघ तथा विजयमघ आदि राजाओं के नाम ज्ञात हैं। इनमें ज्यादातर राजा एक ही वंश के सदस्य थे जिसे अन्य नाम के अभाव में 'मघ' वंश कहा जाता है। मूलतः यह वंश रीवाँ के बन्धोगढ़ नगर पर शासन करता था। अल्तेकर व दयाराम साहनी जैसे बहुत से विद्वानों ने इस वंश के नरेशों की पहिचान पुराणों के मेघ राजाओं से की है। लेकिन पुराणों में मेघों को कोसल का स्वामी बताया गया है, बुन्देलखण्ड-कौशाम्बी प्रदेश का नहीं। दूसरे, 'मघ' और 'मेघ' नामों में अन्तर है। दे०, को० हि० इ०, २, पृ० २५९, टि० ४।

मेघों के अभिलेखों में २१ से लेकर १३९ तक तिथियाँ मिलती हैं। ये तिथियाँ किस संवत् की हैं यह प्रश्न भारी विवाद का विषय बना हुआ है। दयाराम साहनी (ई० आई०, १८, पृ० १५९-६०) ने इसे गुप्त-संवत् माना है, जायसवाल ने २४८ ई० में प्रारम्भ होने वाला वाकाटक संवत् (हिस्टरी ऑव इण्डिया, पृ० २२९) ए० घोष (आई० सी०, १, पृ० ७१५) ने मघ वंश द्वारा चलाया गया एक स्थानीय सम्वत्, एन० जी० मजूमदार व कृष्णदेव ने कल्चुरि-सम्वत् (ई० आई०. १४, पृ० १४६; २५३) एवं मार्शल (एम० ए० एस० आई०, १९११-१२, पृ० ४१७), स्टेनकोनो (ई० आई०, २३, पृ० २४७), मोतीचन्द्र (जे० एन० एस० आई०, २, पृ० ९५) अल्तेकर (वा० गु० ए० पृ० ४१, टि०) तथा सरकार (स० इ०, पृ० १६३ टि० १) ने शक=सम्वत्। इनमें अन्तिम मत ही सही प्रतीत होता है क्योंकि (१) मघों द्वारा प्रयुक्त सम्वत् का प्रारम्भ २४८ ई० अथवा ३१९ ई० मानने पर सब या अधिकांश मघ नरेश गुप्तों के समकालीन हो जाते हैं जबकि मघों ने अपने अभिलेखों में गुप्त सम्राटों का प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है। (२) मघों के लेखों की भाषा व शैली गुप्तों के लेखों की भाषा व शैली से भिन्न है। इनकी भाषा विशुद्ध संस्कृत न होकर प्राकृत मिश्रित है। (३) लिपिशास्त्रीय दृष्टि से मघ अभिलेख उत्तर कुषाण काल व कुषाणोत्तर युग के परन्तु गुप्तों से पहिले के लगते हैं। (४) मघ प्रारम्भ में कुषाणों के अधीन रहे होंगे, इसलिए उन्होंने कुषाण-सम्वत् का प्रयोग किया होगा। अतः अगर कुषाण-सम्वत् ७८ ई० के शक-सम्वत् से अभिन्न है तो मघों द्वारा शक-सम्वत् का प्रयोग ही हुआ मानना पड़ेगा।

'मघ' वंश के अन्तर्गत परिगणित नरेशों में प्रथम भीमसेन है जिसके बन्धोगढ़ व जिन्ज-अभिलेख ५१ वें व ५२ वें वर्ष के हैं (=१२९-३० ई०)। उसका उत्तराधिकारी कौत्सीपुत्र पोठश्री था जिसकी ज्ञात तिथियाँ ८१, ८६ व ८७ (=१५९ से १६५ ई०) है। ९० तिथि वाले बन्धोगढ़-लेख का भद्रदेव भद्रमघ से अभिन्न या नहीं कहना कठिन है। जो भी हो, पोठश्री की ज्ञात तिथियाँ भद्रमघ की तिथियों के मध्य पड़ती है। परन्तु पोठश्री व भद्रमघ का सम्बन्ध निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। सम्भव है कि भद्रमघ पोठश्री का पुत्र रहा हो और अपने पिता के वायसराय के रूप में पूरे अधिकारों सहित कौशाम्बी का गवर्नर नियुक्त किया गया हो। यह भी सम्भव है पोठश्री और भीमसेन मघ वंश के सदस्य ही न रहे हों। ज्ञातव्य है कि प्रथम नरेश जिसके नाम में मघ शब्द आता है स्वयं भद्रमघ है। अतः हो सकता है भद्रमघ मघ वंश का संस्थापक रहा हो और उसने पोठश्री को परास्त कर कौशाम्बी व बन्धोगढ़ पर अधिकार कर लिया हो। यह भी सर्वथा सम्भव है कि पोठश्री ने भद्रमघ के विरुद्ध विद्रोह करके कुछ समय के लिए शासन किया हो। (दे०, ए० इ० यू०, पृ० १७६, अ० हि० ना० इ०, पृ० ११५)।

भीमवर्मा का कोसम मूर्त्ति-लेख
वर्ष १३९

लेख-परिचय—यह अभिलेख कोसम के समीप एक खेत से प्राप्त शिव-पार्वती की एक खण्डित मूर्ति की पादपीठ पर लिखा है। इसे १८७४ में जनरल कनिंघम ने खोज निकाला था। यह लेख १०½×४" क्षेत्रफल में लिखा है और बहुत खण्डित हो गया है परन्तु जो अक्षर शेष है वे भली भाँति पढ़े जा सकते हैं। इसमें कुल तीन पंक्तियाँ हैं। तीसरी पंक्ति पूर्णतः और प्रथम दो अंशतः खण्डित हो गई हैं। इसकी भाषा संस्कृत है और लिपि कुषाणोत्तरयुगीन ब्राह्मी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—कनिंघम, ए०एस०आई०, १०, पृ० ३, फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० २६६–७१।

मूलपाठ

१. ·······**मह [ा] र [ा] जस्य श्री भीमववर्मणः**
संव [त्] १०० (+ *) ३० (+ *) ९···········
२. ·······**२ दिव ७ [।) एतदि [द] वस कुमर मे**·········
३. ·········· ·······**प**··················

अनुवाद

महाराज श्री भीमवर्मा के (शासनकाल में) संवत्सर १३९····२ (?) ७ वें दिन, इस दिन····।

लेख का महत्त्व

यह लेख प्राक्गुप्त युग का कौशाम्बी से प्राप्त ऐसा अन्तिम लेख है जिसमें कोई तिथि मिलती है। फ्लीट ने इसकी तिथि को गुप्त सम्वत् का वर्ष मानकर इसमें उल्लिखित नरेश भीमवर्मा को स्कन्दगुप्त के अधीन बताया था। परन्तु यह राजा मघ वंश से सम्बन्धित लगता है। अब इस राजा का एक बौद्ध मूर्ति लेख भी कोसम से ही उपलब्ध है जिसमें उसकी १३० तिथि का उल्लेख है। उसके सिक्के भी मघ सिक्कों के साथ फतेहपुर निधि में मिले थे। अतः उसे मघ वंश का सदस्य मानकर उसकी तिथियों को शक-सम्वत् के वर्ष मानना चाहिए। इस मत के लिए प्रस्तुत लेख का भीमवर्मा १३० वर्ष के कोसम मूर्ति-लेख वाले भीमवर्मा से भिन्न था, दे०, को० हि० इ०, २, पृ० २६२, टि० १।

मालव नेता श्री (?) सोमसोगी के नान्दसा यूप-अभिलेख

कृत सं० २८२ (= २२५ ई०)

लेख-परिचय—मालव गण नेता श्री (?) सोम के दो अभिलेख रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को भूतपूर्व उदयपुर राज्य के सहारा जिले में नान्दसा ग्राम से मिले थे। दोनों अभिलेख एक ही पाषाण यूप-स्तम्भ पर, जिसकी ऊँचाई १२ फुट और परिधि ५३/४ फुट है, उत्कीर्ण हैं। स्तम्भ गाँव के निकट स्थित एक तालाब की तलहटी में खड़ा है और वर्षाकाल में, जब तालाब में पानी भर जाता है, जल में डूब जाता है। यूप पर उत्कीर्ण दोनों लेख एक से हैं और केवल इस बात के अतिरिक्त कि लेख 'अ' में तिथि अंकों के अलावा शब्दों में भी लिखी है, दोनों के पाठ में कोई अन्तर नहीं है। लेख 'अ' ६ आड़ी पंक्तियों में लिखा है और लेख 'ब' खड़ी १८ पंक्तियों में। दोनों में बीच-बीच में कुछ अक्षर अपठ्य हो गए हैं परन्तु एक दूसरे की सहायता से उन्हें पुनर्योजित किया जा सकता है, केवल इस लेख को लिखवाने वाले प्रशासक व उसके प्रपितामह का नाम पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाते। आगे हमने लेख 'अ' का लेख 'ब' की सहायता से पुनर्योजित पाठ दिया है।

उद्देश्य व तिथि—प्रस्तुत अभिलेख का उद्देश्य मालव गण के नेता या श्री (?) सोम द्वारा कृत सम्वत् २८२ की चैत्र पूर्णिमा को एक षष्टिरात्र सत्र की समाप्ति पर एक यूप-स्तम्भ (स्पष्टतः वह जिस पर इस लेख की दोनों प्रतिलिपियाँ लिखी हैं) स्थापित कराने की घोषणा करना है। वैदिक परम्परानुसार यूप स्तम्भ अष्टकोणीय होना चाहिए। मालव नेता ने इस नियम की उपेक्षा की है। एक ही स्तम्भ पर लेख की दो प्रतियाँ उत्कीर्ण कराने का कारण अज्ञात है। लेकिन दोनों प्रतिलिपियों को बहुत ध्यान पूर्वक उत्कीर्ण किया गया था।

भाषा और लिपि—लेख की भाषा संस्कृत है, यद्यपि कहीं कहीं प्राकृत का प्रभाव मिलता है जैसे लेख 'ब' में 'कृतैः' के स्थान पर 'कृतेहि' लिखा होने में। भाषा में एक स्थल पर गम्भीर दोष भी है। हमने अनुवाद में इसकी ओर ध्यान दिलाया है। लेख सम्पूर्णतः गद्य में लिखा है। लेखक का नाम नहीं दिया गया है। लिपि तृतीय शती ई० की ब्राह्मी है। वर्तनी में अशुद्धियाँ कम हैं। लेख 'ब' की पंक्ति ४ में 'प्रसंग : पुराण' में विसर्ग का और लेख 'अ' में इसके स्थान पर उपध्मानीय का प्रयोग द्रष्टव्य है।

अध्ययन इतिहास—इस लेख की चर्चा सर्वप्रथम आर०आर० हाल्दर ने आई० ए० के ५८ वें अंक में की। इसके बाद इसे अल्तेकर ने ई०आई० में सम्पादित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—हाल्दर, आई०ए०, ५८, पृ० ५३; अल्तेकर, इ०आई०, २७, पृ० २५२ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५६.

टिप्पणी—नीचे अभिलेख 'अ' का अभिलेख 'ब' की सहायता से अल्तेकर द्वारा द्वारा प्रदत्त पाठ दिया गया है। चौकोर ब्रैकिटों में प्रदत्त अक्षर लेख 'ब' से लेकर पुनर्योजित किए गए हैं।

मूलपाठ

१. सिद्धम् । कृतयोर्द्वयोर्व्वर्षशतोर्द्वय शीतयोः २०० ८० [२ चैत्र पूर्ण्णमासीं] (स्या) मस्याम्पूर्व्वायां त्रमहता स्वशक्तिगुणगुरुणा पौरुषेण प्रथम चन्द्रदर्श [नमिव मा] [लव गण विषयमवतार]

२. यित्वैकषष्टिरामतिसत्रमपरिमितधर्म्ममात्रं समुद्धृत्य (त्य) पितृ पैतामहि (ही) न्धुरमावृत्त्य (त्य) सविपुलं द्यावापृथिव्योरन्तरमंनुत्तमेन [यशसा] [स्वकर्म संपादया विपुलां समु]

३. पगतामृद्धिमात्मसिद्धि वितत्यमायामिव सत्रभूमौ सर्व्वकामौघधारां वसोर्द्धारमिवब्ब्राह्मणाग्नि वैश्वानरेषु हुत्वा ।

ब्रह्मेन्द्र प्रजापति महर्षि विष्णु [स्थानेषु कृतावकाशस्य पापनि]

४. निरवकाशस्य सितसभावसथ तडाक कूपदेवायतन यज्ञ दान सत्य प्रजा विपुल पालन प्रसंग ⌒ पुराणं (ण) राजर्षि धर्म पद्धति (ति) सतत कृतसमनु गमन निश्च[यस्य स्वगुणातिशय विस्तरैर्मनु]

५. निर्व्विशो (शे) षमिव भुवि मनुष्यभावं यथा यथार्त्थमनुभवत इक्ष्वाकु प्रथित राजर्षिवंशे मालववंशे प्रसूतस्य जयवर्तन पु [प्र] भा [भा] ग्र [?] वर्द्धनपौत्रस्य जयसोमपुत्रस्य सोगिने [तुः] श्री (?) सोमस्यानेक शत गोसहस्र]

६. दक्षिणा । वृषप्रमत्त श्रृङ्ग विप्रधृष्टचित्यवृक्ष यूपसंकट तीरो (रे) पुष्कर प्प्रतिलम्भभूते स्वधर्मसेतौ महा [तडाके यूप प्र] तिष्ठा कृता [।]

पाठ-टिप्पणी—प्रथम-दूसरी पंक्ति के 'विषयमवतारयित्वैक' को 'विषयमव-तार्यैक' पढ़ें। कुछ विद्वान् 'पुभाग्रवर्द्धन' और 'श्री ? सोम' नामों को, जो अल्तेकर ने सुझाये हैं, क्रमशः 'भृगुवर्द्धन' और नन्दिसोम पढ़ते हैं।

शब्दार्थ

कृत=मालव सम्वत् का प्राचीन नाम; **अस्याम्पूर्व्वायां**=पूर्वोक्त तिथि को; **अवतार्य**=उतार कर (यहाँ इसका प्रयोग 'करवा कर' अर्थ में हुआ है ; **समुद्धृत्य**=वहन करके, ढोकर; **धुरम्**=जुआ; **आवृत्य**=ढक कर ; **स्वकर्मसम्पदया**=अपने कर्मों की सम्पदा से; **वितत्य**=करा कर; **ऋद्धिम्**=समृद्धि; **समुपगत**=उत्पन्न; **हुत्वा**=बलि में देकर; **वसोर्द्धारा**=धन की धारा, यज्ञ में दी जाने वाली समापन बलि का नाम; **सर्वकामौघधारा**=सब इच्छाओं की धारा । **स्थान** = देवस्थान अर्थात् मंदिर ; **अवकाश** = जगह, स्थल ; **सित** = श्वेत, शानदार; **अवसथ** = घर, आश्रय स्थल; **स्वगुणातिशयदिस्तरैः** = अपने गुणों के अतिशय विस्तार द्वारा ; **अनुभवत** = अनुभव करता है ; **इक्ष्वाकु प्रथित** = इक्ष्वाकुवत् प्रथित ; **सोगिनेतुः** = सोगियों के नेता ; **वृष प्रमत्त** = मत्तवृषभ ; **संकट** = परिपूर्ण ; **प्रतिलम्भभूते** = भर्त्सना के समान, नीचा दिखाने वाला ।

अनुवाद

सिद्धि हो । कृत (सम्वत्) दो सौ बयासी २०० (+) ८० (+) २ की चैत्र पूर्णिमा को, पूर्वोक्त (तिथि को), अपनी शक्ति के गुणों के कारण विशिष्ट पौरुष के द्वारा एकषष्टिरात्र नामक महासत्र को, जो अपरिमित धर्म (का स्रोत) (और) प्रथम चन्द्र के दर्शन के समान (शुभ है), मालव गण के विषय (अर्थात् प्रदेश) में अवतरित करके; **निर्विशेष**=जो किसी दृष्टि से विशेष अर्थात् भिन्न नहीं थी ; पिता और पितामह से उत्तराधिकार में प्राप्त (शासन) भार के जुए को वहन करके ; अपने अप्रतिम यश से पृथ्वी और आकाश के मध्यवर्ती विपुल अन्तर को ढक कर (अर्थात् अपने यश को पृथ्वी और आकाश के मध्य फैलाकर); अपने कर्मों की सम्पदा से उत्पन्न समृद्धि को अपनी आत्मसिद्धि से (उत्पन्न हुई प्रतीत) कराकर ; सत्रभूमि (=यज्ञभूमि) में ब्राह्मणों को, (जो) अग्नि वैश्वानर (के समान पवित्र थे), धन की धारा प्रदान करके (जो) सर्व इच्छाओं की धारा (को सन्तुष्ट करने के कारण) माया (अर्थात् जादू) के समान थी [अथवा सत्रभूमि में अग्नि वैश्वानर को (जो जाति से) ब्राह्मण (है), वसोर्धारा नामक बलि देकर जो सब इच्छाओं की धारा (को सन्तुष्ट करने वाली होने के कारण) माया (अर्थात् जादू) के समान है] ।

(उसकी) जिसने ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, महर्षियों, और विष्णु के मंदिरों के लिए तो स्थान (= भूमि) प्रदान किया है (परन्तु) पाप के लिए स्थान नहीं छोड़ा है ; जिसने श्वेत (= शानदार) सभा भवन व आश्रय स्थल (बनवाने), तालाब और कुँए (खुदवाने), मंदिर (बनवाने), यज्ञों में दान (देने) (अथवा यज्ञ करने व दान देने), सत्य (बोलने) तथा प्रजा का विपुलरूपेण पालन करने के प्रसंग में पुरातन राजर्षियों की धर्म पद्धति के अनुगमन करने का सतत निश्चय कर रखा है ; जो अपने गुणों के अतिशय विस्तार के कारण यथार्थ मानवीय गुणों का जो मनु (के गुणों से) किसी प्रकार भी भिन्न (अर्थात् हीनतर) नहीं हैं, अनुभव कर रहा है ; जो राजर्षियों के

मालव (जातीय) वंश में, जो इक्ष्वाकु वंश के समान प्रसिद्ध है, उत्पन्न हुआ है; जो जयनर्तन (अर्थात् युद्ध में विजय प्राप्त करके नर्तन करने वाले) प्रभाग्र (=प्रभाकर वर्धन का पौत्र, जयसोम का पुत्र तथा सौगियों का नेता है, (उस) श्री (?) स म की अनेक लाख (अर्थात् लाखों) गायों की (यह) दक्षिणा (है)। उस श्री ? सोम ने सत्रो-परान्त) मत्तवृषभों के सींगों से खरोंचे गए वृक्षों के यूपों से परिपूर्ण तट वाले (एवं) पुष्कर की भर्त्सना के समान (अर्थात् पुष्कर को नीचा दिखाने वाले) धर्म के सेतु जैसे महातडाक में यूप स्तम्भ स्थापित कराया।

पाठ-व्याख्या—लेख के प्रारम्भिक अंश में आई क्रियाओं का कोई कर्त्ता होना चाहिए। लेकिन लेख की वाक्य रचना दूषित होने के कारण अगली पंक्तियों में कोई कर्ता नहीं दिया गया है। फिर भी प्रसंग से स्पष्ट है कि यहाँ आशय श्री (?) सोम से है जिसका उल्लेख आगे षष्ठी एक वचन में किया गया है।

व्याख्या

(१) **अवतारयित्वै (अवतार्यै) कषष्टिरात्रमतिसत्रम्**—इस पदांश की बनावट कुछ विचित्र है। इसमें कहा गया है कि श्री सोम ने एकषष्टिरात्र सत्र को अवतरित कराया। वैदिक ग्रन्थों के अनुसार एकषष्टिरात्र सत्र केवल ब्राह्मणों द्वारा किया जा सकता था (ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ॥ पूर्वमीमांसा, ६·६·१८) जबकि श्री (?) सोम क्षत्रिय था। इसलिए यहाँ कहा गया है कि उसने यज्ञ किया नहीं, करवाया था। एकषष्टिरात्र में एक ही गोत्र व कल्प के १७ ब्राह्मणों की आवश्यकता होती थी जो ऋत्विक् और यजमान दोनों होते थे। श्री (?) सोम का सत्र माघ की पूर्णिमा के दिन प्रारम्भ हुआ होगा (फर्वरी या मार्च २२६ ई०)।

(२) **मालव गण विषय**—मालवगण राज्य का प्रदेश। इससे स्पष्ट है कि अन्य अभिलेखों में प्रयुक्त 'मालवगणस्थितिवशात्' और 'मालवगणाम्नाते' जैसे पदों में 'गण' शब्द का अर्थ 'गणना' नहीं वरन् 'गण जाति' है।

(३) **स्वशक्तिगुणगरुणा**—तु० रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख में प्रयुक्त पद 'स्वय-मधिगत महाक्षत्रपनाम्ना'।

(४) **वसोर्धारामिवब्राह्मणाग्निवैश्वानरेषु**—यहाँ इसके दो अर्थ संभव हैं। एक, 'धन की धारा' जो श्री (?) सोम ने उन ब्राह्मणों को प्रदान की जो अग्नि वैश्वानर के समान थे। दूसरे वसोर्धारा उस अन्तिम बलि का नाम है जो सत्र की की समाप्ति पर देवताओं के पुरोहित अग्नि वैश्वानर रूपी ब्राह्मण को दी जाती थी। वसोर्धारा बलि से प्रसन्न होकर अग्नि यजमान की समस्त इच्छाएँ पूर्ण करता है, ऐसी धारणा प्रचलित थी। 'वसोर्धारा' अग्निदेव के अभिषेक को भी सूचित करती थी, इसलिए इसको करना किसी राजा के लिए राजसूय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

(५) **ब्रह्मेन्द्र प्रजापति**—यहाँ ब्रह्मा और प्रजापति का पृथक्-पृथक् उल्लेख द्रष्टव्य है। उस समय इन्हें अलग-अलग देवता माना जाता था अथवा इस लेखक ने असावधानी से उनको पृथक् बता दिया है, कहना कठिन है।

(६) **महर्षि विष्णु स्थानेषु**—यहाँ महर्षियों के मंदिरों का उल्लेख रोचक है। आजकल हिन्दू धर्म में महर्षियों के मंदिर बनवाने की परम्परा सर्वथा अज्ञात है।

(७) **जयनर्तन प्रभाग्र (?) वर्धन**—इस नाम को कुछ विद्वान् भृगुवर्द्धन पढ़ते हैं (आई०एच०क्यू०, २९, पृ० ८०-८२)। उसे 'जयनर्तन' कहे जाने का कारण संभवतः उसके द्वारा किन्हीं युद्धों में सफलता पाना था। शायद उसने शकों के विरुद्ध कोई युद्ध लड़ा हो। लेकिन यह निश्चित नहीं है। यह भी हो सकता है कि उस समय तक मालव जन शकों के अधीन रहे हों और प्रभाग्रवर्द्धन ने शकों के पक्ष में युद्ध लड़े हों।

(८) **इक्ष्वाकु प्रथित राजर्षि वंशे मालव वंशे प्रसूतस्य**—इसका अर्थ 'इक्ष्वाकुणां प्रथिते राजर्षि वंशे मालववंशे प्रसूतस्य' अर्थात् 'उस मालव वंश में उत्पन्न होने वाले का जो सुप्रथित इक्ष्वाकुओं का राजर्षि वंश था' करना सम्भव है। उस अवस्था में मालव स्वयं इक्ष्वाकु हो जाएँगे। लेकिन अल्तेकर के अनुसार यह अर्थ कुछ अस्वाभाविक होगा। अतः यहाँ 'इक्ष्वाकु प्रथित' का सही अर्थ इक्ष्वाकुवत् प्रथित' लगता है।

(९) **सोगिनेतुः श्री (?) सोमस्य**—श्री (?) सोम नाम लेख में स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसे नन्दिसोम पढ़ा है (आई० एच० क्यू०, २९, १९५३, पृ० ८२-८३)। वह मालवों के सोगी कबीले का नेता था। अल्तेकर ने उसे बार-बार 'मालवों का राजा' लिखा है। परन्तु उसके लिए 'राजा' जैसी किसी उपाधि का प्रयोग इस लेख में नहीं है। सोगियों का उल्लेख नन्दसा से प्राप्त एक अन्य लेख में भी मिलता है। शायद यह उनका गोत्र नाम था। १९४१ की जनगणनानुसार सोगी नाम की जाति मेवाड़ में अब तक विद्यमान है।

(१०) **अनेक शतगो सहस्र दक्षिणा**—तु० समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति का 'अनेक गो शतसहस्र प्रदायिनः'। एकषष्टिरात्र सत्र में ब्राह्मण स्वयं ऋत्विक् व यजमान दोनों होते थे इसलिए इसमें उनको दक्षिणा देने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए था। लेकिन जैसा कि अल्तेकर ने कहा है इस विषय में श्री (?) सोम के पुरोहितों को शायद वैदिक नियमों का उल्लंघन करने में संकोच नहीं था। उन्होंने यह दक्षिणा ऋत्विकों के रूप में नहीं विद्वान् ब्राह्मणों के रूप में ली होगी।

(११) **वृक्षयूपसंकट**—वृक्षों के यूपों से परिपूर्ण। यहाँ 'संकट' शब्द 'परिपूर्ण' अर्थ में प्रयुक्त है। यूपों से नदी तट के परिपूर्ण होने की कल्पना 'रघुवंश' (१३·६१) में भी मिलती है (जलानि सा तीरनिखात यूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्)।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख कृत सम्वत् में, जो बाद में मालव और विक्रम नामों से विख्यात हुआ, तिथि देने वाले प्राचीनतम लेखों में से एक है। बर्नाला यूपलेख से यह दो साल तथा मौखरियों के बड़वा अभिलेखों से ११ साल प्राचीनतर है। दूसरे, इसमें एकषष्टिरात्रसत्र का उल्लेख है। इस सत्र में, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है ६१ दिन तक चलने वाले यज्ञ किए जाते थे। इनकी सूची वैदिक ग्रन्थों में मिलती है। यों तो अब इस लेख के अतिरिक्त अन्य कई यूप-लेख उपलब्ध हैं परन्तु इतने लम्बे समय तक चलने वाले सत्र की चर्चा करने वाला कोई और लेख अभी तक नहीं मिला है। तीसरे, इस लेख से मालव जाति की प्रशासकीय व्यवस्था पर रोचक प्रकाश मिलता है। मालव जाति मूलतः पंजाब में रहती थी, परन्तु शुंग काल में वह राजस्थान के अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में बस गई थी। इस प्रदेश से उसकी मुद्राएँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं। प्रथम-द्वितीय शती ई० में उसे शकों का प्रभुत्व मानना पड़ा था। नहपान के दामाद उषवदात ने उसे परास्त किया था। दे०, उषवदात का ४५ वें वर्ष का नासिक-लेख। बाद में मालव कार्दमक शकों के प्रभुत्व के अन्तर्गत आए। लेकिन इन सब बातों के बावजूद मालवों में गणतान्त्रिक परम्पराएँ बनी रहीं, यद्यपि धीरे-धीरे राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के तत्त्व भी उनकी व्यवस्था में बढ़ गए। प्रस्तुत अभिलेख में उनका नेता श्री ? सोम अपने को 'राजर्षि वंश' में उत्पन्न बताता है और दावा करता है कि उसने पृथिवी और आकाश को यश से ढक दिया था और मालव गण में समृद्धि के युग का श्रीगणेश किया था। उसकी शक्ति व समृद्धि इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि उसने एकषष्टिरात्र जैसा यज्ञ किया और गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समान ब्राह्मणों को लाखों गाएँ दान देने का दावा किया। उसका राजसत्ता पर वंशानुगत अधिकार था क्योंकि कहा गया है कि उसने अपने पूर्वजों के शासन भार के जुए को वहन किया था (अर्थात् उसके पूर्वज भी शासक रह चुके थे)। लेकिन इन सब तथ्यों के बावजूद इस लेख में उसे राजा, महाराज अथवा महासेनापति आदि जैसी कोई उपाधि नहीं दी गई है और मालवा राज्य को एक गण कहा गया है। उसने अथवा उसके पिता जयसोम या पितामह प्रभाग्रवर्धन ने मालवों के स्वतन्त्रता संग्राम का जो उन्होंने शकों के विरुद्ध लड़ा था, नेतृत्व किया होगा यद्यपि इसकी चर्चा इस लेख में नहीं की गई है। श्री (?) सोम ने जिस शक नरेश को परास्त किया वह प्रथम रुद्रसेन (लग० २००–२२२), संघदामा (२२२–३) और दामसेन (२२३–३१) में कोई एक रहा होगा। शायद वह संघदामा ही रहा होगा। जिसके मात्र एक वर्ष के लिए शासन करने का कारण हो सकता है उसका मालव युद्ध में मारा जाना रहा हो। उसकी मृत्यु तिथि प्रस्तुत लेख की तिथि से केवल तीन वर्ष पूर्व पड़ती है।

बर्नाला यूप अभिलेख
कृत स० २८४ (=२२७ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख, दयाराम साहनी ने कानोटा के ठाकुर शिवनाथ सिंह की सहायता से बर्नाला से प्राप्त किया था। यह एक खण्डित पाषाण यूप पर लिखा है। इसके साथ एक अन्य यूप भी मिला था जिस पर ३३५ कृत सम्वत् की तिथि वाला लेख लिखा है। बर्नाला राजस्थान में लालसोट गंगापुर मार्ग पर आठ मील अन्दर की ओर एक लघु ग्राम है। ये दोनों यूप स्तम्भ वहाँ एक तालाब में दो-दो टुकड़ों में खण्डित पड़े थे। ये ६' से ६' ६" लम्बे हैं। आजकल ये आमेर संग्रहालय में रखे हैं। इनके ऊपर सीधी खड़ी पंक्तियों में लेख लिखे हैं जिन्हें ऊपर से नीचे की तरफ पढ़ना होता है। प्रस्तुत अभिलेख एक पंक्ति में है। इसमें कृत सम्वत् २८४ (=२२७ ई०) तिथि दी गई है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** ब्राह्मी। अक्षरों की बनावट बड़वा व इलाहाबाद-संग्रहालय-यूप लेख से सादृश्य रखती है। भाषा पर प्राकृत का कुछ प्रभाव स्पष्ट है जैसे 'सगोत्तस्य' (बजाय सगोत्रस्य' के) और 'पुण्ण' (बजाय 'पुण्य' के) शब्दों में।

सन्दर्भ-लेख—साहनी, आर्क्यो० रिमेन्स एण्ड एक्स्कवेशन्स एट साम्भर, पृ० ३ ; अल्तेकर, ई० आई०, २६, पृ० ११८-१२३।

मूलपाठ

१. सिद्धम्। कृतेहि २०० (+) ८० (+) ४ चैत्र शुक्ल पक्षस्य पं (पञ्) चदशी [। *] सोहर्त्त सगोत्तस्य [राज्ञो]·······प [७] त्त् [र] स्य [राज्ञो] वर्द्धनस्य यूप सत्तको पुण्ण (ण्यं) व [र्द्धतु] [। *]

पाठ-टिप्पणी—'सोहर्त्त' को 'सोहर्ति' पढ़े। छावड़ा के अनुसार 'सोहर्त्तृ सगोत्रस्य' पाठ सही होगा। अल्तकर ने 'सत्त्रकों' 'सत्तको' पढ़ा है और छावड़ा ने 'पुण्ण' को पुण्य'। अल्तेकर अन्तिम शब्द को इस प्रकार पुनर्योजित करते हैं "पुण्णं वर्द्धकं भवतु"।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख कृत सम्वत् में, जो बाद में मालव और विक्रम नामों से विख्यात हुआ, तिथि देने वाले प्राचीनतम लेखों में से एक है। वर्नाला यूपलेख से यह दो साल तथा मौखरियों के बड़वा अभिलेखों से ११ साल प्राचीनतर है। दूसरे, इसमें एकषष्टिरात्रसत्र का उल्लेख है। इस सत्र में, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है ६१ दिन तक चलने वाले यज्ञ किए जाते थे। इनकी सूची वैदिक ग्रन्थों में मिलती है। यों तो अब इस लेख के अतिरिक्त अन्य कई यूप-लेख उपलब्ध हैं परन्तु इतने लम्बे समय तक चलने वाले सत्र की चर्चा करने वाला कोई और लेख अभी तक नहीं मिला है। तीसरे, इस लेख से मालव जाति की प्रशासकीय व्यवस्था पर रोचक प्रकाश मिलता है। मालव जाति मूलतः पंजाब में रहती थी, परन्तु शुंग काल में वह राजस्थान के अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में बस गई थी। इस प्रदेश से उसकी मुद्राएँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं। प्रथम-द्वितीय शती ई० में उसे शकों का प्रभुत्व मानना पड़ा था। नहपान के दामाद उषवदात ने उसे परास्त किया था। दे०, उषवदात का ४५ वें वर्ष का नासिक-लेख। बाद में मालव कार्दमक शकों के प्रभुत्व के अन्तर्गत आए। लेकिन इन सब बातों के बावजूद मालवों में गणतान्त्रिक परम्पराएँ बनी रहीं, यद्यपि धीरे-धीरे राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के तत्त्व भी उनकी व्यवस्था में बढ़ गए। प्रस्तुत अभिलेख में उनका नेता श्री ? सोम अपने को 'राजर्षि वंश' में उत्पन्न बताता है और दावा करता है कि उसने पृथिवी और आकाश को यश से ढक दिया था और मालव गण में समृद्धि के युग का श्रीगणेश किया था। उसकी शक्ति व समृद्धि इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि उसने एकषष्टिरात्र जैसा यज्ञ किया और गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समान ब्राह्मणों को लाखों गाएँ दान देने का दावा किया। उसका राजसत्ता पर वंशानुगत अधिकार था क्योंकि कहा गया है कि उसने अपने पूर्वजों के शासन भार के जुए को वहन किया था (अर्थात् उसके पूर्वज भी शासक रह चुके थे)। लेकिन इन सब तथ्यों के बावजूद इस लेख में उसे राजा, महाराज अथवा महासेनापति आदि जैसी कोई उपाधि नहीं दी गई है और मालवा राज्य को एक गण कहा गया है। उसने अथवा उसके पिता जयसोम या पितामह प्रभाग्रवर्धन ने मालवों के स्वतन्त्रता संग्राम का जो उन्होंने शकों के विरुद्ध लड़ा था, नेतृत्व किया होगा यद्यपि इसकी चर्चा इस लेख में नहीं की गई है। श्री (?) सोम ने जिस शक नरेश को परास्त किया वह प्रथम रुद्रसेन (लग० २००–२२२), संघदामा (२२२–३) और दामसेन (२२३–३१) में कोई एक रहा होगा। शायद वह संघदामा ही रहा होगा। जिसके मात्र एक वर्ष के लिए शासन करने का कारण हो सकता है उसका मालव युद्ध में मारा जाना रहा हो। उसकी मृत्यु तिथि प्रस्तुत लेख की तिथि से केवल तीन वर्ष पूर्व पड़ती है।

बर्नाला यूप अभिलेख
कृत स० २८४ (=२२७ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख, दयाराम साहनी ने कानोटा के ठाकुर शिवनाथ सिंह की सहायता से बर्नाला से प्राप्त किया था। यह एक खण्डित पाषाण यूप पर लिखा है। इसके साथ एक अन्य यूप भी मिला था जिस पर ३३५ कृत सम्वत् की तिथि वाला लेख लिखा है। बर्नाला राजस्थान में लालसोट गंगापुर मार्ग पर आठ मील अन्दर की ओर एक लघु ग्राम है। ये दोनों यूप स्तम्भ वहाँ एक तालाब में दो-दो टुकड़ों में खण्डित पड़े थे। ये ६' से ६' ६" लम्बे हैं। आजकल ये आमेर संग्रहालय में रखे हैं। इनके ऊपर सीधी खड़ी पंक्तियों में लेख लिखे हैं जिन्हें ऊपर से नीचे की तरफ पढ़ना होता है। प्रस्तुत अभिलेख एक पंक्ति में है। इसमें कृत सम्वत् २८४ (=२२७ ई०) तिथि दी गई है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** ब्राह्मी। अक्षरों की बनावट बड़वा व इलाहाबाद-संग्रहालय-यूप लेख से सादृश्य रखती है। भाषा पर प्राकृत का कुछ प्रभाव स्पष्ट है जैसे 'सगोत्तस्य' (बजाय सगोत्रस्य' के) और 'पुण्ण' (बजाय 'पुण्य' के) शब्दों में।

सन्दर्भ-लेख—साहनी, आर्क्यो० रिमेन्स एण्ड एक्स्कवेशन्स एट साम्भर, पृ० ३ ; अल्तेकर, ई० आई०, २६, पृ० ११८-१२३।

मूलपाठ

१. सिद्धम्। कृतेहि २०० (+) ८० (+) ४ चैत्र शुक्ल पक्षस्य पं (पञ्) चदशी [। *] सोहर्त्त सगोत्तस्य [राज्ञो]......प [७] त्त् [र] स्य [राज्ञो] वर्द्धनस्य यूप सत्तको पुण्ण (ण्यं) व [र्द्धतु] [। *]

पाठ-टिप्पणी—'सोहर्त्त' को 'सोहर्ति' पढ़े। छाबड़ा के अनुसार 'सोहर्त्तृ सगोत्रस्य' पाठ सही होगा। अल्तकर ने 'सत्त्रकों' 'सत्तको' पढ़ा है और छाबड़ा ने 'पुण्ण' को पुण्य'। अल्तेकर अन्तिम शब्द को इस प्रकार पुनर्योजित करते हैं ''पुण्णं वर्द्धकं भवतु''।

अनुवाद

सिद्धि हो ! कृत (सम्वत्) २८४ के चैत्र शुक्ल पक्ष की पञ्चदशी (= पूर्णिमा) को सोहृतृ गोत्रोत्पन्न राजा.....के पुत्र राजा.....वर्द्धन का यह सत्र यूप (यज्ञकर्ता के) पुण्य (को बढ़ाने वाला हो)।

व्याख्या

(१) **सोहर्त्त** = सोहर्तृ = एक गोत्र का नाम। यह भारद्वाज काण्ड के अन्तर्गत आता है।

(२) अल्तेकर ने 'सत्रको' के स्थान में 'सत्तको' पढ़ा है और अर्थ निकाला है कि यहाँ इस लेख में उल्लिखित नरेश के सात यूपों का उल्लेख है, सत्रयूप का नहीं। परन्तु यह सम्भव नहीं लगता।

अभिलेख का महत्त्व

बर्नाला से प्राप्त यह अभिलेख कृत सम्वत् के प्राचीनतम लेखों में से एक है। यह नान्दसा यूपलेख से कवल दो वर्ष बाद का है। इसमें सम्भवतः किसी राजा का उल्लेख था जिसके नाम का प्रथम भाग मिट गया है। इतना निश्चित है कि उसका नाम वर्द्धनान्त था। उसके पिता का नाम भी अब अपठ्य हो गया है परन्तु वह भी कोई राजा ही था। अल्तेकर का विचार है कि इस लेख को लिखवाने वाले राजा के द्वारा सात यूपों की प्रतिष्ठा की गई थी। उसके अनुसार उसने सात यज्ञ—सम्भवतः सात सोम याग—किए होंगे जिन्हें 'सप्त सोम संस्था' कहा जाता था। इनमें अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन्, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम (कात्यायन श्रौतसूत्र, १०-९-२७) यज्ञ परिगणित होते थे। इलाहाबाद यूप लेख में इनका उल्लेख मिलता है। लेकिन इस लेख में इस राजा के सात यूपों का नहीं सत्र यूप का उल्लेख हुआ है।

मौखरी महासेनापति बल के पुत्रों के तीन बड़वा पाषाण यूप-लेख
कृत सं० २९५ (=२३८ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख, जो संख्या में तीन हैं, राजस्थान के भूतपूर्व कोटा राज्य में स्थित बड़वा ग्राम (नान्दसा से ७० मील पूर्व की ओर) के समीप विद्यमान थम्बतोरण स्थल से मिले थे। यहाँ से प्राप्त तीनों यूप स्तम्भों पर लेख लिखे थे। एक चौथे स्तम्भ के अवशेष कुछ दूर पर मिले थे। इस पर भी एक लेख लिखा था जिसका केवल 'यज्ञो' शब्द अवशिष्ट है। प्रस्तुत लेखों में दो तो एक खड़ी पंक्ति में लिखे हैं और एक दो खड़ी पंक्तियों में (आड़ी पंक्ति में नहीं)। इन तीनों में एक ही तिथि—कृत सम्वत् का २९५ वर्ष—उल्लिखित हैं। इनका उद्देश्य मौखरी जाति के महासेनापति बल के तीन पुत्रों द्वारा एक-एक यूप स्थापित कराने तथा त्रिरात्र यज्ञ में ब्राह्मणों को एक-एक सहस्र गाएँ दक्षिणा में देने का उल्लेख करना है। इनकी भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि ब्राह्मी जो मालवा के नान्दसा-लेख की लिपि से मेल खाती है। इन लेखों को अल्तेकर ने ई० आई० के २३ वें अंक में (पृ० ५२) प्रकाशित और सम्पादित किया है।

प्रथम लेख

मूलपाठ

१. सिद्धं (द्धम्) (।) क्रितेहि २०० (+) ९० (+) ५ फ [।]
ल्गुण शुक्ल्स्य पञ्चे दि श्रिमहासेनापतेः
मौखरेः बलपुत्रम्य बलवर्द्धनस्य यूपः (१)
त्रिरात्र संमितस्य दक्षिण्यं गवां सहस्रं [१०००] (।)

पाठ-टिप्पणी—'क्रितेहि' को 'कृतैः' पढ़ें, 'फाल्गुण' को फाल्गुन', 'पञ्चे' को 'पञ्चमे', 'श्रि' को 'श्री', 'मोखरे:' को 'मौखरे:', 'बलपुत्रस्य' को 'बलस्य पुत्रस्य' तथा 'दक्षिण्यं' को 'दक्षिणा'। 'दि' से तात्पर्य है 'दिवस'। 'सहस्रं' को अल्तेकर ने 'सहष्र' पढ़ा है। इसके उपरान्त एक चिह्न बना है जो १००० संख्या का सूचक हो सकता है।

अनुवाद

सिद्धम्! कृत (सम्वत्) के २९५ वर्ष में (=२९५ वर्ष बीत जाने के बाद) फाल्गुन शुक्ल की पञ्चमी के दिन श्री महासेनापति मौखरी बल के पुत्र बलवर्द्धन का (उसके द्वारा स्थापित) यूप। त्रिरात संमित (त्रिरात्र यज्ञ) में सहस्र (१०००) गायों की दक्षिणा (दी गई)।

द्वितीय लेख

मूलपाठ

१. **सिद्धं (द्धम्) (१) क्रितेहि २०० (+) ९० (+) ५ फ [ा] ल्गुण शुक्लस्य पञ्चे दि श्री महासेनापतेः मोखरेः बलपुत्रस्य सोमदेवस्य यूपः (१) त्रिरात्र संमितस्य दक्षिण्यं गव [ां] सह [स्रं] [१०००] (।)**

पाठ-टिप्पणी—प्रथम लेख की पाठ-टिप्पणी को देखें।

अनुवाद

सिद्धम् ! कृत (सम्वत्) के २९५ वर्ष में (=२९५ वर्ष बीत जाने के बाद) फाल्गुन शुक्ल की पञ्चमी के दिन श्री महासेनापति मौखरी बल के पुत्र सोमदेव का (उसके द्वारा स्थापित) यूप। त्रिरात्र यज्ञ में सहस्र (१०००) गायों की दक्षिणा (दी गई)।

तृतीय लेख

मूलपाठ

१. **क्रितेहि २०० (+) ९० (+) ५ फ [ा] ल्गुण शुक्लस्य पञ्चे [ि] द श्री महासेनापते [:] मोखरे—**

२. **बंल पुत्रस्य बलसिंहास्य यूपः। त्रिरात्र-संमितस्य दक्षिण्यं गवां सहस्र [१०००] (।)**

पाठ-टिप्पणी—'मोखरेर्बल पुत्रस्य' को मौखरेः बलस्य पुत्रस्य' पढ़ें और 'बलसिंहास्य' को 'बलसिंहस्य'। प्रथम लेख की पाठ-टिप्पणी देखें।

अनुवाद

कृत (सम्वत्) के २९५ वर्ष में (=२९५ वर्ष बीत जाने पर) फाल्गुन शुक्ल की पञ्चमी के दिन श्री महासेनापति के वल पुत्र बलसिंह का (उसके द्वारा स्थापित) यूप। त्रिरात्र यज्ञ में सहस्र (१०००) गायों की दक्षिणा (दी गई)।

व्याख्या

(१) **क्रितेहि** = कृत-सम्वत्। ये अभिलेख कृत सम्वत् के प्राचीनतम अभिलेखों में से हैं।

(२) **श्रि महासेनापतेः मोखरेः बलपुत्रस्य बलवर्द्धनस्य यूपः**—इस पद का शाब्दिक अर्थ होगा 'वल के पुत्र श्री महासेनापति मौखरी बलवर्द्धन का यूप'। परन्तु ठीक यही पद वल के अन्य दो पुत्रों के लिए भी आया है। क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि वल के तीन पुत्र एक साथ एक ही समय 'महासेनापति' रहे हों, इसलिए इस पद को सुधार कर संस्कृत में 'श्री महासेनापतेः मोखरेः वलस्य पुत्रस्य वल-

वर्द्धनस्य यूपः' पढ़ना चाहिए (श्री महासेनापति मौखरी वल के पुत्र वलवर्द्धन का यूप)। मोखरी = मौखरी। यह वंश विहार के यज्ञवर्मा वाले मौखरी वंश से प्राचीन-तर था। दोनों वंशों का सम्बन्ध अज्ञात है। वड़वा और कन्नौज के मौखरियों का सम्बन्ध भी ज्ञात नहीं है। महासेनापति वल का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। १५८ ई० के एक मथुरा अभिलेख में वल नामक व्यक्ति का उल्लेख अवश्य मिलता है, परन्तु उसकी तिथि वहुत पहिले पड़ती है। महासेनापति वल प्रस्तुत अभिलेख लिखे जाने के समय जीवित रहा होगा क्योंकि उसके तीनों पुत्रों का उल्लेख विना उपाधि के हुआ है।

(३) **यूप**—धर्मशास्त्रों के अनुसार यूप काष्ठ निर्मित होने चाहिए। 'कात्या-यन श्रौत सूत्र' (६·३) में ऐसे काष्ठ की खोज की विधि वताई गई है। 'ऐतरेय ब्रह्मण' (२·१) के अनुसार यज्ञोपरान्त यूप की भी वलि दे देनी चाहिए। इसीलिए शायद अब प्राचीन काष्ठ यूप विरलतः ही मिलते हैं। दूसरी शती ई० से वैदिक धर्म के अनुयायियों ने बौद्धों के पाषाण स्तम्भों की नकल करते हुए पाषाण यूप स्तम्भ बनवाने शुरू किए। सूत्र ग्रन्थों के अनुसार यज्ञयूपों को छूने से मृतक की चिता अथवा रजस्वला स्त्री को छूने के समान अशौच होता था। लगता है ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों में यह भावना त्याग दी गई और यूपों को पवित्र माना जाने लगा। बड़वा यूप १३' ३" से लेकर १५' ८" तक ऊँचे हैं। तीसरी-चौथी शती ई० के युप बड़वा के अलावा ईसापुर, विजयगढ़, नगरी तथा नान्दसाँ (अर्थात् स्थूलतः पूर्वी राजस्थान) तथा इलाहाबाद से मिले हैं। स्पष्टतः यह प्रदेश उस समय वैदिक पुनर्जागरण का केन्द्र रहा होगा।

(४) **त्रिरात्र संमित** = त्रिरात यज्ञ। इसका पूरा नाम गर्ग त्रिरात्र है। इसमें प्रथम दिन अग्निष्टोम, दूसरे दिन उक्थ्य तथा तीसरे दिन अतिरात्र सम्पन्न होते थे। दूसरे दिन अश्व बलि देने पर इसका नाम अश्वी त्रिरात्र होता था। इसका वर्णन 'तैत्तिरीय संहिता' में मिलता है (७·१५)। उसमें भी इसके सम्पादन पूर्ण होने पर एक हजार गाएँ दक्षिणा स्वरूप देने का विधान है। शतपथ में इसे 'सहस्र दक्षिण त्रिरात्र' कहा गया है।

(५) अभिलेख में कोई स्थान उल्लिखित नहीं है। परन्तु हो सकता है स्वयं बड़वा ग्राम महासेनापति वल के नाम पर बसाया गया हो। वालवाड़ी = बड़वा।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख (कनिंघम द्वारा गया से प्राप्त उस मुहर को छोड़कर जिस पर 'मोखलिनम' लेख लिखा है) मौखरियों के प्राचीनतम अभिलेख हैं। मौखरी जन-जाति से क्षत्रिय थे। हराहा-अभिलेख के अनुसार वे अश्वपति के वैवस्वत मनु के वरदान से प्राप्त सौ पुत्रों की सन्तान थे। क्योंकि ठीक यही परम्परा

'महाभारत' में मालवों के विषय में मिलती है, इसलिए हमारा विचार है कि मौखरी मालवों की ही एक शाखा थे। ध्यातव्य है कि बड़वा के मौखरी मेवाड़ के मालवों के निकट पड़ोसी थे, (बड़वा नान्दसा से केवल ७० मील पूर्व की ओर है) उनके समान कृत सम्वत् का प्रयोग करते थे और वैदिक यज्ञ धर्म में रुचि रखते थे। इन तथ्यों से हमारे मत को बल मिलता है। विस्तृत विवेचन के लिए देखें गोयल का राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस, ५ (अजमेर अधिवेशन) में प्रकाशित लेख, पृ० (१५-२१)।

बल की उसकी उपाधि सेनापति का राजनीतिक महत्त्व अज्ञात है। तु० भटार्क (मैत्रक वंश का संस्थापक) व पुष्यमित्र शुंग की सेनापति उपाधि। अल्तेकर का अनुमान है कि महासेनापति बल शक क्षत्रप विजयदामा के अधीन था (ई० आई०, २३, पृ० ४८) जब कि सरकार ने उसे मालवों के अधीन माना है (स० इ०, पृ० टि०)। अल्तेकर का यह भी कहना है कि बल को कुछ समय के लिए आभीरों की प्रभुसत्ता माननी और मयूरशर्मा कदम्ब के आक्रमण को (दे०, चन्द्रवल्ली अभिलेख, सरकार, स० इ०,) सहना पड़ा होगा। परन्तु उनका मत अनुमानाश्रित है। हमारे विचार से सरकार का सुझाव सत्य के निकट होना चाहिए।

नगर (विचपुरिया) यूप-लेख
कृत सं० ३२१ (= २६४ ई०)

प्राप्ति-स्थल : नगर, उणियारा (जयपुर) में विचपुरिया मन्दिर
भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत **लिपि** : ब्राह्मी
तिथि : (कृत) ३२१ (=२६४ ई०)

सन्दर्भ-लेख—अग्रवाल, आर० सी०, मरुभारती, १२, १९६४, पृ० २४०; ना० प्र० प०, स० २०११, वर्ष ५९, अंक २, पृ० १२२

मूलपाठ

१. सं ३०० (+) २० (+) १ फगुन शुक्ल पक्षस्य पञ्चदश अहिशर्म अ (ग्नि) होतुस्य धरकपुत्रस्य यूप (श्च पुण्य) मेधतु [। *]

बर्नाला यूप-अभिलेख

कृत स० ३३५ (= २७८ ई०)

लेख-परिचय—यह यूप स्तम्भ रायबहादुर दयाराम साहनी ने राजस्थान में वर्नाला के उसी तालाब से जिससे कृत २८४ (= २२७ ई०) के लेख वाला यूप मिला था, प्राप्त किया था। इस पर दो खड़ी पंक्तियों में, जिन्हें ऊपर से नीचे की तरफ पढ़ना होता है, यह लघु लेख उत्कीर्ण है। इसकी **भाषा** अत्यन्त अशुद्ध प्राकृत है और **लिपि** ब्राह्मी। इसमें कृत सम्वत् ३३५ (= २७८ ई०) **तिथि** दी गई है। इस प्रकार यह लेख प्रथम बर्नाला लेख से ५१ वर्ष बाद का है।

सन्दर्भ-लेख—अल्तेकर ई० आई०, २६, पृ० ११८-२३ ; अग्रवाल, आर० सी०, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०११, अंक २, पृ० १२१-२२ ; साहनी आर्क्यो० रिमेन्स एण्ड एक्स्कवेशन्स एट साम्भर, पृ० ३।

मूलपाठ

१. **कृतेहि ३०० (+) ३० (+) ५ जष (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पं (पञ्) च**
दशी [१ *] भृट्ट (भट्ट)·······त्रितवणेशु (त्रितवनेषु ?)

२. **[गर्ग ?] [त्रि] र (रा) त्र ५ यज्ञ (ज्ञा) इष्ट (इष्टा)**
(सवस्ता) इ (ए) व वागा (गावो) दक्षिण्या (णा) दाता
९० वष्ट: (विष्णु:) प्रियतां धर्मो वर्द्ध [ताम्] [।]

अनुवाद

कृत (सम्वत्) ३३५ के ज्येष्ठ (मास) के शुक्ल पक्ष की [illegible] (गर्ग ?) त्रिरात्र यज्ञ भट्ट (नामक ब्राह्मण द्वारा) (त्रित वन में ?) किए [illegible] के साथ ९० गाएँ दक्षिणा में दी गईं। विष्णु प्रसन्न हों। धर्म की वृद्धि हो।

संग्रहालय-लेख में किसी राजा के (जिसका नाम मिट गया है) विश्वस्त मन्त्री शिवदत्त द्वारा सात सोमयज्ञों के किए जाने का उल्लेख है। इन यज्ञों को शास्त्रों में 'सप्त सोम संस्था' कहा गया है। ये थे : अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन्, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम। ये इसी क्रम से सम्पन्न किए जाने आवश्यक थे। इलाहाबाद-लेख में इनमें कुछ नाम मिट गए हैं परन्तु प्रथम और पाँचवाँ नाम निश्चय अग्निष्टोम और वाजपेय थे। उपर्युक्त इलाहाबाद-लेख सातों सोम यज्ञों का उल्लेख करने वाला एक मात्र अभिलेख है। इन सब अभिलेखों से तीसरी–चौथी शती ई० में वैदिक और पौराणिक धर्मधाराओं के समन्वय का ज्ञान होता है।

बर्नाला यूप-अभिलेख
कृत सं० ३३५ (=२७८ ई०)

लेख-परिचय—यह यूप स्तम्भ रायबहादुर दयाराम साहनी ने राजस्थान में बर्नाला के उसी तालाब से जिससे कृत २८४ (= २२७ ई०) के लेख वाला यूप मिला था, प्राप्त किया था । इस पर दो खड़ी पंक्तियों में, जिन्हें ऊपर से नीचे की तरफ पढ़ना होता है, यह लघु लेख उत्कीर्ण है। इसकी **भाषा** अत्यन्त अशुद्ध प्राकृत है और **लिपि** ब्राह्मी। इसमें कृत सम्वत् ३३५ (= २७८ ई०) **तिथि** दी गई है। इस प्रकार यह लेख प्रथम बर्नाला लेख से ५१ वर्ष बाद का है।

सन्दर्भ-लेख—अल्तेकर ई० आई०, २६, पृ० ११८-२३ ; अग्रवाल, आर० सी०, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०११, अंक २, पृ० १२१-२२ ; साहनी आर्क्यो० रिमेन्स एण्ड एक्स्कवेशन्स एट साम्भर, पृ० ३ ।

मूलपाठ

१. कृतेहि ३०० (+) ३० (+) ५ जष (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पं (पञ्) च दशी [१ *] भृट्ट (भट्ट)·······त्रितवणेशु (त्रितवनेषु ?)

२. [गर्ग ?] [त्रि] र (रा) त्र ५ यज्ञ (ज्ञा) इष्ट (इष्टा) सव्वस्त (सवस्ता) इ (ए) व वागा (गावो) दक्षिण्या (णा) दाता (दत्ता) ९० वष्टः (विष्णुः) प्रियतां धर्मो वर्द्ध [ताम्] [।]

अनुवाद

कृत (सम्वत्) ३३५ के ज्येष्ठ (मास) के शुक्ल पक्ष की पञ्चदशी को पाँच (गर्ग ?) त्रिरात्र यज्ञ भट्ट (नामक ब्राह्मण द्वारा) (त्रित वन में ?) किए गए। बछड़ों के साथ ९० गाएँ दक्षिणा में दी गईं। विष्णु प्रसन्न हों। धर्म की वृद्धि हो।

अभिलेख का महत्त्व

यह अभिलेख जिस यूप पर उत्कीर्ण है वह २८४ कृत सम्वत् बर्नाला लेख वाले यूप से ५१ वर्ष उपरान्त स्थापित किया गया था। इसमें उल्लिखित त्रिरात्र (गर्ग त्रिरात्र ?) यज्ञ कराने वाला व्यक्ति सम्भवतः 'भट्ट' नामक कोई ब्राह्मण था। वह निर्धन रहा होगा, इसलिए उसने दक्षिणा में शास्त्रों में बताई गई दक्षिणा—१००० गाएं—न देकर बछड़ों सहित मात्र ९० गाए दीं थी। लेकिन वह वैदिक धर्म को मानने के साथ विष्णु में भी भक्ति रखता था। स्पष्टतः वह यह मानता था कि यज्ञादि से विष्णु प्रसन्न होते हैं। स्मरणीय है कि इलाहाबाद-संग्रहालय यूप-लेख में इसी प्रकार शिव को यज्ञों से सन्तुष्ट होने वाला बताया गया है। इलाहाबाद

संग्रहालय-लेख में किसी राजा के (जिसका नाम मिट गया है) विश्वस्त मन्त्री शिवदत्त द्वारा सात सोमयज्ञों के किए जाने का उल्लेख है। इन यज्ञों को शास्त्रों में 'सप्त सोम संस्था' कहा गया है। ये थे : अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन्, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम। ये इसी क्रम से सम्पन्न किए जाने आवश्यक थे। इलाहाबाद-लेख में इनमें कुछ नाम मिट गए हैं परन्तु प्रथम और पाँचवाँ नाम निश्चय अग्निष्टोम और वाजपेय थे। उपर्युक्त इलाहाबाद-लेख सातों सोम यज्ञों का उल्लेख करने वाला एक मात्र अभिलेख है। इन सब अभिलेखों से तीसरी-चौथी शती ई० में वैदिक और पौराणिक धर्मधाराओं के समन्वय का ज्ञान होता है।

धनुत्रात मौखरी का बड़वा यूप-लेख

लेख-परिचय—इस यूप लेख के अस्तित्व की सूचना डॉ० मथुरालाल शर्मा ने ए० एस० अल्तेकर को महासेनापति बल के पुत्रों के यूप-लेख प्रकाश में आने के बाद दी थी। यह यूप बड़वा **स्थल** से ही प्राप्त हुआ है और इस पर लिखित लेख मौखरी बल के पुत्रों के यूप लेखों से कुछ बातों में सादृश्य रखता है और कुछ में भिन्न है। इसकी **भाषा** भी संस्कृत और **लिपि** ब्राह्मी। यह गद्य में न होकर एक अनुष्टुभ **छन्द** में लिखा है। यह **तिथिविहीन** है लेकिन लिपिशास्त्र के आधार पर तृतीय शती ई० का माना जा सकता है। इसका **उद्देश्य** हस्ती के पुत्र धनुत्रात मौखरी द्वारा आप्तोर्याम यज्ञ के अवसर पर, जिसमें एक सहस्र गाएं दान दी गई थीं, इस यूप को स्थापित कराए जाने की घोषणा करना है।

सन्दर्भ-लेख—अल्तेकर, इ० आई०, २४, पृ० ५१-३

मूलपाठ

१. **मोखरेर्हस्तीपुत्रस्य धनुत्रातस्य धीमतः** [। *]

आप्तो [र्] य्य [ा] म्ण [:] क्रतोः यूपः सहस्त्रो गव दक्षिणा [॥*]

पाठ-टिप्पणी—'हस्ती' को 'हस्ति' पढ़ें, 'क्रतोः यूपः' को 'क्रतोर्यूपः' तथा 'सहस्रो गव दक्षिणा' को 'सहस्र गव दक्षिणः'।

अनुवाद

(यह) हस्ती के पुत्र बुद्धिमान धनुत्रात मौखरी के आप्तोर्याम यज्ञ का यूप (है) (जिसमें) एक सहस्र गायों की दक्षिणा (दी गई)।

व्याख्या

आप्तोर्याम अतिरात्र के समान होने पर एक दिन में समाप्त होने वाला सोमयाग था परन्तु इसमें अतिरात्र के समान केवल एक सम्पूर्ण दिन ही नहीं लगता था ; यह अगली रात्रि तक समाप्त होता था।

लेख का महत्त्व

इस लेख से राजस्थान के मौखरियों के विषय में कुछ अतिरिक्त सूचना मिलती है। इसमें यज्ञ करने वाले धनुत्रात अथवा उसके पिता को कोई राजकीय, प्रशासकीय अथवा सैनिक विरुद नहीं दिया गया है। शायद धनुत्रात का वंश महा-सेनापति बल के वंश से भिन्न था। ये सभी मौखरि परिवार स्पष्टतः वैदिक यज्ञ धर्म में निष्ठावान थे।

भट्टिसोम सोगी का नान्दसा यूप-लेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख एक खण्डित पाषाण यूप स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यह नान्दसा में उस **स्थल** से जहाँ से श्री (?) सोम का यूप-स्तम्भ मिला है, केवल दो फर्लांग दूर उपलब्ध हुआ है। लेख अत्यन्त खण्डित है और **तिथिविहीन** है। **लिपि** की दृष्टि से यह श्री (?) सोम के लेख का समकालीन लगता है। इसकी **भाषा** भी संस्कृत है परन्तु 'सेनापतिस्य' (बजाय सेनापतेः' के) तथा 'सोगिस्य' (बजाय 'सोगेः' के) शब्दों पर प्राकृत प्रभाव स्पष्ट है। इसे अल्तेकर ने इ० आई०, २७, में (पृ० २६६-७) सम्पादित किया है।

मूलपाठ

१. यस्य
२. [सम] ग्रलोकाः [।] त –
३. स्वदेशे कोटीर्तो [र्थे]
४. [पा] र्श्वे शल्मलिवृक्षः [।]
५. तापस (सा) श्रम व [ने]
६. कुलगोत्रविवर्द्धनार्थां (र्थं) पुत्रपौत्रप्रतिष्ठित –
७. महासेनापतिस्य (पतेः) भट्टिसोमस्य सोगिस्य (सोगेः) म –

अनुवाद

१. जिसका
२. समस्तलोक।
३. अपने देश कोटीतीर्थ में
४. शाल्मलि वृक्ष के पार्श्व में
५. तपस्वियों के आश्रमवन में
६. कुल गोत्र के वर्द्धन हेतु पुत्र पौत्र प्रतिष्ठित
७. महासेनापति सोगी भट्टिसोम का

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत लेख खण्डित रूप में मिलने के बावजूद कुछ महत्त्वपूर्ण है। इसमें सोगी जाति का उल्लेख है जिसमें उत्पन्न भट्टिसोम महासेनापति था। ये सोगी जन वही थे जिनमें नान्दसा-लेख में उल्लिखित श्री (?) सोम उत्पन्न हुआ था। अल्तेकर का अनुमान है कि श्री (?) सोम और भट्टिसोम एक ही व्यक्ति थे। वह 'भट्टि' और श्री को आदरसूचक उपाधि मात्र मानते हैं और सोम' को मुख्य नाम। परन्तु श्री (?) सोम के पिता का नाम जयसोम होने से लगता है कि 'भट्टि' और 'श्री' नाम के अंश होने चाहिए। दूसरे, भट्टि सोम 'महासेनापति' था जब कि श्री (?) सोम को यह उपाधि नहीं दी गई है। लगता है 'महासेनापति' पद उस युग में बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसका प्रयोग मौखरि, सातवाहन व इक्ष्वाकु लेखों में भी हुआ मिलता है।

धनुत्रात मौखरी का बड़वा यूप-लेख

लेख-परिचय—इस यूप लेख के अस्तित्व की सूचना डॉ० मथुरालाल शर्मा ने ए० एस० अल्तेकर को महासेनापति बल के पुत्रों के यूप-लेख प्रकाश में आने के बाद दी थी। यह यूप बड़वा **स्थल** से ही प्राप्त हुआ है और इस पर लिखित लेख मौखरी बल के पुत्रों के यूप लेखों से कुछ बातों में सादृश्य रखता है और कुछ में भिन्न है। इसकी **भाषा** भी संस्कृत और **लिपि** ब्राह्मी। यह गद्य में न होकर एक अनुष्टुभ **छन्द** में लिखा है। यह **तिथिविहीन** है लेकिन लिपिशास्त्र के आधार पर तृतीय शती ई० का माना जा सकता है। इसका **उद्देश्य** हस्ती के पुत्र धनुत्रात मौखरी द्वारा आप्तोर्याम यज्ञ के अवसर पर, जिसमें एक सहस्र गाएं दान दी गई थीं, इस यूप को स्थापित कराए जाने की घोषणा करना है।

सन्दर्भ-लेख—अल्तेकर, इ० आई०, २४, पृ० ५१-३

मूलपाठ

१. **मोखरेर्हस्तीपुत्रस्य धनुत्रातस्य धीमतः** [। *]
आप्तो [र्] **य्य** [ा] **म्ण** [:] **क्रतोः यूपः सहस्त्रो गव दक्षिणा** [॥*]

पाठ-टिप्पणी—'हस्ती' को 'हस्ति' पढ़ें, 'क्रतोः यूपः' को 'क्रतोर्यूपः' तथा 'सहस्रो गव दक्षिणा' को 'सहस्र गव दक्षिणः'।

अनुवाद

(यह) हस्ती के पुत्र बुद्धिमान धनुत्रात मौखरी के आप्तोर्याम यज्ञ का यूप (है) (जिसमें) एक सहस्र गायों की दक्षिणा (दी गई)।

व्याख्या

आप्तोर्याम अतिरात्र के समान होने पर एक दिन में समाप्त होने वाला सोमयाग था परन्तु इसमें अतिरात्र के समान केवल एक सम्पूर्ण दिन ही नहीं लगता था ; यह अगली रात्रि तक समाप्त होता था।

लेख का महत्त्व

इस लेख से राजस्थान के मौखरियों के विषय में कुछ अतिरिक्त सूचना मिलती है। इसमें यज्ञ करने वाले धनुत्रात अथवा उसके पिता को कोई राजकीय, प्रशासकीय अथवा सैनिक विरुद नहीं दिया गया है। शायद धनुत्रात का वंश महा-सेनापति बल के वंश से भिन्न था। ये सभी मौखरि परिवार स्पष्टतः वैदिक यज्ञ धर्म में निष्ठावान थे।

भट्टिसोम सोगी का नान्दसा यूप-लेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख एक खण्डित पाषाण यूप स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यह नान्दसा में उस **स्थल** से जहाँ से श्री (?) सोम का यूप-स्तम्भ मिला है, केवल दो फर्लांग दूर उपलब्ध हुआ है। लेख अत्यन्त खण्डित है और **तिथिविहीन** है। **लिपि** की दृष्टि से यह श्री (?) सोम के लेख का समकालीन लगता है। इसकी **भाषा** भी संस्कृत है परन्तु 'सेनापतिस्य' (बजाय सेनापते:' के) तथा 'सोगिस्य' (बजाय 'सोगे:' के) शब्दों पर प्राकृत प्रभाव स्पष्ट है। इसे अल्तेकर ने इ० आई०, २७, में (पृ० २६६–७) सम्पादित किया है।

मूलपाठ

१. यस्य
२. [सम] ग्रलोकाः [।] त –
३. स्वदेशे कोटीतीर्ं [थें]
४. [पा] र्श्वे शल्मलिवृक्षः [।]
५. तापस (सा) श्रम व [ने]
६. कुलगोत्रविवर्द्धनार्थां (थें) पुत्रपौत्रप्रतिष्ठित –
७. महासेनापतिस्य (पतेः) भट्टिसोमस्य सोगिस्य (सोगेः) म –

अनुवाद

१. जिसका
२. समस्तलोक।
३. अपने देश कोटीतीर्थ में
४. शाल्मलि वृक्ष के पार्श्व में
५. तपस्वियों के आश्रमवन में
६. कुल गोत्र के वर्द्धन हेतु पुत्र पौत्र प्रतिष्ठित
७. महासेनापति सोगी भट्टिसोम का

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत लेख खण्डित रूप में मिलने के बावजूद कुछ महत्त्वपूर्ण है। इसमें सोगी जाति का उल्लेख है जिसमें उत्पन्न भट्टिसोम महासेनापति था। ये सोगी जन वही थे जिनमें नान्दसा-लेख में उल्लिखित श्री (?) सोम उत्पन्न हुआ था। अल्तेकर का अनुमान है कि श्री (?) सोम और भट्टिसोम एक ही व्यक्ति थे। वह 'भट्टि' और श्री को आदरसूचक उपाधि मात्र मानते हैं और सोम' को मुख्य नाम। परन्तु श्री (?) सोम के पिता का नाम जयसोम होने से लगता है कि 'भट्टि' और 'श्री' नाम के अंश होने चाहिए। दूसरे, भट्टि सोम 'महासेनापति' था जब कि श्री (?) सोम को यह उपाधि नहीं दी गई है। लगता है 'महासेनापति' पद उस युग में बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसका प्रयोग मौखरि, सातवाहन व इक्ष्वाकु लेखों में भी हुआ मिलता है।

शीलवर्मा के जगतपुर इष्टिका-लेख

लेख-परिचय—ये लेख, जो वेदिका बनाने के लिए काम आने वाली ईंटों पर उत्कीर्ण हैं, पौण वंश के नरेश शीलवर्मा के हैं। ये उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में जगतपुर नामक स्थान से उपलब्ध हुए थे। इनकी भाषा संस्कृत है और ये पद्य में —अनुष्टुभ छन्द में—लिखे हैं। लिपि तीसरी शती ई० की ब्राह्मी है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—रामचन्द्रन, टी० एन०, जे० ओ० आर,० २१, पृ० १-३१ ; २२, पृ० १००; घोष, ए०, इण्डियन आर्क्योलोजी-ए रिव्यु, १९५३-५४, पृ० ११; सरकार, स० इ०, पृ० ९८-९।

मूलपाठ

प्रथम लेख

१. सिद्धम्

युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैल महीपते (: ।*)
इष्टका वार्षगण्यस्य नृपतेश्शीलवर्मण (: ॥*)

द्वितीय लेख

नृपतेर्वार्षगण्यस्य पोण षष्ठस्य धीमत (: ।*)
चतुर्थस्याश्वमेधस्य चित्यो (ऽ) यं शीलवर्म्मण (: ॥*)

पाठ-टिप्पणी—'सिद्धम्' के उपरान्त एक मंगल चिह्न बना है। रामचन्द्रन ने ने 'वार्षगण्य' को 'वर्षगण्ड' पढ़ा है और 'पोण षष्ठस्य' को 'पत्नर्षष्ठस्य'।

इष्टका = इष्टिका, ईंट; **पोषणषष्ठस्य**=पोण से छठी पीढ़ी का; **चित्य**=वेदिका

अनुवाद

प्रथम लेख

सिद्धम् । युग (नामक राज्य) के स्वामी युगशैल (नामक नगर) के शासक वृषगण (अथवा वार्षगण्य) गोत्र में उत्पन्न राजा शीलवर्मा के अश्वमेध में (प्रयुक्त) ईंट ।

द्वितीय लेख

यह वेदिका पोण की छठी पीढ़ी में वृषगण (अथवा वार्षगण्य) गोत्र में उत्पन्न बुद्धिमान् राजा शीलवर्मा के चौथे अश्वमेध की है ।

लेखों का महत्त्व

इन लेखों से उत्तर प्रदेश के पश्चिमोत्तर पर्वतीय प्रदेश पर तीसरी शती में शासन करने वाले नरेश शीलवर्मा का अस्तित्व ज्ञात होता है । इस राजा ने स्पष्टतः कुषाण साम्राज्य के विघटन का लाभ उठाकर एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य स्थापित किया था । उसके वंश का आदिपुरुष 'पोण' प्रतीत होता है । शीलवर्मा पोण की छठवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था । उसने कम से कम चार अश्वमेध किए थे । सम्भवतः उसका राज्य युग नाम से एवं राजधानी युगशैल नाम से विख्यात थे । अभाग्यवश इस वंश का परिचय किसी अन्य साक्ष्य से नहीं मिलता ।

यौधेयों का विजयगढ़ पाषाण-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत **तिथिविहीन** लेख एक प्रस्तर-खण्ड पर उत्कीर्ण है, जो राजस्थान की भूतपूर्व भरतपुर रियासत की बयाना तहसील में बयाना कस्बे से दो मील दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित विजयगढ़ नामक पर्वतीय दुर्ग की एक भित्ति के आन्तरिक भाग में जुड़ा पाया गया था। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** तीसरी शती ई० के अन्त की परन्तु कुछ आलंकारिक रूप वाली ब्राह्मी। इसका काफी भाग—प्रथम दो पक्तियों का आखिरी भाग तथा तीसरी पंक्ति पूरी तरह (कुछ मात्राओं को छोड़कर) नष्ट हो गये हैं। तीसरी पंक्ति के बाद कितनी पंक्तियाँ और थीं, यह अज्ञात है। इसे यौधेयों के किसी महाराज महासेनापति ने लिखवाया था जिसके नाम का केवल प्रथम अक्षर ,पु' शेष बचा है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० २५१-२

मूलपाठ

१. सिद्धम् [।। ॐ] यौध [े] य गण पुरस्कृतस्य महाराज महासेनापतेः पु........

२. ब्राह्मण पुरोगां चाधिष्ठनं शरीरादिकुशलं पृष्ट्वा लिखत्यस्ति रस्मा....

३. ....

अनुवाद

सिद्धि हो ! यौधेयगण से सम्मानित महाराज महासेनापति पु······और उस उस अधिष्ठान की जिसमें ब्राह्मण अग्रणी हैं (उनके) स्वास्थ्य आदि की कुशल पूछकर लिखते हैं"···········है············

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख यौधेयों के कुषाणोत्तरयुगीन इतिहास पर कुछ प्रकाश देता है। यौधेय शक-कुषाण युग में बड़े शक्तिशाली थे। एक महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा ने उन्हें परास्त किया था (दे०, जूनागढ़-अभिलेख)। परन्तु उसके वाद वे किसी समय स्वतन्त्र हो गए। लुधियाना से प्राप्त उनकी एक मुहर पर "यौधेयाना" जयमन्त्रधराणाम्" लेख लिखा मिलता है। उनकी शासन व्यवस्था गणतान्त्रिक थी। प्रस्तुत लेख से इसका समर्थन होता है। इसमें कहा गया है कि यौधेय 'गण' ने इसमें उल्लिखित 'महाराज महासेनापति' को संभवतः इन उपाधियों से सम्मानित किया था। लेकिन 'महाराज' उपाधि के प्रयोग से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय मालवों के समान यौधेयों में भी राजतन्त्रात्मक प्रवृत्तियाँ सबल होती जा रही थीं।

महाराज महेश्वरनाग का लाहौर ताम्र मुद्रिका-लेख

मुद्रिका-परिचय—यह मुद्रिका जनरल कनिंघम ने लाहौर (आधुनिक पाकिस्तान) में किसी विक्रेता से प्राप्त की थी। इसका मूल **प्राप्ति स्थल** अज्ञात है। चपटे स्तर से मुद्रिका के छल्ले के निचले सिरे तक इसकी ऊँचाई १ १/४" है। इसके चपटे स्तर पर, जो १/१६" मोटा है तथा १ ६/८" × १ ५/८" आकार का है, ऊपरले भाग में नन्दी और अर्द्धचन्द्र बने हैं, उनके नीचे एक सीधी रेखा है जिसके सिरे ऊपर की ओर मुड़े हैं तथा रेखा के नीचे दो पंक्तियों का लेख है। सबसे नीचे फणधर नाग के आकार की एक रेखा बनी है। इस लेख की **लिपि** चतुर्थ शती ई० की ब्राह्मी है और **भाषा** संस्कृत। इसे फ्लीट ने कॉर्पस, ३, में पृ० २८२-३ पर प्रकाशित किया है।

मूलपाठ

१. **महाराज नागभट्ट**
   पुत्र-महेश्वरनाग

अनुवाद

१. नागभट्ट के पुत्र महाराज महेश्वरनाग (की मुद्रिका)

लेख का महत्त्व

इस लेख से दो नाग राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं। जैसा कि सर्वज्ञात है नागों की विविध शाखाएँ प्राक्-गुप्तयुगीन उत्तर भारत में बड़ी महत्त्वपूर्ण हो उठी थीं। परन्तु उनके अभिलेख अभी तक विरलतः ही मिलते हैं। प्रस्तुत लेख इस कमी को कुछ पूरा करता है। महाराज महेश्वरनाग ने कहाँ शासन किया, अज्ञात है। जायसवाल ने उसके पिता नागभट्ट की पहिचान प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित नागदत्त से की थी।

पश्चिमी भारत : शक क्षत्रपों के अभिलेख

पूर्वपीठिका

नहपान व गौतमीपुत्र शातकर्णि की तिथियाँ

नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णि की तिथियाँ अत्यन्त वाद-विवाद का विषय रही हैं। नहपान की ज्ञात तिथियाँ ४१, ४२, ४५ (नासिक गुहा अभिलेख) व ४६ (जुन्नार-गुहा-लेख) हैं जो या तो उसके शासन काल के वर्ष हैं अथवा किसी संवत् के। उसके सिक्कों पर कोई तिथियाँ नहीं मिलतीं। गौतमीपुत्र शातकर्णि की ज्ञात तिथियाँ उसके शासन के १८ वां व २४ वां वर्ष हैं। पुराणों से ज्ञात होता है कि उसने २८ वर्ष शासन किया व उसके पुत्र पुलमावि ने ३० वर्ष। विभिन्न पुराणों में ये तिथियाँ कुछ ही अन्तर के साथ दी गई हैं।

नहपान व गौतमीपुत्र शातकर्णि की तिथियों पर विचार करते समय सर्वप्रथम यह तथ्य स्मरणीय है कि ये दोनों नरेश समकालीन थे क्योंकि नहपान के अभिलेखों से स्पष्ट है कि वह अपने ४६ वें वर्ष में नासिक-जुन्नार प्रदेश तक का स्वामी था (नासिक-कार्ले से उसके सात लेख मिले हैं और जुन्नार से एक) और अन्य साक्ष्य से प्रमाणित है कि उसी वर्ष अथवा उसके कुछ ही बाद में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने उसका उन्मूलन किया था। एक, जोगलथम्बी (जिला नासिक) से प्राप्त नहपान के रजत सिक्कों की विशाल मुद्रा निधि के करीब दो तिहाई सिक्कों (९२७० के लगभग) को गौतमीपुत्र शातकर्णि ने पुनर्मुद्रित कराया था। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा पुनर्मुद्रित सिक्कों में एक भी ऐसा नहीं है जो नहपान के किसी उत्तराधिकारी का माना जा सके। अतः गौतमीपुत्र ने स्वयं नहपान को ही परास्त किया होगा। दूसरे, पुलुमावि के १९ वें वर्ष के नासिक-गुहालेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'सक यवन पल्हव निसूदन' ही नहीं स्पष्टतः खखरात (क्षहरात) वंश को निरवशेष करने वाला कहा गया है। तीसरे, स्वयं गौतमीपुत्र के १८ वें वर्ष के नासिक-गुहालेख के अनुसार उसने कुछ ऐसी भूमि जिसे 'आज तक' (अर्थात् यह लेख लिखे जाने तक) नहपान का गवर्नर और दामाद उषवदात भोग रहा था, त्रिरश्मि पर्वतवासी भिक्षुओं को दान दी थी। चौथे, भद्रबाहु द्वारा रचित (५८ ई० पू० और १५० ई० के मध्य) 'आवश्यसूत्रनिर्युक्ति' की एक गाथा पर जिनदासगणि की ७ वीं शती ई० में लिखित टीका के अनुसार नहवान (= नहपान) को सालवाहन ने उन्मूलित किया था। रेप्सन के अनुसार यह घटना नहपान की अन्तिम ज्ञात तिथि ४६ में अथवा इसके तत्काल बाद घटी होगी। अतः इस वर्ष को स्थूलतः गौतमीपुत्र के शासन का १८ वां वर्ष माना जा सकता है। रेप्सन का विचार था कि नहपान की तिथियाँ शक संवत् में हैं। इसलिए उन्होंने नहपान की अन्तिम ज्ञात तिथि ७८ + ४६ = १२४ ई० मानी और इसे गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन का १८ वां

वर्ष मानकर गौतमीपुत्र शातकर्णि का राज्यारोहण १२४–१८ = १०६ ई० में रखा और उसकी मृत्यु उसके एक नासिक लेख में उल्लिखित २४ वें वर्ष में अर्थात् १०६ + २४ = १३० ई० में निश्चित की।

रेप्सन के इस मत को मिराशी (जे० आई० एच०, ४३, पृ० ११२ अ०), दि० च० सरकार (ए० इ० यू०, पृ० १८०) रामचौधुरी (पो० हि० ए० इ०, पृ० ४३० अ०) व अन्य अनेक विद्वान् मानते हैं। परन्तु इस मत को मानने में एक बड़ी बाधा है। हम जानते हैं कि चष्टन के पौत्र प्रथम रुद्रदामा ने सातवाहनों को परास्त करके क्षहरात शकों द्वारा खोए हुए अधिकांश प्रान्तों को जीत लिया था। अब, प्रथम रुद्रदामा की पहिली ज्ञात तिथि (शक संवत् का) ५२ वां वर्ष (= १३० ई०) है जो अन्धौ यष्टि-लेख से ज्ञात होता है। इसलिए नहपान की अन्तिम ज्ञात तिथि ४६ को शक संवत् का वर्ष मानने पर हमें ४६ से ५२ में वर्ष के बीच में इन घटनाओं को रखना पड़ता है—(१) नहपान के शासन का अन्त; (२) क्षहरात सत्ता का अन्तिम रूप से अन्त; (३) चष्टन का क्षत्रप रूप में राज्यारोहण, क्षत्रप रूप में शासन, तथा महाक्षत्रप रूप में राज्यारोहण और शासन; (४) चष्टन के पुत्र जयदामा का क्षत्रप रूप में शासन; तथा (५) रुद्रदामा का राज्यारोहण और कुछ समय शासन। मिराशी व सरकार इत्यादि का आग्रह है कि इनमें ज्यादातर घटनाएँ अनुक्रमिक नहीं समकालिक थीं। चष्टन के अन्धौ-लेख से केवल इतना प्रमाणित होता है कि वह १३० ई० में कच्छ पर शासन कर रहा था; यह प्रमाणित नहीं होता कि उसने उस वर्ष तक सातवाहनों को परास्त करके क्षहरातों के अधिकांश प्रदेश उनसे पुनः छीन ही लिए थे। ये सफलताएँ रुद्रदामा ने १३० ई० के बाद और १५० ई० के पूर्व प्राप्त की होंगी। इसी प्रकार चष्टन का शासन कच्छ में क्षत्रप के रूप में १३० ई० के पूर्व भी प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है: उसका ११ वें वर्ष का अन्धौ-लेख मिलने से तो अब यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो गया है। जयदामा का शासन तो चष्टन के शासन के साथ-साथ चला, उसे पृथक् से गिनने की आवश्यकता ही नहीं है। उसने महाक्षत्रप के रूप में शासन किया ही नहीं था। नहपान के शासन का अन्त और क्षहरात वंश की सत्ता का अन्तिम रूप से उन्मूलन भी एक ही बात मानी जा सकती है। आवश्यक नहीं है इन दोनों घटनाओं को पृथक् और उनके मध्य कुछ अन्तराल माना ही जाए।

सरकार, मिराशी व रामचौधुरी के इन तर्कों में बहुत सार है। परन्तु इसके बावजूद इतना मानना ही पड़ेगा कि इस मत के स्वीकार से नहपान की अन्तिम तिथि ४६ (= १२४ ई० जब वह एक विशाल राज्य पर शासन कर रहा था) एवं १३० ई० में (जब तक क्षहरातों का नामोनिशान मिट चुका था) बहुत कम समय मिलता है। इसके अलावा इस मत के विरुद्ध और भी अनेक आपत्तियाँ हैं। एलन का कहना है कि नहपान को दूसरी शती ई० के प्रारम्भ में इसलिए नहीं रखा जा सकता क्योंकि उसके सिक्कों पर राजा की आवक्ष प्रतिमा राजुवूल के (जिसने नहपान के पूर्व शासन किया) सिक्कों की आवक्ष प्रतिमा से मिलती-जुलती है।

दूसरे, अल्तेकर (पी० आई० एच० सी०, १३, पृ० ३५ अ०) ने ध्यान दिलाया है कि 'पेरिप्लस' में, जिसकी रचना प्रथम शती ई० उत्तरार्द्ध में हुई, एरियक (=अपरान्त ?) के नरेश 'नेम्बनस' का, जिसकी राजधानी मिननगर थी, उल्लेख मिलता है। इस राजा को नहपान से प्रायः अभिन्न माना जाता है। यह उल्लेख तभी संभव हो सकता था जब नहपान ने प्रथम शती ई० में शासन किया हो। तीसरे, पुलमावि के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि की विजयों का जिस प्रकार उल्लेख है उससे यह नहीं लगता कि गौतमीपुत्र द्वारा जीते गए प्रदेश उस समय पुलुमावि के अधिकार में नहीं थे। अब, गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु अगर १३० ई० में हुई तो पुलुमावि के नासिक-लेख की तिथि होगी १३० + १९ = १४९ ई०। परन्तु उस समय, जैसा कि १५० ई० के जूनागढ-लेख से स्पष्ट है, रुद्रदामा ने गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा क्षहरातों से जीते गए बहुत से प्रदेशों को फिर से जीत लिया था। इसलिए पुलुमावि का यह अभिलेख रेप्सन के मत के विरुद्ध जाता है। चौथे, टॉलेमी के अनुसार १४० ई० में टिएस्टेनिज़ (= चष्टन) उज्जैन पर शासन कर रहा था और पुलुमावि पैथान = प्रतिष्ठान पर, जब कि रेप्सन के मत का मतलब है कि पुलमावि १४९ ई० में आकरावन्ति का (जिसमें उज्जैन नगर स्थित था) स्वामी था।

इन कठिनाइयों के कारण बहुत से विद्वान् रेप्सन के मत को नहीं मानते। कनिंघम व नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है कि नहपान की तिथियाँ विक्रम संवत् की हैं। परन्तु यह असंभव है क्योंकि नहपान के समकालीन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि को प्रथम शती ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। दूसरे, नहपान सुवर्ण मुद्राओं से परिचित है जबकि भारत में सुवर्ण मुद्राएं चलाने वाला पहिला राजा विम कडफिसिज़ था जिसे प्रथम शती ई० के उत्तरार्द्ध के पूर्व रखा ही नहीं जा सकता। कुछ विद्वानों ने नहपान के सिक्कों पर बनी आवक्ष मूर्त्तियों (पोर्ट्रेट्स) का अध्ययन करके दो नहपान मानने का सुझाव रखा है। परन्तु ज्यादातर मुद्राशास्त्री यह मानते हैं कि वे मूर्त्तियाँ 'पोर्ट्रेट्स' हैं ही नहीं। अतः इनसे नहपान के शासन की दीर्घता अथवा एक के स्थान पर दो नहपानों का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता (दे०, रेप्सन, बी० एम० सी०, ए० डब्ल्यू० के०, भू०, पृ० ११०)। हमें सबसे सही सुझाव गोपालाचारी (को० हि० इ०, २, पृ०) अल्तेकर व बनर्जी (जे० आर० ए० एस०, १९१७, पृ० २७३ अ०; १९२५, पृ० १–१९) का लगता है। उनके अनुसार नहपान के अभिलेखों में प्रदत्त तिथियाँ उसके शासन काल का वर्ष हैं। अल्तेकर ने उसका शासन लगभग ५५ ई० से १०५ ई० तक रखा है और गोपालाचारी ने ४४ से ९० ई० के मध्य। हमारा विचार है कि नहपान के शासनकाल को स्थूलतः ६० से ११० ई० के मध्य रखना उचित होगा, उसको उन्मूलित करने वाले गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन को (जिसने कम से कम २४ वर्ष राज्य किया) ९० ई० से ११५ ई० के बीच में, तथा गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी पुलुमावि के शासन को (जिसने कार्ले-लेख के अनुसार कम से कम २६ वर्ष और पुराणों के अनुसार २८ वर्ष राज्य किया) ११५ से १४५ ई० के मध्य। इस तिथिक्रम को मानने से सब तथ्य परस्पर संगत हो जाते

हैं। इस मत के स्वीकार से 'पेरिप्लस' (प्रथम शती ई०) द्वारा नहपान का उल्लेख, जूनागढ़-लेख के अनुसार प्रथम रुद्रदामा का शातकर्णि को (जो हमारे मतानुसार पुलुमावि का उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि होगा) दो बार हराना परंतु निकट सम्बन्धी होने के कारण उन्मूलित न करना, नहपान का सुवर्ण मुद्राओं से परिचय—इन सब तथ्यों की मीमांसा हो जाती है। इस मत को मानने से पुलुमावि के १९ वें वर्ष के नासिक-अभिलेख की तिथि ११५ + १९ = १३४ ई० पड़ेगी। उस समय तक वह अपने पिता गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा जीते गए सब प्रदेशों का स्वामी रहा होगा। लेकिन इसके साथ ही अब यह मान लेना भी सम्भव होगा कि प्रथम रुद्रदामा ने १५० ई० तक इनमें बहुतों को पुनः जीत लिया होगा। इनमें आकरा-वन्ति पर, जिसमें उज्जैन नगर स्थित था, चष्टन और रुद्रदामा का अधिकार १४० ई० के पहिले हो गया होगा, इसलिए टॉलेमी ने १४० ई० में चष्टन को उज्जैन का स्वामी लिखा और पुलुमावि को पैथान का। यह ध्यान दिलाना असंगत न होगा कि जैन परम्परानुसार नहपान ने ४० अथवा ४२ वर्ष शासन किया था। यह अनुश्रुति भी हमारे सुझाव से पूर्णतः संगत है।

नहपान का नासिक गुहालेख

वर्ष ४१, ४२ एवं ४५

प्राप्ति-स्थल : नासिक की गुहा सं० १० में दक्षमित्रा के लेख के नीच
भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत
लिपि : ब्राह्मी
तिथि : वर्ष ४१, ४२ एवं ४५
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : इन्द्रजी एवं ब्युलर, ए० एस० डब्लू० आई०, ४, पृ० १०२ अ० ; सेनार्ट, इ० आई०, ८, पृ० ८२ अ०, सं० १२ ; सरकार, स० इ० ' ० १६४-६

मुलपाठ

१. सिधं [॥ *] वसे ४० (+ *) २ वेसाख-मासे राओ क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस जामातरा दीनीक-पुत्रेन उषवदातेन संघस चातुदिसस इमं लेणं नियतितं (। *) दत चानेन अक्षय निवि काहापण-सहस्रा-
२. नि त्रीणि ३००० संघस चातुदिसस ये इयस्मि लेणे वसांतान [ं] भवि-संति चिवरिक कुशाणमूले च (। *) एते च काहापणा प्रयुता गोवधनं वाथवासु श्रेणिसु (। *) कोलीक निकाये २००० वृधि पडिक-शत अपर-कोलीक-निका-
३. ये १००० वधि पा [यू] न [प] डिक शत (। *) एते च काहापणा [अ] पडिदातवा वधि-भोजा (। *) एतो चिवरिक-सहस्रानि वे २००० ये पडिके सते (। *) एतो मम लेणे वसवुथान भिखुनं वीस [ा] य एकी-कस चिवरिक वारसक (। *) य सहस्र प्रयुतं पायुन पडिके शते अतो कुशन-
४. मूल (। *) कापूराहारे च गामे चिखलपद्रे दतानि नाळिगेरान मुल-सहस्राणि अठ ८००० (। *) एत च सर्वं स्रावित [नि] गम-सभाय निबध च फलकवारे चरित्रतो ति (। *) भूयोनेन दतं वसे ४० (+ *) १ कातिक-शुधे पनरस पुवाक वसे ४० (+ *) ५
५. पनरस नियुतं भगवता [ं] देवानं ब्राह्मणानं च कार्षापण-सहस्रानि सतरि ७००० प [ं] चत्रि [ं] शक सुवण कृता दिन सुवर्ण-सहस्रण मूल्य [ं] (॥ *)
६. फलकवारे चरित्रतो ति (।। *)

हैं। इस मत के स्वीकार से 'पेरिप्लस' (प्रथम शती ई०) द्वारा नहपान का उल्लेख, जूनागढ़-लेख के अनुसार प्रथम रुद्रदामा का शातकर्णि को (जो हमारे मतानुसार पुलुमावि का उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि होगा) दो बार हराना परंतु निकट सम्बन्धी होने के कारण उन्मूलित न करना, नहपान का सुवर्ण मुद्राओं से परिचय—इन सब तथ्यों की मीमांसा हो जाती है। इस मत को मानने से पुलुमावि के १९ वें वर्ष के नासिक-अभिलेख की तिथि ११५ + १९ = १३४ ई० पड़ेगी। उस समय तक वह अपने पिता गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा जीते गए सब प्रदेशों का स्वामी रहा होगा। लेकिन इसके साथ ही अब यह मान लेना भी सम्भव होगा कि प्रथम रुद्रदामा ने १५० ई० तक इनमें बहुतों को पुनः जीत लिया होगा। इनमें आकरावन्ति पर, जिसमें उज्जैन नगर स्थित था, चष्टन और रुद्रदामा का अधिकार १४० ई० के पहिले हो गया होगा, इसलिए टॉलेमी ने १४० ई० में चष्टन को उज्जैन का स्वामी लिखा और पुलुमावि को पैथान का। यह ध्यान दिलाना असंगत न होगा कि जैन परम्परानुसार नहपान ने ४० अथवा ४२ वर्ष शासन किया था। यह अनुश्रुति भी हमारे सुझाव से पूर्णतः संगत है।

इबा-पारदा-दमण-तापी-करबेणा-दाहनुका-नावा-पुण्य-तर-करेण एतासां च नदीनां उभतो तीरं सभा-

३. प्रपाकरेण पींडीतकावडे गोवर्धने सुवर्णमुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे चरक पर्षभ्यः ग्रामे नानंगोले द्वात्रीशत-नाळीगेर-मूल-सहस्र-प्रदेन गोवर्धने त्रीरश्मिषु पर्वतेषु धर्मात्मना इदं लेणं कारितं इमा च पोढियो [॥*] भटारका अज्ञातिया च गतोऽस्मि वर्षा रतुं मालये [हि] * * हि रुधं उतमभाद्रं मोचयितुं [।*]

४. ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता [।*] ततोऽस्मि गतो पोक्षरानि [।*] तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च [॥*] दत च [।] नेन क्षेत्र [ं] ब्राह्मणस वाराहि-पुत्रस अश्विभूतिस हथे कीणिता मुलेन काहापण-सहस्रेहि चतुहि ४००० यो स-पितु-सतक नगरसीमायं उतरापरा [यं] दीसायं [।*] एतो मम लेने वस

५. तानं चातुदीसस भिखु-सघस मुखाहारो भविसती [॥]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'सीद्धम' को 'सिद्धम्' पढ़ा है। 'सीद्धम' के वाद स्वास्तिक चिह्न वना है। तीसरी पंक्ति में सेना ने 'त्रीरश्मिषु' को 'त्रिरश्मिषु' पढ़ा है, 'अज्ञतिया' को 'अंज्ञतिया' तथा चौथी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'भविसती' को 'भविसति'। पाँचवीं पंक्ति चौथी पंक्ति के 'यो स-पितु' शब्दों के नीचे से खोदी जानी शुरू की गई थी।

नहपान के काल का तिथिविहीन नासिक गुहा-लेख

लेख-परिचय—नासिक की गुहा सं० १० से क्षहरात नरेश नहपान के शासन काल के कई अभिलेख मिले हैं। इनमें एक लेख में ४१, ४२ तथा ४५ तिथियों का उल्लेख है (दे० पीछे)। एक अन्य लेख केवल दो पंक्तियों का है। प्रस्तुत अभिलेख भी इसी गुहा से मिला है। यह **तिथिविहिन** है परन्तु बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्णतः गद्य में है। इसका उद्देश्य नहपान के दामाद उषवदात द्वारा एक गुहा और कुछ जलकुण्डों के निर्माण कराए जाने और उस गुहा में निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था करने के लिए एक खेत खरीद कर दान दिए जाने का उल्लेख करना है। इसकी **भाषा** संस्कृत है परन्तु उस पर प्राकृत का गम्भीर प्रभाव है। **लिपि** द्वितीय शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी है। तीसरी पंक्ति में 'पोढियो' शब्द से बाद के अक्षर पूर्वगामी अक्षरों से करीब आधे आकार के हैं। चौथी पंक्ति में 'दत' शब्द से तो अक्षरों का आकार वहुत ही छोटा हो गया है। लेख गुफा के बरामदे की पिछली दीवार पर छत के नीचे खुदा है। इसका सम्पादन अब तक हॉर्नले, भाण्डारकर और सेना आदि कई विद्वान् कर चुके हैं। सरकार का विचार है कि मूलतः यह दीर्घतर एवं कपड़े अथवा ताम्रपत्र पर लिखा हुआ रहा होगा। गुहा की दीवार पर उत्कीर्ण करते समय उसके उत्तरार्द्ध को संक्षिप्त कर दिया गया है। उस स्थल की भाषा कुछ भिन्न है, दाता का प्रथम व अन्य पुरुष, दोनों में वर्णन है व लिपि में अन्तर है। हो सकता है इसे कई मूल दानपत्रों की सहायता से तैयार किया गया हो।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—भाण्डारकर, आर० जी०, ट्राञ्जे० कांग्रेस ऑव ओरियण्टलिस्ट्स, २, १८७४, पृ० ३२६ अ०; आई० ए०, १२, पृ० १३९ अ०; इन्द्रजी व ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ४, पृ० ९९ अ०; इन्द्रजी, बाम्बे गजेटियर, १६, पृ० ५६९ अ०; हार्नले, आई० ए०, १२, पृ० २७ अ०; सेना, इ० आई०, ८, पृ० ७८ अ०; लूडर्स, सूची, स० ११३१; सरकार, स० इ०, पृ० १६७ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५८ अ०; दे०, ए० इ० यू० तथा को० हि० इ०, २, के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. **सीद्धम [॥*] राज्ञः क्षहरातस्य क्षत्रपस्य नहपानस्य जामात्रा दीनीक पुत्रेण उषवदातेन त्रि-गोशत-सहस्रदेन नद्या बार्णासायां सुवर्णदानतीर्थकरेण देवत [ा॰] भ्यः ब्राह्मणेभ्यश्च षोडश ग्रामदेन अनुवर्षं ।**
भोजापयित्रा

२. **प्रभासे पुण्यतीर्थे**
शोर्पारगे च

इबा-पारदा-दमण-तापी-करबेणा-दाहनुका-नावा-पुण्य-तर-करेण एतासां च नदीनां उभतो तीरं सभा-

३. प्रपाकरेण पींडीतकावडे गोवर्धने सुवर्णमुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे चरक पर्षभ्यः ग्रामे नानंगोले द्वात्रीशत-नाळीगेर-मूल-सहस्र-प्रदेन गोवर्धने त्रीरश्मिषु पर्वतेषु धर्मात्मना इदं लेणं कारितं इमा च पोढियो [॥*] भटारका अञातिया च गतोस्मि वर्षा रतुं मालये [हि] * * हि रुधं उतमभाद्रं मोचयितुं [।*]

४. ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता [।*] ततोस्मि गतो पोक्षरानि [।*] तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च [॥*] दत च [ा] नेन क्षेत्र [ं] ब्राह्मणस वाराहि-पुत्रस अश्विभूतिस हथे कीणिता मुलेन काहापण-सहस्रेहि चतुहि ४००० यो स-पितु-सतक नगरसीमायं उतरापरा [यं] दीसायं [।*] एतो मम लेने वस

५. तानं चातुदीसस भिखु-सघस मुखाहारो भविसती [॥]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'सीद्धम' को 'सिद्धम्' पढ़ा है। 'सीद्धम' के बाद स्वास्तिक चिह्न बना है। तीसरी पंक्ति में सेना ने 'त्रीरश्मिषु' को 'त्रिरश्मिषु' पढ़ा है, 'अञतिया' को 'अंञतिया' तथा चौथी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'भविसती' को 'भविसति'। पाँचवीं पंक्ति चौथी पंक्ति के 'यो स-पितु' शब्दों के नीचे से खोदी जानी शुरू की गई थी।

नहपान के काल का तिथिविहीन नासिक गुहा-लेख

लेख-परिचय—नासिक की गुहा सं० १० से क्षहरात नरेश नहपान के शासन काल के कई अभिलेख मिले हैं। इनमें एक लेख में ४१, ४२ तथा ४५ तिथियों का उल्लेख है (दे० पीछे)। एक अन्य लेख केवल दो पंक्तियों का है। प्रस्तुत अभिलेख भी इसी गुहा से मिला है। यह **तिथिविहिन** है परन्तु बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्णतः गद्य में है। इसका उद्देश्य नहपान के दामाद उषवदात द्वारा एक गुहा और कुछ जलकुण्डों के निर्माण कराए जाने और उस गुहा में निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था करने के लिए एक खेत खरीद कर दान दिए जाने का उल्लेख करना है। इसकी **भाषा** संस्कृत है परन्तु उस पर प्राकृत का गम्भीर प्रभाव है। **लिपि** द्वितीय शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी है। तीसरी पंक्ति में 'पोढियो' शब्द से बाद के अक्षर पूर्वगामी अक्षरों से करीब आधे आकार के हैं। चौथी पंक्ति में 'दत' शब्द से तो अक्षरों का आकार वहुत ही छोटा हो गया है। लेख गुफा के बरामदे की पिछली दीवार पर छत के नीचे खुदा है। इसका सम्पादन अब तक हॉर्नले, भाण्डारकर और सेना आदि कई विद्वान् कर चुके हैं। सरकार का विचार है कि मूलतः यह दीर्घ-तर एवं कपड़े अथवा ताम्रपत्र पर लिखा हुआ रहा होगा। गुहा की दीवार पर उत्कीर्ण करते समय उसके उत्तरार्द्ध को संक्षिप्त कर दिया गया है। उस स्थल की भाषा कुछ भिन्न है, दाता का प्रथम व अन्य पुरुष, दोनों में वर्णन है व लिपि में अन्तर है। हो सकता है इसे कई मूल दानपत्रों की सहायता से तैयार किया गया हो।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—भाण्डारकर, आर० जी०, ट्राञ्ज़े० कांग्रेस ऑव ओरियण्टलिस्ट्स, २, १८७४, पृ० ३२६ अ०; आई० ए०, १२, पृ० १३९ अ०; इन्द्रजी व ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ४, पृ० ९९ अ०; इन्द्रजी, बाम्बे गजेटियर, १६, पृ० ५६९ अ०; हार्नले, आई० ए०, १२, पृ० २७ अ०; सेना, इ० आई०, ८, पृ० ७८ अ०; लूडर्स, सूची, स० ११३१; सरकार, स० इ०, पृ० १६७ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५८ अ०; दे०, ए० इ० यू० तथा को० हि० इ०, २, के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. सीद्धम [॥*] राज्ञः क्षहरातस्य क्षत्रपस्य नहपानस्य जामात्रा दीनीक पुत्रेण उषवदातेन त्रि-गोशत-सहस्रदेन नद्या बार्णासायां सुवर्णदानतीर्थकरेण देवत [ा:] भ्यः ब्राह्मणेभ्यश्च षोडश ग्रामदेन अनुवर्षं ब्राह्मणशतसाहस्री-भोजापयित्रा

२. प्रभासे पुण्यतीर्थे ब्राह्मणेभ्यः अष्टभार्याप्रदेन भरुकछे दशपुरे गोवर्धने शोर्पारगे च चतुशालावसध-प्रतिश्रय-प्रदेन आराम-तडाग-उदपान करेण

इबा-पारदा-दमण-तापी-करबेणा-दाहनुका-नावा-पुण्य-तर-करेण एतासां च नदीनां उभतो तीरं सभा-

३. प्रपाकरेण पींडीतकावडे गोवर्धने सुवर्णमुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे चरक पर्षभ्यः ग्रामे नानंगोले द्वात्रीशत-नाळीगेर-मूल-सहस्र-प्रदेन गोवर्धने त्रीरश्मिषु पर्वतेषु धर्मात्मना इदं लेणं कारितं इमा च पोढियो [॥*] भटारका अञातिया च गतोस्मि वर्षा रतुं मालये [हि] * * हि रुधं उतमभाद्रं मोचयितुं [।*]

४. ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता [।*] ततोस्मि गतो पोक्षरानि [।*] तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च [॥*] दत च [ा] नेन क्षेत्र [ं] ब्राह्मणस वाराहि-पुत्रस अश्विभूतिस हथे कीणिता मुलेन काहापण-सहस्रेहि चतुहि ४००० यो स-पितु-सतक नगरसीमायं उतरापरा [यं] दीसायं [।*] एतो मम लेने वस

५. तानं चातुदीसस भिखु-सघस मुखाहारो भविसती [॥]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'सीद्धम' को 'सिद्धम्' पढ़ा है। 'सीद्धम' के बाद स्वास्तिक चिह्न बना है। तीसरी पंक्ति में सेना ने 'त्रीरश्मिषु' को 'त्रिरश्मिषु' पढ़ा है, 'अञतिया' को 'अंञतिया' तथा चौथी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'भविसती' को 'भविसति'। पाँचवीं पंक्ति चौथी पंक्ति के 'यो स-पितु' शब्दों के नीचे से खोदी जानी शुरू की गई थी।

शब्दार्थ

तीर्थ = सीढ़ियाँ; **अनुवर्ष** = पूरे वर्ष; **चतु शालावसध प्रतिश्रय** = चतुःशाला वसथ प्रतिश्रय, (**चतुश्शाला** = चार भवनों से घिरा चौकोर स्थान, **वसथ** = घर) चतुश्शालागृह और विश्रामागार; **उदपान** = कुएँ; **नावपुण्यतरकरेण** = नावों द्वारा पवित्र तरण कर्म करने वाला अर्थात् विना शुल्क के नावों से पार करने की व्यवस्था करने वाला; **उभतो तीरं** = उभयतः तीरे, दोनों किनारों पर; **सभा**=मिलने का स्थान, विश्रामागार; **प्रपा** = प्याऊ, जलसत्र; **पर्षभ्यः** = पर्षद्भ्यः, सम्प्रदाय वालों के लिए; **द्वात्रीशत** = वत्तीस; **नाळीगेरमूल** = नारिकेल की जड़ें; **लेणं** = गुहा; **पोढियो** = जलकुण्ड; **भटारका अनातिया** = भट्टारकाज्ञप्त्या, भट्टारक के आदेश से; **वर्षा रतुं**=वर्षा ऋतु में; **मालयेहि** = मालवैः, मालवों के द्वारा; **रुधं** = रुद्धम् बन्दी; **उतमभाद्रं** = औत्तमभाद्रं, उत्तमभद्रों के अधिपति; **मोचयितुं** = छुड़ाने के लिए; **प्रनादेन** = प्रणादेन, हुंकार से; **अपयाता**=पलायिताः, भाग गए; **क्षत्रियानं**=क्षत्रियाणां, योद्धा; **परिग्रहा**=बन्दी; **पोक्षरानि**=पुष्करान्, पुष्कर तीर्थ को; **अभिसेको** = अभिषेकः, स्नान; **दत चानेन** = और इसके द्वारा दिया गया; **हथे**=हस्तेन, हाथ से; **कोणिता** = क्रीत्वा, खरीदकर; **मुलेन**= मूल्य से; **यो** = यत्, जो; **स पितु सतक**=स्वपितृस्वत्वकं, अपने पिता के अधिकार वाला; **उतरापरायं** = उत्तरापशयां, पश्चिमोत्तर दिशा में; **मुखाहारां** = मुख्याहार, मुख्य भोजन के लिए; **भविसती** = भविष्यति, होगा ।

अनुवाद

(इस लेख में प्रथम पंक्ति में उषवदात का उल्लेख करने के बाद उसकी सफलताओं और कार्यों का तृतीया एकवचन में वर्णन है) ।

सिद्धं ॥ क्षहरात क्षत्रप राजा नहपान के दामाद और दीनीक के पुत्र उषवदात के द्वारा—जिसने तीन हजार गाएँ (दान) दी हैं, जिसने बार्णासा नदी पर सुवर्ण और सोपानों (अर्थात् धन तथा नदी के घाटों की सीढ़ियों) का दान दिया है, जिसने देवताओं और ब्राह्मणों के लिए सोलह ग्राम (दान) दिए हैं, जो हर वर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला है, जिसने पुण्यतीर्थ प्रभास में ब्राह्मणों को आठ भार्याएँ प्रदान की हैं, जिसने भृगुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन और शूर्पारक को चतुश्शाला-गृह और विश्रामागार प्रदान किए हैं (अर्थात् वहाँ ये भवन वनवाये हैं), जो उपवन सरोवर व कुएँ वनवाने वाला है, जिसने इबा, पारादा, दमन, तापी, करवेण्वा तथा दाहनुका नदियों को नावों से निःशुल्क पार करने की व्यवस्था की है और इन नदियों के दोनों तटों पर विश्रामागार व प्याउएँ (जलसत्र) वनवाईं हैं, जिसने पिण्डितकावट, गोवर्धन, सुवर्णमुख, शूर्पारक एवं रामतीर्थ में स्थित चरक सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए नानंगोल गाँव में वत्तीस हजार नारिकेल मूल प्रदान की हैं—

(उस) धर्मात्मा (उषवदात) द्वारा (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है; प्रथम पंक्ति के 'दीनीकपुत्रेण' से सम्बन्ध) गोवर्धन प्रदेश में त्रिरश्मि पर्वत पर यह गुफा वनवाई गई और ये जलकुण्ड (वनवाए गए) । और भट्टारक की आज्ञा से मैं

(अर्थात् उषवदात) वर्षा ऋतु में उत्तमभद्रों के मालयों द्वारा वन्दी वना लिए अधिपति को छुड़ाने के लिए गया। और वे मालय (मेरी) हुंकार से ही भाग गए और सबके सब (अर्थात् समस्त मालय) उत्तमभद्र योद्धाओं द्वारा वन्दी वना लिए गए। तव मैं पुष्कर तीर्थ गया। वहाँ मेरे द्वारा स्नान किया गया, तीन हजार गाएँ (दान) दी गई और ग्राम भी। (वहाँ) इसके द्वारा (अर्थात् उषवदात द्वारा) वाराहीपुत्र अश्वभूति (नामक) ब्राह्मण के हाथ से चार हजार ४००० कार्षापण मूल्य से खेत खरीद कर दिया गया जो उसके अपने पिता का (अर्थात् अश्वभूति के पिता का) स्वत्व है (और) नगर की सीमा पर पश्चिमोत्तर दिशा में (स्थित है)। इससे मेरी (अर्थात् उषवदात) की गुफा में रहने वाले चारों दिशाओं के भिक्षु संघ का मुख्य भोजन होगा (अर्थात् उनकी आय से सब भिक्षुओं को विना किसी भेदभाव के भोजन दिया जाएगा)।

व्याख्या

(१) **राजा क्षहरात क्षत्रप**—ध्यातव्य है कि नहपान को इस लेख में 'राजा' के साथ केवल 'क्षत्रप' उपाधि दी गई है। उसके ४५वें वर्ष तक के अभिलेखों में भी केवल 'क्षत्रप' उपाधि मिलती है। 'महाक्षत्रप' उपाधि सर्वप्रथम ४६ वें वर्ष के (जो उसका अन्तिम ज्ञात वर्ष है) जुन्नार गुहा-लेख में मिली है। उसके सिक्कों पर केवल 'राजा' उपाधि लिखी है, 'क्षत्रप' और 'महाक्षत्रप' उपाधियाँ अप्रयुक्त हैं। उसके अधिकतर लेखों में केवल 'क्षत्रप' उपाधि का प्रयोग उसके कुषाणों के अधीन होने का संकेत है। उसके ४१, ४२ और ४५वें वर्ष के नासिक-अभिलेख में उल्लिखित सुवर्ण मुद्राएँ कुषाण मुद्राएँ होनी चाहियें। उसी लेख में आये 'कुशण मूल' शब्द का सम्बन्ध भी भाण्डारकर ने कुषाणों से माना था और 'कुशाण' को कुषाणों के नाम पर नहपान द्वारा चलाए गये चाँदी के सिक्के बताया था। परन्तु सरकार ने 'कुशण मूल' को 'कृशान्न' (गौण अन्न) अर्थ में लिया है। (दे०, स० इ०, पृ० १६६, टि० ३)।

(२) **त्रिगोशतसहस्रदेन**—तु० प्रयाग-प्रशस्ति (पंक्ति २५) में समुद्रगुप्त का 'अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः' रूप में वर्णन।

(३) **बार्णासा** = बनास, जो चम्बल की एक सहायक नदी है। **प्रभास** दक्षिणी काठियावाड़ में है। **भरुकच्छ** = भृगुकच्छ = भड़ौंच। **दशपुर** = मंदसौर (पश्चिमी मालवा)। **गोवर्धन** आधुनिक नासिक के समीप था। यह एक शहर का भी नाम था और उसके निकटवर्ती प्रदेश का भी। **शोपरिक** = शूर्पारक = थाना जिले का सोपारा स्थल। **इबा** नदी अज्ञात है। **पारदा** = सूरत जिले की पार नामक नदी। **दमण** = दमनगंगा, जो दमन स्थल के पास बहती है। **तापी** = ताप्ती। **करबेणा** नदी की पहिचान अनिश्चित है। **दाहनुका** = भूतपूर्व पुर्तगाली कस्बे दहनु के पास वहने वाली कोई धारा होगी। **पींडीतकावड** तथा **सुवर्णमुख** तीर्थों की स्थिति अज्ञात है। **रामतीर्थ** नाम के कई तीर्थ थे। एक रामतीर्थ महेन्द्र पर्वत पर था और एक गोमती के तट पर। प्रस्तुत अभिलेख का रामतीर्थ 'महाभारत' में उल्लिखित

शूर्पारक के समीप स्थित रामतीर्थ होना चाहिए जिसका सम्बन्ध परशुराम से बताया गया है (स० इ०, पृ० १६८, टि० ३)। **नानंगोल** को थाना जिले में संजन के निकट स्थित नारगोल से अभिन्न माना जाता है।

(४) टिप्पणी तीन में उल्लिखित सब तीर्थादि नहपान के राज्य में स्थित प्रतीत होते हैं। इससे उसके राज्य की सीमाओं का अन्दाज हो सकता है।

(५) **चरक पर्षभ्य**—उपनिषदों व ब्राह्मणों में 'चरक' शब्द का प्रयोग परिव्राजक ब्रह्मचारियों के लिए हुआ है। खास तौर पर इसका प्रयोग कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा विशेष के सदस्यों के लिए होता था जिनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था (दे०, स० इ०, पृ० १७०, टि० २)। सेना का अनुमान है यहाँ बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित चरक परिव्राजकों से तात्पर्य है।

(६) उषवदात्त ने जो-जो दान दिए, उनकी महिमा पुराणों में प्रायः वर्णित मिलती है (दे०, पद्मपुराण, ब्रह्मखंड, अध्याय २४)।

(७) **द्वात्रीशत नाळीगेरमूलसहस्रप्रदेन**—इस वाक्यांश का अर्थ अस्पष्ट है। सामान्यतः इसका अर्थ 'एक सहस्र मुद्राएँ जो बत्तीस नारिकेल वृक्षों के मूल्य के बराबर हैं' किया जाता है। इन्द्रजी व सेना ने इसका ऊपर दिया अर्थ माना है। सरकार ने इसके दोनों अर्थ को सम्भव बताए हैं (स०इ० पृ० १७०)।

(८) **धर्मात्मना**—सेना ने इसका अर्थ 'सद्धर्म से प्रेरित' किया है। उनके अनुसार यह सम्भव है कि उषवदात ने तभी बौद्ध धर्म स्वीकार किया हो।

(९) **उत्तमभद्र**—इस नाम का प्रयोग बहुवचन में हुआ है, इससे लगता है कि यह किसी जाति का नाम है। दशरथ शर्मा का मत है कि उत्तमभद्र साल्वों की एक शाखा थे (जे० ओ० आई०, १०, पृ० १८२)। 'उत्तमभद्र' की पहिचान मथुरा की मुद्राओं से ज्ञात उत्तमदत्त के साथ करने वाले अस्वीकार्य सुझाव के लिए दे०, जे० एन० एस० आई० ७, पृ० २६–७।

(१०) **मालय**—नाम से तो यह जाति दक्षिण भारत के मलय पर्वत से सम्बन्धित लगती है, परन्तु स्पष्टतः यहां यह राजस्थान की एक जाति का नाम है। इन्द्रजी ने इसकी पहिचान मालवों से की थी। उनका सुझाव अब सभी लोग मानते हैं। मालवों के सिक्के भूतपूर्व जयपुर राज्य वाले प्रदेश में, विशेषतः मालवनगर प्रदेश में खूब मिलते हैं। दे०, मालवों का नान्दसा-लेख।

(११) **प्रनादेनेव**—हुंकार मात्र से शत्रुओं को भगा देने की कल्पना प्राचीन साहित्य में प्रायः मिलती है। यथा :

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ३.१

(१२) **पुष्कर**—पुष्कर राजस्थान का पवित्र तीर्थ था। 'विष्णुसंहिता' (८५.२) में कहा गया है : पुष्करे स्नानमात्रतः सर्वपापेभ्यः पूतो भवति।

(१३) **भट्टारक**—यहाँ भट्टारक से आशय नहपान से है अथवा कुषाण सम्राट् से, कहना कठिन है।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख क्षहरात वंशीय शकों के इतिहास के लिए ही नहीं तत्कालीन पश्चिमी भारत व पश्चिमी दक्षिणापथ के इतिहास के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। एक, इससे नहपानकालीन क्षहरात राज्य की सीमा का संकेत मिलता है। अगर वे सब तीर्थ जिनमें उषवदात ने दान दिया था नहपान के अधिकार में रहे होंगे तो नहपान का राज्य उत्तर में पुष्कर से दक्षिण में गोवर्धन तक विस्तृत रहा होगा। दूसरे, इस लेख से ज्ञात होता है कि नहपान के शासनकाल में भी शकों का पर्याप्त भारतीय-करण हो चुका था और वे हिन्दू राजाओं के समान गौ, ब्राह्मणों और तीर्थों में श्रद्धा रखने लगे थे। तीसरे, इस लेख से तत्कालीन राजस्थान की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उत्तमभद्र नामक जाति शकों (और उनके स्वामी 'भट्टारक') की मित्र थी और मालव उसके शत्रु थे। इस प्रकार इस लेख से मालवों की स्वतन्त्रताप्रियता का, जो अन्य साक्ष्य से भी ज्ञात है, अतिरिक्त प्रमाण मिलता है।

नहपानकालीन नासिक गुहा-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख नासिक की गुहा संख्या १० में मिला है। यह गुहा के बरामदे में बाँई कोठरी के द्वार के ऊपर लिखा है। यह केवल दो पंक्तियों का लेख है। इसमें कोई तिथि नहीं दी गई है। उसकी भाषा संस्कृत से प्रभावित प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्लू० आई०, ४, पृ० १०३ ; सेना, ई० आई०, ८ ; पृ० ८१ अ० ; सरकार, स० इ०, पृ० १७०–१।

मूलपाठ

१. सीधं (॥) रांञो क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस दीहि—

२. तु दीनीक पुत्रस उषवदातस कुडुंबिनिय दखमित्राय देयधम औवरको ॥

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने 'सधि' को 'सिधं' पढ़ा है, 'रांञो' को 'रञो' तथा 'दखमित्राय' को 'दखमिताय'। सेना 'देयधम' को 'देयधमं' पढ़ते हैं।

शब्दार्थ

दीहितु=दुहिता का ; **कुडुंबिनिय**=पत्नी का ; **देयधम**=धर्म वृद्धि के लिए दान दी गई कोई भी वस्तु ; **ओवरको**=अपवरक, गुहावास, कोठरी ।

अनुवाद

सिद्धं ॥ (यह) कोठरी क्षहरातवंशीय क्षत्रप राजा नहपान की पुत्री और दीनीक के पुत्र उषवदात की भार्या दखमित्रा (= दक्षमित्रा) का धर्मदान है ।

व्याख्या

ठीक ऐसा ही लेख इस गुफा के बरामदे की दाहिनी कोठरी पर भी लिखा है ।

नहपानकालीन कार्ले गुहा-लेख

लेख-परिचय—पाँच पंक्तियों का यह लेख पूना जिले में स्थित कार्ले की चैत्य गुहा के मध्यवर्ती द्वार के ऊपर दाहिनी ओर खुदा है। इसमें कोई तिथि नहीं दी गई है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी। इसके अक्षर बहुत खराब हो गए हैं। इसे किसी ताम्रपत्र अथवा कपड़े पर लिखित लेख से नकल किया गया होगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—बर्गेस व ब्युलर, ए० एस० डब्लू० आई०, ४, पृ० १०१; सेना, ई० आई०, ७, पृ० ५७ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० १७१–२।

मूलपाठ

१. सिधं ॥ रञो खहरातस खतपस नहपानस जा [म] तरा [दीनीक] पूतेन उसमदातेन ति -

२. गोसतसहस [दे] ण नदिया बणासाया [सु] वण [ति] थकरेन [देवतान] ब्राह्मणन च सोलस गा

३. मदे [न] पभासं पूततिथे ब्रह्मणाण अठभाया प [देन] [अ] नुवासं पितु सत सहसं [भो]

४. जपयित वलूरकेसु लेण वासिनं पवजितानं चातु दिसस सघस

५. यापणथ गामो [कर] जिको दतो स [वा] न [वा] स वासितानं (?) ॥

शब्दार्थ

तिथकरेन=तीर्थकरेण, सीढ़ियाँ बनाने वाला; **पूततिथे**=पुण्यतीर्थं में; **अठभाया**=आठ भार्याएँ; **अनुवासं**=अनुवर्षं, हर वर्ष; **भोजपयित**=भोजयित्रा, भोजन कराने वाला; **चातुदिसस सघस**=चातुर्दिशस्य संघस्य, चारों दिशाओं के अर्थात् हर स्थान के संघ का; **यापणथ**=यापनार्थं, वर्षायापनार्थं, वर्षा में रहने के लिए; **सवान**=सर्वेभ्यः, सबके लिए; **वास वासितानं**=वर्षा प्रवासी भिक्षुओं के लिए।

अनुवाद

सिद्धम् ॥ क्षहरातवंशीय क्षत्रप राजा नहपान के दामाद दीनीक-पुत्र उषवदात (= ऋषभदत्त) द्वारा—जिसने तीन हजार गौएँ (दान) दी हैं, जिसने वार्णासा नदी पर सुवर्ण (और) सोपानों को कराया है (अर्थात् सुवर्ण दान दिया है और सोपान बनवाए हैं), जिसने देवताओं और ब्राह्मणों के लिए सोलह ग्राम (दान) दिए हैं, जिसने पुण्यतीर्थ प्रभास में ब्राह्मणों को आठ भार्याएँ प्रदान की हैं, जो हर वर्ष (अपने) पिता के लिए (अर्थात् अपने स्वर्गवासी पिता की प्रसन्नता के लिए) एक लाख (ब्राह्मणों) को भोजन कराने वाला है—वलूरक में चारों दिशाओं के संघ के गुहावासी प्रव्रजितों के लिए वास (अर्थात वर्षावास) के हेतु, समस्त वर्षा प्रवासी भिक्षुओं के लिए, करजिक ग्राम दान दिया गया।

व्याख्या

(१) इस लेख में 'सुवण-तिथकरेन' पाठ है जबकि नहपानकालीन तिथिविहिन नासिक लेख में (संख्या) 'सुवर्णदान तीर्थंकरेण' पाठ है।

(२) **वलूरक**—सरकार के अनुसार यह कार्ले का प्राचीन नाम है। इन्द्रजी (बाम्बे गजेटियर, १, पृ० ३९१) ने इसकी पहिचान एलौरा से की है जहाँ से भिक्षु लोग कार्ले में वर्षावास के हेतु आए होंगे।

(३) **करजिक**—यह अत्यन्त रोचक तथ्य है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने, जिसने क्षहरातों का उन्मूलन किया था, करजिक ग्राम वलूरक में रहने वाले प्रव्रजित भिक्षुओं को पुनः दान दिया था (गौतमीपुत्र का कार्ले-गुहालेख, लूडर्स, सूची, सं० ११०५)।

नहपानकालीन जुन्नार गुहा-लेख

४६वां वर्ष

लेख-परिचय—यह लघु गुहा-लेख महाराष्ट्र में पूना जिले में स्थित जुन्नार की गुफा में मिला है। यह नहपान के अमात्य अयम ने लिखवाया था। इसमें केवल तीन लघु पंक्तियाँ हैं। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी। इसमें तिथि के रूप में ४६वां वर्ष उल्लिखित है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—बर्गेस व इन्द्रजी, इन्स्क्रिप्शन्स् इन दि केव टेम्पिल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० ५१ अ०; बर्गेस और ब्युलर, ए० एस० डब्लू० आई० ४, पृ० १०३; सरकार, स० इ०, १७२-३।

मूलपाठ

१. [राञो] महखतपस सामि नहपानस
२. [आ] मतस वछ सगोतस अयमस
३. [दे] [यधम] च (पो) ढि मटपो च पुञथय ४० (+) ६ कतो ॥

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने 'आमतस' को 'आमात्यस' पढ़ा है और 'नहपानस' को 'नाहपानस'। कोनो ने इसकी तिथि ७६ पढ़ी थी।

शब्दार्थ

महखतपस = महाक्षत्रपस्य; **पौढि** = जलकुण्ड; **मटपो** = मण्डप, विश्रामागार; **पुञथय** = पुण्य के लिए ।

अनुवाद

राजा महाक्षत्रप स्वामी नहपान के अमात्य वत्सगोत्रीय अयम का देय धर्म (अर्थात् धर्मवृद्धि के लिए दान की गई वस्तु) (यह) जलकुण्ड और मण्डप पुण्यार्जन के लिए ४६वें वर्ष में बनवाया गया ।

व्याख्या

(१) इस लेख में स्पष्ट है कि नहपान ने ४६वें वर्ष में 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण की थी । उसके ४१, ४२ व ४५ वर्ष के नासिक-गुहा लेख तक में उसे केवल 'क्षत्रप' कहा गया है (स० इ० पृ०, १६४) ।

(२) **सामि**=स्वामी । 'स्वामी' एक शक शब्द का जिसका अर्थ 'प्रभु' होता है संस्कृत रूपान्तर है । तु०, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में आया 'शक मुरुण्ड' शब्द । चीनी भाषा के 'वांग' का भी यही अर्थ था । संस्कृत के 'भट्टारक' शब्द का सम्बन्ध भी इसी शक उपाधि से जोड़ा जा सकता है ।

(३) कोनो ने इसकी तिथि ७६ पढ़ी थी और इस नहपान को द्वितीय नहपान माना था । परन्तु यह असम्भव है क्योंकि प्रथम रुद्रदामा ७२वें वर्ष में समस्त शक राज्य पर शासन कर रहा था । कोनो का यह सुझाव कि द्वितीय नहपान चष्टन का चाचा था, एकदम अस्वीकार्य है । इसका मतलब होगा कि प्रथम रुद्रदामा अपने शासन के अन्तिम वर्षों में अपने पितामह के चाचा के साथ शासन कर रहा था ।

चष्टन (?) कालीन अन्धौ पाषाण-यष्टि-लेख

(शक) सम्वत् ११ = ८९ ई०

लेख-परिचय—कार्दमक वंश के महाक्षत्रप चष्टन का यह लेख पिछले वर्षों की एक महत्त्वपूर्ण अभिलेखिक खोज और उपलब्धि है। इससे पश्चिमी भारत के कार्दमक शक वंश के इतिहास एवं शक सम्वत् के प्रवर्त्तन जैसी समस्याओं पर नया प्रकाश मिला है। यह गुजरात के कच्छ प्रदेश में खावड़ा से २४ किलोमीटर दक्षिण पूर्व की ओर स्थित अन्धौ नामक एक उजाड़ गाँव से उपलब्ध हुआ है। अन्धौ से चष्टन के ५२वें वर्ष के चार और अभिलेख पहिले ही मिल चुके हैं। प्रस्तुत अभिलेख जो पत्थर के खण्डित टुकड़े पर लिखा है, श्री डी० के० वैद्य, क्युरेटर, कच्छ संग्रहालय, ने जमोतरभाई नामक ग्रामीण की सहायता से खोजा था। श्रीमती शोभना गोखले ने इस 'जर्नल ऑफ एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, कलकत्ता' के दूसरे अंक (१९६९) में सम्पादित किया है। लेख का आकार करीब ३७½ × ३० सेण्टीमीटर है तथा अक्षरों का औसत आकार २½ सेंटीमीटर। अभिलेख खण्डितावस्था में है। इसमें चार पंक्तियाँ हैं जिनके शुरू का अंश टूट फूट चुका है।

भाषा, लिपि एवं उद्देश्य—प्रस्तुत अभिलेख गद्य में है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि प्राकृत। अक्षर स्पष्ट है और गहरे खुदे हैं तथा नहपान के अभिलेखों के अक्षरों से मिलते जुलते हैं। इसका उद्देश्य सामोतिक के पुत्र के शासनकाल में ११ वें वर्ष में एक यष्टि के स्थापित किए जाने का उल्लेख करना है। सामोतिक के पुत्र नाम लेख के लुप्त हो गए अंश में रहा होगा परन्तु उसकी पहिचान चष्टन से की जा सकती है जिसको अन्य अन्धौ-लेखों में सामोतिक का पुत्र कहा गया है। यह भी सम्भव है वह चष्टन का कोई भाई रहा हो।

संदर्भ-निबन्ध—शोभना गोखले, जे० ए० आई० एच०, २, पृ० १०४-११।

मूलपाठ

१. ··· ···· **त्रपस घ्सामौतिक-पुत्रस**
२. ···· ···· **सं वर्षाये ११ पालितकस**
३. ···· ···· **पुत्रस माधुकानस जान**
४. ···· ···· **लष् [ठि] पुत्रहि उथापिता।**

पाठ-टिप्पणी—शो० गोखले ने तीसरी पंक्ति में 'जान' के स्थान पर 'जात' पढ़ा है परन्तु लेख के साथ प्रकाशित फोटोग्राफ में 'जान' बिल्कुल स्पष्ट है। वस्तुतः 'माधुकानस' के 'न' और 'जान' के 'न' की बनावट में कोई अन्तर नहीं है जबकि 'उथापिता' के 'ता' का निचला भाग एकदम गोलाकार है। शो० गोखले ने चौथी पंक्ति के पहिले शब्द को 'लषि' पढ़ा है।

अनुवाद

इस लेख का शब्दानुवाद तो सम्भव नहीं है परन्तु इतना स्पष्ट है कि इसमें सामोतिक के पुत्र, ग्यारहवें वर्ष, माधुकान नामक व्यक्ति, तथा 'पुत्र द्वारा' यष्टि खड़ी किए जाने का उल्लेख है।

व्याख्या

(१) शो० गोखले ने इस लेख में 'जान' के स्थान पर 'जात' और 'लष्' के स्थान पर 'लषि' पढ़ कर इसमें माधुकान और लक्ष्मी (लषि) के पुत्र द्वारा एक यष्टि की स्थापना का उल्लेख माना है। परन्तु उनका पाठ अस्वीकार्य होने से उनके द्वारा सुझाया गया यह अर्थ भी अस्वीकार्य हो जाता है।

(२) **यष्टि**—यष्टि उन पाषाण-स्तम्भों को कहते थे जो किसी मृत व्यक्ति की स्मृति में स्थापित किए जाते थे।

(३) यह तथ्य कुछ विचित्र है कि प्रस्तुत अभिलेख व कनिष्क का सुइ-विहार अभिलेख दोनों ही ११वें वर्ष के हैं और इस लेख के समान सुइ-बिहार अभिलेख में भी यष्टि स्थापन का उल्लेख है।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत लेख वा शक-कुषाण इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इससे पूर्व चष्टन की एक मात्र ज्ञात तिथि ५२ शक सम्वत् = १३० ई० थी जो उसके शासन काल के अन्धौ-अभिलेखों से ही ज्ञात थी (दे०, आगे)। उसके तिथि सहित सिक्के नहीं मिलते। जो विद्वान् प्रथम कनिष्क को शक सम्वत् का प्रवर्त्तक मानते हैं वे प्रायः यह सुझाव रखते हैं कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के हाथों क्षहरातों के विनाश के बाद कुषाण सम्राट् ने चष्टन को खोए प्रान्तों के फिर से जीतने के लिए नियुक्त किया था। लेकिन प्रस्तुत लेख से सिद्ध हो गया है कि चष्टन (अथवा उसका भाई) कम-से-कम कच्छ प्रदेश पर ८९ ई० में भी शासन कर रहा था। इससे शक सम्वत् की तिथियों पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है। शो० गोखले के अनुसार इससे यह सिद्ध हो गया है कि शक सम्वत् का प्रवर्तक प्रथम कनिष्क था और चष्टन ने उसके एक गवर्नर के रूप में शासन किया था। हमने इस समस्या पर अन्यत्र विचार किया है।

चष्टन और प्रथम रुद्रदामा के काल का अन्धौ पाषाण-यष्टि-लेख

(शक) सम्वत् ५२ = १३० ई०

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख गुजरात में कच्छ प्रदेश के खावड़ा स्थल के समीप स्थित अन्धौ स्थान से मिला है। यह यहाँ से प्राप्त उन चार यष्टि अभिलेखों में से एक है जिन्हें १९०६ में डी० आर० भाण्डारकर ने खोज निकाला था। इनमें प्रथम तीन अभिलेख मदन नामक व्यक्ति ने क्रमशः अपनी बहिन, भाई व पत्नी की यष्टियां स्थापित कराते समय खुदवाए थे और चौथा ऋेष्टदत्त नामक व्यक्ति ने अपने पुत्र की यष्टि स्थापित करवाते समय उत्कीर्ण कराया था। ये चारों ही चष्टन और प्रथम रुद्रदामा के शासनकाल में ५२वें वर्ष में फाल्गुन माह के कृष्ण पक्ष की द्वितीया को लिखवाये गए थे। इनकी भाषा भी एक सी—संस्कृत से प्रभावित प्राकृत—है और लिपि ब्राह्मी है। इनमें प्रथम और तृतीय लेखों में तीन-तीन पंक्तियां हैं। चौथे में चार अपेक्षया लघुतर पंक्तियां हैं, और दूसरे में बहुत छोटी-छोटी आठ पंक्तियां हैं। हम यहाँ पर केवल तीसरा यष्टि लेख, जो मदन ने अपनी पत्नी की स्मृति में खुदवाया था, दे रहे हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—बनर्जी, आर०डी०, ई० आई०, १६, पृ० २३ अ०; सरकार स० इ०, पृ० १७३-५।

मूलपाठ

१. राज्ञो चाष्टनस घ्सं [।] मोतिक-पुत्रस राज्ञो रुद्रदामस जयदाम-पुत्रस वर्षे द्विपंचाशे ५० (+) २

२. फगुण-बहुलस द्वितिय वा २ यशदताये-सीहमित धीता शेनिक-सगोत्राये शामणे रिये।

३. मदनेन सीहिल-पुत्रेन कुटुबिनिये [लष्टि] उथापिता [।।]

शब्दार्थ

बहुल=कृष्णपक्ष; **यशदता**=यशोदत्ता; **सीहमित**=सिहंमित्र; **घीताये**=दुहितुः; **शेनिक**=शौनिक; **सीहल**=सिंहल; **कुटुबिनिये**=कुटुम्बिन्याः, पत्नी की; **लष्टि**=यष्टि; **उथापिता**=उत्थापिता, स्थापित कराई, खड़ी कराई।

अनुवाद

सामोतिक के पुत्र राजा चष्टन (और) जयदामा के पुत्र राजा रुद्रदामा के (५२) बावनवें वर्ष में फाल्गुन के कृष्ण पक्ष के २ द्वितीय वार को सिंहल-पुत्र मदन ने (अपनी) पत्नी शौनिक गोत्रोत्पन्ना सामणेरी यशोदत्ता की, जो सिंहमित्र की पुत्री थी, (यह) यष्टि खड़ी करवाई :

व्याख्या

(१) **चाष्टन**—अन्य लेखों में यह नाम 'चष्टन' रूप में लिखा है और उसे जयदामा का पिता और रुद्रदामा का पितामह बताया गया है।

(२) **सामणैरी**—जो व्यक्ति भिक्षु रूप में बौद्ध संघ में प्रवेश करता था, उसकी पहिले 'पब्बज्जा' होती थी और फिर 'उपसम्पदा'। 'पब्बज्जा' और 'उपसम्पदा' के बीच की अवस्था में वह सामणैर (स्त्रियाँ सामणैरी) कहलाता था। पूर्ण श्रमण वह उपसम्पदा के बाद ही बनता था। उपसम्पदा पब्बज्जा के बाद अल्प समय के अन्दर भी हो सकती थी और दीर्घ अन्तराल के बाद भी (दे०, स० इ०, पृ० १७५, टि० १)।

(३) बनर्जी ने इन लेखों के प्रथमांश का अनुवाद इस प्रकार किया था : 'सामौत्तिक के पुत्र राजा चष्टन (के पौत्र), जयदामा के पुत्र, राजा रुद्रदामा के शासन काल में, ५२वें वर्ष में, फाल्गुन के कृष्ण पक्ष के द्वितीय दिवस को ....।' इस अनुवाद के अनुसार ये लेख रुद्रदामा के शासन काल में ५२वें वर्ष में लिखे गए थे। लेकिन लेख की भाषा से स्पष्ट है कि यहाँ चष्टन व रुद्रदामा दोनों के सह-शासन का उल्लेख है। रुद्रदामा स्पष्टतः अपने पितामह का कनीयस् सहशासक था। इन लेखों की तिथि में प्रयुक्त सम्वत् शक सम्वत् है।

(४) इन लेखों में चष्टन व रुद्रदामा को 'महाक्षत्रप' अथवा 'क्षत्रप' उपाधि नहीं दी गई है। चष्टन ने 'महाक्षत्रप' उपाधि अवश्य धारण की थी (दे०, प्रथम रुद्रसिंह का गुण्डा पाषाण-लेख, स० य०, पृ० १८२)।

लेख का महत्त्व

इस लेख का विशेषतः महत्त्व कार्दमक वंशीय नरेश चष्टन व उसके पौत्र रुद्रदामा के सहशासन के उल्लेख के कारण है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे ५२ शक सम्वत् में अर्थात् १३० ई० में शासन कर रहे थे। इसके बाद रुद्रदामा की

ज्ञात तिथि शक सं० ७२=१५० ई० है। उस समय तक उसका राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। प्रस्तुत लेख की सहायता से हम कार्दमक राज्य के विस्तार का तिथि-क्रम भी तय कर सकते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि प्रस्तुत लेख लिखे जाने तक कार्दमकों का अधिकार सम्भवतः कच्छ प्रदेश पर ही था। इस तथ्य से क्षहरात एवं सातवाहन वंशों के संघर्ष की स्थूल तिथि भी तय होती है।

अन्धौ लेखों से कच्छ में यष्टि स्थापन के रिवाज पर भी प्रकाश मिलता है।

प्रथम रुद्रदामा का जूनागढ़-शिलालेख

प्राप्ति स्थल—कार्दमकवंशीय प्रथम रुद्रदामा नामक शक नरेश का जूनागढ़ से प्राप्त शिलालेख प्राचीन भारत के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिलेखों से है। यह लेख उस शिला के पश्चिमी रुख पर ऊपर की तरफ उत्कीर्ण है जिस पर अशोक के चौदह शिला-प्रज्ञापनों का एक 'सेट' और गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के दो लेख भी उत्कीर्ण मिलते हैं। यह शिला गुजरात राज्य की भूतपूर्व जूनागढ़ रियासत में जूनागढ़ शहर से करीब एक मील पूर्व की ओर गिरनार पर्वत के समीप घाटी में प्रवेश करने वाले दर्रे के पास विद्यमान है। जूनागढ़ का नाम रुद्रदामा के लेख में 'गिरिनगर' दिया गया है। बाद में यह नाम इसके समीप स्थित पर्वत के लिए भी प्रयुक्त होने लगा और बिगड़कर 'गिरनार' हो गया।

लेख-परिचय—रुद्रदामा का लेख विभिन्न लम्बाई वाली बीस पंक्तियों में ११'१" × ५'५" क्षेत्रफल में लिखा हुआ है। इनमें केवल अन्तिम चार पंक्तियाँ पूर्णतः सुरक्षित हैं, शेष को कुछ क्षति पहुँच चुकी है।

भाषा और लिपि—जूनागढ़-लेख की भाषा संस्कृत है (यद्यपि इस पर कहीं-कहीं प्राकृत का असर मिलता है (दे०, आगे)। इसका लेखक कोई अज्ञात कवि है। यह पश्चिमोत्तर प्रदेश की कुषाणकालीन ब्राह्मी में लिखा हुआ है जिसका विकास मौर्योत्तर युग में मथुरा, तक्षशिला, मालवा और सुराष्ट्र में हुआ।

उद्देश्य व विषय-सार—इस अभिलेख का उद्देश्य पूर्णतः लौकिक है। इसमें महाक्षत्रप रुद्रदामा द्वारा सुदर्शन झील के बाँध के पुनर्निर्माण का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त के गवर्नर (राष्ट्रिय) पुष्यगुप्त ने गिरनगर के समीप जनपद कल्याण के लिए सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। उसके बाद अशोक मौर्य के शासनकाल में तुषास्क नामक यवनराज ने इसमें से अनेक नहरें निकलवाईं। तदनन्तर रुद्रदामा के शासन काल में ऊर्जयत् पर्वत से निकलने वाली पलाशिनी और सुवर्णसिकता आदि नदियों में भयंकर बाढ़ आई जिससे झील का बाँध टूट गया। रुद्रदामा ने प्रजा की भलाई के लिए मन्त्रियों के विरोध करने के बावजूद अपने निजी कोश से विशाल धनराशि व्यय करके बाँध का पुनर्निर्माण कराया। यह कार्य किया उसके द्वारा नियुक्त पह्लवजातीय गवर्नर सुविशाख ने।

तिथि—इस लेख में इसके लिखे जाने की तिथि नहीं दी गई है परन्तु सुदर्शन के बाँध टूट जाने का वर्ष रुद्रदामा का ७२वां वर्ष बताया गया है। यहाँ आशय स्पष्टतः रुद्रदामा के द्वारा प्रयुक्त सम्वत् के ७२वें वर्ष से है और यह निश्चित प्रायः है कि रुद्रदामा ने शक सम्वत् का प्रयोग किया। इसलिए बाँध टूटने की तिथि १५०

ई० होगी। ब्युलर (आई० ए०, १९१३) का अनुमान है क्योंकि बाँध के पुनर्निर्माण में कुछ कठिनाइयाँ आई थीं इसलिए लेख बाँध टूटने के कुछ वर्ष बाद १६० और १७० ई० के बीच में लिखवाया गया होगा। लेकिन लेख के इस कथन से कि बाँध का जीर्णोद्धार कुछ ही समय बाद (अनतिमहताकालेन) करा दिया गया था, संकेतित है कि लेख की तिथि लगभग १५५ ई० मानना सत्य के निकटतर होगा।

अध्ययन-इतिहास—इस अभिलेख को प्रकाश में लाने का श्रेय जेम्स प्रिन्सेप को है (कर्नल टॉड को नहीं जैसा कि दिस्कल्कर ने लिखा है (सेलेवशन्स् पृ० १)। प्रिन्सेप ने इसे जे० ए० एस० बी० के ७वें अंक में (१८३२) छापा। इसके बाद अनेक पुरा लेख-शास्त्रियों ने इसको शोध-पत्रिकाओं में सम्पादित किया जिनमें कीलहॉर्न द्वारा 'एपिग्राफिया इण्डिका' के अंक ८ में तथा इन्द्र जी एवं ब्युलर द्वारा 'इण्डियन एण्टिक्वरी', अंक ७, में किए गए प्रयास सर्वोत्तम हैं।

प्रमुख शोध-निबन्ध—प्रिन्सेप, जे० ए० एस० बी० १८३२, पृ० ३३८; ए० एम० एस्सेज़् ऑन इण्डियन एण्टिक्वीटिज़्, २, पृ० ५७ अ०; माऊदाजी, जे० बी० बी० आर० ७, पृ० ११३ अ०; ११८ अ०; १२५ अ०; इन्द्रजी व ब्युलर, आइ० ए०, ७, पृ० २५७ अ०; कीलहॉर्न, इ० आई०, ८, पृ० ४२ अ०; लूडर्स, सूची, स० ९६५; दिस्कल्कर, सेलेक्शन्स्, स० १; सरकार, स० इ०, पृ० १७५; पाण्डेय, रा० व०, स० हि० इ०, पृ० ६१ अ०।

मूलपाठ

१. **सिद्धं [।] इदं तडाकं सुदर्शनं गिरिनगराद [पि] * *······[मृ] [त्ति] कोपल-विस्तारायामोच्छ्रय-निःसन्धि-बद्ध-दृढ-सर्व्व-पाळीकत्वात्पर्व्वत-पा-**

२. **द-त्प्रतिस्पर्द्धि-सुश्लि [ष्ट]-[बन्धं]······[व] जातेनाकृत्रिमेण सेतुबन्धेनोपपन्नं सुप्प्रतिविहित-प्प्रनाली-परीवाह-**

३. **मीढविधानं च त्रिस्क [न्ध]········ नादिभिरनुग्र [है] र्म्महत्युपचये वर्त्तते [।]**

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर तथा प्रिन्सेप 'तडाकं' के स्थान पर 'तटाकं' पढ़ते हैं। ब्युलर तथा इन्द्रजी ने 'गिरिनगरा (द्रि-पाद-रम)' पाठ दिया है यद्यपि ब्युलर को 'राद्रि' पाठ में स्वयं शंका है। कीलहॉर्न तथा सरकार 'द्रि' के स्थान पर 'द' पढ़ते हैं और खण्डित भाग के चार अक्षरों को 'दूरमन्त' पढ़ने का सुझाव देते हैं।

तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य सुगृही

४. त नाम्नः स्वामि चष्टनस्य पौत्र [स्य] [राज्ञः क्षत्रपस्य सुगृहीतनाम्नः स्वामी जयदाम्नः] पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्त-नाम्नो रु [द्र] दाम्नो वर्षे द्विसप्ततित [मे] ७० (+)२

५. मार्ग्गशीर्ष बहुल प्र [ति] [पदि]······· * : मृष्टवृष्टिना पर्ज्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां गिरेरूर्जयतः सुवर्णसिकता-

६. पलाशिनी-प्रभृतीनां नदीनां अतिमात्रोद्वृत्तैर्व्वेगैः सेतुम······· [यमा] णानुरूप-प्रतिकारमपि गिरिशिखर-तरु-तटाट्टालकोपत [ल्प]-द्वार-शरणोच्छ्रय-विध्वंसिना-युगनिधन-सदृ

७. श-परम-घोर-वोगेन वायुना प्रमथि [त]-सलिल-विक्षिप्त-जर्ज्जरीकृताव [दी] [र्ण]······· [क्षि] प्ताश्म-वृक्ष-गुल्म-लताप्रतानं आ-नदी [त] लादित्युद्घाटितमासीत् [।] चत्वारि हस्त-शतानि वीशदुत्तराण्यायतेन एतावंत्येव [वि] स्तो [र्णे] न

८. पंचसप्तति हस्तानवगाढेन भेदेन निस्सृत-सर्व्व-तोयं मरु-धन्व-कल्पमतिभृशं दु [र्द]······· [।]··· [स्य] ार्थे मौर्यस्य राज्ञः चन्द्र [गु] [प्त] [स्य] राष्ट्रियेण [वै] श्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य [कृ] ते यवनराजेन तुष [ा] स्फेनाधिष्ठाय

९. प्रण [ा]ळीभिरल [ं] कृत [ं] [।] [त] त्कारित [या] च राजानुरूप-कृत-विधानया तस्मिन् [भे] दे दृष्टया प्रनाड्या वि [स्तृ] त से [तु]···णा

पाठ-टिप्पणी—अभिलेख के इस अंश में तृतीय पंक्ति जारी है। इन्द्रजी व ब्युलर 'सृष्ट' के स्थान पर 'सुसृष्ट' पढ़ते हैं। 'नदीनां अति' को 'नदीनाम् अति' पढ़ें, 'वोगेन' को 'वेगेन', 'प्रतानं' को 'प्रतानम्', तथा 'वी शदु' को 'विंशत्यु'। इस वाक्य के अन्तिम भाग को 'दुर्दर्शनमासीत्' पढ़ने का सुझाव कीलहॉर्न ने दिया है। वह 'सप्तति' को 'सप्तति' पढ़ते हैं। 'मौर्यस्य' के पूर्व खण्डित भाग का पाठ 'तदिदं जनपदस्यार्थे' रहा हो सकता है। 'कारितं अशोकस्य' को 'कारितम् । अशोकस्य' पढ़ें। 'कृते' को भाऊदाजी ने 'तेन' पढ़ा है और इन्द्रजी ने 'तत्'। 'कृते' पाठ सरकार व कीलहॉर्न का है। 'तस्मिं भेदे' को 'तस्मिन् भेदे' पढ़ें। कुछ विद्वान् 'प्रनाड्या' को 'प्रणाळ्या' पढ़ते हैं।

आ-गर्भात्प्रभृत्यवि [ह] त-समुदि [त-रा] ज-
लक्ष्मी-धारणा-गुणतस्सर्व्व-वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन [आ]
प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्ति-कृत-

१०. सत्यप्रतिज्ञेन अन्य [त्र] संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रुप्रहरण-वितरण-
त्वाविगुण रि [पु]····त कारुण्येन स्वयमभिगतजन-पदप्रणिपति [ता]
[यु] ष-शरणदेन दस्यु-व्याल-मृग-रोगादिभिरनुपसृष्टपूर्व्व-नगर-निगम-

११. जनपदानां स्ववीर्य्यार्जितानामनुरक्त-सर्व्व-प्रकृतीनां-पूर्व्वापराकरावन्त्य-
नूपनीवृदानर्त्त-सुराष्ट्र- श्व [भ्र-मरु-कच्छ-सिन्धु-सौवी] र कुकुरापरांत-
निषादादीनां समग्राणां तत् प्रभावाद्य [थावत्प्राप्तधर्मार्थ]-काम-विषयाणां
विषयाणां पतिना सर्व्वक्षत्राविष्कृत-

१२. वीर-शब्द-जा [तो] त्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षि-
णापथ-पते स्सातकर्णेर्द्विरपि नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य संबंधा [वि] दूर
[त] या अनुत्सादनात्प्राप्त-यशसा [वाद]····[प्रा] [प्त]
विजयेन भ्रष्टराज-प्रतिष्ठापकेन यथार्त्थ-हस्तो

१३. च्छ्रयार्जितोर्जित-धर्मानुरागेन शब्दार्त्थ-गान्धर्व्व-न्यायाद्यानां विद्यानां
महतीनां पारण-धारण-विज्ञान-प्रयोगावाप्त-विपुल-कीर्त्तिना तुरग-गज-
रथ-चर्य्यासि-चर्म-नियुद्धाद्या················ति-परबल-लाघव-सौष्ठव-क्रियेण
अहरहर्द्दान-मानान-

१४. वमान-शीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्बलि-शुल्क-भागैः कनक-रजत-वज्र-
वैडूर्य-रत्नोपचय-विष्यन्दमान-कोशेन

पाठ-टिप्पणी—लेख के इस अंश में नवीं पंक्ति जारी है। इस लेखांश के प्रथम अक्षर को कुछ विद्वानों ने 'नो' पढ़ा है। 'समुदिव' को 'समुदित' पढ़ें और 'वर्णैभिगंम्य' को 'वर्णैरभिगम्य'। 'कारुण्येन' के पूर्व इन्द्रजी व ब्युलर ने 'घृत' पाठ सुझाया है। 'अन्यत्र संग्रामेषु' (=संग्रामों के अलावा) में सामान्यतः सप्तमी के स्थान पर पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है (अन्यत्र संग्रामेभ्यः)। 'जनपद' अथवा मात्र 'जन' शब्द 'प्रणिपतित' के बाद होना चाहिए था। 'आयुष' का पाठ आनुमानित है। इस अंश को 'त्रायुश्शरणदेन' पढ़ें। इन्द्र जी व ब्युलर 'प्रणिपत्तिविशेष' पढ़ते हैं। 'मृग-रोग' (=मृग और रोग) को सुधार कर 'मृगोरग' (=मृग और उरग) भी पढ़ा जा सकता है। ब्युलर ने 'य (थावत्प्राप्तधर्मार्थ) काम' को 'य (थेप्सितावाप्त सर्व) काम' पढ़ा है। 'पतिना' को 'पत्या' पढ़ें और 'नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य' को निर्व्याजमव-जित्याववित्य'। 'रागेन' को 'रागेण' पढ़ें और 'कानक' को 'कनक'। 'वैडूर्य' को सामान्यतः 'वैदूर्य' लिखा जाता है।

स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त
शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य- [काव्य-विधान-प्रवीणे] न प्रमाण मानो-
न्मान-स्वर-गति-वर्ण्ण-सारसत्वादिभिः

१५. परम-लक्षण-व्यंजनैरुपेत-कान्त-मूर्त्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रप-नाम्ना
नरेन्द्र-क [न्या]-स्वयंवरानेक-माल्य-प्राप्त-दाम्न [।] महाक्षत्रपेण रुद्र-
दाम्ना वर्षसहस्राय गो-ब्रा [ह्म] [ण] ···· [र्त्थं] धर्म्मकीर्त्तिवृद्धचर्थ च
अपीडयि [त्व] । कर-विष्टि-

१६. प्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात्कोशात्महता धनौघेन अनतिमहता
च कालेन त्रिगुण-दृढतर-विस्तारायामं सेतुं विधा [य स] र्व्वत [टे]····
[सु] दर्शनतरं कारितमिति [।] [अस्मि] न्नर्त्थे

१७. [च] महा [क्ष] त्रप [स्य] मतिसचिव-कर्मसचिवैरमात्य-गुण समुद्युक्तैर-
प्यति-महत्वाद्भेदस्यानुत्साह-विमुख-मतिभि [:] प्रत्याख्यातारंभं

१८. पुनः सेतुबन्ध-नैराश्याद् हाहाभूतासु प्रजासु इहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानु-
ग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्त्त-सुराष्ट्रानां पालनार्त्थंन्नियुक्तेन

१९. पह्लवेन कुलैप-पुत्रेणामात्येन सुविशाखेन यथावदर्थ-धर्म-व्यवहार-दर्शनै-
रनुरागमभिवर्द्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेनाविस्मितेनार्य्येणाहार्य्येण

२०. स्वधितिष्ठता धर्म-कीर्त्ति-यशांसि भर्तुरभिवर्द्धयतानुष्ठित [मि] ति । [।]

पाठ टिप्पणी—लेख के इस अंश में १४वीं पंक्ति जारी है। 'पद्य' के बाद 'काव्यविधान प्रवीणे' पाठ ब्युलर ने सुझाया है। यह लगभग निश्चित रूप से सही है। 'सत्व' को 'सत्त्व' पढ़ें 'कोशान्' को 'कोशात्' पढ़ें। 'विधाय' के बाद इन्द्रजी व ब्युलर ने 'सर्वनगर' पढ़ा है और कीलहॉर्न व सरकार ने 'सर्व्वतटे'। 'महाक्षत्रप' के पूर्व 'च' सरकार ने पढ़ा है। 'महत्व' को 'महत्त्व' पढ़ें तथा 'सुराष्ट्रानां' को सुराष्ट्राणां।

शब्दार्थ

सिद्धं = सिद्धि हो; **तडाक** = झील; **उपल** = पाषाण; **विस्तार** = चौड़ाई; **आयाम** = लम्बाई; **उच्छ्रय** = ऊँचाई; **निःसन्धिबद्ध** = बिना जोड़ के (बनाए जाने के कारण) अर्थात् ऐसी जुड़ाई होने के कारण जो दिखाई नहीं देती थी; **पाली** = बाँध, पुल; **पर्वतपादप्रतिस्पर्धि** = शैलबाहु अर्थात् लघु पर्वतों से प्रतिस्पर्धा करने वाला; **सुश्लिष्टबन्धं** = अच्छी तरह से बंधा हुआ; **अकृत्रिम** = नैसर्गिक, स्वाभाविक; **सेतुबन्ध** = बाँध; **उपपन्नं** = युक्त; **सुप्रतिविहित** = सुसज्जित; **प्रणाली** = नाली; **परीवाह** = सिंचाई में काम देने वाला जलमार्ग, बड़ा नाला; **मीढ विधान** = मेढ योजना या मेढ व्यवस्था; **त्रिस्कन्धं** = तीन भागों में विभक्त; **महत्** = बहुत; **उपचय** = समृद्धि, अच्छी दशा; **वर्तते** = विद्यमान है।

अनुवाद

(पंक्तियाँ १-३)—सिद्धि हो। यह सुदर्शन तडाक, गिरिनगर से, भी······· मिट्टी और पाषाण से चौड़ाई, लम्बाई और ऊँचाई में छिद्र रहित जोड़ों से बंधी हुई (अर्थात् ऐसी जुड़ाई द्वारा बंधी हुई जो दिखाई नहीं देती) मजबूत बन्ध-पंक्तियों के कारण सुश्लिष्टबन्ध (और इसलिए) शैलबाहु से प्रतिस्पर्धा करने वाला····द्वारा निर्मित नैसर्गिक बाँध से युक्त तथा जलप्रणालियों, नालों और मेढ-व्यवस्था से भली-भाँति सज्जित, तीन भागों में विभक्त····अनुग्रह के साथ बहुत अच्छी अवस्था में विद्यमान है।

शब्दार्थ

तदिदं=यही (=यही तडाक); **सुगृहीतनाम्नः** = जिसका नाम लेना शुभ है; **गुरुभिरभ्यस्तनाम्नः** = जिसका नाम गुरुजन बार-बार लेते हैं, श्रेष्ठ जनों द्वारा सतत रूपेण लिए जाने नाम वाला; **सृष्ट वृष्टि** = भारी वर्षा, घनघोर वर्षा; **पर्जन्य**= बादल, वर्षा का देवता अर्थात् इन्द्र; **अर्णवः** = समुद्र; **एकार्णवभूतायामिव** = एक समुद्र के समान कर दी गई; **उद्वृत्त** = तेज, सीमा तोड़कर बहने वाला; **सेतु** = बांध; **प्रतिकार** = उपाय; **अट्टालक** = छत पर बनी इमारत, अट्टालिका, महल, भवन; **तुल्प** = उपरली मंजिल; **उपतल्प** = उपरली मञ्जिल; **शरणोच्छ्र्य** = शरण लेने के लिए काम आने वाला ऊँचा स्थान; **युगनिधनसदृशपरमघोर वेगेन वायुना** = युगान्त या प्रलय के समय जैसी तीव्र गति वाली वायु द्वारा; **प्रमथित** = विलोड़ित; **क्षिप्त** = फेंके गए; **अश्म** = पत्थर; **विक्षिप्त** = इधर उधर फेंका गया; **गुल्म** = झाड़ी, वृक्ष समूह; **प्रतानः** = शाखा; **उद्घाटिलं** = उखाड़ा गया; **आयत** = लम्बी; **एतावंत्येव** = इतनी ही; **विस्तीर्ण** = चौड़ी; **अवगाढ** = गहरी; **भेद** = दरार; **निस्सृत** = निकल गया; **कल्पं** = लगभग समान; **अतिभृंश** = अत्यधिक; **मरुधन्व** = रेगिस्तान; **राष्ट्रिय** = गवर्नर; **कृते** = के लिए; **अधिष्ठाय** = शासन भार सम्भालने के बाद (अधिक + ष्ठा = शासन करना)।

अनुवाद

(पंक्तियाँ ४-९)—यही (तडाक) राजा महाक्षत्रप सुगृहीतनामा स्वामी चष्टन के पौत्र, राज क्षत्रप सुगृहीतनामा स्वामी जयदामा के पुत्र, राजा महाक्षत्रप, श्रेष्ठजनों द्वारा बार-बार लिए जाने वाले नाम वाले रुद्रदामा के ७२वें वर्ष में (अर्थात् उसके द्वारा प्रयुक्त सम्वत् के ७२वें वर्ष में) अग्रहरण माह के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को···· जब बादलों से (अथवा इन्द्र द्वारा) घनघोर वर्षा द्वारा पृथिवी मानो एक समुद्र के समान प्रतीत होने लगी, ऊर्जयत पर्वत की सुवर्णसिकता और पलाशिनी आदि नदियों के, सीमा तोड़कर बहने वाले अत्यधिक वेग (अर्थात् भयंकर बाढ) से बांध····अनुकूल उपायों के बावजूद, गिरिशिखरों, वृक्षों, (अथवा गिरि-शिखर जैसे वृक्षों), तटों, अट्टालिकाओं (अथवा तटवर्ती अट्टालिकाओं) उपरली मञ्जिलों, द्वारों और उच्च शरण-स्थलों का विध्वंस करने वाले और प्रलयकालीन प्रभन्जन के समान प्रचण्ड गति वाले पवन द्वारा विलोड़ित जल के विक्षेप से जर्जरीभूत अंग····इधर उधर फेंके पत्थरों, वृक्षों, झाड़ियों, लताओं तथा शाखाओं वाला (यह बांध) नदी की तलहटी तक उखाड़ दिया गया। चार सौ बीस हाथ लम्बी, इतनी ही चौड़ी तथा पचहत्तर हाथ गहरी दरार द्वारा सब जल निकल जाने के कारण (यह तडाक) लगभग एक रेगिस्तान के समान अत्यन्त दुर्दर्शन हो गया। (यह तडाक) (इसी जनपद ?) के लिए मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त के गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया। अशोक मौर्य के लिए यवन-राज तुषास्क द्वारा शासन भार सम्भालने के बाद प्रणालियों (नहरों) से सुशोभित किया गया। राजोचित ढंग से बनवाई गई और उसके (अर्थात् तुषाष्क के) द्वारा निर्मित प्रणाली द्वारा, उसकी दरार में देखकर, विशाल बाँध····(वाले मग्न तडाक को रुद्रदामा द्वारा 'और अधिक सुन्दर करवा दिया गया'—आगे पंक्ति १६ तक की सामग्री से सम्बन्ध)।

शब्दार्थ

प्रभृति = से; **गर्भात्प्रभृति** = गर्भ से; **अविहत** = अबाध; **समुदित** = प्रशस्त; **प्राणोच्छ्वासात्** = आजीवन; **धृतकारुण्येन** = करुण रखने वाले के द्वारा; **अभिमुखागत** = सामने आए हुए; **पद प्रणिपतित** = चरणों में गिरे हुए; **जनपद** = जन, लोग (सामान्यतः जनपद = राज्य)।

अनुवाद

(उस रुद्रदामा द्वारा सुदर्शन तडाग को और अच्छा करा दिया गया) जिसे गर्भ से ही अबाध और समुदित लक्ष्मी को धारण करने के गुणों के कारण सभी वर्णों के लोगों ने, उसके पास पहुँच कर, अपनी रक्षा के लिये अपना स्वामी बनाया था; जिसने संग्रामों के अतिरिक्त अन्यत्र (कहीं भी) आजीवन मानववध से निवृत रहने की सत्य प्रतिज्ञा की है (अर्थात् प्रतिज्ञा की थी और उसे पूरा किया है); जो करुणा दिखाता है (लेकिन) सामने आये समक्ष शत्रुओं पर प्रहार करने में संकोच नहीं करता है; जो उन लोगों को जो स्वयं उसके पास आते हैं और चरणों में अवनत होते हैं, आयु भर के लिये शरण देता है।

शब्दार्थ

व्याल = हिंस्र, सर्प; **मृग** = पशु; **उपसृष्ट** = पीड़ित, परेशान; **अनुपसृष्टपूर्व** = जो इसके पूर्व पीड़ित न किये गये हों (यहाँ आशय है 'जो (रुद्रदामा के शासन में रहने के कारण) सर्वदा अपीड़ित रहते थे)'; **निगम** = कस्बा; **जनपद** = ग्राम्यक्षेत्र; **प्रकृतीनां** = जनता; **पूर्वापर** = पूर्वी और पश्चिमी; **विषय** = इन्द्रियों का लक्ष्य, प्रदेश; **पतिना** = स्वामी द्वारा (पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पत्या होना चाहिए था); **नीवृत्** = देश, राज्य, एक प्रदेश का नाम; **आविष्कृत** = प्रकट, प्रख्यात; **शब्द** = उपाधि; **जात** = उत्पन्न; **उत्सक** = दर्प, अभिमान; **प्रसह्य** = बलात्; **अविधेय** = जो वश में न आ सके, स्वतन्त्र रहने वाला; **उत्सादक** = विनाशक, उखाड़ फकने वाला; **द्विरपि** = दो बार भी; **व्याज** = बहाना, धोका; **निर्व्याजमवजित्य** = बिना धोका दिये जीत कर अर्थात् खुले मैदान में जीत कर; **अविदूर** = निकट; **अनुत्सादन** = नष्ट न करना, मुक्त कर देना।

अनुवाद

जो पूर्वी और पश्चिमी मालवा, अनूप देश (अथवा अनूप, नीवृत) आनर्त्त, सुराष्ट्र, श्वभ्र, मरु, कच्छ, सिन्धु, सौवीर, कुकुर, अपरान्त, निषाद, आदि समस्त विषयों (अर्थात् प्रदेशों) का स्वामी है जिनके नगर, कस्बे तथा ग्राम्य-क्षेत्र डाकुओं, सर्पों, पशुओं और रोगादि से (उसके शासन में रहने के कारण) सर्वदा अपीड़ित रहते हैं, उसके अपने शौर्य से अर्जित हैं (अर्थात् उसने उन पर अपने बाहुबल से विजय प्राप्त की है) जिनकी समस्त प्रजा उसके प्रति निष्ठावान् है (और) जहाँ उसके प्रभाव से धर्म अर्थ और काम के लक्ष्य यथावत् (अर्थात् उचित रूप से, भली-भाँति) प्राप्त किए जाते हैं; जिसने उन यौद्धेयों को सब क्षत्रियों में अपनी 'वीर' उपाधि को प्रकट करने (अर्थात् 'वीर' कहलाने की क्षमता दिखाने वाले कार्य सम्पादित कर देने) से उत्पन्न अभिमान के कारण किसी के अधीन नहीं रहते थे, बलात् उखाड़ फेंका; जिसने दक्षिणापथपति शातकर्णि को दो बार खुले युद्ध में जीत लेने पर भी (उसके साथ) सम्बन्ध की निकटता के कारण (उसे) उन्मूलित न करने (अर्थात् मुक्त कर देने के यश को प्राप्त किया।

शब्दार्थ

यथावत् = भली-भाँति, समुचित रूप से; **हस्तोच्छ्रय** = हाथ उठा कर; **धर्म** = न्याय; **शब्द** = शब्द-विद्या अथवा व्याकरण; **अर्थ** = राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र; **शब्दार्थ** = कोश-विज्ञान, अभिधानशास्त्र; **गान्धर्व** = संगीत; **न्याय** = तर्क शास्त्र; **पारण** = पठन, अध्ययन; **धारण** = याद करना; **विज्ञान** = पूर्णतः जानना, ज्ञात; **प्रयोग** = व्यवहार; **अवाप्त** = प्राप्त; **तुरंग** = अश्व; **चर्या** = संचालन, प्रवन्ध; **चर्म** = ढाल; **नियुद्ध** = वाहु युद्ध, व्यक्तिगत रूप से लड़ना; **परबल** = शत्रुबल; **सौष्ठव** = सुन्दरता, सफाई; **लाघव** = फुर्ती, स्फूर्ति; **अहरहः** = दिन रात; **अवमान** = अनादर, अपमान; **अनवमानशील** = आदर देने वाला; **स्थूलक्ष** = वहुव्ययी;

बलि = एक प्रकार का कर, मालगुजारी; **शुल्क** = चुंगी; **भाग** = एक प्रकार का कर; **कनक** = सोना; **वैडूर्य** = वैदूर्य नामक मणि; **उपचय** = संग्रह, एकत्र होना, बढ़ना; **विष्यन्दमान** = भरपूर, लबालब भरा होना।

अनुवाद

(पंक्तियाँ १२–१४)—जो विजय प्राप्त करने वाला है; जो राज्यच्युत राजाओं को पुनः प्रतिष्ठित करने वाला है; जिसने समुचित रूप से हाथ उठा उठाकर (अर्थात् हाथ उठाकर समुचित निर्णय देते रहने के कारण) धर्म (= न्याय) के प्रति दृढ़ अनुराग को उपार्जित किया है; जिसने व्याकरण, अर्थशास्त्र, संगीत विद्या, तथा तर्कशास्त्र आदि महान् विद्याओं के अध्ययन, स्मरण, ज्ञान तथा व्यवहार से विपुल कीर्ति प्राप्त की है; जो अश्व, गज और रथ के सञ्चालन तथा तलवार और ढाल (के प्रयोग एवं) बाहुयुद्ध आदि..........शत्रुओं की सेना पर सुन्दरता के साथ अपनी फुर्ती दिखाने वाला है, जो दिन रात दान, मान तथा आदर देने वाला है, जो बहुव्ययी है, जो समुचित रूप से प्राप्त मालगुजारी, चुंगी तथा भाग (नामक कर) के कारण सुवर्ण, रजत, वैडूर्य तथा रत्नों के संग्रह से भरपूर राजकोश वाला है।

शब्दार्थ

स्फुट = स्पष्ट, अर्थ व्यक्ति के गुण से युक्त ; **लघु** = सामान्यतः 'छोटा' लेकिन यहाँ 'प्रसाद' गुण युक्त; **मधुर** = रसवत्; **कान्त** = यहाँ इसका अर्थ है 'सर्वजगत्-कान्त' अर्थात् समस्त जगत् को सुन्दर लगने वाला; **चित्र** = ओज गुणयुक्त; **शब्द-समयोदार** = समयोचित शब्दों व मुहावरों के प्रयोग के कारण प्रशस्त; **अलंकृत** = अलंकारों से सज्जित; **कान्त मूर्ति** = सुन्दर शरीर; **उपेत** = युक्त; **परम लक्षण**= श्रेष्ठ लक्षण; **व्यञ्जन**=चिह्न; **सार**=बल; **सत्त्व**=शक्ति; **प्रमाणमानोन्मान**=प्रमाणिक आकार अर्थात् यथोचित लम्बाई और चौड़ाई; **दामन्** = माला; **नरेन्द्र कन्या**= राजकुमारी।

अनुवाद

(पंक्तियाँ १४-१५)—जो अर्थ व्यक्ति गुण युक्त, प्रसाद गुण समन्वित, मधुर, ओजमय, सुन्दर, समयोचित शब्दों और मुहावरों के कारण प्रशस्त और अलंकारों से सज्जित गद्य और पद्य (वाक्यों की रचना में प्रवीण) है; जो यथोचित लम्बाई और चौड़ाई वाले आकार, स्वर, गति (अर्थात् चाल), वर्ण (अर्थात् रंग) बल और शक्ति आदि श्रेष्ठ लक्षणों और चिह्नों से युक्त सुन्दर शरीर वाला है ; जिसने 'महाक्षत्रप' उपाधि स्वयं (अर्थात् अपने बल से) धारण की है; जिसने राजकुमारियों के स्वयंवरों में अनेक मालाओं को प्राप्त किया है ;

शब्दार्थ

वर्ष सहस्राय = सहस्र वर्ष के लिए; **वृद्ध्यर्थं** = वृद्धि के हेतु; **अपीडयित्वा**= बिना पीड़ित किए; **कर**=एक कर विशेष; **विष्टि**=बेगार; **प्रणयक्रिया**=एक कर

विशेष; **पौर जानपदंजनं**=नगरों और ग्राम्य क्षेत्रों के निवासियों को; **स्वस्मात् कोशात्**=अपने निजी कोश से; **महताधनौध**=विशाल धन राशि; **अनतिमहता**= बहुत कम।

अनुवाद

(पंक्तियाँ १५-१६)—(उस) महाक्षत्रप रुद्रदामा ने (जिसके गुणों का वर्णन ऊपर किया गया है) एक सहस्त्र वर्ष के लिए गो ब्राह्मण के लिए, धर्म और यश की अभिवृद्धि के हेतु, पुरों और ग्राम्य क्षेत्रों के निवासियों को कर, बेगार तथा प्रणय से पीड़ित किए बिना, अपने निजी कोश से विशाल धनराशि (व्यय करके) थोड़े ही समय में, लम्बाई चौड़ाई में तीन गुना, अधिक मजबूत, बाँध बँधवा कर सब तटों पर—और अधिक सुन्दर करवा दिया।

शब्दार्थ

अस्मिन्नर्थे=इस विषय में; **मतिसचिव**=सलाह देने वाले अमात्य अर्थात् मन्त्री; **कर्मसचिव**=आज्ञाओं को कार्यान्वित करने वाले अमात्य; **महत्त्वाद्भेदस्य**= दरार की विशालता से; **अनुत्साह**=अनर्थक उत्साह, उत्साहहीनता; **प्रत्याख्यातारंभं**= आरम्भ में जिसका विरोध किया गया (अनुष्ठितं का कर्त्ता); **हा हाभूतासु प्रजासु**= हाय-हाय करती हुई प्रजा; **इहाधिष्ठाने**=इस सरकार में, इस शासन में; **कृत्स्न**= समस्त; **यथावत्**=समुचित रूप से; **दान्त**=संयमी; **अचपल**=स्थिर; **अविस्मित**= निरभिमानी; **आर्य्य**=आर्योचित गुणों से युक्त; **अहार्य**=कभी न डिगने वाला; वह जिसे घूस न दिया जा सके; **स्वधितिष्ठता**=अपने शासन से।

अनुवाद

(पंक्तियाँ १६–२०)—और इस विषय में (यह उल्लेखनीय है कि) दरार की विशालता के कारण महाक्षत्रप (रुद्रदामा) के मतिसचिवों व कर्मसचिवों द्वारा जो अमात्यों के गुणों से भलीभाँति युक्त होने के बावजूद हतोत्साह और विमुखमति हो गए थे, (अर्थात् बाँध के पुर्ननिर्माण के कार्य को असम्भव मान बैठे थे) आरम्भ में विरोध किए गए इस कार्य को, जिसके कारण प्रजा पुनः बाँध बँध जाने की आशा टूट जाने से 'हाय' 'हाय' करने लगी थी, नगर और ग्रामवासियों पर अनुग्रह करने के हेतु समस्त आनर्त्त और सुराष्ट्र के पालन के लिए इस शासन में राजा (=रुद्रदामा) द्वारा नियुक्त पह्लव जातीय, कुलैप के पुत्र अमात्य सुविशाख द्वारा, जो धर्म और अर्थ के समुचित व्यवहार और निरीक्षण से (प्रजा के) अनुराग को बढ़ाने वाला, शक्तिशाली, संयमी, स्थिर, निरभिमानी, आर्योचित गुणों से सम्पन्न और कभी न डिगने वाला (अथवा घूस न लेने वाला) है, अपने शासन में स्वामी के (अर्थात् रुद्रदामा के) धर्म, कीर्त्ति और यश की अभिवृद्धि के लिए पूर्ण कराया गया (=बँधवाने का कार्य सम्पन्न कराया गया)।

व्याख्या

(१) **सिद्धं**—यह मंगल वचन है। इसका प्रयोग इसी रूप में, संक्षिप्त रूप में या प्रतीकात्मक रूप में अभिलेखों के प्रारम्भ में मिलता है। कहीं-कहीं इसके स्थान पर 'स्वस्ति' 'सिद्धिरस्तु' आदि शब्द भी मिलते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग सम्भवतः प्रथम कनिष्क के शासन के १०वें वर्ष के ब्रिटिश-संग्रहालय-शिलालेख में है।

(२) **मीढविधान**—इन्द्रजी व ब्युलर ने मीढ को 'गोमूत्रक' अर्थ में लेकर, मीढ विधान का अर्थ 'जिसकी रूपरेखा गोमूत्र के समान टेढ़ीमेढ़ी है' किया है। कीलहॉर्न का मत है कि 'मीढ' शब्द का सम्बन्ध पालि के 'मील्ह' (=गन्दगी) से है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'ललितविस्तर' में 'मीढगिरि' शब्द का प्रयोग 'गोबर की पहाड़ी' अर्थ में हुआ है। इसलिए वह 'मीढविधान' को 'सुप्रतिविहित' से शुरू होने वाला बहुव्रीहि समास का अंग मानते हैं और इसका अर्थ 'गन्दगी से बचाने की व्यवस्था' करते हैं। लेकिन 'मीढ' शब्द का सम्बन्ध हिन्दी के 'मेढ' से भी हो सकता है जिसका प्रयोग खेतों में नालियों द्वारा आने वाले 'जल को व्यवस्थित करने के लिए बनाई गई रोक' के लिए होता है।

(३) **महाक्षत्रप**—'महाक्षत्रप' शक राजाओं की उपाधि है। पहले 'क्षत्रप' (यूनानी 'सत्रप') उपाधि शक सम्राटों के और तदनन्तर कुषाणों के शक गवर्नरों ने धारण की। उसका अधिक गरिमामय रूप 'महाक्षत्रप' है। कालान्तर में जब शक गवर्नर स्वतन्त्र हो गए तो वे ये उपाधियाँ यथावत् धारण करते रहे। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'क्षत्र' शब्द से की जाती है लेकिन यह वस्तुतः ईरानियों की 'क्षथ्रपावन' उपाधि का संस्कृत रूपान्तर लगता है। शकों ने द्वैध-शासन प्रणाली अपनाई जिसमें महाक्षत्रप के नीचे एक क्षत्रप होता था। शक-कुषाण काल में इस व्यवस्था को अपनाने वाले कई राजवंश हुए। 'स्वामी' शक नरेशों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट उपाधि 'मुरुण्ड' (=मालिक) का संस्कृत रूपान्तर है।

(४) **सुगृहीतनाम्नः** तथा **गुरुभिरभ्यस्तनाम्नः**—ये आदर सूचक विशेषण हैं। ये राजाओं और उच्च लोगों के लिए प्रयुक्त होते थे। सुगृहीतनाम्नः का प्रयोग 'हर्ष चरित' में प्रायः हुआ है। इससे उल्टा विचार बाण ने शशांक के प्रति यह कह कर प्रकट किया है : नामापि गृह्णतोऽस्य पापकरिणः पापमलेन लिप्यत इव मेजिह्वा। दे०, स्वप्न वासवदत्ता, १ : गुरुभिरभिहितनामधेय। प्रथम रुद्रसेन के जसदन-शिलालेख में चष्टन व प्रथम रुद्रदामा आदि के लिए प्रयुक्त 'भद्रमुख' उपाधि इससे तुलनीय है (स० इ०, पृ० १८५)।

(५) **रुद्रदाम्नोवर्षे**—इसका शाब्दिक अर्थ है रुद्रदामा (के शासन काल) का वर्ष। तात्पर्य है उसके द्वारा प्रयुक्त सम्वत् का वर्ष। इस सम्वत् की पहिचान शक सम्वत् से की जाती है। अगर अभिलेख में चर्चित तिथि (अग्रहण माह के कृष्णपक्ष

की प्रतिपदा) का वर्ष ७२ गत वर्ष है, तो बांध टूटने की तिथि १८ अक्टूबर अथवा १६ नवम्बर १५० ई० होगी।

(६) **सुवर्णसिकता और पलाशिनी**—सुवर्णसिकता आधुनिक सोनरेखा नाम की छोटी सी नदी है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ-लेख में इसका नाम सिकताविलासिनी मिलता है। पलाशिनी नाम की कोई नदी अब ज्ञात नहीं है। लेकिन इसका उल्लेख इसी नाम से स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में है।

(७) **स्कार्णवभूतायामिव**—वाल्मीकि की 'रामायण' में इस भाव की अभिव्यक्ति 'अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत्' (क्रुद्ध होने पर वह जगत् को एक समुद्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है) पद में हुई है (५'४९'२०)।

(८) **ऊर्जयत**—स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख का रैवतक क्योंकि रुद्रदामा के लेख में सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियाँ ऊर्जयत से निकली बताई गई हैं और स्कन्दगुप्त के लेख में रैवतक से।

(९) **उपतल्प**—इन्द्रजी के अनुसार 'पड़ोस के मैदान का भाग', ब्युलर के अनुसार 'मन्दिर शिखर', लेकिन कीलहॉर्न के अनुसार 'उपरली मन्जिल'। कीलहॉर्न ने 'रघुवंश' (१६'११) में आए 'विशीर्ण तलपाट्ट निवेशः' का उदाहरण दिया है।

(१०) **उच्छ्रय**—इन्द्रजी व ब्युलर के अनुसार 'विजय स्तम्भ'। कीलहॉर्न के अनुसार शरणोच्छ्रय=उच्छ्रित शरण=शरण के लिए बना कोई भी ऊँचा स्थान।

(११) **अतिभृशं दुर्दर्शनमासीत्**—तु० स्कन्दगुप्त की जूनागढ़-प्रशस्ति का श्लोक ३१ : अपीह लोके सकले सुदर्शन पुमान् हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात् ···· ···· ।

(१२) **मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य**—मौर्य वंश, भारत का सुप्रतिथ राजवंश। इसकी स्थापना लगभग ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य ने की।

(१३) **राष्ट्रिय**—'राष्ट्रिय' के अर्थ हैं राष्ट्र अर्थात् प्रान्त का गवर्नर (राष्ट्रेऽधिकृत) और 'राजा का साला'। कीलहॉर्न (इ० आई०, ७, पृ० ४६ टि० ७) तथा रोमिला थापर (अशोक एण्ड दि डेवलाइन ऑव दि मौर्यज़, पृ० १२–१३) ने इनमें दूसरा अर्थ लेकर पुष्यगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य का साला बताया है। लेकिन यहाँ प्रथम अर्थ लेना अधिक उचित होगा। राय चौधुरी के अनुसार यहाँ इसका तात्पर्य 'इम्पीरियल हाई कमिश्नर' है। 'राष्ट्रिय' पद का उल्लेख न तो 'अर्थशास्त्र' में हुआ है और न अशोक के अभिलेखों में। लेकिन 'अर्थशास्त्र' राजकुमार के बराबर वेतन पाने वाले 'राष्ट्रपालों' का उल्लेख अवश्य करता है।

(१४) **वैश्येन**—वैश्य वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत तीसरे वर्ण का नाम है। परन्तु यहाँ इसका तात्पर्य उस जनजाति से लगता है जो वराहमिहिर के अनुसार पश्चिमी भारत में निवास करती थी (शास्त्री, अजयमित्र, इण्डिया एज़ सीन इन दि बृहत्संहिता, पृ० १०५)।

(१५) **अशोक मौर्य**—चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र और बिन्दुसार का सुप्रसिद्ध पुत्र जिसने तीसरी शती ई० पू० के मध्य शासन किया।

(१६) **यवनराजेन तुषास्केन**—तुषास्क नाम से ईरानी लगता है लेकिन उसे कहा गया है यवन। शायद वह ईरानी संस्कृति से प्रभावित किसी यूनानी परिवार का सदस्य था। एक विदेशी की मौर्यकाल में गवर्नर पद पर नियुक्ति महत्त्वपूर्ण तथ्य है। पश्चिमी भारत में यवनों (=यूनानियों का अस्तित्व पुलमावि के नासिक-अभिलेख से भी संकेतित है (सक-यवन-पल्हव निसूदनस)। पेरिप्लस (४७वां पाद) में वैरी राजा में यूनानी सिक्कों के प्रचलन का उल्लेख है। राय चौधुरी के अनुसार क्रमदीश्वर की 'व्याकरण' में सौवीर नगर में दत्तामित्र (=डिमिट्रियस पुर) का उल्लेख है और 'महाभारत' में सौवीर के सम्बन्ध में 'यवनाधिप' व दत्तामित्र की चर्चा है।

(१७) **आगर्भात्प्रभृत्यविहित समुदित राजलक्ष्मी····वृतेन**·· इस पद का तात्पर्य यह हो सकता है कि रुद्रदामा के पिता की मृत्यु उस समय ही हो गई थी जब रुद्रदामा गर्भ में था। उल्लेखनीय है कि इस कथन के साथ ही रुद्रदामा यह भी दावा करता है कि उसे सब वर्णों ने अपनी रक्षा करने के लिए स्वामी चुना था। इसके आधार पर जायसवाल और मजूमदार का कहना है कि वह जनता द्वारा राजा चुना गया था। स्पष्टतः रुद्रदामा राजपरिवार में जन्म लेने की प्रतिष्ठा और जनता के समर्थन से राजा बनने का कीर्त्ति-दोनों पाना चाहता था। तु० खालिमपुर-दानपत्र में पाल वंश के संस्थापक गोपाल देव के जनता द्वारा चुने जाने का उल्लेख (मात्स्य न्यायमपोहितं प्रकृति मिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः—कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ९६), यद्यपि उसी लेख में गोपाल के पिता वप्पयट को 'शत्रुओं का विनाश करने वाला', तथा 'अपनी कीर्त्ति से पृथिवी को समुद्र पर्यन्त सजाने वाला' और पितामह दयितविष्णु को 'राजाओं की उत्तम सन्तति का जनक' कहा गया है जिससे सिद्ध है कि गोपाल का जन्म एक राजवंश में हुआ था।

(१८) **जनपद**—इस पद में जनपद शब्द का प्रयोग 'जन' अर्थ में हुआ है। तु० ४३६ व ४७२ ई० के मन्दसौर लेख के २५वें श्लोक का यह पद : 'भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत्'। यह भी सम्भव है कि कवि ने 'पद' शब्द को 'प्रणिपतित' के साथ संयुक्त मान लिया हो। परन्तु 'प्रणिपतित' में 'चरण' का भाव स्वयं निहित है।

(१९) **शरणदेन**—शरण देने वाला। तु० शरणैषिणां शरणं—मैत्रक नरेश धरसेन का स० २६९ का वलभी-दानपत्र, पंक्ति १३, 'शरण्यः शरणोन्मुखानाम्', रघुवंश ६.२१ ; 'शरण्यभूतः शरणोन्मुखानां' नन्दिवर्मा पल्लव का तन्दनतोट्टम दानपत्र।

(२०) **दस्युव्यालमृगरोगादि**—'व्याल' को 'हिंस्र' अर्थ में लेकर इसका अर्थ 'दस्यु, हिंस्र पशु और रोग आदि' भी किया जा सकता है तथा 'मृगरोग' को सुधार कर 'मृगोरग' पढ़ने पर इसका अर्थ 'दस्यु, हिंस्र पशु और सर्प माना जा सकता है।

की प्रतिपदा) का वर्ष ७२ गत वर्ष है, तो बांध टूटने की तिथि १८ अक्टूबर अथवा १६ नवम्बर १५० ई० होगी।

(६) **सुवर्णसिकता और पलाशिनी**—सुवर्णसिकता आधुनिक सोनरेखा नाम की छोटी सी नदी है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ-लेख में इसका नाम सिकताविलासिनी मिलता है। पलाशिनी नाम की कोई नदी अब ज्ञात नहीं है। लेकिन इसका उल्लेख इसी नाम से स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में है।

(७) **स्कार्णवभूतायामिव**—वाल्मीकि की 'रामायण' में इस भाव की अभिव्यक्ति 'अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत्' (क्रुद्ध होने पर वह जगत् को एक समुद्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है) पद में हुई है (५·४९·२०)।

(८) **ऊर्जयत**—स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख का रैवतक क्योंकि रुद्रदामा के लेख में सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियाँ ऊर्जयत से निकली बताई गई हैं और स्कन्दगुप्त के लेख में रैवतक से।

(९) **उपतल्प**—इन्द्रजी के अनुसार 'पड़ोस के मैदान का भाग', ब्युलर के अनुसार 'मन्दिर शिखर', लेकिन कीलहॉर्न के अनुसार 'उपरली मञ्जिल'। कीलहॉर्न ने 'रघुवंश' (१६·११) में आए 'विशीर्ण तलपाट्ट निवेशः' का उदाहरण दिया है।

(१०) **उच्छ्रय**—इन्द्रजी व ब्युलर के अनुसार 'विजय स्तम्भ'। कीलहॉर्न के अनुसार शरणोच्छ्रय=उच्छ्रित शरण=शरण के लिए बना कोई भी ऊँचा स्थान।

(११) **अतिभृशं दुर्दर्शनमासीत्**—तु० स्कन्दगुप्त की जूनागढ़-प्रशस्ति का श्लोक ३१ : अपीह लोके सकले सुदर्शन पुमान् हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात् ···· ···· ।

(१२) **मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य**—मौर्य वंश, भारत का सुप्रतिथ राजवंश। इसकी स्थापना लगभग ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य ने की।

(१३) **राष्ट्रिय**—'राष्ट्रिय' के अर्थ हैं राष्ट्र अर्थात् प्रान्त का गवर्नर (राष्ट्रेऽधिकृत) और 'राजा का साला'। कीलहॉर्न (इ० आई०, ७, पृ० ४६ टि० ७) तथा रोमिला थापर (अशोक एण्ड दि डेवलाइन ऑव दि मौर्यज़, पृ० १२–१३) ने इनमें दूसरा अर्थ लेकर पुष्यगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य का साला बताया है। लेकिन यहाँ प्रथम अर्थ लेना अधिक उचित होगा। राय चौधुरी के अनुसार यहाँ इसका तात्पर्य 'इम्पीरियल हाई कमिश्नर' है। 'राष्ट्रिय' पद का उल्लेख न तो 'अर्थशास्त्र' में हुआ है और न अशोक के अभिलेखों में। लेकिन 'अर्थशास्त्र' राजकुमार के बराबर वेतन पाने वाले 'राष्ट्रपालों' का उल्लेख अवश्य करता है।

(१४) **वैश्येन**—वैश्य वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत तीसरे वर्ण का नाम है। परन्तु यहाँ इसका तात्पर्य उस जनजाति से लगता है जो वराहमिहिर के अनुसार पश्चिमी भारत में निवास करती थी (शास्त्री, अजयमित्र, इण्डिया एज़ सीन इन दि बृहत्संहिता, पृ० १०५)।

(१५) **अशोक मौर्य**—चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र और विन्दुसार का सुप्रसिद्ध पुत्र जिसने तीसरी शती ई० पू० के मध्य शासन किया।

(१६) **यवनराजेन तुषास्केन**—तुषास्क नाम से ईरानी लगता है लेकिन उसे कहा गया है यवन। शायद वह ईरानी संस्कृति से प्रभावित किसी यूनानी परिवार का सदस्य था। एक विदेशी की मौर्यकाल में गवर्नर पद पर नियुक्ति महत्त्वपूर्ण तथ्य है। पश्चिमी भारत में यवनों (=यूनानियों का अस्तित्व पुलमावि के नासिक-अभिलेख से भी संकेतित है (सक-यवन-पल्हव निसूदनस)। पेरिप्लस (४७वां पाद) में बैरी राजा में यूनानी सिक्कों के प्रचलन का उल्लेख है। राय चौधुरी के अनुसार क्रमदीश्वर की 'व्याकरण' में मौवीर नगर में दत्तामित्र (=डिमिट्रियस पुर) का उल्लेख है और 'महाभारत' में सौवीर के सम्बन्ध में 'यवनाधिप' व दत्तामित्र की चर्चा है।

(१७) **आगर्मात्प्रभृत्यविहित समुदित राजलक्ष्मी····वृतेन**·· इस पद का तात्पर्य यह हो सकता है कि रुद्रदामा के पिता की मृत्यु उस समय ही हो गई थी जब रुद्रदामा गर्भ में था। उल्लेखनीय है कि इस कथन के साथ ही रुद्रदामा यह भी दावा करता है कि उसे सब वर्णों ने अपनी रक्षा करने के लिए स्वामी चुना था। इसके आधार पर जायसवाल और मजूमदार का कहना है कि वह जनता द्वारा राजा चुना गया था। स्पष्टतः रुद्रदामा राजपरिवार में जन्म लेने की प्रतिष्ठा और जनता के समर्थन से राजा बनने का कीर्त्ति–दोनों पाना चाहता था। तु० खालिमपुर-दानपत्र में पाल वंश के संस्थापक गोपाल देव के जनता द्वारा चुने जाने का उल्लेख (मात्स्य न्यायमपोहितं प्रकृति मिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः—कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ९६), यद्यपि उसी लेख में गोपाल के पिता वप्पयट को 'शत्रुओं का विनाश करने वाला', तथा 'अपनी कीर्त्ति से पृथिवी को समुद्र पर्यन्त सजाने वाला' और पितामह दयितविष्णु को 'राजाओं की उत्तम सन्तति का जनक' कहा गया है जिससे सिद्ध है कि गोपाल का जन्म एक राजवंश में हुआ था।

(१८) **जनपद**—इस पद में जनपद शब्द का प्रयोग 'जन' अर्थ में हुआ है। तु० ४३६ व ४७२ ई० के मन्दसौर लेख के २५वें श्लोक का यह पद : 'भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत्'। यह भी सम्भव है कि कवि ने 'पद' शब्द को 'प्रणिपतित' के साथ संयुक्त मान लिया हो। परन्तु 'प्रणिपतित' में 'चरण' का भाव स्वयं निहित है।

(१९) **शरणदेन**=शरण देने वाला। तु० शरणैषिणां शरणं—मैत्रक नरेश धरसेन का स० २६९ का वलभी-दानपत्र, पंक्ति १३, 'शरण्यः शरणोन्मुखानाम्', रघुवंश ६.२१ ; 'शरण्यभूतः शरणोन्मुखानां' नन्दिवर्मा पल्लव का तन्दनतोट्टम दानपत्र।

(२०) **दस्युव्यालमृगरोगादि**—'व्याल' को 'हिंस्र' अर्थ में लेकर इसका अर्थ 'दस्यु, हिंस्र पशु और रोग आदि' भी किया जा सकता है तथा 'मृगरोग' को सुधार कर 'मृगोरग' पढ़ने पर इसका अर्थ 'दस्यु, हिंस्र पशु और सर्प माना जा सकता है।

(२१) **प्रकृतीनाम्**—'प्रकृति' भारतीय दण्डनीति का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोग 'प्रजा' (यथा: प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः अभिज्ञान शकुन्तलम्, ७.३५) अथवा राज्य के 'सप्तांग' (यथा: स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोशदण्ड मित्राणि प्रकृतयः—अर्थशास्त्र; स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश राष्ट्रदुर्ग बलानि च—अमर कोश) के लिए होता था। यहाँ प्रथम अर्थ अपेक्षित है।

(२२) **धर्म, अर्थ काम**—ये 'त्रिवर्ग' हैं जिन्हें मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है।

(२३) **प्रदेशों की पहिचान**—**'आकरावन्ति'** एक नाम है। भाण्डारकर व सरकार का यही मत है। इसका अर्थ है मालवा। 'पूर्वापर आकरावन्ति' का अर्थ होगा पूर्वी मालवा (जिसकी राजधानी विदिशा थी) और पश्चिमी मालवा (जिसकी राजधानी उज्जैन थी)। इसका अर्थ 'पूर्वी आकर' और 'पश्चिमी अवन्ति' करना, जैसा कि रेप्सन व इन्द्रजी ने किया है, गलत होगा। कुछ लोग 'आकर' की पहिचान 'आगर' से करते हैं जहाँ से अग्रवाल वैश्यों की उत्पत्ति मानी गई है। **अनूप** = माहिष्मती वाला प्रदेश। माहिष्मती की पहिचान निमार जिले के आधुनिक महेश्वर या मान्धाता से की गई है। **नीवृत्** को कुछ विद्वान् एक देश का नाम मानते हैं और इसकी पहिचान निमार, मालवा और उत्तरी गुजरात के मध्यवर्ती पर्वतीय प्रदेश से करते हैं जिसमें बांसवाड़ा, डूंगरपुर तथा अन्य निकटवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। लेकिन इस शब्द का अर्थ 'देश' भी था (नीवृज्जनपदोः—अमरकोश)। इन्द्रजी ने इसे 'देश' अर्थ में ही ग्रहण किया है। **आनर्त्त** = कुछ विद्वान् इसकी पहिचान उत्तरी गुजरात जिसकी राजधानी आनर्त्तपुर या आनन्दपुर (आधुनिक वडनगर) से करते हैं। सरकार ने इसे उत्तरी काठियावाड़ बताते हुए इसकी राजधानी द्वारका बताई है। उनका मत ही सही लगता है। **सुराष्ट्र** = दक्षिणी काठियावाड़, राजधानी गिरिनगर (=जूनागढ)। **श्वभ्र** = साबरमती (श्वभ्रमती) का तटवर्ती प्रदेश अर्थात् उत्तरी गुजरात। **मरु** = मारवाड़। **कच्छ** = अब भी इसी नाम से विख्यात है। **सिन्धु** = सिन्धु नदी के मुहाने वाले प्रदेश का पश्चिमी भाग। **सौवीर** = सिन्धुनदी के मुहानेवाले प्रदेश का पूर्वी भाग। कुछ लोग सिन्धु सौवीर को एक प्रदेश—सिन्ध-मुल्तान वाला भूखण्ड बताते हैं। **कुकुरों** को 'भागवत पुराण' में द्वारका में रखा गया है। 'बृहत्संहिता' के अनुसार वे पश्चिमी भारत में रहते थे। सरकार ने कुकुर को उत्तरी काठियावाड़ में आनर्त्त के पास बताया है, आर० जी० भाण्डारकर ने इसकी पहिचान हुएन्त्सांग के कि-चो-लो से की है (जो राजस्थान में था), डी० आर० भाण्डारकर ने आधुनिक गुजरात के साथ, और ओझा ने मन्दसौर के उत्तर-पूर्व में स्थित कुकरेश्वर महाल से। इन्द्रजी ने इसे पूर्वी राजस्थान में स्थित माना है। **अपरान्त** = सामान्यतः उत्तरी कोंकण, जिसकी राजधानी शूर्पारक (आधुनिक सोपारा) थी। दे० रघुवंश ४·५३ और उसपर मल्लिनाथ की टीका। 'कामसूत्र' के टीकाकारानुसार अपरान्त पश्चिमी समुद्रतट का

समीपवर्ती प्रदेश था (२'५'२६)। महाभारत में कहा गया है कि अर्जुन ने अपरान्त में प्रभास तक की यात्रा की थी। टॉलेमी ने एरिक (=अपरान्त) को चार भागों में बांटा है जिनमें दो समुद्र तट पर स्थित थे (उत्तरी थाना व कोलावा तथा रत्नगिरि और उत्तरी कन्नड़ जिले) और दो अन्तर्देशीय थे (गोदावरी की उपरली घाटी व कन्नड़ भाषा भाषी प्रदेश)। 'महाभारत' तथा 'मार्कण्डेयपुराण' में भी इस सम्पूर्ण भूभाग को अपरान्त कहा गया है। **निष्नाद** से आशय सम्भवतः पश्चिमी विन्ध्य और अरावड़ा प्रदेश से है जहाँ भील जाति रहती थी।

(२४) **यौधेय**—प्राचीन भारत की एक युद्ध प्रिय जाति जो भूतपूर्व वहावलपुर रियासत व निकटवर्ती भूखण्ड में रहती थी। उसके सिक्कों पर 'यौधेय गणस्य-जयः' लेख मिलता है। उसको समुद्रगुप्त ने भी परास्त किया था।

(२५) **'दक्षिणापथ'** का शाब्दिक अर्थ है 'दक्षिण का मार्ग'। लेकिन इसका प्रयोग 'दक्षिण भारत' (विन्ध्य अथवा नर्मदा के दक्षिण में स्थित प्रायद्वीपीय भारत) अर्थ में होता था। समुद्र गुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में 'सर्वदक्षिणापथराज' पद का प्रयोग है।

(२६) **सातकर्णोर्द्विरपि निर्व्याजमविजित्यावजित्य सम्बन्धा विदूरतया अनुत्सादनात्प्राप्तयशसा**—रुद्रदामा के शातकर्णि के साथ सम्बन्ध का ज्ञान हमें कन्हेरी से प्राप्त एक लेख से होता है (लूडर्स, स० ९९४) जिसमें वाशिष्ठी पुत्र श्री शातकर्णि की 'देवी' अपने को कार्दमक वंशोत्पन्न और 'महाक्षत्रप रु (द्र)'—स्पष्टतः महाक्षत्रप रुद्रदामा-की पुत्री बताती है। बहुत से विद्वान यह मानकर चलते हैं कि रुद्रदामा ने अपने दामाद को ही हराया था। उदाहरणार्थ, रेप्सन व स्मिथ का कहना है कि रुद्रदामा ने वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि को हराया था और वही उसका दामाद था। लेकिन पुलमावी रुद्रदामा का दामाद नहीं हो सकता क्योंकि रुद्रदामा के दामाद का नाम शातकर्णि था न कि पुलमावि। इसी प्रकार दुब्रील (ए०हि०ड०, पृ० ४३) का अनुमान था कि रुद्रदामा का दामाद और उसके हाथों परास्त होने वाला सातवाहन नरेश वाशिष्ठीपुत्र शिव श्री शातकर्णि था जिसका अस्तित्व सिक्कों से ज्ञात होता है। इसके विपरीत गोपालाचारी ने जूनागढ़-लेख के शातकर्णि को शिव श्री शातकर्णि का शिवमक शातकर्णि नामक भाई या भान्जा माना है। इन्द्रजी का मत है कि रुद्रदामा ने यज्ञश्री शातकर्णि को हराया था जो उसका दोहित्र था। हमें सर्वोत्तम मत डी०आर० भाण्डारकर व सरकार का लगता है जिन्होंने रुद्रदामा के हाथों पराजित शातकर्णि को गौतमीपुत्र शातकर्णि माना है और रुद्रदामा के दामाद वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि को गौतमीपुत्र शातकर्णि का पुत्र और वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि का भाई। गौतमीपुत्र शातकर्णि रुद्रदामा से पराजित हुआ था इसका प्रमाण यह तथ्य भी है कि पुलमावि के १९वें वर्ष के नासिक-लेख के अनुसार गौतमीपुत्र शातकर्णि जिन प्रदेशों पर शासन करता था, उनमें से कम-से-कम पांच—

आकराअवन्ति, अनूप, सुराष्ट्र, कुकुर तथा अपरान्त—पर रुद्रदामा अपना अधिकार होने का दावा करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कन्हेरी, जहाँ से वाशिष्ठ पुत्र श्री शातकर्णि की देवी का लेख मिला है, अपरान्त में है और अपरान्त पर रुद्रदामा का अधिकार था। परन्तु यह कोई बहुत बड़ी कठिनाई नहीं है। क्योंकि हो सकता है कि यह लेख अपरान्त पर रुद्रदामा का अधिकार होने के पूर्व लिखा गया हो। उस समय रुद्रदामा का दामाद शातकर्णि एक राजकुमार मात्र रहा होगा। एक राजकुमार की पत्नी भी 'देवी' कही जा सकती थी (दे०, युवमहाराज श्री विजय बुद्धवर्मा की पत्नी चारुदेवी का 'देवी' उपाधि के साथ उल्लेख, स० इ०, पृ० ४६८)। यह भी हो सकता है कि यह लेख लिखवाए जाने के समय वाशिष्टीपुत्र शातकर्णि रुद्रदामा के गवर्नर रूप में अपरान्त पर शासन कर रहा हो अथवा उस प्रदेश पर उसने रुद्रदामा की मृत्यु के बाद अधिकार कर लिया हो और उस समय यह लेख लिखवाया गया हो। राजा के रूप में सम्भवतः उसने पुलमावि की मृत्यु के बाद शासन किया। उस समय (१५९-६६ ई०) उसने वाशिष्ठीपुत्र शिवश्री शातकर्णि लेख वाले सिक्के चलाए होंगे।

(२७) **भ्रष्टराज्य प्रतिष्ठापकेन**—इस नीति का उल्लेख समुद्रगुप्त ने भी किया है। दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति २३-२४, टि० १।

(२८) **हस्तोच्छ्रय**—कुछ विद्वानों ने इस पद से यह भाव निकाला है कि रुद्रदामा ने बहुत दान दिया था। लेकिन कीलहॉर्न ने ठीक ही ध्यान दिलाया है कि दान देने के समय 'हाथ उठाने' की प्रथा की चर्चा कहीं नहीं मिलती। अभिलेखों व साहित्य में दाता के हाथ उठाने का नहीं, उसके हाथ के जल से आर्द्र होने का उल्लेख मिलता है। यथा: 'अनवरत प्रवृत्त दानार्द्रीकृतकरः' (कादम्बरी) तथा 'प्रदानसलिलक्षालिताग्रहस्तारविन्दः' (फ्लीट, कॉर्पस, पृ० १७५)। इसके विपरीत 'मनुस्मृति' (८·२) में कहा गया है कि राजा को 'अपना दाहिना हाथ उठाकर' (पाणि मुद्यम्य दक्षिणन्) न्यायालय में काम देखना चाहिए। स्पष्टतः जूनागढ़-लेख के इस अंश में रुद्रदामा की न्यायशीलता की चर्चा है। यहाँ 'धर्म' को न्याय के अर्थ में लेना उचित होगा।

(२९) **शब्दार्थ-गान्धर्व-न्याय**—'शब्दार्थ' का अर्थ 'शब्द-विद्या', या 'व्याकरण' और 'अर्थविद्या' या 'अर्थशास्त्र' भी माना जा सकता है और इसको एक शब्द मान कर इसका अर्थ 'शब्दों के अर्थ की विद्या'=व्याकरण अथवा कोश-शास्त्र भी किया जा सकता है। तु० : उदयगिरि-लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त के मन्त्री वीरसेन को 'शब्दार्थ न्याय लोकज्ञः कवि' कहा जाना; प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की काव्यशा... संगीत में दक्षता का वर्णन; हाथिगुम्फा-लेख में खारवेल को 'रूपगणनाववः... विसारद' व 'गंधववेदबुध' कहा जाना।

(३०) **तुरग गजरथचर्या**—तु० 'गजस्कन्धेऽश्व पृष्ठे च रथचर्यासु (रामायण, १.१८.२७)।

(३१) **बलिशुल्क भाग**—'बलि' वैदिक काल में पहिले विजित राजाओं तथा प्रजा के द्वारा राजा को दी जाने वाली ऐच्छिक भेंट थी, ब्राह्मण काल में इसे अनिवार्य कर माना जाने लगा। शायद प्रारम्भ में भी नाम के लिए ऐच्छिक होने के बावजूद यह व्यवहार में अनिवार्य कर रहा होगा। असीरिया में अनिवार्य रूप से लिए गए करों के लिए 'स्वेच्छा से दी गई भेंट' अर्थ वाला शब्द बहुत बाद तक चलता रहा (ओमस्टीड, हिस्टरी ऑव असीरिया, पृ० ५१६)। अशोक के रुम्मिनदेई-स्तम्भ-लेख में यह एक धार्मिक कर लगता है और 'अर्थशास्त्र' में 'बलि' भाग के अतिरिक्त लिया गया कर। 'मिलिन्दपन्हो' में यह एक आपत्कालीन कर बताया गया है। अन्य अधिकांश ग्रन्थों में यह राजा द्वारा लिया जाने वाला प्रधान भूमि कर लगता है। लेकिन रुद्रदामा ने इसका उल्लेख 'अर्थशास्त्र' के अनुसार 'भाग' से पृथक् कर के लिए किया है। गुप्तकालीन लेखों में 'बलि' शब्द किसी कर का नाम नहीं वरन् यज्ञधर्म सम्बन्धी एक परिभाषिक शब्द है। दे०, झा, डी० एन०, रेवेन्यु सिस्टम इन पोस्ट मौर्य एण्ड गुप्त टाइम्स, पृ० ४३-६। 'भाग' राजा द्वारा लिए जाने वाले उपज के षष्ठांश को कहते थे। अशोक के रुम्मिनदेई-अभिलेख में भी 'बलि' और 'भाग' को पृथक् बताया गया है। बाद में 'बलि' और 'भाग' को अभिन्न माना जाने लगा। सरकार के अनुसार 'अर्थशास्त्र' में भी 'भाग' और 'बलि' को अभिन्न माना गया है (एपिग्राफिकल ग्लॉसरी, पृ० ४५) लेकिन 'अर्थशास्त्र' इन दोनों को स्पष्टतः अलग-अलग गिनाता है (पिण्डकरः, षड्भागः, सेनाभक्तं, बलिः, करः, उत्संगः, पार्श्वं, पारिहीणिकम्, औपनिकं, कौष्ठेयकं च राष्ट्रम्—अर्थशास्त्र, पूर्वो०, पृ० १९२)। 'शुल्क' चुंगी को कहते थे। 'अमरकोश' में कहा गया है कि यह घाट आदि पर दिया जाता था (घट्टादिदेय)। साहित्यिक ग्रन्थों में इसका प्रायः उल्लेख मिलता है। गुप्तों के बिहार-स्तम्भ-लेख में 'शौल्किक' नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है।

(३२) **स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृत गद्यपद्य (काव्य विधान प्रवीणे) न**—इस पद्य में 'काव्य विधान प्रवीणे' शब्दों का पुनर्योजन ब्युलर ने सुझाया है। उनका कहना है कि 'गद्य पद्य' शब्दों के बाद 'काव्य' शब्द ही उचित हो सकता है और उसके बाद, लेख के अन्य अंशों में रुद्रदामा के वर्णन तथा भारतीय नरेशों के द्वारा साहित्य सृजन की परम्परा को ध्यान में रखते हुए 'विधान प्रवीणेन' पाठ मानना सर्वथा उचित होगा।

(३३) इस लेख में 'गद्य पद्य' काव्य के जो गुण गिनाए गए हैं वे काव्य के भरत के 'नाट्य शास्त्र' में बताए गए दस गुणों का स्मरण दिलाते हैं :

> श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।
> अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणादशैते॥

इसी प्रकार दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में वैदर्भी रीति के गुण बताते हुए लिखा है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥४१॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।

इन दस गुणों में जूनागढ़-लेख माधुर्य और कान्ति का स्पष्टतः उल्लेख करता है। 'उदार' शब्द का प्रयोग भी यद्यपि इस लेख में है परन्तु यहाँ यह 'समय' के साथ संयुक्त होकर समास रूप में प्रयुक्त हुआ है। ब्युलर के अनुसार यहाँ लेख के लेखक ने 'समयोदार' शब्द की 'ऐसी भाषा जिसमें कवियों द्वारा प्रशंसित परम्परागत मुहावरों और शब्दों का प्रयोग होता हो' अर्थ में प्रयुक्त किया है जैसा कि दण्डी के अनुसार कुछ प्राचीन आचार्य मानते थे। दण्डी के द्वारा बताए गए गुणों में 'अर्थ-व्यक्ति' का उल्लेख इस लेख में स्फुटता नाम से, 'ओज' का 'चित्र' शब्द द्वारा और 'प्रसाद' अथवा 'सुकुमारता' का लघु द्वारा (जिसका एक अर्थ 'सुन्दर' भी होता है) हुआ लगता है। 'अलंकृत' शब्द के प्रयोग से निश्चित है कि लेख का लेखक अलंकार-शास्त्र से भी, किसी-न-किसी रूप में परिचित था।

(३४) **स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना**–इस पद का अर्थ तो स्पष्ट है परन्तु तात्पर्य अनिश्चित है। रुद्रदामा ने 'महाक्षत्रप' उपाधि स्वयं अर्जित की इसका एक अर्थ हो सकता है कि उसने अपने को कुषाण प्रभुत्व से मुक्त रखा था अथवा कुषाण प्रभुत्व से स्वतन्त्र होने में सफलता प्राप्त की थी। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि उसका पिता जयदामा 'महाक्षत्रप' नहीं था परन्तु रुद्रदामा ने अपनी सफलताओं से इस उपाधि को फिर अर्जित कर लिया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रुद्रदामा सम्भवतः प्रथम कनिष्क का समकालीन था जिसने १४४ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया। दे०, आगे।

(३५) **स्वयंवर**—सम्भवतः यह गुप्तकाल तक लिखे गए अभिलेखों में एक मात्र लेख है जो स्वयंवर प्रथा का उल्लेख करता है। स्पष्टतः इस समय तक रुद्रदामा जैसे शक नरेश पूर्णतः हिन्दू माने जाने लगे थे अन्यथा उनके सातवाहनादि वंशों से विवाह-सम्बन्ध नहीं हो पाते।

(३६) **कर**—'कर' शब्द सभी प्रकार के करों के लिए भी प्रयुक्त होता था और एक विशिष्ट 'कर' के अर्थ में भी। सामान्य कर के अर्थ में इसका प्रयोग अश्व-घोष के 'सौन्दरनन्द' काव्य में, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में (सर्वकरदान), अन्य अनेक लेखों में ('सर्वकर परिहारैः'—इ० आई० २४, स० ९ ; 'सर्वकरसमेतैः'—इ० आई०, २३, स० १८ ; 'सर्वकारदान समेतैः—फ्लीट, कॉर्पस, स० ८ ; 'सर्वकरत्यागः'—वही, स० २९ ; 'सर्वकरविसर्जितः'—वही, स० ४१) मिलता है। एक लेख में 'कर' को 'भोग' और 'भाग' से पृथक् बताया गया है और एक अन्य लेख में 'शुल्क', 'भाग', 'भोग' और 'हिरण्य' से। रुद्रदामा इसे एक अनुचित कर मानता है। शायद

उसके लेख में इसको उस अर्थ में लिया गया जो 'मनुस्मृति' की टीका करते हुए राघवानन्द और कुल्लूक ने माना है। राघवानन्द इसे ग्रामवासियों द्वारा दिया जाने वाला मासिक कर बताते हैं और कुल्लूक ग्राम और नगरवासियों द्वारा भाद्रपद और पौष में दिया जाने वाला कर (दे०, झा, पूर्वो०, पृ० ४६ अ०)।

(३७) **विष्टि**—'विष्टि' बेगार को कहते थे। मनु० के अनुसार शूद्र, कारीगर व शिल्पी राजा को कार्य रूप में करदान करते हैं (कर्मोपकरणाः शूद्राः करवः शिल्पिनस्त था—मनुस्मृति १०–१२०)। 'महावंश' में एक उदार हृदय नरेश बेगार लेने से इंकार करता है।

(३८) **प्रणय क्रिया**—'प्रणय' अथवा 'प्रणया क्रिया' को भी रुद्रदामा ने एक अनुचित कर माना है। इसका अनौचित्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से स्पष्ट है जिसमें राजकोश में अधिकाधिक धन संग्रह करने के उपायों के अन्तर्गत (५–२) कृषकों, व्यापारियों और पशुपालकों से लिए जाने वाले संकटकालीन करों—प्रणय—का वर्णन किया गया है। कौटिल्य बताता है कि ऐसे अवसरों पर राजा किसानों से धान्यों का चौथा भाग, वन में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का छठा भाग, हाथी-दाँत व चमड़े आदि का आधा भाग, व्यापारियों से सोना, चाँदी, बहुमूल्य रत्नादि, और हाथियों का आधा भाग, सूत, कपड़ा, शराब आदि का ४० प्रतिशत, गेहूँ, धान, बैलगाड़ियों, तेल, घी आदि का ३० प्रतिशत और नर, गायक और वेश्याओं की कमाई का आधा भाग, तथा पशुपालकों से विविध पशुओं का ५० प्रतिशत से १० प्रतिशत तक भाग ले सकता है। रुद्रदामा ने इसे अनुचित कर माना है तो क्या आश्चर्य! भगवानलाल इन्द्रजी ने प्रणय को आधुनिक 'प्रतिदान' के अर्थ में लिया है। रुद्रदामा की कर नीति गौतमीपुत्र शातकर्णि की कर नीति से तुलनीय है जिसे नासिक-लेख में 'धर्मोपजित कर विनियोग करस' कहा गया है।

(३९) **मतिसचिवकर्मसचिवैरमात्यगुणसमुद्युक्तैः**—मतिसचिव सलाह देने वाले अमात्यों अर्थात् मन्त्रियों को कहते थे। तु० : अमरकोश के 'धीसचिव'। अमात्य के गुणों का वर्णन इसके आगे सुविशाख की प्रशंसा करते हुए किया गया है और विस्तृत वर्णन के लिए दे०, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, श्लोक ८ से ११ तथा टिप्पणियाँ।

(४०) **हाहाभूतासु प्रजासु**—तु० स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में (श्लोक ३०) बाँध टूटने पर जनता की निराशा का वर्णन (विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः)।

(४१) **पह्लव**—पुलभावि के १९ वें वर्ष के लेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'सकयवनपल्हवनिसूदनस' कहा गया है। पह्लवों की पहिचान प्रायः पार्थियनों से की जाती है। इस नाम का सम्बन्ध पह्लवी भाषा के नाम से है जो जेन्द और आधुनिक फारसी की मध्यवर्ती अवस्था थी। सरकार का विचार है कि सम्भवतः कभी-कभी पह्लव ईरानियों को कहते थे और पारद पार्थियनों को। बहुत से विद्वानों ने दक्षिण भारतीय पल्लवों की उत्पत्ति पह्लवों से मानी है।

इसी प्रकार दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में वैदर्भी रीति के गुण बताते हुए लिखा है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥४१॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।

इन दस गुणों में जूनागढ़-लेख माधुर्य और कान्ति का स्पष्टतः उल्लेख करता है। 'उदार' शब्द का प्रयोग भी यद्यपि इस लेख में है परन्तु यहाँ यह 'समय' के साथ संयुक्त होकर समास रूप में प्रयुक्त हुआ है। ब्युलर के अनुसार यहाँ लेख के लेखक ने 'समयोदार' शब्द की 'ऐसी भाषा जिसमें कवियों द्वारा प्रशंसित परम्परागत मुहावरों और शब्दों का प्रयोग होता हो' अर्थ में प्रयुक्त किया है जैसा कि दण्डी के अनुसार कुछ प्राचीन आचार्य मानते थे। दण्डी के द्वारा बताए गए गुणों में 'अर्थ-व्यक्ति' का उल्लेख इस लेख में स्फुटता नाम से, 'ओज' का 'चित्र' शब्द द्वारा और 'प्रसाद' अथवा 'सुकुमारता' का लघु द्वारा (जिसका एक अर्थ 'सुन्दर' भी होता है) हुआ लगता है। 'अलंकृत' शब्द के प्रयोग से निश्चित है कि लेख का लेखक अलंकार-शास्त्र से भी, किसी-न-किसी रूप में परिचित था।

(३४) **स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना**—इस पद का अर्थ तो स्पष्ट है परन्तु तात्पर्य अनिश्चित है। रुद्रदामा ने 'महाक्षत्रप' उपाधि स्वयं अर्जित की इसका एक अर्थ हो सकता है कि उसने अपने को कुषाण प्रभुत्व से मुक्त रखा था अथवा कुषाण प्रभुत्व से स्वतन्त्र होने में सफलता प्राप्त की थी। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि उसका पिता जयदामा 'महाक्षत्रप' नहीं था परन्तु रुद्रदामा ने अपनी सफलताओं से इस उपाधि को फिर अर्जित कर लिया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रुद्रदामा सम्भवतः प्रथम कनिष्क का समकालीन था जिसने १४४ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया। दे०, आगे।

(३५) **स्वयंवर**—सम्भवतः यह गुप्तकाल तक लिखे गए अभिलेखों में एक मात्र लेख है जो स्वयंवर प्रथा का उल्लेख करता है। स्पष्टतः इस समय तक रुद्रदामा जैसे शक नरेश पूर्णतः हिन्दू माने जाने लगे थे अन्यथा उनके सातवाहनादि वंशों से विवाह-सम्बन्ध नहीं हो पाते।

(३६) **कर**—'कर' शब्द सभी प्रकार के करों के लिए भी प्रयुक्त होता था और एक विशिष्ट 'कर' के अर्थ में भी। सामान्य कर के अर्थ में इसका प्रयोग अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' काव्य में, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में (सर्वकरदान), अन्य अनेक लेखों में ('सर्वकर परिहारैः'—इ० आई० २४, स० ९ ; 'सर्वकरसमेतैः'—इ० आई०, २३, स० १८ ; 'सर्वकारदान समेतैः—फ्लीट, कॉर्पस, स० ८ ; 'सर्वकरत्यागः'—वही, स० २९ ; 'सर्वकरविसर्जितः'—वही, स० ४१) मिलता है। एक लेख में 'कर' को 'भोग' और 'भाग' से पृथक् बताया गया है और एक अन्य लेख में 'शुल्क', 'भाग', 'भोग' और 'हिरण्य' से। रुद्रदामा इसे एक अनुचित कर मानता है। शायद

उसके लेख में इसको उस अर्थ में लिया गया जो 'मनुस्मृति' की टीका करते हुए राघवानन्द और कुल्लूक ने माना है। राघवानन्द इसे ग्रामवासियों द्वारा दिया जाने वाला मासिक कर बताते हैं और कुल्लूक ग्राम और नगरवासियों द्वारा भाद्रपद और पौष में दिया जाने वाला कर (दे०, झा, पूर्वो०, पृ० ४६ अ०)।

(३७) **विष्टि**—'विष्टि' बेगार को कहते थे। मनु० के अनुसार शूद्र, कारीगर व शिल्पी राजा को कार्य रूप में करदान करते हैं (कर्मोपकरणाः शूद्राः करवः शिल्पि-नस्त था—मनुस्मृति १०–१२०)। 'महावंश' में एक उदार हृदय नरेश बेगार लेने से इंकार करता है।

(३८) **प्रणय क्रिया**—'प्रणय' अथवा 'प्रणया क्रिया' को भी रुद्रदामा ने एक अनुचित कर माना है। इसका अनौचित्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से स्पष्ट है जिसमें राजकोश में अधिकाधिक धन संग्रह करने के उपायों के अन्तर्गत (५–२) कृषकों, व्यापारियों और पशुपालकों से लिए जाने वाले संकटकालीन करों—प्रणय—का वर्णन किया गया है। कौटिल्य बताता है कि ऐसे अवसरों पर राजा किसानों से धान्यों का चौथा भाग, वन में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का छठा भाग, हाथी-दाँत व चमड़े आदि का आधा भाग, व्यापारियों से सोना, चाँदी, बहुमूल्य रत्नादि, और हाथियों का आधा भाग, सूत, कपड़ा, शराब आदि का ४० प्रतिशत, गेहूँ, धान, बैलगाड़ियों, तेल, घी आदि का ३० प्रतिशत और नर, गायक और वेश्याओं की कमाई का आधा भाग, तथा पशुपालकों से विविध पशुओं का ५० प्रतिशत से १० प्रतिशत तक भाग ले सकता है। रुद्रदामा ने इसे अनुचित कर माना है तो क्या आश्चर्य ! भगवानलाल इन्द्रजी ने प्रणय को आधुनिक 'प्रतिदान' के अर्थ में लिया है। रुद्रदामा की कर नीति गौतमीपुत्र शातकर्णि की कर नीति से तुलनीय है जिसे नासिक-लेख में 'धर्मोपजित कर विनियोग करस' कहा गया है।

(३९) **मतिसचिवकर्मसचिवैरमात्यगुणसमुद्युक्तैः**—मतिसचिव सलाह देने वाले अमात्यों अर्थात् मन्त्रियों को कहते थे। तु० : अमरकोश के 'धीसचिव'। अमात्य के गुणों का वर्णन इसके आगे सुविशाख की प्रशंसा करते हुए किया गया है और विस्तृत वर्णन के लिए दे०, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, श्लोक ८ से ११ तथा टिप्पणियाँ।

(४०) **हाहाभूतासु प्रजासु**—तु० स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में (श्लोक ३०) बाँध टूटने पर जनता की निराशा का वर्णन (विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः)।

(४१) **पह्लव**—पुलभावि के १९ वें वर्ष के लेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'सकयवनपल्हवनिसूदनस' कहा गया है। पह्लवों की पहिचान प्रायः पार्थियनों से की जाती है। इस नाम का सम्बन्ध पह्लवी भाषा के नाम से है जो जेन्द और आधुनिक फारसी की मध्यवर्ती अवस्था थी। सरकार का विचार है कि सम्भवतः कभी-कभी पह्लव ईरानियों को कहते थे और पारद पार्थियनों को। बहुत से विद्वानों ने दक्षिण भारतीय पल्लवों की उत्पत्ति पह्लवों से मानी है।

(४२) यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सुराष्ट्र में अशोक ने तुषास्फ नामक यवन को नियुक्त किया था, रुद्रदामा ने सुविशाख पह्लव को और स्कन्दगुप्त ने पर्णदत्त को जिसके नाम को शार्पेण्टियर ने ईरानी (= फर्नदात) माना है। स्पष्ट है इस प्रदेश में विदेशियों का विशेष प्रभाव था।

लेख का महत्त्व

राजनीतिक महत्त्व : चष्टन वंश का इतिहास—रुद्रदामा का जूनागढ़-अभिलेख अनेक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक, इससे हमें पश्चिमी भारत के चष्टन-वंशीय शक राजाओं के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। शक नरेश सामान्यतः 'क्षत्रप' और 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण करते थे जो फारसी की 'क्षथ्रपावन' उपाधि का संस्कृत रूपान्तर लगती है। इन उपाधियों को धारण करने वाले राजवंश मथुरा, तक्षशिला, महाराष्ट्र व मालवा-सुराष्ट्र में मिलते हैं। पश्चिमी भारत के क्षत्रप वंशों में ही एक वंश कार्दमक नामका था जिसकी स्थापना सामोतिक के पुत्र चष्टन ने की थी। रुद्रदामा इसी चष्टन का पौत्र और जयदामा का पुत्र था। (राज्ञो चाष्टनसस्सामोतिक पुत्रस राज्ञो रुद्रदामस जयदाम पुत्रस—चष्टन व रुद्रदामा का अन्धो-लेख, स० इ०, पृ० १७४)। चष्टन ने राजा व महाक्षत्रप उपाधियां धारण की थीं जबकि उसके पुत्र जयदामा ने केवल 'राजा' और 'क्षत्रप' उपाधियां। शक राज-व्यवस्था में प्रायः एक 'महाक्षत्रप' के साथ उसका पुत्र 'क्षत्रप' उपाधि के साथ शासन करता था जो बाद में अपने पिता के दिवंगत हो जाने पर 'महाक्षत्रप' हो जाता था। इसलिए अनुमान किया गया है कि जयदामा की मृत्यु 'महाक्षत्रप' बने बिना चष्टन के जीवन काल में ही हो गई थी, इसीलिए प्रथम रुद्रदामा अपने पितामह चष्टन के साथ 'क्षत्रप' बना और चष्टन की मृत्यु के बाद 'महाक्षत्रप'।

प्रथम रुद्रदामा किस प्रकार राजा बना ?—प्रथम रुद्रदामा किस प्रकार राजा बना इसके विषय में जूनागढ़-लेख में जो बातें कहीं गई हैं वे अंशतः परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं। इसकी ९वीं पंक्ति में इसका लेखक एक तरफ यह कहता है कि रुद्र-दामा 'गर्भ से ही' (पिता के अकालतः दिवंगत हो जाने के कारण ?) राजलक्ष्मी को धारण करने वाले गुणों से युक्त था लेकिन साथ ही यह दावा भी करता है कि उसके स्वामी को सब वर्णों के लोगों ने अपनी रक्षा के लिए चुना था। अब मृत राजा का पुत्र होने के कारण राजपद पाने वाले किसी नरेश के लिए पैतृक रूप से राज्य पाने के दावा करने के साथ का यह कहना कि उसकी प्रजा ने अपनी रक्षा के हेतु चुना था बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है—विशेषतः जब वह यह भी बड़े गर्व पूर्वक घोषित करता है कि उसने अपने आप अर्थात् शक्ति से 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण की थी। ऐसा लगता है इस लेख का लेखक रुद्रदामा को पैतृक अधिकार, प्रजा के अनु-रोध और शक्ति के प्रयोग इन तीनों विधियों से राजलक्ष्मी प्राप्त करने का श्रेय देना चाहता है। इसके लिए उसे कुछ औचित्य दो तथ्यों से मिल गया है : एक, रुद्रदामा

एक राजवंश में उत्पन्न हुआ था और दूसरे उसका पिता जयदामा महाक्षत्रप नहीं था जबकि रुद्रदामा ने यह उपाधि धारण की थी। लेकिन इन दोनों विधियों के साथ प्रजा के अनुरोध की संगति बैठाना एकदम असम्भव है। अतः इसे लेख के लेखक द्वारा अपने स्वामी की अतिरञ्जित प्रशंसा करने का प्रयास ही मानना चाहिए।

कुषाणों से सम्बन्ध—'स्वयमधिगत महाक्षत्रपनाम्ना' पद से रुद्रदामा के कुषाणों के साथ सम्बन्ध की समस्या जुड़ी है। रुद्रदामा का शासन काल १३० ई० में अथवा उसके कुछ पूर्व चष्टन के अधीन 'क्षत्रप' रूप में प्रारम्भ हुआ (अन्धों-लेख, स० इ०, पृ० १७४) और वह निश्चय ही १५० ई० के कुछ वर्ष बाद तक शासन करता रहा। अब यह तथ्य स्थापित हो चुका है कि सुप्रतिथ कुषाण सम्राट् प्रथम कनिष्क ने ७८ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया था। कनिष्क के ११वें वर्ष अर्थात् ७८ + ११ = ८९ ई० के सुई विहार-अभिलेख से स्पष्ट है कि कनिष्क का अधिकार बहावलपुर के समीपस्थ सुईविहार पर अवश्य ही था जबकि १५५ई० के लगभग सिन्धु-सौवीर रुद्रदामा के राज्य में सम्मिलित थे। जो विद्वान् कनिष्क का राज्यारोहण १४४ ई० में मानते हैं उनको १४४ + ११ = १५५ ई० में सुईविहार में कनिष्क का प्रभुत्व मानना दुष्कर हो जाता है। क्योंकि सुईविहार सिन्धु-सौवीर में स्थित रहा होगा, इसलिए रुद्रदामा और कनिष्क दोनों एक साथ इस प्रदेश पर शासन नहीं कर सकते थे। अतः कनिष्क का राज्यारोहण ७८ ई० में मानना अधिक उचित है।

शक-सातवाहन संघर्ष का वर्णन—रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख शक-सातवाहन संघर्ष की एक विशेष अवस्था का वर्णन करता है। क्षहरात शकों ने नहपान के नेतृत्व में सातवाहनों को हराकर पश्चिमी भारत के अनेक प्रदेशों को अधिकृत कर लिया था। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरातों का उन्मूलन कर पश्चिमी भारत में सातवाहन सत्ता को पुनर्स्थापित किया। लेकिन रुद्रदामा के नेतृत्व में शकों ने सातवाहनों को फिर से हरा दिया। रुद्रदामा ने आकरावन्ति, अनूप, सुराष्ट्र, कुकुर तथा अपरान्त को निश्चय ही सातवाहनों से छीना था (दे०, पंक्तियाँ १०–१२ की टि० ४)। वह शातकर्णि को दो बार हराने का दावा भी करता है। यह शातकर्णि सम्भवतः गौतमी पुत्र शातकर्णि ही है (दे०, पंक्तियाँ १०–१२, टि० ७)।

राजनीतिक महत्त्व की अन्य सूचनाएँ—रुद्रदामा के लेख में राजनीतिक महत्त्व की कई अन्य सूचनाएँ मिलती हैं। (१) इसमें यौधेय-शक संघर्ष का उल्लेख मिलता है और यौधेयों की शूरता सम्बन्धी अन्य साक्ष्य से ज्ञात परम्परा का समर्थन होता है। (२) इसमें मौर्यों के पश्चिमी भारत पर अधिकार का—चन्द्रगुप्त से लेकर अशोक के काल तक—ज्ञान होता है, चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के काल के दो गवर्नरों के नाम मालूम होते हैं, तथा मौर्यों की जनकल्याणोन्मुख सिंचाई-नीति का परिचय मिलता है। (३) इससे मालूम होता है कि सुराष्ट्र में विदेशियों का विशेष प्रभाव था (दे०, पंक्तियाँ १६–२० की टि० ४)। (४) इस लेख से हमें रुद्रदामा के राज्य विस्तार तथा पश्चिमी भारत के तत्कालीन भूगोल का ज्ञान होता है।

प्रशासनिक और सामाजिक महत्त्व—जूनागढ़-लेख का महत्त्व प्रशासनिक और सामाजिक इतिहास की दृष्टि से भी है। (१) यह शायद प्राचीन भारत का गुप्त युग तक के लखों में एक मात्र ऐसा अभिलेख है जिसमें स्वयंवर-प्रथा के प्रचलन का उल्लेख हुआ है। (२) इससे स्पष्ट है कि रुद्रदामा जैसे विदेशी नरेशों का लगभग पूर्ण भारतीयकरण हो चुका था। वे अन्य क्षत्रियों के साथ स्वयंवरों में आमन्त्रित होते थे, संस्कृत के संरक्षक थे और भारतीय साहित्य को अपनाकर गर्व का अनुभव करते थे। (३) एक स्थल पर इसमें 'हाथ उठाकर' न्याय करने की चर्चा है। इस प्रथा का उल्लेख 'मनुस्मृति' में हुआ। (४) यह लेख रुद्रदामा की शासन व्यवस्था और नीति पर प्रकाश देता है। उसकी नीति कई दृष्टि से समुद्रगुप्त की नीति का स्मरण दिलाती है। उदाहरणार्थ, उसका शातकर्णि को जीतकर छोड़ देना समुद्रगुप्त द्वारा दक्षिण के राजाओं को बन्दी बनाकर छोड़ देने का स्मरण दिलाता है और उसका 'भ्रष्टराज्य प्रतिष्ठापक' होना समुद्रगुप्त की 'अनेक भ्रष्टराज्योत्सन्न राजवंश प्रतिष्ठापन' नीति का। उसका राज्य अवश्य ही अनेक प्रांतों में बँटा था, जैसे आनर्त्त और सुराष्ट्र जहाँ उसने सुविशाख को गवर्नर नियुक्त किया था। (५) यह लेख मति सचिव, कर्मसचिव, नगर, निगम, जनपद, पौर जानपद, अनेक प्रशस्तकरों (जैसे बलि, शुल्क तथा भाग) तथा अनेक अप्रशस्त करों (जैसे कर, विष्टि तथा प्रणय) के उल्लेख के कारण भी महत्त्वपूर्ण है। दे०, सम्बद्ध टिप्पणियां। (६) इसके अन्त में सुविशाख के गुणों का वर्णन है। जिससे हमें पता चलता है कि उस युग में एक अच्छा गवर्नर किसे समझा जाता था।

रुद्रदामा का व्यक्तित्व—जूनागढ़-लेख रुद्रदामा के व्यक्तित्व के कई पक्षों को स्पष्ट करता है। इससे प्रतीत होता है कि रुद्रदामा का व्यक्तित्व अनेक दृष्टि से समुद्रगप्त के व्यक्तित्व समान बहुप्रतिभाशाली था। (१) इस लेख में उसके व्यक्तित्व का जो पक्ष सर्वाधिक उमड़ा है वह है उसकी जनकल्याण की भावना। उसने प्रजा के हित के लिए अपने मन्त्रियों के विरोध करने के बावजूद अपने निजी कोष से भारी धन व्यय करके सुदर्शन शील का पुनर्निर्माण कराया। (२) उसने बाँध के लिए प्रजा से कोई अतिरिक्त तथा अनुचित कर नहीं लिया। इस विषय में वह स्पष्टतः कौटि-ल्यीय परम्परा का अनुसरण नहीं करता था। सामान्यतः भी वह केवल उचित कर ही लेता था (यथाव प्राप्तैर्बलिशुल्क भागैः)। (३) एक शासक के रूप में भी वह उदार लगता है क्योंकि उसने अपने मन्त्रियों को अपने मत स्पष्टतः अभिव्यक्त करने की छूट दे रखी थी। ऐसा न होता तो सुदर्शन झील के पुनर्निर्माण कराने की उसकी इच्छा का विरोध नहीं करते। (४) इस लेख के लेखक ने उसकी लोकप्रियता की ओर संकेत इस कथन द्वारा किया है कि सब जातियों के लोगों ने उसे अपना रक्षक चुना था। (५) रुद्रदामा एक कुशल सेनानायक और योद्धा भी था। उसने वीर यौधेयों को हराया और शातकर्णि को दो बार परास्त किया। इसके अतिरिक्त उसने अन्य अनेक

युद्ध लड़े होंगे। वह रण में सम्मुख आए समान शत्रु पर वार करने में नहीं हिच-किचाता था परन्तु संग्राम से अतिरिक्त पुरुषवध से सर्वत्र निवृत्त रहने की प्रतिज्ञा का उसने निर्वाह किया था। (६) वह संगीत और शास्त्रों का ज्ञाता, संस्कृत का संरक्षक, काव्यशास्त्र का मर्मज्ञ और गद्य पद्य रचना में प्रवीण था। (७) उसने एक न्याय प्रिय नरेश के रूप में ख्याति अर्जित की थी (यथार्थ हस्तोच्छ्रयार्जितोर्जित धर्मानुरागेण)। (८) व्यक्तिगत रूप से वह एक सुन्दर एवं राजोचित लक्षणों से युक्त पुरुष रहा प्रतीत होता है (परमलक्षण व्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्त्तिना····)।

साहित्यिक महत्त्व

इस लेख से मैक्समूलर की 'अन्धकारमय-युग' सम्बन्धी अवधारणा का खण्डन होता है—जूनागढ़-लेख का साहित्यिक दृष्टि से अति सामान्य महत्त्व है। यह संस्कृत भाषा का प्रथम महत्त्वपूर्ण शिलालेख है। इसके पूर्व के प्रायः सभी लेख प्राकृत और पाली में लिखित हैं। सातवाहन नरेश भी प्राकृत में ही दिलचस्पी रखते थे। 'काव्य-मीमांसा' में प्रदत्त एक अनुश्रुति के अनुसार वे अपने अन्तःपुर में भी प्राकृत ही बोलते थे। उनके अभिलेख तो प्राकृत में हैं ही। इसीलिए उनके काल में 'गाहा सत्तसई' की रचना हो सकी। जूनागढ़-लेख के पूर्वकालीन लेखों में केवल अयोध्या से मिला एक लेख संस्कृत भाषा में है परन्तु वह प्रशस्ति न होकर दो पंक्तियों का एक लघु लेख मात्र है। जैसा कि संस्कृत साहित्य के इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं, संस्कृत साहित्य के विकास में वैदिक काल के उपरान्त महाकाव्यों का काल आता है और तत्पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य का। लौकिक संस्कृत काव्य की भाषा का रूप तो पाणिनि ने निर्धारित कर दिया था (जिनका समय विविध विद्वान् प्रायः ७ वीं से चौथी शती ई० पूर्व के मध्य मानते हैं)। लेकिन आजकल उपलब्ध संस्कत काव्य ग्रन्थ प्रायः गुप्तकाल के हैं। कालिदास (लग० ४०० ई०) के पूर्वगामी लेखकों में केवल अश्वघोष और भास की रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें अश्वघोष प्रथम कनिष्क के समकालीन माने जाते हैं और भास का समय अनिश्चित है। कुछ विद्वान् कालि-दास को प्रथम शती ई० पू० में रखते हैं लेकिन ज्ञात तथ्य इस मत के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में मैक्समूलर ने (जो भास के ग्रन्थों से अपरिचित थे) यह प्रतिपादित किया कि अश्वघोष से लेकर पाँचवीं शती तक का युग संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'अन्धकारमय युग' है। लेकिन जैसा कि ब्युलर ने दिखाया है (आई० ए०, १९१३), प्रथम कुमारगुप्त के काल की मन्दसौर-प्रशस्ति, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति तथा रुद्रदामा की जूनागढ़-प्रशस्ति, विशेषतः इनमें अन्तिम लेख से स्पष्ट है कि इस तथा-कथित 'अन्धकारमय-युग' में उत्तर भारत के राजदरबारों में काव्यकला का बराबर विकास हो रहा था। इस दृष्टि से यह अभिलेख संस्कृत साहित्य के विकास के अध्ययन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

भाषा के दोष और उस पर प्राकृत और पौराणिक संस्कृत का प्रभाव—जूनागढ़-अभिलेख की भाषा सामान्यतः प्रवाहमय है लेकिन इस पर कहीं-कहीं प्राकृत का प्रभाव मिलता है। इसके वर्ण विन्यास में ळ का प्रयोग (प्रणाळी, पाळी व पाळ में) इस पर प्राकृत प्रभाव का एक प्रमाण है। इसी प्रकार इसकी पंक्ति ७ में 'विंशद्दुत्तराणि' के स्थान पर 'वीशदुत्तराणि' पाठ इस ओर संकेत देता है। वस्तुतः 'विंशत्' पाठ भी 'त्रिंशत्' के अनुरूप है और मात्र पुराणों और महाकाव्यों में मिलता है, 'क्लासिकल' संस्कृत में नहीं। इसी प्रकार इसमें पंक्ति १२ में 'नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य' पाठ सम्भवतः प्राकृत के प्रभाव के कारण है, इसका शुद्ध पाठ होगा 'निर्व्याजमवजित्यवजित्य'। जैसा कि सभी जानते हैं हिन्दी व गुजराती में ऐसे प्रयोगों में प्रायः 'इ' के स्थान पर 'ई' हो जाती है यथा 'जित्' के स्थान पर 'जीत'। 'इन्द्रजित्' को 'इन्द्रजीत' उच्चारित करना इसका उदाहरण है। 'विषयाणां पतिना' में (पंक्ति ११) 'पतिना' का प्रयोग पौराणिक संस्कृत का है, पाणिनीय संस्कृत में 'पत्या' होना चाहिए था। इसी प्रकार पंक्ति १० में 'अन्यत्रसंग्रामेषु' के स्थान पर 'अन्यत्र संग्रामेभ्यः' पाठ होना चाहिए था, तथा पंक्ति १७ में 'प्रत्याख्यातारम्भं' के स्थान पर 'प्रत्याख्यातारम्भे'। पंक्ति ५ में 'पर्ज्जन्येन एकार्णव भूतायामिव पृथिव्यां कृतायां' में तो अधिकपदता का दोष स्पष्ट ही है क्योंकि इसमें 'भूतायां' के उपरान्त 'कृतायां' शब्द अधिक प्रयुक्त हो गया है। इस प्रसंग में इस लेख में क्रियाओं के कम प्रयोग की ओर भी ध्यान दिलाया जा सकता है। इसमें केवल तीन स्थानों पर क्रियाओं का प्रयोग है—दो बार 'आसीत्' का (पंक्तियाँ ७ व ८) तथा एक बार 'वर्तते' का (पंक्ति ३)।

वैदर्भी रीति का प्रभाव—लेकिन भाषा के उपर्युक्त दोषों और पौराणिक भाषा और शैली के प्रभाव के बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि जूनागढ़-प्रशस्ति एक उत्तम गद्यकाव्य है और 'क्लासिकल' काव्य परम्परा की प्रारम्भिक कड़ियों में से एक है। जैसा कि ब्युलर ने ध्यान दिलाया है इसका लेखक बाद में दण्डी द्वारा प्रतिपादित इस नियम से परिचित लगता है कि ओजगुण विशिष्ट समास बहुलता गद्य काव्य का जीवन है (ओज : समासभूयस्त्वमेतद गद्यस्य जीवितम्)। उसकी रचना में अकेले शब्दों से अधिक छोटे-छोटे प्रवाहमय समासयुक्त पदों का प्रयोग अधिक हुआ है इसलिए उसकी रचना को वैदर्भी रीति का उदाहरण माना जा सकता है। लेकिन इसमें कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे समास पद गौड़ी बन्ध की छटा भी दिखाते हैं जैसे सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियों की बाढ़ के वर्णन में। इस दृष्टि से जूनागढ़-लेख हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति से तुलनीय है यद्यपि हरिषेण की प्रतिभा निश्चय ही जूनागढ़-लेख के अज्ञात कवि की प्रतिभा से श्रेष्ठतर थी।

अलंकार—जूनागढ़ लेख का लेखक अलंकारों में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का प्रयोग करता है। शब्दालंकारों में उसने अनुप्रास का प्रयोग अधिक किया है। एक सी ध्वनि करने वाले शब्दों या पदों, शब्दांशों और वर्णों की आवृत्ति

प्रायः हुई है। यथा प्रहरणवितेरण, समग्राणां····विषयाणां, अविधेयानां यौधेयानां, नाम्ना ···दाम्ना····रुद्रदाम्ना, शक्तेन दान्तेनाचपलेनाविस्मितेनार्येणाहार्येण, प्रभृतीनां नदीनां, प्रकृतीनां निषादादीनां, न्यायाद्यानां, विद्यानां, पारणधारण, दानमानावमान, गद्य पद्य, प्रमाणमानोन्मानो, और जानपदंजनं तथा पौरजानपदजना। 'गिरिशिखर तरुतटाट्टालकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना' पद में एक ध्वनि वाले स्वरों और व्यञ्जनों की आवृत्ति बड़ी कुशलता पूर्वक की गई है। अर्थालंकार का प्रयोग हुआ है परन्तु बहुत कम। उपमालंकार का प्रयोग दो बार मिलता है–एक 'पर्वतप्रतिस्पर्धि' पद में जिसमें बांध की दीवार की तुलना शैलबाहु से की गई है और 'मरुधन्वकल्पम्' में जहां जल निकल जाने के बाद झील की उपना मरुस्थल से दी गई है। उत्प्रेक्षा का उदाहरण 'पर्ज्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां' पद है जिसमें वर्षा के कारण जलाप्लखित पृथिवी की समुद्र रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। 'अतिभृशं दुर्दुर्शनम्' में श्लेषालंकार के प्रयोग का प्रयास किया गया है जो विशेष सफल नहीं हो पाया है (दे० कीलहॉर्न व ब्युलर के निबन्ध)।

काव्य के गुणों का वर्णन—संस्कृत साहित्य विशेषतः काव्य के विकास के इतिहास की दृष्टि से इस लेख की १४ वीं पंक्ति का 'स्फुट लघुमधुरचित्रकान्तशब्द-समयोदारालंकृत गद्य पद्य काव्यविधानप्रवीणेन' वाक्यांश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है (इसके अर्थ के लिए दे०, पीछे टि०) क्योंकि (१) इससे ज्ञात होता है कि दूसरी शती ई० के मध्य उत्तमकाव्य की विशेषाताओं के लिए कुछ वैसे ही मानदण्ड स्थिर किए जा चुके थे जैसे बाद में भरत के 'नाटयशास्त्र' और दण्डी के 'काव्यादर्श' में बताए गए हैं (२) परोक्षतः इससे उस समय वैदर्भी शैली में लिखित गद्य काव्यों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। (३) इससे उस युग में अलंकार-शास्त्र का अस्तित्व सिद्ध होता है। (४) इससे प्रमाणित होता है कि उस युग में संस्कृत काव्य का इतना विकास हो चुका था कि विदेशी शक नरेश भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे, उल्टे वे गद्य-पद्य विधान में प्रवीण होने का दावा करते थे। इन तथ्यों से जूनागढ़ अभिलेख का संस्कृत साहित्य के विकास के इतिहास के लिए महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

प्रथम रुद्रसिंह के काल का गुन्दा पाषाण-लेख

(शक) सम्वत् १०३ = १८१ ई०

लेख-परिचय—यह अभिलेख शक महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा के पुत्र प्रथम रुद्र-सिंह के शासनकाल में लिखवाया गया था। यह गुजरात के राजकोट डिवीजन में हालार जिले (अब जामनगर) के गुन्दा स्थल से १८८० में उपलब्ध एक पाषाण पर उत्कीर्ण है जो अब राजकोट के वाटसन-संग्रहालय में सुरक्षित है। लेख में २' २" × ९½" क्षेत्रफल में लिखी कुल ५ पंक्तियां हैं और यह सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि ब्राह्मी। सर्वप्रथम इसे ब्युलर ने 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' के १०वें अंक में सम्पादित किया था।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, आई० ए०, १०, पृ० १५७ अ०; इन्द्रजी, म० ला०, बाम्बे गजेटियर, १, खण्ड १, पृ० ४२; रेप्सन, जे० आर० ए० एस०, १८९९, पृ० ३७५ अ०; लूडर्स, सूची, स० ९६३; बनर्जी, आर० डी० तथा सुक्थङ्कर, वी० एस०, ई० आई०, १६, पृ० २३५; सरकार, स० इ०, पृ० १८१-२।

मूलपाठ

१. सिद्ध [*] (॥) र [ा] ज्ञो मह [ा] क्षत्र [पस्य] स्वामि चष्टनप्रपौत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामि-जयदाम-पौत्रस्य

२. स्य रा [ज्ञो महाक्षत्रपस्य] स्वामि-रुद्रदाम पुत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामि-रुद्र-

३. सीहस्य [व] र्षे [त्रि] युत्तर शते १०० (+ *) ३ वैशाख शुद्धे पंचम धत्ये (ण्य?)–तिथौ रो [हि] णि-नक्ष-

४. त्र मह [र्त्ते] आभीरेण सेनापति-बापकस्य पुत्रेण सेनापति-रुद्र [भू] तिन [ा ग्रा] मे रसो-

५. [प] द्रिय वा [पी] [खा] नि [ता] बन्धापितश्च सर्व्व सत्वानां हितसुखार्थमिति (॥)

पाठ-टिप्पणी—बनर्जी ने 'चष्टन' के स्थान पर 'चाष्टन' पढ़ा है। दूसरी पंक्ति के प्रारम्भ में 'स्य' गलती से पुनः उत्कीर्ण हो गया है। तीसरी पंक्ति में 'पंचम धत्ये' को कुछ विद्वान् 'पंचमि धन्य' पढ़ते हैं। लिपिक का उद्देश्य 'धन्य' लिखना ही था। 'रोहिणि' के स्थान पर कुछ ने 'श्रवण' पढ़ा है। 'रसोपद्रिये वापी' को ब्युलर ने 'रसोपद्रे ह्रदार्थे' पढ़ा है और इन्द्रजी ने 'रसोपद्रे ह्रदः'।

अनुवाद

सिद्धम् ।। राजा महाक्षत्रप स्वामी चष्टन के प्रपौत्र, राजाक्षत्रप स्वामी जयदामा के पौत्र, राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रदामा के पुत्र राजा क्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह के एक सौ तीन १०३ वें वर्ष में वैशाख के शुक्ल पक्ष में धन्य तिथि पञ्चमी को रोहिणी नक्षत्र मुहूर्त में सेनापति बापक के पुत्र सेनापति रुद्रभूति आभीर द्वारा सब प्राणियों के हित और सुख के हेतु रसोपद्रक गांव में वापी (अर्थात् कूप) खुदवाया गया और (शिलाओं से) बँधवाया गया ।

टिप्पणी—अषाढ मास में शुक्ल पक्ष में उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र पञ्चमी से अष्टमी के बीच में पड़ता है।

लेख का महत्त्व

इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि शक सम्वत् १०३=१८१ ई० में, कम से कम इस वर्ष के प्रारम्भ तक, प्रथम रुद्रसिंह एक क्षत्रप मात्र था। लेकिन उसके इस तिथि के ही चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होता है उसने सम्भवतः इस वर्ष के उत्तरार्द्ध मे 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण कर ली थी। इस लेख में आभीरों का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। वे राजस्थान से महाराष्ट्र की तरफ आए थे। इस लेख से मालूम होता है कि रुद्रभूति आभीर ने अपने पिता के समान 'सेनापति' पद प्राप्त किया था। आभीरों की इस प्रतिष्ठा का लाभ उठाकर कुछ ही समय बाद ईश्वरसेन आभीर 'महाक्षत्रप' बन बैठा। दे०, को० हि० इ०, २, पृ० २८४ अ०।

प्रथम रुद्रसिंह के काल का गुन्दा पाषाण-लेख

(शक) सम्वत् १०३ = १८१ ई०

लेख-परिचय—यह अभिलेख शक महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा के पुत्र प्रथम रुद्र-सिंह के शासनकाल में लिखवाया गया था। यह गुजरात के राजकोट डिवीज़न में हालार जिले (अब जामनगर) के गुन्दा स्थल से १८८० में उपलब्ध एक पाषाण पर उत्कीर्ण है जो अब राजकोट के वाटसन-संग्रहालय में सुरक्षित है। लेख में २' २" × ९½" क्षेत्रफल में लिखी कुल ५ पंक्तियां हैं और यह सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और लिपि ब्राह्मी। सर्वप्रथम इसे ब्युलर ने 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' के १०वें अंक में सम्पादित किया था।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, आई० ए०, १०, पृ० १५७ अ०; इन्द्रजी, म० ला०, बाम्बे गजेटियर, १, खण्ड १, पृ० ४२; रेप्सन, जे० आर० ए० एस०, १८९९, पृ० ३७५ अ०; लूडर्स, सूची, स० ९६३; बनर्जी, आर० डी० तथा सुकथङ्कर, वी० एस०, ई० आई०, १६, पृ० २३५; सरकार, स० इ०, पृ० १८१-२।

मूलपाठ

१. सिद्ध [˙*] (॥) र [ा] ज्ञो मह [ा] क्षत्र [पस्य] स्वामि चष्टनप्रपौत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामि-जयदाम-पौत्रस्य

२. स्य रा [ज्ञो महाक्षत्रपस्य] स्वामि-रुद्रदाम पुत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामि-रुद्र-

३. सीहस्य [व] र्षे [त्रि] युत्तर शते १०० (+ *) ३ वैशाख शुद्धे पंचम धत्ये (ण्य?)–तिथौ रो [हि] णि-नक्ष-

४. त्र मह‍ू [र्त्ते] आभीरेण सेनापति-बापकस्य पुत्रेण सेनापति-रुद्र [भू] तिन [ा ग्रा] मे रसो-

५. [प] द्रिय वा [पी] [खा] नि [ता] बन्धापितश्च सर्व्वं सत्वानां हितसुखार्थमिति (॥)

पाठ-टिप्पणी—बनर्जी ने 'चष्टन' के स्थान पर 'चाष्टन' पढ़ा है। दूसरी पंक्ति के प्रारम्भ में 'स्य' गलती से पुनः उत्कीर्ण हो गया है। तीसरी पंक्ति में 'पंचम धत्ये' को कुछ विद्वान् 'पंचमि धन्य' पढ़ते हैं। लिपिक का उद्देश्य 'धन्य' लिखना ही था। 'रोहिणि' के स्थान पर कुछ ने 'श्रवण' पढ़ा है। 'रसोपद्रिये वापी' को ब्युलर ने 'रसोपद्रे ह्रदार्थे' पढ़ा है और इन्द्रजी ने 'रसोपद्रे ह्रदः'।

अनुवाद

सिद्धम् ।। राजा महाक्षत्रप स्वामी चष्टन के प्रपौत्र, राजाक्षत्रप स्वामी जयदामा के पौत्र, राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रदामा के पुत्र राजा क्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह के एक सौ तीन १०३ वें वर्ष में वैशाख के शुक्ल पक्ष में धन्य तिथि पञ्चमी को रोहिणी नक्षत्र महूर्त में सेनापति बापक के पुत्र सेनापति रुद्रभूति आभीर द्वारा सब प्राणियों के हित और सुख के हेतु रसोपद्रक गांव में वापी (अर्थात् कूप) खुदवाया गया और (शिलाओं से) बँधवाया गया ।

टिप्पणी—अषाढ मास में शुक्ल पक्ष में उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र पञ्चमी से अष्टमी के बीच में पड़ता है।

लेख का महत्त्व

इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि शक सम्वत् १०३=१८१ ई० में, कम से कम इस वर्ष के प्रारम्भ तक, प्रथम रुद्रसिंह एक क्षत्रप मात्र था। लेकिन उसके इस तिथि के ही चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होता है उसने सम्भवतः इस वर्ष के उत्तरार्द्ध में 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण कर ली थी। इस लेख में आभीरों का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। वे राजस्थान से महाराष्ट्र की तरफ आए थे। इस लेख से मालूम होता है कि रुद्रभूति आभीर ने अपने पिता के समान 'सेनापति' पद प्राप्त किया था। आभीरों की इस प्रतिष्ठा का लाभ उठाकर कुछ ही समय बाद ईश्वरसेन आभीर 'महाक्षत्रप' बन बैठा। दे०, को० हि० इ०, २, पृ० २८४ अ०।

जयदामा के पौत्र का जूनागढ़ पाषाण-लेख

प्राप्ति-स्थल : जूनागढ़, गुजरात
भाषा : संस्कृत **लिपि :** ब्राह्मी
तिथि : वर्ष संख्या मिट गई है
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : बनर्जी व सुकथङ्कर, ई० आई०, पृ० २४१, सरकार, स० इ०, पृ० १८३

मूलपाठ

१. ....**स्तथा सुरगणेन [क्षत्रा] णां प्रथ [म]....**
२. ....**चष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञ [:] क्ष [त्रप *] स्य स्वामि-जयदाम (म्नः) [पौ] त्तस्य राज्ञो म [हाक्ष]....**
३. ....**[चैत्र] शुक्लस्य दिवसे पंचमे ५ इ [ह] गिरिनगरे देवासुर-नाग-य [क्ष] रा [क्ष] से....**
४. ....**तथा (?) [पुर] मि [व]....केवलि [ज्ञा *] न - सं [प्राप्ता] नां (?)....जरा-मरण....**

प्रथम रुद्रसेन का गढा-(जसदन) पाषाण लेख

शक स० १२७ (=२०५ ई०)

प्राप्ति-स्थल : गुजरात के राजकोट जिले में जसदन के निकटस्थ गढा नामक स्थान

भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : सं १२७

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : हॉर्नले, आई० ए०, १२, पृ० ३२ अ०; लूडर्स सूची, सं० ९९७; बनर्जी व सुकथङ्कर, ई० आई०, १६, पृ० २३८; सरकार, स० इ०, पृ० १८५–६

मूलपाठ

१. [व] र्षे १०० (+ *) २० (+ *) [७] [भा] द्रपद-बहुलस ५ राज्ञो महाक्ष [त्र] पस

२. भद्रमु (मु) खस स्वाम-चष्टण-पुत्र-पपौत्रस्य राज्ञो क्ष (त्र) पस

३. स्वामी – [ज] यदम-पुत्र-पौत्रस्य राज्ञो महक्षत्रपस्य भद्रमुख [स्य]

४. [स्व] म-रुद्रदाम-पौ [त्र] स्य राज्ञो महक्ष (त्र*) पस्य भ [द्रमु] खस्य स्वामि–

५. रुद्रसिह – (पुत्र*) स्य राज्ञो महक्षत्रपस्य स्वामि-रुद्रसेनस्य इदं शात्यं (?)

६. मानस-सगो [त्र] स्य प्र [ता] शक-पुत्रस्य खर [पा] त्थस्य भातृभिः उत्थावित स्व [र्ग]—

७. [सुखार्थं ?] [।। *]

प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी पाषाण-मञ्जूषा लेख

शक स० १२७ (=२०५ ई०)

प्राप्ति-स्थल : गुजरात के साबरकण्ठा जिले में शामलजी के समीप देवनीमोरी
भाषा : संस्कृत **लिपि** : मध्यब्राह्मी
तिथि : (शक) सं० १२७ **श्लोक** : १ अनुष्टुभ, २–६ आर्या
सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : मेहता और चौधरी, जे० ओ० आई०, १२, पृ० १७३ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० ५१९

मूलपाठ

१. नमस्सर्व्वज्ञाय ॥
ज्ञानानुकम्पा-कारुण्य-प्रभाव-निधये नमः (।*)
सम्यक्संबुद्ध-सूर्य्याय परवादितमोनुदे ॥ ।
सप्तविंशत्यधिके कथिकनृपाणां समागते (ऽ*) ब्दशते (।*)
२. भ (भा) द्रपदपंचमदिने नृपतौ श्रीरुद्रसेने च (॥*)
कृतमवनिकेतुभूतम्महाविहाराश्रये महास्तूपं (पम् ।)
सत्वानेकानुग्रह-निरताभ्यां शाक्यभिक्षुभ्यां (भ्याम् ॥)
३. साध्वग्निवर्म्मनाम्ना सुदर्शनेन च विमुक्तरन्ध्रेण (।*)
कर्म्मान्तिकौ च पाशान्तिकप लौ शाक्यभिक्षुकावत्र (॥*)
ल
दशबलशरीर निलयशमशैलमयस्स्वयं वराहेण (।*)
शु
४. कुट्टिम-क (कृ) ता कृतो (ऽ*) यं समुद्रकस्सेन-पुत्रेण ॥
महासेन-भिक्षुरस्य च कारयिता विश्रुतः समुद्गस्य (।*)
५. सुगतप्रसादकामो वृद्धयर्थन्धर्म्मसङ्घाभ्यां (भ्याम्) ॥

श्रीधरवर्मा का कानाखेड़ा पाषाण-लेख

शक स० १०२ (?) (=१८० ई० ?)

लेख परिचय—यह लेख जॉन मार्शल के एक सहयोगी ने मध्य भारत में साञ्ची के निकट स्थित कानाखेड़ा नामक ग्राम से प्राप्त किया था। यह एक पाषाण पर उत्कीर्ण है जो एक दीवार में लगा हुआ था। लेख में ६ पंक्तियाँ हैं जो ६'.७५"=२'.५" क्षेत्रफल में लिखी हैं। लेख के कुछ अक्षर मिट गए हैं और कुछ अपठनीय हो गए हैं। इसकी **भाषा** संस्कृत है। यह गद्य में प्रारम्भ होता है परन्तु इसके अन्त में एक श्लोक दिया गया है जो शार्दूल विक्रीडित छन्द में है। कुछ शब्दों पर प्राकृत का प्रभाव मिलता है। **वर्तनी** में 'र्' के उपरान्त व्यंजन की आवर्ति उल्लेखनीय है यथा 'श्रीधरवर्म्मणा' में। लेख नन्द नामक शक के पुत्र महादण्डनायक श्रीधरवर्मा के शासनकाल का है। इसका **उद्देश्य** उसके द्वारा एक कूप खुदवाए जाने का उल्लेख करना है।

तिथि—प्रस्तुत लेख में दो तिथियाँ दी गई हैं। पहली तिथि दूसरी-तीसरी पंक्ति में लिखी है। यह 'तेरहवें वर्ष' के श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की दशमी है। बनर्जी के अनुसार यह तिथि श्रीधरवर्मा के स्वामी नरेश जीवदामा के, जिसका उल्लेख वह प्रथम पंक्ति में मानते हैं, शासन का वर्ष है। परन्तु मिराशी ने अभिलेख में जीवदामा का उल्लेख नहीं माना है और वह इस तिथि को स्वयं श्रीधरवर्मा के ही शासन का वर्ष बताते हैं। दूसरी तिथि लेख के अन्त में लिखी है। परन्तु इसके पाठ और इसके सम्वत् की पहिचान के विषय में बड़ा वाद-विवाद है। बनर्जी व सरकार ने इसे शक-सम्वत् की २०१ तिथि बताया है, एन० जी० मजूमदार ने शक-सम्वत् का २४१ वाँ वर्ष तथा मिराशी ने कल्चुरि-चेदि सम्वत् का १०२ वर्ष।

सन्दर्भ ग्रन्थ व लेख—बनर्जी, आर० डी०, ई० आई०, १६, पृ० २३२; मजूमदार, एन० जी०, जे० पी० ए० एस० बी०, १९, पृ० ३४३ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० १८६-७; मिराशी, वी० वी०, कॉर्पस, ४, भाग पृ० १३ अ०; आई० एच० क्यू०, २२, पृ० ४०।

मूलपाठ

१. सिद्धम्।।। भगवतस्त्रिदशगणसेनापतेरजितसेनस्य स्वामिमहासेन महा [कुमारस्य] [दिव्य] वीर्य्याज्जितविज [य]·······

२. धर्म विजयिना शकनन्दपुत्रेण महादण्डनायकेन शकेन श्रीधरवर्म्मणा व [र्ष सह] स्राय स्वराज्याभिवृद्धिकरे वैजयिके संवत्सरे त्रयोदश [मे]

३. श्रावणबहुलस्य दशमीपूर्व्वकमेतद्दिवसं कल्याणभ्युदय वृ [द्ध्यर्थम] क्षयस्वर्गावाप्तिहेतोर्द्धर्म्मयशोर्त्यं धर्म्मासिसंबुद्धया श्रा [श्र] द्ध [या]

४. शाश्वते चन्द्रा [दित्य] [कालि] कोयं……(॥) [आकारेऽप्रतिम] : [प्रसन्न] सलिलः सर्वाधिगम्यः सदा

५. सत्वा (त्त्वा) ना प्रियदर्शनो जलनिद्धिर्धर्म्मा [मृतः] शाश्वतः [।] [प्रणम्य मनसा द्रव्यस्य] [कृत्वा व्ययम्]

६. [कू] पः श्रीधरवर्म्मणाः गुणवता खानापितो [यं] शुभः [॥] १०० (+) २ [।] [स]……स्तु ॥

पाठ–टिप्पणी—'सिद्धम्' शब्द बाईं ओर तीसरी चौथी पंक्तियों के मध्य लिखा है। सरकार ने 'स्वामि' के उपरान्त 'महासेन' (स्य) महा [भक्त ?] [स्य] [आदित्य]' पाठ सुझाया है। बनर्जी ने 'कुमार' के बाद 'तेजसादित्य' पाठ पढ़ा है और मजूमदार ने 'तेजसादित्य' अथवा 'तेजः प्रसादात्'। ऊपर मिराशी का पाठ दिया गया है। बनर्जी ने 'वीर्य्यार्ज्जितविजय' को 'वीर्य्य जीवदाम' भी पढ़ा था। 'त्रयोदशमे' को 'त्रयोदशे' पढ़ें और 'दशमी पूर्व्वकमेतद्दिवसं' को 'दशम्यामेतद्दिवसे'। चौथी पंक्ति में 'चन्द्रादित्य' को बनर्जी ने 'चतुः सत्य' पढ़ा था और मजूमदार ने 'चन्द्र-सूर्य्य'। चौथी पंक्ति में ही 'शाश्वते' को 'शाश्वत' पढ़ें तथा लेख के अन्तिम शब्द को 'सिद्धमस्तु'।

शब्दार्थ

त्रिदशगणसेनापतेः=देवताओं के सेनापति का ; **अजितसेन**=जिसकी सेना अजेय है; **श्रावणबहुलस्य**=श्रावण के कृष्ण पक्ष की ; **कल्याणाभ्युदयवृद्धयर्थम**=कल्याण और अभ्युदय की वृद्धि के लिए ; **स्वर्गावाप्ति**=स्वर्ग की प्राप्ति ; **धर्मासिसंबुद्धया**=धर्म की असि से प्रबुद्ध होकर ; **प्रसन्न सलिलः**=स्वच्छ जल ; **सर्वाधिगम्यः**=सबको उपलब्ध; **सत्त्वानां**=प्राणियों का ।

अनुवाद

सिद्धि हो ! महादण्डनायक शक जातीय धर्मविजयी श्रीधरवर्मा द्वारा जो देवताओं के सेनापति, अजेय सेना (के अधिपति), अपने दिव्य पौरुष से विजय अर्जित करने वाले, भगवान् स्वामी महासेन महाकुमार का भक्त एवं शक नन्द का पुत्र है, अपने राज्य की सहस्रगुणा अभिवृद्धि करते हुए इस दिन अर्थात् विजयी संवत्सर १३ के श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की दशमी को धर्म की असि (=तलवार) से जाग्रत हुई श्रद्धा के साथ कल्याण और अभ्युदय की अभिवृद्धि के लिए, अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति के हेतु और धर्म तथा यश के उद्देश्य से जब तक चन्द्र और सूर्य हैं तब तक शाश्वत रहने वाला [यह कूप खुदवाया गया] ।

प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ जलवाला, [अप्रतिम आकार वाला], सबको सर्वदा अधिगम्य (अर्थात् उपलब्ध रहने वाला) यह शुभ कूप जो सभी प्राणियों को प्रिय दर्शन है (और) जल का शाश्वत भण्डार है, गुणी श्रीधरवर्मा द्वारा पुण्य के सञ्चय के हेतु मन ही मन (महासेन ?) को प्रणाम करके (और) (बहुत सा) द्रव्य व्यय करके खुद-वाया गया ।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत लेख अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इससे दूसरी शती ई० में शासन करने वाले एक शक नरेश श्रीधरवर्मा का अस्तित्व ज्ञात होता है । यह नरेश पश्चिमी भारत के कार्दमकों के वंश से सम्बन्धित नहीं लगता । उसके सिक्के भी अज्ञात हैं । इस लेख में उसे केवल 'दण्डनायक' उपाधि दी गई है परन्तु उसे 'धर्मविजयी' कहा जाना तथा उसके 'स्वराज्य' अर्थात् अपने राज्य का उल्लेख होने से स्पष्ट लगता है कि वह एक शासक था, केवल सेनापति नहीं । अब तो एरण से उसके शासन के २९ वें वर्ष का एक ऐसा लेख भी उपलब्ध है जिसमें उसे 'महाक्षत्रप' और 'राजन्' कहा गया है । अभाग्यवश उस लेख में किसी सम्वत् में तिथि नहीं दी गई है और प्रस्तुत लेख की सम्वत् वाली तिथि विवादग्रस्त है । मिराशी ने इसको १०२ पढ़ा है और इसे कल्चुरि-चेदि सम्वत् का वर्ष मानकर श्रीधरवर्मा का समय ३५१ ई० माना है । परन्तु उस समय साँची-एरण प्रदेश पर समुद्रगुप्त का प्रभुत्व था । स्वयं समुद्रगुप्त का ही एरण से एक स्तम्भ लेख उपलब्ध है । बनर्जी व सरकार श्रीधरवर्मा की तिथि शक सम्वत् २०१ मानकर उसे २७९ ई० में रखते हैं । परन्तु तब तक साँची-एरण

प्रदेश में नाग और वाकाटकों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। हमारा विचार है कि श्रीधरवर्मा की तिथि १०२ तो है परन्तु यह शक-सम्वत् का वर्ष होना चाहिए, कल्चुरि-सम्वत् का नहीं। इस प्रकार इस लेख की तिथि १८० ई० मानकर श्रीधरवर्मा का शासनकाल १६७–१९३ ई० में रखा जा सकता है। स्पष्टतः उसने प्रथम रुद्रदामा के बाद शक राज्य में उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ाई होगी।

श्रीधरवर्मा पहिले दण्डनायक था। पद का उपभोग करते हुए किसी समय उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की होगी। बाद में वह 'महाक्षत्रप' हो गया होगा।

श्रीधरवर्मा कार्त्तिकेय का उपासक था। उसकी 'धर्मविजयी' उपाधि महत्त्वपूर्ण है। उसके लेख की भाषा पर मामूली से प्राकृत प्रभाव को छोड़ दें तो शुद्ध संस्कृत है। उसके द्वारा प्रदत्त श्लोक किसी अभिलेख में लौकिक छन्द के प्रयोग के प्राचीनतम उदाहरणों में से एक है। इससे लगता है कि उस समय तक शकों का पर्याप्त भारतीयकरण हो चुका था।

श्रीधरवर्मा का एरण पाषाण-स्तम्भ लेख

प्राप्ति-स्थल : मध्य प्रदेश के सागर जिले में स्थित एरण (प्राचीन ऐरिकिण)

भाषा : संस्कृत

लिपि : द्वितीय शती के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी

तिथि : वर्ष २७

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : मिराशी, कॉर्पस, ४, भाग २, पृ० ६०९–१०

मूलपाठ

१. सिद्धम् [।*] राज्ञा (ज्ञो) महाक्षत्रपस (स्य) स्ववीर्य्या [र्जि] तविजयविपुल-कीर्त्तेर·······[स्य]

२. शकन [न्द] पुत्रस्य ध [र्म्म] विजयिनः [श्री] धरवर्म्म [णः]·······[स्वराज्या]—

३. भिवृद्धिकरे वैजयिके सं [व] त्सरे सप्तविंशतिमे २०(+)७··· ····

४. एतद्दिवसमेरिकिणाधिष्ठाणे (ने) स्य नगे [न्द्रा] हारवा [हि] रिकायां ·······[नारा*]—

५. यणस्वामिना भक्तिपू [र्व्वं] तीर्त्थं गोब्राह्मणपुरोगस्य चाधि······मा··· ····

६. भिवृध्या (द्धय) र्त्थम् [।*] राज्ञः आरक्षिकेन [से] ना [प] तिसत्यनागेन म [हारा]······[प्र*] मु—

७. खेन माहाराष्ट्रेन (ण) शान्तिकर्द्धिसर्व्वसत्व (त्व) [सु] खहिताय स्व·······

८. अपि च [।*] सि [ध्य] न्ते प्रेरितान्तात्पृथु पृ [थिवीमी] श [मा] न (ने) नरेन्द्र ना [गै] रे [व*]

९. वपुषा क्षत्रराष्ट्र [स्य] धर्म्मा [न् ।*] यष्टिश्शिष्टा मखण्डस्थिति·······,·······

१०. सेवादररिपु [सु] [हृदां*] स्थानमेतत्प्रजानाम् [।।*]

कलिंग व आन्ध्र : महामेघवाहनों व उनके पड़ोसियों के लेख

खारवेल का हाथिगुम्फा अभिलेख

लेख-परिचय—मौर्योत्तरयुगीन अभिलेखों में खारवेल के हाथिगुम्फा-अभिलेख का विशेष महत्त्व है। इसमें कलिंग (उड़ीसा) के राजा खारवेल के शासनकाल के प्रथम १३ वर्ष की घटनाओं का वर्णन है। यह उड़ीसा के पुरी जिले में भुवनेश्वर मन्दिर से तीन मील पश्चिम की ओर स्थित उदयगिरि-खण्डगिरि नाम की पहाड़ियों में बनी प्राचीन जैन गुफाओं में से एक में, जो हाथिगुम्फा कहलाती है, खुदा है। इसमें १७ पंक्तियां है जो करीब ८४ वर्ग फुट क्षेत्रफल में लिखी हैं। इसके अक्षर काफी बड़े हैं और गहरे खुदे हैं परन्तु अनेक कारणों से इसे पढ़ना कठिन हो गया है। एक, इसको उकरने का काम कई व्यक्तियों ने किया लगता है क्योंकि अक्षरों की बनावट एक सी नहीं है। दूसरे, जिस शिला पर यह लेख लिखा हुआ है उसका धरातल भलीभांति सपाट नहीं था। अतः लेख लिखे जाने के समय धरातल को सपाट करने के लिए प्रयुक्त छैनी के निशान अभी तक शेष हैं और कभी-कभी वे अक्षरों के अंश प्रतीत होते हैं। वर्षा के जल के निशान भी कहीं-कहीं अक्षरसम प्रतीत होते हैं। इस प्रकार विविध कारणों से इस लेख को बहुत नुकसान पहुँचा है और इसका काफी भाग अंशतः अपठ्य हो गया है। इसकी केवल प्रथम छः पंक्तियां लगभग पूरी तरह से और अन्तिम चार काफी हद तक बिना किसी विशेष कठिनाई के पढ़ी जा सकती हैं, परन्तु शेष भाग के ज्यादातर अक्षर बुरी तरह टूट-फूट गए हैं। लेख का बांया कोना तो विशेष रूप से क्षत हो गया है। इसलिए इसके सही पाठ और अर्थ के विषय में विद्वानों में गम्भीर मतभेद हैं।

तिथि, लिपि, भाषा और लेखक—हाथिगुम्फा-लेख की लिपि ब्राह्मी है। इसमें कोई निश्चित **तिथि** नहीं दी गई है, इसलिए इसका समय प्रधानतः इसकी **लिपि** की अन्य मौर्योत्तर लेखों की लिपि से तुलना करके एवं इस लेख के अन्तः साक्ष्य के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है। बहुत से विद्वान् इसे दूसरी शती ई० पू० के पूर्वाद्ध में लिखवाया गया मानते हैं, जबकि अन्य अधिकांश विद्वान् इसको प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम दशकों की रचना बताते हैं। इसमें 'व', 'म', 'प', तथा 'ब' आदि अक्षरों का कोणात्मक रूप तथा सीधा आधार संकेत देते हैं कि यह प्रथम शती ई० के प्रारम्भ से बहुत पहिले नहीं लिखवाया गया होगा। लिपिशास्त्रीय आधार पर इसे सातवाहनों के नानाघाट अभिलेखों व हेलियोडोरस के बेसनगर-अभिलेख से कुछ बाद का ही मानना चाहिए (सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० २१३, टि० १)। इसकी **भाषा** पालि से मिलती-जुलती प्राकृत है तथा शब्द-विन्यास रचयिता की काव्य कुशलता का संकेत देता है। शब्द नपे तुले हैं। संक्षिप्तता में यह सूत्र शैली की याद दिलाता है। इसका लेखक अज्ञात है परन्तु जायसवाल के मतानुसार वह कोई ऐसा उच्च और वयोवृद्ध पदाधिकारी रहा होगा जिसने खारवेल को एक शिशु के रूप में

क्रीड़ा करते देखा होगा और जिसे सम्राट् के उस रूप का वर्णन करने का अधिकारी माना गया होगा। यह भी अनुमान अनायास किया जा सकता है कि उत्कीर्ण किए जाने के पूर्व इसे स्वयं खारवेल ने पारित किया होगा।

उद्देश्य—हाथिगुम्फा-लेख जैन अर्हतों की स्तुति से प्रारम्भ होता है परन्तु इसका उद्देश्य लौकिक है। इसमें खारवेल के शासन काल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को गिनाया गया है। इस दृष्टि से यह समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से तुलनीय है।

अध्ययन इतिहास—हाथिगुम्फा-लेख की चर्चा सर्वप्रथम पादरी स्टर्लिङ्ग ने १८२५ में की। इसके बाद प्रिन्सेप ने इसे पढ़ा परन्तु गलत-सलत। १८८० में राजेन्द्र-लाल मित्र ने इसका दूसरा पाठ और अर्थ छापा जिसमें स्वयं 'खारवेल' नाम भी ठीक तरह नहीं पढ़ा गया था। १८७७ में इसका पाठ जनरल कनिंघम ने और १८८५ में भगवानलाल इन्द्रजी ने प्रकाशित किया जिससे इसके महत्त्व का संकेत मिला। इन्द्रजी ने ही इसमें राजा का नाम खारवेल पहिली बार ठीक-ठीक पढ़ा। इसके बाद जायसवाल ने प्रथम बार इसका छाप-चित्र १९१७ में 'जर्नल ऑव बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी' में प्रकाशित किया। जायसवाल ने अकेले तथा आर० डी० बनर्जी के साथ मिलकर इस लेख पर वस्तुतः बहुत कार्य किया था। उन्होंने अपने पाठ को कई बार संशोधित किया। उनके अलावा ब्युलर, फ्लीट, टॉमस, कोनो, बरुआ, सरकार तथा हाल ही में शशिकान्त ने इस पर महत्त्वपूर्ण शोधें की हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—प्रिन्सेप, जे० ए० एस० बी०, ६, पृ० १०७५-९१; कनिंघम, कॉर्पस, १, पृ० २७ अ०; ९८-१०१ अ०; मित्र, राजेन्द्रलाल, एण्टिक्वीटिज ऑव उड़ीसा, भाग २, पृ० १६ अ०; इन्द्रजी, एक्टस० इण्टरनेशनल भाग ३, सेक्सन २, पृ० १५२-७७; ब्युलर, इण्डियन स्टडीज़, ३, पृ० १३; फ्लीट, जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० २४२ अ०; लूडर्स, लिस्ट, स० १३४५; जायसवाल, जे० बी० ओ० आर० एस०, ३, पृ० ४२५ अ०; ४, पृ० ३६४ अ०; १३, पृ० २२१ अ०; १४, पृ० १५० अ०; कोनो, स्टेन, एक्टा ओरिण्टेलिया, १, पृ० १२ अ०; टॉमस, एफ० डब्ल्यु०, जे० आर० ए० एस०, १९२२, पृ० ८३ अ०; बनर्जी, एम० ए० एस० बी०, १२, नं० ३; जाय-सवाल तथा बनर्जी, इ० आई०, २०, पृ० ७२ अ०; बरुआ, ओल्ड ब्राह्मी इन्क्रिप्शन्स्, स० १, आइ० एच० क्यू०, १४, पृ० २६१ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० २१३ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ४५ अ०; शशिकान्त, दि हाथिगुम्फा इन्स्क्रिप्शन ऑव खारवेल एण्ड दि भाब्रु एडिक्ट ऑव अशोक; इनके अलावा 'कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्टरी ऑव इण्डिया', भाग २ तथा 'एज ऑव इम्पीरियल यूनीटी' के खारवेल से सम्बन्धित अध्याय, बनर्जी की 'हिस्टरी ऑव उड़ीसा', हरेकृष्ण मेहताब की 'हिस्टरी ऑव उड़ीसा' तथा मित्तल का इसी नाम का ग्रन्थ भी देखें।

मूलपाठ

मूल लेख में बहुत से अक्षरों के पूर्व जगह छूटी हुई है। जहाँ विराम चिह्न होने चाहिए थे वहाँ भी प्रायः स्थान छूटा है। लेख के प्रारम्भ में श्रीवत्स और स्वस्तिक चिह्न बने हैं। खारवेल के शासन के प्रत्येक वर्ष के कारनामों का अनुवाद करते समय वर्तमान काल की क्रियाओं को भूतकाल में बदलना आवश्यक है।

१. नमो अरहंतानं [।] नमो सव सिधानं [॥] ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेति राज व [ं] स वधनेन पसथ सुभ लखनेन चतुरंत लुठ [ण] गुण उपितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन

२. [पं] दरस वसानि सीरि [कडार] सरीरवता कीडिता कुमार कीडिका [॥] ततो लेख-रूप गणना-ववहार-विधि विसारदेन सव विजावदातेन नव वसानि योवरज [प] सासितं [॥] संपुंण चतुवीसति वसो तदानि वधमान-सेसयो वेनाभिविजयो ततिये

३. कलिंग राज वसे पुरिस युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति [॥] अभिसितमतो च पधमे वसे वात विहत गोपुर पाकार निवेसनं पटिसंखारयति कलिंगनगरिखिबी [रं] [।] सितल तडाग पाडियो च बंधापयति सबूयान प [टि] संथपनं च

४. कारयति पनसि [ति] साहि सत सहसेहि पकतियो च रंजयति [॥] दुतिये च वसे अचितयिता सातकंनि पछिम दिसं हय गज नर रध बहुलं दंडं पठापयति [।] कन्ह बेंणांगताय च सेनाय वितासिति असिकनगरं [॥] ततिये पुनः वसे

५. गंधव वेद बुधो दप नत गीत वादित संदसनाहि उसव समाज कारापनाहि च कीडापयति नगरिं [॥]

पाठ-टिप्पणी—बरुआ ने 'लखनेन' को 'लखणेन' पढ़ा है और 'गुण उपितेन' के स्थान पर 'गुण उपेतेन'। जायसवाल 'ऐरेण' के स्थान पर 'ऐरेन' पढ़ते हैं, 'महा-मेघवाहन' के बजाय 'माहामेघवाहन', 'लुठण' को 'लुठित' और 'उपितेन' के स्थान पर 'उपहितेन'। 'चेति' को कुछ लोगों ने 'चेत' पढ़ा है। बरुआ ने 'वधमानसेसयो वेनाभिविजयो' को 'वधमानसेसयोवनाभिजयो' पढ़ा है। जायसवाल 'युगे' के बाद 'महा' के स्थान पर 'माहा' पढ़ते हैं। जायसवाल व बनर्जी ने 'खिबीरं' को 'कलिंग नगरि' से पृथक् रखा है और इस पूरे पद को 'खिबीर इसि ताल तड़ाग' पढ़ा है। जायसवाल ने 'कन्हबेंणां' को 'कन्हवेनं' पढ़ा है, 'वितासिति' को 'वितासितं' तथा 'असिक नगरं' को 'मुसिक नगरं'।

तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं
अहतपुवं कलिंग पुव राज [निवेसितं]...... ....वितध म [कु]
ट...........च निखित छत

६. भिंगारे [हि] त-रतन सपतेये सव रठिक भोजके पादे वंदापयति [॥]
पंचमे च दानी वसे नंदराज ति वस सत ओ [घा] टितं तनसुलिय वाटा
पणाडि नगरं पवेस [य] ति सो ...... [।]
[अ] भिसितो च [छठे वसे] राजसेयं संदंसयंतो सवकर वण

७. अनुगह अनेकानि सत सहसानि विसजति पोर जानपदं [॥]
सतमं च वसं [पसा] सतो वजिरघर...........स मतुक पद....... [कु]
म........[।]................अठमे च वसे महता सेन [ा]
गोरधगिरिं

८. घातापयिता राजगहं उपपीडपयति [।] एतिन [ा] च कंमपदान स [ं]

पाठ-टिप्पणी—वरुआ ने 'मुकुट' को 'मुकुटे' पढ़ा है और इसके आगे के गलिताक्षरों को 'सविप्रवजिते'। जायसवाल इन अस्पष्ट अक्षरों को 'सविलंढिते' पढ़ते हैं। वरुआ ने च दानी के स्थान पर 'चेदानी' पढ़ा है। वह 'पवेसयति सो' तथा 'अभिसितो' के मध्य मुद्राओं की उस संख्या का उल्लेख हुआ मानते हैं जो पाँचवें वर्ष के कार्य पर खर्च हुई। जायसवाल ने 'पवेसयति' के वाद 'सौ' अक्षर से छठे वर्ष का वर्णन आरम्भ हुआ माना है और इसका पाठ 'सोपि च (छठे वसे) अभिसितो' सुझाया है। सरकार ने छठें वर्ष का उल्लेख 'अभिसितो' के वाद प्रारम्भ हुआ माना है (दे० आगे)। जायसवाल ने छठे वर्ष का वर्णन 'पवेसयति' के वाद प्रारम्भ माना है। वह 'राजसेयं' को 'राजसुयं' पढ़ते हैं।

सातवें वर्ष का सातवीं पंक्ति के मध्य वाले वाक्य का पाठ और अर्थ संदिग्ध है। जायसवाल का पाठ है 'सतमं च वसं पसासतो वजिरघर वँति घुसित घरिनीस [मतुक पद] पुंना [ति ? कुमार]....।' वरुआ का पाठ है 'सतमे च वसे (अ) ससत वजिरघर खतिय सत घटनि समतत पद पंन संतिपद ??....। 'प्रिन्सेप व कनिंघम ने 'वजिरघर' के उपरान्त वाले अंश को 'सवत कहदपन नरय' पढ़ा है। इसमें कोई भी विद्वान् अपने पाठ के विषय में निश्चित मत नहीं है।

नादेन.......सेन वाहने विपमुचितुं मधुरं अपयातो यवनरा [ज] [डिमित (दियुमेत)] [नवमे च वसे].......यछति.......पलव.......

९. कपरुखे हय गज रथ सह यति सव घरावास.......सव ग्रहणं च कारयितुं ब्रह्मणानं ज [य] परिहारं ददाति [।] अरहत ....

१०. ....महाविजय पासादं कारयति अठतिसाय सतसहसेहि [।।] दसमे च वसे दंड संधी सा [ममयो] भरधवस पठानं मह [ी] जयनं.......कारापयति [।।].......प [ा] यातानं च म [नि] रतनानि उपलभते....

[एकादशमे च वसे]

११. ....पुवं राजनिवेसितं पीथुंडं गदभनंगलेन कासयति [।] जन [प] द भावनं च तेरस वस सत कतं भि [ं] दति त्रमिर दह संघातं [।] वारसमे च वसे.......[सह] सेहि वितासयति उतरापध राजानो ....

पाठ टिप्पणी—खारवेल के शासन के नवें वर्ष का वर्णन कहाँ से प्रारम्भ होता है, यह अनिश्चित है। सरकार ने इसका प्रारम्भ 'अरहत' शब्द के बाद से माना है और जायसवाल ने 'यवनराज डिमित' के उल्लेख के बाद। इनमें हमें जायसवाल का मत सही लगता है। इस अंश में 'हयगजरथ' के बाद सरकार ने 'सहयति' पढ़ा है, बरुआ ने 'सह्यंति', इन्द्रजी ने 'सह-यत' तथा जायसवाल ने 'सहयंते'। इसके उपरान्त प्रिन्सेप का पाठ है 'घरवसप....' कनिंघम का 'घरवसय अनतिकगवय', इन्द्रजी का 'घरवसघं....' तथा जायसवाल का 'घरावास परिवेसने अगिणथिया'। 'ब्रह्मणानं' के बाद प्रिन्सेप ने 'जत' पढ़ा है, सरकार ने 'जय' तथा जायसवाल ने 'जतिं'। 'अरहत' के बाद और 'महाविजय' के मध्यवर्ती खंडित भाग को बरुआ ने 'वसु विजय (पंक्ति९) ते उभय पचि तटे राजनिवासं' पढ़ा है तथा जायसवाल ने 'मानतिराज संनिवासं'। दसवें वर्ष का वर्णन कहाँ समाप्त होता है, अज्ञात है। जायसवाल ने इसको 'उपलभते' तक माना है और सरकार तथा बरुआ ने केवल 'कारापयति' तक। हमें जायसवाल का मत सही लगता है।कनिंघम ने 'दंड संधो साममयो' को 'दतिभिसर' पढ़ा है तथा बरुआ ने 'दड नि (?) धीत भिसमयो'। जायसवाल व सरकार ऊपर दिया गया पाठ मानते हैं। 'महीजयनं' को पहिले 'उयातानं' पढ़ा था और उसके पहिले आये शब्द को 'निरितय'। 'उपलभते' को बरुआ 'सहयाति' पढ़ते हैं। ग्यारहवें वर्ष का वर्णन कहाँ से शुरू होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सरकार ने इसको 'कारापयति' के बाद शुरू माना है, और जायसवाल ने 'रतनानि उपलमते' के बाद। हमें जायसवाल का मत सही लगता है। जायसवाल ने 'पुवंराजनिवेसितं' को 'मंडं च अवराज निवेसितं' पढ़ा है तथा बरुआ ने इस पद का पूरा पाठ 'युवराज निवेसितं पियुडग—दभ नगले नेकासयति'। अगले वाक्य का जायसवाल का पाठ है : जिनस दंभावनं च तेरस वस सतकंतु भिदति तमर देह संघातं। बाद में उन्होंने 'तमर देह संघातं' के स्थान पर 'त्रमिर देञ्न संघातं' भी पढ़ा था। बरुआ व सरकार ऊपर दिया गया पाठ मानते हैं।

तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं
अहतपुवं कलिंग पुव राज [निवेसितं]……… ………वितध म [कु]
ट…………च निखित छत
६. भिंगारे [हि] त-रतन सपतेये सव रठिक भोजके पादे वंदापयति [।।]
पंचमे च दानी वसे नंदराज ति वस सत ओ [घा] टितं तनसुलिय वाटा
पणाडिं नगरं पवेस [य] ति सो …… [।]
[अ] भिसितो च [छठे वसे] राजसेयं संदंसयंतो सवकर वण
७. अनुगह अनेकानि सत सहसानि विसजति पोर जानपदं [।।]
सतमं च वसं [पसा] सतो वजिरघर…………स मतुक पद……… [कु]
म………[।]……………अठमे च वसे महता सेन [।]
गोरधगिरिं
८. घातापयिता राजगहं उपपीडपयति [।] एतिन [।] च कंमपदान स [ ]

पाठ-टिप्पणी—बरुआ ने 'मुकुट' को 'मुकुटे' पढ़ा है और इसके आगे के गलिताक्षरों को 'सविप्रवजिते'। जायसवाल इन अस्पष्ट अक्षरों को 'सबिलंढिते' पढ़ते हैं। बरुआ ने च दानी के स्थान पर 'चेदानी' पढ़ा है। वह 'पवेसयति सो' तथा 'अभिसितो' के मध्य मुद्राओं की उस संख्या का उल्लेख हुआ मानते हैं जो पाँचवें वर्ष के कार्य पर खर्च हुई। जायसवाल ने 'पवेसयति' के बाद 'सौ' अक्षर से छठे वर्ष का वर्णन आरम्भ हुआ माना है और इसका पाठ 'सोपि च (छठे वसे) अभिसितो' सुझाया है। सरकार ने छठे वर्ष का उल्लेख 'अभिसितो' के बाद प्रारम्भ हुआ माना है (दे० आगे)। जायसवाल ने छठे वर्ष का वर्णन 'पवेसयति' के बाद प्रारम्भ माना है। वह 'राजसेयं' को 'राजसुयं' पढ़ते हैं।

सातवें वर्ष का सातवीं पंक्ति के मध्य वाले वाक्य का पाठ और अर्थ संदिग्ध है। जायसवाल का पाठ है 'सतमं च वसं पसासतो वजिरघर वँति घुसित घरिनीस [मतुक पद] पुंना [ति ? कुमार]…… ।' बरुआ का पाठ है 'सतमे च वसे (अ) ससत वजिरघर खतिय सत घटनि समतत पद पंन संतिपद ??……। 'प्रिन्सेप व कनिंघम ने 'वजिरघर' के उपरान्त वाले अंश को 'सवत कहदपन नरय' पढ़ा है। इसमें कोई भी विद्वान् अपने पाठ के विषय में निश्चित मत नहीं है।

'बरुआ ने 'राजगहं' के पूर्व 'महता सेनाय अपतिहत भिति' पढ़ा है तथा जायसवाल ने 'महता सेना महत मिति'। 'राजगहं उपपीडयति' का प्रिन्सेप ने 'राजगभं उपपीडयति' पढ़ा है, कनिंघम ने 'राजगंभु उपपीडयति' तथा इन्द्रजी 'राजगहनपं पीडापयति'। स्टेन कोनो इन्द्रजी के पाठ को सम्भव मानते हैं। 'नादेन' के उपरान्त और 'सेन' के पूर्व प्रिन्सेप ने 'पंवात' पढ़ा है, बरुआ ने 'पबंत' तथा जायसवाल ने 'संवित'। आठवें वर्ष का वर्णन का अन्त व नवें वर्ष के वर्णन का आरम्भ अनिश्चित है।

नादेन……सेन वाहने विपमुचितुं मधुरं अपयातो यवनरा [ज] [डिमित (दियुमेत)] [नवमे च वसे]……पछति……पलव……

९. कपरुखे हय गज रथ सह यति सव घरावास……सव ग्रहणं च कारयितुं ब्रह्मणानं ज [य] परिहारं ददाति [।] अरहत ……

१०. ……महाविजय पासादं कारयति अठतिसाय सतसहसेहि [।।] दसमे च वसे दंड संधी सा [ममयो] भरधवस पठानं मह [ी] जयनं……कारापयति [।।]……प [ा] यातानं च म [नि] रतनानि उपलभते……

[एकादशमे च वसे]

११. ………पुवं राजनिवेसितं पीथुंडं गदभनंगलेन कासयति [।] जन [प] द भावनं च तेरस वस सत कतं भि [ं] दति त्रमिर दह संघातं [।] वारसमे च वसे……[सह] सेहि वितासयति उतरापध राजानो ……

पाठ टिप्पणी—खारवेल के शासन के नवें वर्ष का वर्णन कहाँ से प्रारम्भ होता है, यह अनिश्चित है। सरकार ने इसका प्रारम्भ 'अरहत' शब्द के बाद से माना है और जायसवाल ने 'यवनराज डिमित' के उल्लेख के बाद। इनमें हमें जायसवाल का मत सही लगता है। इस अंश में 'हयगजरथ' के बाद सरकार ने 'सहयति' पढ़ा है, बरुआ ने 'सह्यंति', इन्द्रजी ने 'सह-यत' तथा जायसवाल ने 'सहयंते'। इसके उपरान्त प्रिन्सेप का पाठ है 'घरवसप……' कनिंघम का 'घरवसय अनतिकगवय', इन्द्रजी का 'घरवसघं……' तथा जायसवाल का 'घरावास परिवेसने अगिणथिया'। 'ब्रह्मणानं' के बाद प्रिन्सेप ने 'जत' पढ़ा है, सरकार ने 'जय' तथा जायसवाल ने 'जतिं'। 'अरहत' के बाद और 'महाविजय' के मध्यवर्ती खंडित भाग को बरुआ ने 'वसु विजय (पंक्ति९) ते उभय पचि तटे राजनिवासं' पढ़ा है तथा जायसवाल ने 'मानतिराज संनिवासं'। दसवें वर्ष का वर्णन कहाँ समाप्त होता है, अज्ञात है। जायसवाल ने इसको 'उपलभते' तक माना है और सरकार तथा बरुआ ने केवल 'कारापयति' तक। हमें जायसवाल का मत सही लगता है। कनिंघम ने 'दंड संधी साममयो' को 'दतिभिसर' पढ़ा है तथा बरुआ ने 'दड नि (?) धीत भिसमयो'। जायसवाल व सरकार ऊपर दिया गया पाठ मानते हैं। 'महीजयनं' को पहिले 'उयातानं' पढ़ा था और उसके पहिले आये शब्द को 'निरितय'। 'उपलभते' को बरुआ 'सहयाति' पढ़ते हैं। ग्यारहवें वर्ष का वर्णन कहाँ से शुरू होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सरकार ने इसको 'कारापयति' के बाद शुरू माना है, और जायसवाल ने 'रतनानि उपलमते' के बाद। हमें जायसवाल का मत सही लगता है। जायसवाल ने 'पुवंराजनिवेसितं' को 'मंडं च अवराज निवेसितं' पढ़ा है तथा बरुआ ने इस पद का पूरा पाठ 'युवराज निवेसितं पिथुडग—दभ नगले नेकासयति'। अगले वाक्य का जायसवाल का पाठ है : जिनस दंभावनं च तेरस वस सतकंतु भिदति तमर देह संघातं। बाद में उन्होंने 'तमर देह संघातं' के स्थान पर 'त्रमिर देज्न संघातं' भी पढ़ा था। बरुआ व सरकार ऊपर दिया गया पाठ मानते हैं।

१२. म [ा] गधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय पाययति [।] म [ाग] ध [ं] च राजानं बहसतिमित पादे वंदापयति [।] नंदराज नीतं च का [लि] ंग-जिनं संनिवेस···· अंग मगध वसुं च नयति [।।]

१३. ···········[क] तु [ं] जठर [लखिल] [गोपु] राणि सिहराणि निवेसयति सत विसिकनं [प] रि हारेहि] अभुतमछरियं हथी निवा [स] परिहर··········हय हथि रतन [मानिकं] पंडराजा·······[भु] त मनि रतनानि आहरापयति इध सत [सहसानि]

१४. ···········सिनो वसीकरोति [।] तेरसमे च वसे सुपवत विजय चके कुमारीपवते अरहते (हि) पखिन सं [सि] तेहि] कायनिसीदियाय यापूजावके हि राज भितिनि चिन वतानि वास [ा] [सि] तानि पूजानुरत उवा [सग खा] रवेलसिरिना जीवदेह [सयि] का परिखाता [।।]

१५. ··········सकत समण सुविहितानं च सव दिसानं ञ [नि] नं तपसि इ [सि] न संघियनं अरहतनिसीदिया समीपे पाभारे वराकार समुथापिताहि अनेकयोकनाहिताहि·······सिलाहि·······

१६. ···········चतरे च वेडुरिय गमे थंमे पतिठापयति पानतरीय सत सहसेहि

पाठ-टिप्पणी—बरुआ ने 'बारसमे च वसे' के बाद 'सिवकानं' पाठ सुझाया है। जायसवाल ने 'हथसं गंगाय पाययति' के स्थान पर 'हथी सुगंगीयं पाययति' पढ़ा है। 'नंदराज नीतं च कालिंग जिनं संनिवेस' के स्थान पर बरुआ का पाठ है 'नंदराज जितं च कलिंग जन संनिवेसं'। 'संनिवेस' के उपरान्त अपठ्य अंश को इन्द्रजी ने 'गह रतन परिहारेहि' पढ़ा है, जायसवाल ने 'गह रतनान पडिहारेहि' तथा बरुआ ने 'कितव नय निपुनेहि'। 'हथि निवास' को कनिंघम 'हथि नवेन पढ़ते हैं, बरुआ 'हथि नावतं' तथा जायसवाल 'हथि नावन'। एलन व मजूमदार को 'बहसतिमित' पाठ शंका ग्रस्त लगता है। बरुआ ने कायनिसीदियाय' को 'कय्यनिसीदियाय' पढ़ा है। 'यापूजावकेहि' को प्रिन्सेप ने 'यापुहवकेहि' पढ़ा है, कनिंघम ने 'यापुजकेहि' तथा जायसवाल ने 'यापञवकेहि'। बरुआ ने 'पूजानुरत' का पाठ 'पूजामरत' सुझाया है और 'परिखाता' का 'पनिखाता'। जायसवाल 'सयिका' को 'सरिका' पढ़ते हैं। 'राजभितिनि चिनवतानि वासासितानि' को 'राजभितिनं चिनवतानं वासासितानं पढ़ें। जायसवाल ने 'सकत' को 'सुकता' पढ़ा है तथा बरुआ व जायसवाल ने 'सव दिसानं' को 'सतदिसानं' 'तपसि इसिन' को कनिंघम 'सिमपुस' पढ़ते हैं और बरुआ 'समपसिनं'। बरुआ ने 'सिलाहि' के पूर्व 'पक्वसिसेहि सत सहसाहि' शब्द पढ़े हैं तथा 'सिलाहि' और 'चतरे' के बीच में 'सिपज थमनिवधसयानासनानि व—पटालके'। जायसवाल ने इसके स्थान पर यहाँ 'सिंहपथ रञी सिंधुलाय निसयानि—पटलको' पाठ पढ़ा है।

[।] मु [खि] य कल वोछिनं च चोय [ठि] अंग संतिक [ं] तुरीयं उपादयति [।] खेम-राजा स वढ राजा स भिखु राजा धम राजा पसं [तो] सुनं [तो] अनुभव [तो] कलानानि

१७. ………गुण विसेस कुसलो सव पासंड पूजको सव दे [वाय] तन सकार कारको अपतिहत चक वाहनबलो चकधरो गुतचको पवतचको राजसिवसू कुल विनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेलसिरि [॥]

पाठ-टिप्पणी—'मुखिय' को इन्द्रजी, स्टेनकोनो तथा जायसवाल 'मुरिय' पढ़ते हैं तथा बरुआ 'मखिय'। 'कल' को इन्द्रजी व फ्लीट ने 'कले' पढ़ा है और जायसवाल ने 'काल'। बरुआ ने 'वोछिनं' को 'वोछिने' पढ़ा है तथा 'च चोयठि अंग' को 'च चोयठ अंगे'। 'संतिकं' का पाठ प्रिन्सेप ने सतिक सुझाया है, इन्द्रजी ने 'सतिकु' तथा जायसवाल और कोनो ने 'सतिक'। बरुआ 'वढराजा' के स्थान पर 'वघराजा' पढ़ते हैं और 'राजसि वसूकुल' को 'राजिसि वंस कुल'। 'विनिश्रितो' को कनिंघम ने 'विनिगत' पढ़ा है। जायसवाल ने 'चकवाहन वलो चकधरो' का पाठ 'चकिवाहिनि वलो चकधुरो' किया है।

लेख के अन्त में 'प्राचीर के अन्दर वृक्ष' मंगल-चिह्न बना है।

शब्दार्थ (पं० १–४)

सिधानं = सिद्धेभ्यः, सिद्धजनों के लिए ; **ऐरेण** = आर्येण ; **पसथ** = प्रशस्त ; **चतुरंत लुठण गुण उपितेन** = चतुरन्त लुण्ठन गुणोपेतेन, चारों दिशाओं तक व्याप्त गुणों वाले के द्वारा ; **कडार** = पिंगल, चम्पई, गौर ; **सीरिकडार सरीरवता** = श्रीकडार शरीर वता, पिंगल वर्ण के शोभायमान शरीर वाले ; **कुमार कीडिका** = कुमार क्रीड़ा, बाल क्रीड़ा **लेख**=सरकारी दस्तावेज, अभिलेख; **रूप** = सिक्के, टकसाल; **गणना** = आय-व्यय ; **विधि** = कानून ; **विद्यावदात** = विद्याओं में परिशुद्ध ; **योवरज** = यौवराज्यं ; **पसासितं** = शासन किया, प्रतिष्ठित रहा ; **वधमान** = वर्धमान ; **सेसयो** = शैशव ; **वेनाभिविजयो** = वैण्याभिविजयः, जो विजय में वेन के पुत्र अर्थात् पृथु के समान है ।

अभिसितमतो = अभिषिक्त होने पर ; **पधमे** = प्रथमे ; **पाकार** = प्राकार, प्राचीर ; **निवेसन** = मकान ; **पटिसंखारयति** = प्रति संस्कारयति, मरम्मत कराता है ; **सितल** = शीतल ; **पाडियो** = पाल्यः, बाँध ; **सवूयान** = सर्वोद्यान ; **पनतीसाहि** = पञ्चत्रिंशद्भिः, पेंतीस ; **पकतियो** = प्रकृतिः, प्रजा ।

अनुवाद

अर्हतों को नमस्कार । समस्त सिद्धों को नमस्कार । आर्य, महाराज, महामेघवाहन, चेदिराज वंशवर्द्धन, प्रशस्त और शुभ लक्षण वाले, चतुरंत तक पहुँचे हुए (अर्थात् विख्यात) गुणों वाले, कलिंगाधिपति श्री खारवेल द्वारा पन्दरह वर्ष तक श्री कडार (=गौर वर्ण वाले) शरीर से कुमार क्रीड़ाएँ की गईं (अर्थात् राजकुमारों के योग्य खेल खेले गए) ।

इसके बाद लेख, रूप, गणना, कानून तथा व्यवहार में विशारद, सब विद्याओं में परिशुद्ध उस (खारवेल) के द्वारा युवराज पद पर नौ वर्ष तक शासन किया गया (अर्थात् वह युवराज पद पर नौ वर्ष तक रहा) । (तब) चौबीस वर्ष पूरे हो जाने पर (वह), जो बचपन से ही वर्धमान और अभिविजय में वेन के पुत्र (अर्थात् पृथु) के समान था, कलिंग के राजवंश में तीसरे पुरुष युग में महाराज-अभिषेक को प्राप्त हुआ (अर्थात् महाराज पद पर अभिषिक्त हुआ) ।

अभिषिक्त होने पर (खारवेल ने) प्रथम वर्ष में कलिंग नगरी खिबीर में वायु (तूफान) से ध्वस्त गोपुरों, प्राचीरों व मकानों की मरम्मत कराई, शीतल ताल, तडाग व बाँध बँधवाए, सब उद्यानों की मरम्मत कराई और पैंतीस लाख प्रजा का रंजन किया ।

शब्दार्थ (पं० ४–६)

अचितयिता = बिना विचार किए ; **रघ** = रथ ; **दंड** = सेना ; **पठापयति** = प्रस्थापयति, भेजता है ; **कन्हबेंणां गताय** = कृष्णवेणा नदी पर पहुँची हुई ; **वितासिति** = वित्रासयति, त्रास पहुँचाता है, भयभीत करता है ।

गंधववेदबुध = गन्धर्व-वेद अर्थात् संगीत-विद्या का ज्ञाता; **दप** = दर्पक्रीडा अर्थात् मल्ल युद्ध विशेष अथवा दवकम्भ अर्थात् प्रहसन; **नत** = नृत्य; **वादित** = वादित्र, बाजे; **संदसनाहि** = सन्दर्शनै: अर्थात् तमाशे; **नगरिं** = नगरीम् अर्थात् राजधानी ।

अधिवास = निवास स्थान, महल, राजधानी ; **अहत पुवं** = अहत पूर्व, जिस पर इसके पूर्व कभी आक्रमण नहीं किया गया था ; **विजाधर** = विद्याधर ; **निवेसितं** = बसाया हुआ ; **वितध मकुट** = वितध मुकुट, जिनके मुकुट निरर्थक कर दिए गए ; **छत** = छत्र ; **भिंगार** = भृंगार, सुवर्ण पात्र, सोने की झारी ; **हित** = हृत, छीन लिए गए ; **सपतेय** = सम्पत्ति ।

तिवस सत = त्रिवर्षशत, तीन सौ वर्ष अथवा एक सौ तीन वर्ष ; **औघाटितं** = उद्घाटितं, खोली गई ; **बाटा** = वर्त्मन:, रास्ते से ; **पणाडि** = नहर को ।

अनुवाद

और दूसरे वर्ष (खारवेल ने) शातकर्णि का विचार किए बिना पश्चिम दिशा में बहुत सी अश्व, गज, पदाति तथा रथ सेना भेज दी । कृष्ण वेणा को प्राप्त (कृष्ण वेणा के तट तक पहुँची) (उसकी) सेना ने ऋषिक नगर को भयभीत कर दिया ।

और तीसरे वर्ष (उस) संगीत-विद्या-विशारद ने (अर्थात् खारवेल ने) मल्ल युद्धों (अथवा प्रहसनों), नृत्यों, गीतों और बाजों के तमाशों से उत्सव और समाज कराते हुए नगर (अर्थात् राजधानी) का मनोरंजन कराया ।

तथा चतुर्थ वर्ष में (खारवेल ने) कलिंग के पूर्वगामी राजाओं द्वारा बसाए गए विद्याधराधिवास को, जिस पर इसके पूर्व कभी आक्रमण नहीं किया गया था······ अर्थहीन मुकुट ······सब राष्ट्रिकों और भोजकों से, जो अपने रत्नों और सम्पत्ति से वञ्चित कर दिए गए, जिनके छत्रों और सुवर्ण झारियों को गिरा दिया गया, और अपने चरणों की वन्दना करवाई ।

अब पांचवें वर्ष में (वह खारवेल) नन्दराज द्वारा तीन सौ वर्ष पूर्व उद्घाटित नहर को तनसुलिय मार्ग से नगर (अर्थात् राजधानी) में ले आया ।

शब्दार्थ (पं० ६–१०)

राजसेय = राजैश्वर्य ; **संदंसयंतो** = सन्दर्शयन्, दिखाते हुए ; **सवकरवण** = सब प्रकार के कर ; **विसजति** = विसृजति, छोड़ देता है ; **पोरजानपद** = ग्रामों व नगरों के निवासी ; **सतसहसानि** = लाखों ।

घातापयिता = घातयित्वा, मारकर, जीतकर ; **कंमपदान संनादेन** = दुष्कर कर्म सम्पादन शब्देन, दुष्टकर कर्मों को सम्पादित करने से उत्पन्न शब्द द्वारा ; **वपमुचितुं** = विप्रमोक्तुं, त्यागने के लिए ; **मधुरं** = मथुराम् ; **अपयातो** = अपमातः पलायित **यछति** = दान देता है ; **कपरुख** = कल्प वृक्ष ; **घरावास** = गृहावास ; **परिहार** = भूमि का टुकड़ा, करमुक्ति ; **अठतिसाय सतसहसेहि** = अष्टत्रिंशता शतसहस्त्रैः अड़तीय लाख (मुद्राओं) द्वारा ।

अनुवाद

और छठे वर्ष में उस अभिषिक्त (= खारवेल) ने राजैश्वर्य दिखाते हुए ग्रामों व नगरों के निवासियों पर अनेकशः अनुग्रह करते हुए सब प्रकार के लाखों के (= लाखों मुद्राओं के बराबर) कर छोड़ दिए (अथवा सब कर छोड़ दिए और लाखों अन्य अनुग्रह किए) ।.... सातवें वर्ष राज्य करते हुए वजिर घर*

और आठवें वर्ष में (खारवेल ने) एक विशाल सेना की सहायता से गोरथगिरि को जीतकर राजगृह पर भारी दबाव डाला (= घेरा डाल दिया) । उसके इन दुष्कर कर्मों के सम्पादन के संनाद से यवनराज (डिमित ? दियुमेत ?) (भयभीत होकर) सेना और वाहन त्याग कर मथुरा की ओर भाग गया ।

(नवें वर्ष में) (खारवेल ने) पत्तों (से भरे) कल्पवृक्ष, घोड़े, हाथी, रथ, मकान और शालाएँ....दान दीं । ...इस सबको ग्रहण कराने के लिए ब्राह्मणों को जय परिहार (अर्थात् विजय प्राप्ति के उपलक्ष में कर मुक्ति या जागीरें) दीं । अर्हत्....अड़तीस लाख (मुद्राओं) से महाविजय नामक महल बनवाया ।

---

* जायसवाल के अनुसार इस पंक्ति में खारवेल की वज्रघर (= वजिरघर) कुल में उत्पन्न 'घुषिता' नामक (अथवा घुषिता = सुप्रसिद्ध) रानी के मातृपद प्राप्त करने का उल्लेख है । वरुआ का अनुमान है कि उस वर्ष खारवेल ने समतक अथवा समेत पर्वत पर कोई धार्मिक जलूस निकाला था । ये दोनों मत ही कल्पनाश्रित हैं । एक मञ्जपुरी-गुहा लेख (स० इ०, पृ० २२१-२२) में खारवेल की एक रानी अपने को उसकी 'अग्रमहिषी' कहती है । इससे लगता है खारवेल ने कई विवाह किए थे । जायसवाल ने हाथीगुम्फा-लेख की १५ वीं पंक्ति में सिन्धुला नामक रानी का उल्लेख माना है (रञी सिंधुलाय निसयानि) परन्तु अन्य अधिकांश विद्वानों को ये अक्षर पढ़ने में नहीं आए ।

शब्दार्थ (पं० १०–१४)

दंड संधी साममयो = दण्ड, सन्धि और साम मय ; **भरधवस** = भारतवर्ष ; **पठानं** = प्रस्थानं ; **कारापयति** = कारयति, करता है ; **पायातानं** = अपायातानां, पालायित लोग, भागे हुए शत्रु ।

पुवं राज निवेसितं = पुराने राजा द्वारा निवेशित ; **गदभ नंगलेन** = गर्दभ लांगलेन, गधों के हल से ; **कासयति** = कर्षयति जोतता है ; **तेरस सतवसकतं** = त्रयोदश वर्ष शत कृतं, तेरह सौ वर्ष में किए गए, तेरह सौ वर्ष पुराने ; **जनपद भावनं** = जनपद के कल्याण के लिए ; **भिंदति** = भिनत्ति, काटता है, तोड़ता है, छिन्न भिन्न करता है ; **संघातं** = समूह, संघ ; **दह** = हृद झील ।

सहसेहि = सहस्रैः ; **वितासयति** = वित्रासयति, सताता है ; **उतरापथ** = उतरापथ ; **हथसं** = हस्त्यश्वं, हाथियों और घोड़ों को ; **संनिवेस** = समूह ; **वसुं** = सम्पदा ; **जठर** = दृढ़ ; **परिहार** = छोड़ना ; **निविस्** = बनराना ; **निवेसयति** = निवेशयति, बनवाता है ; **सत विसिकनं** = शत विंशकानां ; **जठरलखिल गोपुराणि** = जठरलक्ष्मील गोपुराणि, दृढ़ और सुन्दर गोपुर ; **सिहराणि** = शिखर ; **अभुतमछरियं** = अद्भुत आश्चर्य ; **परिहर** = प्रतिहरति, पाता है ; **मुत मनि रतनानि** = मुक्तामणि और रत्न ; **आहरापयति** = आहारयति, ले आता है, प्राप्त करता है ; **इध** = इह, यहां ; **वसीकरोति** = वशीकरोति, वश में करता है ।

अनुवाद

दसवें वर्ष उस दण्ड सन्धि और साम नीतिमय ने (अर्थात् इन नीतियों के ज्ञाता अर्थात् खारवेल ने) पृथिवी विजय के लिए भारतवर्ष को····प्रस्थान किया (अर्थात् भारतवर्ष पर आक्रमण किया)····पलायित शत्रुओं के मणिरत्न प्राप्त किए ।

(ग्यारहवें वर्ष में) (खारवेल ने) एक पूर्व राजा द्वारा स्थापित पीथुंड नगर को गधों के हल से जुतवा दिया (अर्थात् पूर्णतः नष्ट कर दिया) और जनपद के कल्याण के लिए तेरह सौ वर्ष पुराने काले झीलों के समूह (तिमिर दह संघात) को तोड़ दिया (अथवा तमिल देशों के संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया) ।

बारहवें वर्ष में (खारवेल ने) सहस्रों·······के द्वारा·······उत्तरापथ के राजाओं को त्रस्त किया·······और मगध निवासियों में विपुल भय उत्पन्न करके हाथियों और घोड़ों को गंगा में (पानी) पिलाया और मागधों के राजा बहसतिमित से (अपने) दोनों चरणों की वन्दना करवाई, नन्दराज द्वारा ले जाई गई कलिंग जिन मूर्तियों····
····और अंग तथा मगध की सम्पदा ले गया, शतविंशक (मुद्राएँ) खर्च करके दृढ और सुन्दर गोपुर अर्थात् नगर द्वार और शिखर बनवाए, अद्भुत और आश्चर्य जनक हस्तिवस्त्रसज्जा (हाथियों की झूलें), हाथी, घोड़े, रत्न (और) माणिक्य उपलब्ध किए, पाण्ड्य राजा से······ यहाँ लाखों मुक्तामणि (और) रत्न प्राप्त किए·······निवासियों को वश में किया ।

शब्दार्थ (पं० १४-१६)

सुपवत विजय चके = सुप्रवृत्त विजय चक्रे, सुप्रतिष्ठित विजयशील समृद्ध शासन में ; **अरहतेहि** = अर्हद्भ्यः, अर्हतों के लिए ; **परिवन संसितेहि** = प्रक्षीण संश्रितेभ्यः, क्षीण आश्रय वालोंके लिए ; **कायनिसीदियाय** = कायनिषद्यायै, सुखकर विश्राम स्थल के रूप में प्रयोग के लिए ; **यापूजावकेहि** = यापोद्यापकेभ्यः, उनके लिए जो याप अर्थात् वर्षावास के व्रत के उद्यापन में अर्थात् उसे पूरा करने में लगे थे ; **चिनवतानं** = चीणव्रतानां, व्रत पूर्ण करने वालों का ; **राजभितिनं** = राजभृतानां, राजकीय सहायता पर निर्भर ; **वासासितानि** = वर्षाश्रितानां, वर्षा में आश्रय पाने के इच्छुक ; **पूजानुरत उवासग** = पूजानुरक्तोपासक, पूजा में अनुरक्त उपासक ; **जीवदेहसयिका** = जीवदेहाश्रयिकाः, जीवितदेह का आश्रय अर्थात् आश्रय गुहाएँ ; **परिखाता** = परिखानिताः, खुदवाई गई।

सकत समण = सत्कृत श्रमण : अर्थात् खारवेल ; **सुविहितानं** = सुविहितानां, सुप्रतिथ ; **ञनिनं** = ज्ञानितां ; **तपसिइसिन** = तपस्वी और ऋषि ; **संघियनं** = संघी ; **निषद्या** = कक्ष, चौक, बाजार, विश्रामालय ; **अरहतनिसिदिया समीपे** = अर्हन्निषद्या समीपे, अर्हतोंके विश्रामालय के पास ; **पाभारे** = प्राग्भारे, पर्वतपृष्ठे, पहाड़ की ढलान पर ; **वराकर** = अच्छी खानें ; **चतरे** = चत्वरे, चौकोर कक्ष में ; **वेडुरियगभे थंभे** = वैदूर्य जड़ा स्तम्भ ; **पतिठापयति** = प्रतिष्ठापयति, स्थापित करता है ; **पानतरीय सत सहसेहि** = पचहत्तर लाख ; **वोछिनं** = अवछिन्नं, किसी चीज के योग से विशिष्टता प्राप्त करना ; **मुखियकल वोछिनं** = मुख्यकला वाछिन्नं, मुख्यकलाओं से युक्त ; **चोयठि अंग** = चतुः षष्ठ्यंगं, चौसठ प्रकार के (वाद्यों से विशिष्ट) ; **संतिकं तुरीयं** = शान्तिकं तौर्यं, रणभेरी रहित शान्तिपूर्ण वाद्यध्वनि ; **उपादयति** = पैदा करता है।

अनुवाद

तेरहवें वर्ष (अपने) सुप्रतिष्ठित (=सुप्रवर्त्त) विजयशील समृद्ध शासन में, उनकी पूजा में अनुरक्त, जो राजकीय सहायता पर निर्भर रहते हैं (अपने) व्रतों को पूर्ण करते हैं (और) वर्षा में आश्रय पाने के इच्छुक हैं, श्री खारवेल के द्वारा कुमारी पर्वत पर क्षीण आश्रय वाले (और) वर्षावास के व्रत (याप) के उद्यापन (अर्थात् पूरा करने) में लगे हुए अर्हतों के लिए सुखकर विश्राम स्थल के रूप प्रयोग करने के हेतु जीवदेहाश्रयिकाएँ (अर्थात् गुफाएँ) खुदवाई गईं।

....सुकर्म करते श्रमण [अर्थात् खारवेल] ने सब दिशाओं से आने वाले सुविहित ज्ञानियों, तपस्वियों, ऋषियों और संघियों का अर्हतों के विश्रामालय के पास पर्वत की ढलान पर अच्छी खानों से निकाली गई अनेक, योजना से लाई गई.... शिलाओं द्वारा....और पचहत्तर लाख [मुद्राओं] द्वारा चौकोर कक्ष में वैदूर्य जड़ा स्तम्भ स्थापित किया। [गीत नृत्य आदि] मुख्य कलाओं से युक्त चौसठ प्रकार के वाद्यों से समन्वित शान्तिपूर्ण वाद्‌[illegible]

शब्दार्थ (पं० १६–१७)

खेमराजा=क्षेमराज; **वढराजा**=वृद्धराज; **भिखुराजा**=भिक्षुराज; **पसंतो सुनंतो अनुभवतो**=पश्यन् शृण्वन् अनुभवन्. देखते, सुनते और अनुभव करते हुए; **कलानानि**= कल्याणों को; **पासंड**=पाषण्ड, सम्प्रदाय; **देवायतन**=देवमन्दिर; **सकारकारको**=संस्कार कारक; **अपतिहतचक वाहन बलो**=अप्रतिहत चक्रवाहिनीबल, वह जो अपराजित राज्य और सेना के कारण बलवान है; **चकधरो**=चक्रधर, जिसका राजचक्र सुप्रतिष्ठित है; **गुप्तचको**=गुप्तचक्रः, राजमण्डल द्वारा सुरक्षित; **पवतचको**=प्रवृत्तचक्रः, जिसका शासन अनुल्लंघित रहता है; **राजसिवसू विनिश्रितो**=राजर्षि वसु कुल विनिःसृत ।

अनुवाद

राजर्षि वसुकुल में उत्पन्न (वह) महाविजय राजा श्री खारवेल क्षेमराज, वृद्धराज, भिक्षुराज, धर्मराज, कल्याणों को देखते, सुनते और अनुभव करते हुए···· विशेष गुणों में कुशल, समस्त सम्प्रदायों का पूजक, सब देव मन्दिरों को सुधरवाने वाला, अपराजित राज्य और सेना के कारण बलवान, सुप्रतिष्ठित राजचक्रवाला, राजमण्डल द्वारा सुरक्षित और अनुल्लंघित शासन वाला (था) (अर्थात् उसके आदेशों का कभी उल्लंघन नहीं होता था) ।

व्याख्या

(१) चूँकि खारवेल जैन था, इसलिए इस लेख का प्रारम्भ जैन अर्हंतों और सिद्धों को नमस्कार करके किया गया है। जैन साधुओं के लिए 'अर्हत्', 'सिद्ध', 'केवली', 'तथागत' तथा 'बुद्ध' आदि शब्द प्रयुक्त होते थे।

(२) कुडेप या वक्रदेव के, जो स्पष्टतः खारवेल के वंश का सदस्य था, मञ्च-पुरी–गुहालेख में वक्रदेव को ये उपाधियाँ दी गई हैं। खारवेल प्रथम भारतीय नरेश हैं जिसने 'महाराज' उपाधि धारण की।

शब्दार्थ (पं० १४–१६)

सुपवत विजय चके = सुप्रवृत्त विजय चक्रे, सुप्रतिष्ठित विजयशील समृद्ध शासन में ; **अरहतेहि** = अर्हद्भ्यः, अर्हतों के लिए ; **परिवन संसितेहि** = प्रक्षीण संश्रितेभ्यः, क्षीण आश्रय वालोंके लिए ; **कायनिसीदियाय** = कायनिषद्यायै, सुखकर विश्राम स्थल के रूप में प्रयोग के लिए ; **यापूजावकेहि** = यापोद्यापकेभ्यः, उनके लिए जो याप अर्थात् वर्षावास के व्रत के उद्यापन में अर्थात् उसे पूरा करने में लगे थे ; **चिनवतानं** = चीणव्रतानां, व्रत पूर्ण करने वालों का ; **राजभितिनं** = राजभृतानां, राजकीय सहायता पर निर्भर ; **वासासितानि** = वर्षाश्रितानां, वर्षा में आश्रय पाने के इच्छुक ; **पूजानुरत उवासग** = पूजानुरक्तोपासक, पूजा में अनुरक्त उपासक ; **जीवदेहसयिका** = जीवदेहाश्रयिकाः, जीवितदेह का आश्रय अर्थात् आश्रय गुहाएँ ; **परिखाता** = परिखानिताः, खुदवाई गई ।

सकत समण = सत्कृत श्रमण : अर्थात् खारवेल ; **सुविहितानं** = सुविहितानां, सुप्रतिथ ; **जनिनं** = ज्ञानिनां ; **तपसिइसिन** = तपस्वी और ऋषि ; **संघियनं** = संघी ; **निषद्या** = कक्ष, चौक, बाजार, विश्रामालय ; **अरहतनिसिदिया समीपे** = अर्हन्निषद्या समीपे, अर्हतोंके विश्रामालय के पास ; **पाभारे** = प्राग्भारे, पर्वतपृष्ठे, पहाड़ की ढलान पर ; **वराकर** = अच्छी खानें ; **चतरे** = चत्वरे, चौकोर कक्ष में ; **वेडुरियगभे थंभे** = वैदूर्य जड़ा स्तम्भ ; **पतिठापयति** = प्रतिष्ठापयति, स्थापित करता है ; **पानतरीय सत सहसेहि** = पचहत्तर लाख ; **वोछिनं** = अवछिन्नं, किसी चीज के योग से विशिष्टता प्राप्त करना ; **मुखियकल वोछिनं** = मुख्यकला वाछिन्नं, मुख्यकलाओं से युक्त ; **चोयठि अंग** = चतुः षष्ठ्यंगं, चौसठ प्रकार के (वाद्यों से विशिष्ट) ; **संतिकं तुरीयं** = शान्तिकं तौर्यं, रणभेरी रहित शान्तिपूर्ण वाद्यध्वनि ; **उपादयति** = पैदा करता है ।

अनुवाद

तेरहवें वर्ष (अपने) सुप्रतिष्ठित (=सुप्रवर्त्त) विजयशील समृद्ध शासन में, उनकी पूजा में अनुरक्त, जो राजकीय सहायता पर निर्भर रहते हैं (अपने) व्रतों को पूर्ण करते हैं (और) वर्षा में आश्रय पाने के इच्छुक हैं, श्री खारवेल के द्वारा कुमारी पर्वत पर क्षीण आश्रय वाले (और) वर्षावास के व्रत (याप) के उद्यापन (अर्थात् पूरा करने) में लगे हुए अर्हतों के लिए सुखकर विश्राम स्थल के रूप प्रयोग करने के हेतु जीवदेहाश्रयिकाएँ (अर्थात् गुफाएँ) खुदवाई गईं ।

····सुकर्म करने श्रमण [अर्थात् खारवेल] ने सब दिशाओं से आने वाले सुविहित ज्ञानियों, तपस्वियों, ऋषियों और संघियों का अर्हतों के विश्रामालय के पास पर्वत की ढलान पर अच्छी खानों से निकाली गई अनेक, योजना से लाई गई···· शिलाओं द्वारा····और पचहत्तर लाख [मुद्राओं] द्वारा चौकोर कक्ष में वैदूर्य जड़ा स्तम्भ स्थापित किया । [गीत नृत्य आदि] मुख्य कलाओं से युक्त चौसठ प्रकार के वाद्यों से समन्वित शान्तिपूर्ण वाद्यध्वनि उत्पन्न कर

शब्दार्थ (पं० १६–१७)

खेमराजा=क्षेमराज; **वढराजा**=वृद्धराज; **भिखुराजा**=भिक्षुराज; **पसंतो सुनंतो अनुभवतो**=पश्यन् शृण्वन् अनुभवन्. देखते, सुनते और अनुभव करते हुए; **कलानानि**=कल्याणों को; **पासंड**=पाषण्ड, सम्प्रदाय; **देवायतन**=देवमन्दिर; **सकारकारको**=संस्कार कारक; **अपतिहतचक वाहन बलो**=अप्रतिहत चक्रवाहिनीबल, वह जो अपराजित राज्य और सेना के कारण बलवान है; **चकधरो**=चक्रधर, जिसका राजचक्र सुप्रतिष्ठित है; **गुप्तचको**=गुप्तचक्रः, राजमण्डल द्वारा सुरक्षित; **पवतचको**=प्रवृत्तचक्रः, जिसका शासन अनुल्लंघित रहता है; **राजसिवसू विनिश्रितो**=राजर्षि वसु कुल विनिःसृत ।

अनुवाद

राजर्षि वसुकुल में उत्पन्न (वह) महाविजय राजा श्री खारवेल क्षेमराज, वृद्धराज, भिक्षुराज, धर्मराज, कल्याणों को देखते, सुनते और अनुभव करते हुए···· विशेष गुणों में कुशल, समस्त सम्प्रदायों का पूजक, सब देव मन्दिरों को सुधरवाने वाला, अपराजित राज्य और सेना के कारण बलवान, सुप्रतिष्ठित राजचक्रवाला, राजमण्डल द्वारा सुरक्षित और अनुल्लंघित शासन वाला (था) (अर्थात् उसके आदेशों का कभी उल्लंघन नहीं होता था) ।

व्याख्या

(१) चूँकि खारवेल जैन था, इसलिए इस लेख का प्रारम्भ जैन अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार करके किया गया है। जैन साधुओं के लिए 'अर्हत्', 'सिद्ध', 'केवली', 'तथागत' तथा 'वुद्ध' आदि शब्द प्रयुक्त होते थे।

(२) कुडेप या वक्रदेव के, जो स्पष्टतः खारवेल के वंश का सदस्य था, मञ्च-पुरी–गुहालेख में वक्रदेव को ये उपाधियाँ दी गई हैं। खारवेल प्रथम भारतीय नरेश हैं जिसने 'महाराज' उपाधि धारण की।

(३) **ऐरेण**—जायसवाल, जगन्नाथ व बनर्जी ने इसका संस्कृत रूपान्तर 'ऐलेन' किया है और इसका अर्थ माना है 'ऐलवंशीय' या 'चन्द्रवंशीय'। रा० ब० पाण्डेय ने इसका समर्थन किया है। यह मत सही हो सकता है क्योंकि आगे खारवेल को राजर्षि वसु के कुल में उत्पन्न बताया गया है जो पुराणों के अनुसार ऐल अथवा चन्द्र वंश में उत्पन्न कुरु के पुत्र सुधन्वा की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। परन्तु बरुआ ने इसका सम्बन्ध पालि 'अयिर' (=स्वामी) से माना है और सरकार ने इसका संस्कृत रूपान्तर 'आर्य' किया है। हो सकता है खारवेल के वंश वाले उड़ीसा की आर्येतर प्रजा से पृथक् करने के लिए 'आर्य' कहते हों उसी तरह जैसे दक्षिण के ब्राह्मण अपने को 'अय्यर' कहते हैं। नाट्य शास्त्रीय परम्पराओं में रंगमञ्च पर कलिंग के लोगों को श्याम वर्ण का दिखाने का विधान है। द्वितीय शती ई० के एक बेलपुरु-अभिलेख में ऐर वंश के एक गालवगोत्रीय 'महाराज हारीतीपुत्र' मानसद का उल्लेख हुआ है (ई० आई०, ३२, पृ० ८८ अ०)। १०८ वें वर्ष का उल्लेख करने वाले एक कैलवान (पटना, बिहार) पाषाण भिक्षापात्र—लेख में महाराज 'आर्य' विशाख मित्र का उल्लेख हुआ है (ई० आई०, ३१, पृ० २२९ अ०)।

(४) **महामेघवाहन**—यह 'सातवाहन' की तरह वंश नाम है। पुराणों में आन्ध्रों (=सातवाहनों) के समकालीन कोसल (=दक्षिण कोसल) के मेघ (=महामेघवाहन) वंशीय नरेशों का उल्लेख है जिन्हें 'महाबली' और 'बुद्धिमान' कहा गया है (पार्जिटर, डायनेस्टीज ऑव कलि एज, पृ० ५१)। जायसवाल, बरुआ और विद्यालंकार जैसे कुछ विद्वान् उन्हें खारवेल के वंश का सदस्य ही मानते हैं। 'राजतरंगिणी' में एक राजा का नाम मेघवाहन बताया गया है। यह नाम महाभारतकार को भी ज्ञात था (दे०, सोरेन्सन का 'महाभारत इण्डेक्स')। जैन साहित्य में मेघवाहन वंशीय राजाओं (मेहवहणुनरिन्दु) का उल्लेख हुआ है (मित्तल, एन अर्ली हिस्टरी ऑव उड़ीसा, पृ० २४४)। 'महामेघवाहन' का अर्थ 'महान् मेघ या विशाल हाथी है वाहन जिसका' होता है। स्मरणीय है कि 'अर्थशास्त्र' में कलिंग के हाथियों को श्रेष्ठ बताया गया है। यह भी सच्च है 'महामेघवाहन' खारवेल के किसी पूर्वज का नाम रहा हो।

(५) **चेतिराज वंसवधनेन**—कुछ लोग 'चेति' को 'चेत' पढ़ते हैं। चेति=चेदि, चेत=चैद्य। दोनों पाठों का भावार्थ एक ही है। स्पष्टतः खारवेल अपने को वसु चैद्योपरिचर का वंशज मानता था। अन्यत्र भी वह अपने को 'राजसि वसू कुल विनिश्रितो' कहता है (दे०, ऊपर, टि०, ३) स्मरणीय है कि वसु स्वयं चेदि वंश में उत्पन्न नहीं हुआ था वरन् चेदि देश का विजेता होने के कारण चेद्योपरिचर कहलाया था। लेकिन ब्राह्मण पुराणों, 'चेतिय जातक' तथा 'जैन हरिवंश पुराण' में ऐलेय नरेश वसु को विन्ध्य प्रदेश में स्थित चेदि राष्ट्र का संस्थापक बताया गया है। इस राज्य की राजधानी शुक्तिमती थी। स्पष्टतः चन्द्र वंश की एक शाखा चेदि देश में बस जाने के कारण चेदि कहलाने लगी होगी। उसकी ही एक उपशाखा ने किसी

समय कलिंग में एक राजवंश स्थापित किया होगा। इसीलिए खारवेल अपने को 'चेदिराजवंश वर्द्धन' व 'राजर्षि वसु के कुल में उत्पन्न', दोनों कह सका था।

(६) जायसवाल (जे०बी०ओ०आर०एस०, १६, पृ० ३०५–७) का विचार था कि पुराणों और जैन अनुश्रुतियों में शकों के आक्रमण के पहिले उज्जयिनी पर शासन करने वाले जिस राजा गर्दभिल्ल का उल्लेख है वह खारवेल का कोई वंशज था। जयचन्द्र विद्यालंकार (भारतीय इतिहास की रूपरेखा, १, पृ० ८२६–२७) इससे सहमत हैं। इसके विपरीत एच० सी० सेठ ने स्वयं खारवेल की पहचान गर्दभिल्ल से की है और मञ्चपुरी-गुहालेख के वक्रदेव की विक्रम-सम्वत् के संस्थापक विक्रमादित्य से (विक्रम वाल्यूम, पृ० ५३९ अ०)। ये मत नितान्त कल्पनाप्रसूत हैं।

(७) ज्ञान की वर्तमान अवस्था में यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि महापद्मनन्द द्वारा क्षत्रियों के उन्मूलन के उपरान्त गुप्त युग के अन्त तक भारत में जितने राजवंश हुए उनमें केवल खारवेल का वंश ही अपने को वैदिक क्षत्रियों से उत्पन्न बताता है। यह तथ्य महापद्मनन्द के 'सर्वक्षत्रान्तक' होने के दावे के मूलतः सत्य होने का संकेत देता है।

(८) **पसथ सुभ लखनेन**—प्रशस्त शुभ लक्षणवाले अर्थात् महापुरुषों के लक्षण-पाठकों द्वारा बताए गए शुभ लक्षणों से युक्त।

(९) **चतुरंत लुठणगुणउपितेन**—बरुआ ने इसका अर्थ किया है 'वह जो चारों समुद्रों तक विस्तृत पृथिवी को जीतने के गुणों से युक्त था'।

(१०) **सीरिकडार सरीरवता**—स्टेनकोनो ने कडार का अर्थ प्रेमी और 'श्री कडार' का अर्थ 'श्री अर्थात् लक्ष्मी का प्रेमी अर्थात् कृष्ण' किया है और यहाँ खारवेल की बाल-क्रीड़ाओं की तुलना कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं से हुई मानी है। परन्तु इस पद में 'श्री कडार' 'शरीर' का विशेषण है न कि 'क्रीड़ा' का।

(११) **खारवेल**—जायसवाल ने इस व्यक्तिवाचक नाम का भी संस्कृत रूपान्तर कर दिया है—क्षारवेल। यह ठीक नहीं है। लेकिन इस नाम की व्युत्पत्ति क्षार= नमकीन और वेल = लहर शब्दों से हो सकती है। उस अवस्था में इसका अर्थ 'नमकीन लहरों वाला' = समुद्र होगा। एस० के० चटर्जी ने खार की व्युत्पत्ति द्रविड 'कर' (= काला) से मानी है और वेल का अर्थ 'भाला' बताया है। (स० इ०, पृ० २१३, टि० १)। 'महावंश' में (९, २३) कालवेल एक यक्ष का नाम बताया गया है और एक जातक कथा में एक स्थान का। 'महानिद्देश' में इसका प्रयोग 'जो समयोचित शब्द का प्रयोग करें' अर्थ में हुआ है। मोनियर विलियम्स् ने कर्बेल को एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में उल्लिखित किया है।

(१२) **कलिंगाधिपतिना**—खारवेल की रानी के मञ्चपुरी-गुहालेख में उसे 'कलिंग चक्रवर्ती' कहा गया है। गुण्टुपल्ली-अभिलेख में एक 'महामेखवाहन' वंशीय राजा सद को कलिंग और महिषकों का अधिपति बताया गया है।

(१३) **लेख, रूप, गणना, व्यवहार, विधि**—जायसवाल का यह आग्रह उचित ही है कि इन विषयों से तात्पर्य अक्षर-ज्ञान, मुद्राओं की पहिचान, गणित, व्यवहार तथा कानून से नहीं, वरन् राजशासन, मुद्राशास्त्र के विविध पक्ष, नगर व 'सिविल' प्रशासन, तथा धर्मशास्त्रीय कानून आदि से होना चाहिए। इनके अतिरिक्त उसने अन्य विद्याओं का भी अध्ययन किया था। यह उसको 'सर्वविद्यावदात' कहे जाने व आगे उसकी संगीत-विद्या में रुचि के उल्लेख से स्पष्ट है।

(१४) **वधमान सेसयो वेनाभिविजयो**—जायसवाल के अनुसार यहाँ 'वधमान' शब्द श्लेषात्मक है। वर्धमान भगवान महावीर का गृहस्थाश्रम वाला नाम था। 'अभिधान राजेन्द्र' के अनुसार उनकी उन्नति जन्म से ही होने लगी थी, इसलिए उनका नाम वर्धमान पड़ा था। चूँकि खारवेल जैन था इसलिए उसे यहाँ 'जो बचपन से ही वर्धमान है' कहा गया है। 'कुमार सम्भव' (१,२५) में पार्वती के चन्द्रमा के समान धीरे धीरे बढने (परिवर्धमान) के उल्लेख से इस भाव को समझने में सहायता मिलती है। वेन से यहाँ, जायसवाल के अनुसार, पौराणिक वेन की ओर उल्लेख है जो 'पद्मपुराण' के अनुसार जैन धर्म को मानता था, परन्तु सरकार का विचार है कि यहाँ वेन नहीं वरन् 'वैण्य' (= वेन का पुत्र = पृथु) की ओर संकेत है (स०इ०, पृ० २१९)।

(१५) **ततिये कलिंगराज वसे पुरिसयुगे**—यह अत्यन्त विवादग्रस्त पद है। बरुआ ने पहिले 'पुरिसयुग' का अर्थ' दो पुरुष या राजा' और इस समस्त पद का अनुवाद 'कलिंग राज वंश में दो-दो राजाओं की तीसरी पीढ़ी में' किया (ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्)। इसके अनुसार उस समय कलिंग में द्वैराज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी जिसमें पिता-पुत्र एक साथ शासन करते थे। इसका मतलब यह हुआ कि खारवेल के जन्म के साथ कलिंग राजवंश का तीसरा पुरुष युग पूरा हुआ। अर्थात् वह अपने वंश का छठा राजा था। अब, यह सही है कि प्राचीन भारत में द्वैराज्य-व्यवस्था के विविध रूपों में प्रचलन का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। 'अथर्ववेद', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र','जैन अयरंग सुत्त' इससे परिचित हैं। भारत के विदेशी नरेशों ने इसे प्रायः अपनाया था, इसके प्रमाण मिलते हैं। परन्तु कलिंग में यह व्यवस्था प्रचलित थी, कहना कठिन है। स्वयं बरुआ ने बाद में इस पद का अर्थ किया 'कलिंग के तीसरे वंश में नियमित वंश क्रम में' (आई० एच० क्यू०, १४, पृ० ४७३)। जायसवाल ने एक स्थल पर 'पुरिसयुग' का अर्थ पुरुष की आयु अर्थात् वयस्क होने की आयु माना और सुझाव रखा कि खारवेल का अभिषेक महाराज के रूप में चौबीस वर्ष की आयु माना और सुझाव रखा कि खारवेल का अभिषेक महाराज के रूप में चौबीस वर्ष की आयु में वयस्क होने पर हुआ था। उन्होंने 'बृहस्पति सूत्र' का उदाहरण दिया है जिसमें कहा गया है राजा बनने के पहिले राजकुमार को २४ वर्ष की आयु तक शिक्षा दी जानी चाहिए। परन्तु यह कल्पना करना कठिन है कि कलिंग का राज सिंहासन ९

वर्ष तक खाली पड़ा रहा था। स्वयं जायसवाल ने अन्यत्र 'पुरिस युग' का अर्थ 'पीढ़ी' किया है और इस पद का अनुवाद 'कलिंग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में' माना है (ना०प्र०प०, ८, स० ३, पृ० १९)। मजूमदार, रायचौधुरी, सरकार, रेप्सन आदि ने इस पद से यही अर्थ निकाला है।

(१६) हाथिगुम्फा-लेख में खारवेल के पूर्वजों का उल्लेख नहीं है। इस तथ्य को विचित्र मानकर बनर्जी ने एक स्थल पर कल्पना की है कि कलिंग में मातृसत्तात्मक परिवार संस्था रही होगी जिसके कारण खारवेल को अपने पिता का नाम ज्ञात नहीं रहा होगा (हिस्टरी ऑव उड़ीसा, पृ० ७३-४)। परन्तु राजा के पिता का उल्लेख तो 'चन्द्र' के मेहरौली-लौह-स्तम्भ अभिलेख, मालव राज यशोधर्मा के मन्दसौर-लेखों व स्वयं अशोक के अभिलेखों में भी नहीं मिलता।

(१७) युवराज के अभिषेक के लिए दे०, 'अर्थशास्त्र', २.३६ (गैरोला का संस्करण, पृ० ३०८)।

(१८) जायसवाल व बनर्जी ने 'खिवीर-इसि-ताल-तडाक-पाडियो च बंधापयति' पढ़ कर इसका अर्थ 'खिवीर-ऋषि के ताल-तडाग व बाँध बँधवाए किया है।

(१९) बरुआ ने इस लेख में आई संख्या 'पैंतीस लाख' को उन सिक्कों की संख्या माना है जो खारवेल ने ध्वस्त मकानों, तालों व उद्यानों की मरम्मत में खर्च किए थे। उनका सुझाव एकदम तर्कहीन नहीं है। जायसवाल ने इस संख्या को कलिंग की पूर्ण जनसंख्या बताया है। 'अर्थशास्त्र' व 'इण्डिका' से भारत में जनगणना के प्रचलन का पता चलता है।

(२०) कलिंग की राजधानी के रूप में खिबीर का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसकी सम्भव भोगौलिक स्थिति भी अनिश्चित है। यह पर्थालिस नगर से, जिसे प्लिनी ने कलिंग की राजधानी बताया है, अभिन्न थी या नहीं कहना असम्भव है। बरुआ ने इसकी पहिचान मुखलिंगम से सुझाई है, लेवी ने कलिंगपटम से, जायसवाल ने तौसाली से, तथा बी० बी० लाल ने शिशुपालगढ़ से (प्र०, मित्तल, पूर्वो०, पृ० ३४९ अ०)। शशिकान्त ने लाल के मत को अस्वीकृत किया है।

(२१) **सातकंनि**--इस शातकर्णि की पहिचान जायसवाल ने सातवाहन वंश के तीसरे राजा प्रथम शातकर्णि से, जो नानाघाट-अभिलेखों की रानी नयनिका का पति था, की है। इसके विपरीत सरकार (स० इ०, पृ० २१५, टि० १) उसे द्वितीय शातकर्णि मानते हैं जिसने पुराणों के अनुसार प्रथम शातकर्णि के कुछ समय बाद शासन किया था और गुण्टुपल्ली लेख के सम्पादक सुब्रामण्यम शातकर्णि तृतीय। जो भी हो अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि हाथिगुम्फा-लेख नानाघाट लेखों का निकट समकालीन है। दे० आगे, खारवेल की तिथि पर विचार।

(१३) **लेख, रूप, गणना, व्यवहार, विधि**—जायसवाल का यह आग्रह उचित ही है कि इन विषयों से तात्पर्य अक्षर-ज्ञान, मुद्राओं की पहिचान, गणित, व्यवहार तथा कानून से नहीं, वरन् राजशासन, मुद्राशास्त्र के विविध पक्ष, नगर व 'सिविल' प्रशासन, तथा धर्मशास्त्रीय कानून आदि से होना चाहिए। इनके अतिरिक्त उसने अन्य विद्याओं का भी अध्ययन किया था। यह उसको 'सर्वविद्यावदात' कहे जाने व आगे उसकी संगीत-विद्या में रुचि के उल्लेख से स्पष्ट है।

(१४) **वधमान सेसयो वेनाभिविजयो**—जायसवाल के अनुसार यहाँ 'वधमान' शब्द श्लेषात्मक है। वर्धमान भगवान महावीर का गृहस्थाश्रम वाला नाम था। 'अभिधान राजेन्द्र' के अनुसार उनकी उन्नति जन्म से ही होने लगी थी, इसलिए उनका नाम वर्धमान पड़ा था। चूँकि खारवेल जैन था इसलिए उसे यहाँ 'जो बचपन से ही वर्धमान हैं' कहा गया है। 'कुमार सम्भव' (१,२५) में पार्वती के चन्द्रमा के समान धीरे धीरे बढने (परिवर्धमान) के उल्लेख से इस भाव को समझने में सहायता मिलती है। वेन से यहाँ, जायसवाल के अनुसार, पौराणिक वेन की ओर उल्लेख है जो 'पद्मपुराण' के अनुसार जैन धर्म को मानता था, परन्तु सरकार का विचार है कि यहाँ वेन नहीं वरन् 'वैण्य' (= वेन का पुत्र = पृथु) की ओर संकेत है (स०इ०, पृ० २१९)।

(१५) **ततिये कलिंगराज वसे पुरिसयुगे**—यह अत्यन्त विवादग्रस्त पद है। बरुआ ने पहिले 'पुरिसयुग' का अर्थ' दो पुरुष या राजा' और इस समस्त पद का अनुवाद 'कलिंग राज वंश में दो-दो राजाओं की तीसरी पीढ़ी में' किया (ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्)। इसके अनुसार उस समय कलिंग में द्वैराज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी जिसमें पिता-पुत्र एक साथ शासन करते थे। इसका मतलब यह हुआ कि खारवेल के जन्म के साथ कलिंग राजवंश का तीसरा पुरुष युग पूरा हुआ। अर्थात् वह अपने वंश का छठा राजा था। अब, यह सही है कि प्राचीन भारत में द्वैराज्य-व्यवस्था के विविध रूपों में प्रचलन का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। 'अथर्ववेद', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र','जैन अयरंग सुत्त' इससे परिचित हैं। भारत के विदेशी नरेशों ने इसे प्रायः अपनाया था, इसके प्रमाण मिलते हैं। परन्तु कलिंग में यह व्यवस्था प्रचलित थी, कहना कठिन है। स्वयं बरुआ ने बाद में इस पद का अर्थ किया 'कलिंग के तीसरे वंश में नियमित वंश क्रम में' (आई० एच० क्यू०, १४, पृ० ४७३)। जायसवाल ने एक स्थल पर 'पुरिसयुग' का अर्थ पुरुष की आयु अर्थात् वयस्क होने की आयु माना और सुझाव रखा कि खारवेल का अभिषेक महाराज के रूप में चौबीस वर्ष की आयु माना और सुझाव रखा कि खारवेल का अभिषेक महाराज के रूप में चौबीस वर्ष की आयु में वयस्क होने पर हुआ था। उन्होंने 'बृहस्पति सूत्र' का उदाहरण दिया है जिसमें कहा गया है राजा बनने के पहिले राजकुमार को २४ वर्ष की आयु तक शिक्षा दी जानी चाहिए। परन्तु यह कल्पना करना कठिन है कि कलिंग का राज सिंहासन ९

वर्ष तक खाली पड़ा रहा था। स्वयं जायसवाल ने अन्यत्र 'पुरिस युग' का अर्थ 'पीढ़ी' किया है और इस पद का अनुवाद 'कलिंग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में' माना है (ना०प्र०प०, ८, स० ३, पृ० १९)। मजूमदार, रायचौधुरी, सरकार, रेप्सन आदि ने इस पद से यही अर्थ निकाला है।

(१६) हाथिगुम्फा-लेख में खारवेल के पूर्वजों का उल्लेख नहीं है। इस तथ्य को विचित्र मानकर बनर्जी ने एक स्थल पर कल्पना की है कि कलिंग में मातृसत्तात्मक परिवार संस्था रही होगी जिसके कारण खारवेल को अपने पिता का नाम ज्ञात नहीं रहा होगा (हिस्टरी ऑव उड़ीसा, पृ० ७३-४)। परन्तु राजा के पिता का उल्लेख तो 'चन्द्र' के मेहरौली-लौह-स्तम्भ अभिलेख, मालव राज यशोधर्मा के मन्दसौर-लेखों व स्वयं अशोक के अभिलेखों में भी नहीं मिलता।

(१७) युवराज के अभिषेक के लिए दे०, 'अर्थशास्त्र', २.३६ (गैरोला का संस्करण, पृ० ३०८)।

(१८) जायसवाल व बनर्जी ने 'खिवीर-इसि-ताल-तडाक-पाडियो च बंधापयति' पढ़ कर इसका अर्थ 'खिवीर-ऋषि के ताल-तडाग व बाँध बँधवाए किया है।

(१९) बरुआ ने इस लेख में आई संख्या 'पैंतीस लाख' को उन सिक्कों की संख्या माना है जो खारवेल ने ध्वस्त मकानों, तालों व उद्यानों की मरम्मत में खर्च किए थे। उनका सुझाव एकदम तर्कहीन नहीं है। जायसवाल ने इस संख्या को कलिंग की पूर्ण जनसंख्या बताया है। 'अर्थशास्त्र' व 'इण्डिका' से भारत में जनगणना के प्रचलन का पता चलता है।

(२०) कलिंग की राजधानी के रूप में खिबीर का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसकी सम्भव भौगोलिक स्थिति भी अनिश्चित है। यह पर्थालिस नगर से, जिसे प्लिनी ने कलिंग की राजधानी बताया है, अभिन्न थी या नहीं कहना असम्भव है। बरुआ ने इसकी पहिचान मुखलिंगम से सुझाई है, लेवी ने कलिंगपटम से, जायसवाल ने तौसाली से, तथा बी० बी० लाल ने शिशुपालगढ़ से (प्र०, मित्तल, पूर्वो०, पृ० ३४९ अ०)। शशिकान्त ने लाल के मत को अस्वीकृत किया है।

(२१) **सातकंनि**--इस शातकर्णि की पहिचान जायसवाल ने सातवाहन वंश के तीसरे राजा प्रथम शातकर्णि से, जो नानाघाट-अभिलेखों की रानी नयनिका का पति था, की है। इसके विपरीत सरकार (स० इ०, पृ० २१५, टि० १) उसे द्वितीय शातकर्णि मानते हैं जिसने पुराणों के अनुसार प्रथम शातकर्णि के कुछ समय बाद शासन किया था और गुण्टुपल्ली लेख के सम्पादक सुब्रामण्यम शातकर्णि तृतीय। जो भी हो अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि हाथिगुम्फा-लेख नानाघाट लेखों का निकट समकालीन है। दे० आगे, खारवेल की तिथि पर विचार।

(२२) **कन्हबेंणा व असिक नगर**—'मार्कण्डेयपुराण' के अनुसार कृष्णवेणा नदी गोदावरी व भीमरथ नदियों के समान विन्ध्य पर्वत से निकलती है। रेप्सन व बरुआ ने इसकी पहिचान वेनगंगा व उसकी सहायक नदी कन्ह से की है जिनका संगम भण्डारा जिले में होता है व असिक नगर को अस्सिकों का गोदावरी की उपत्यका में स्थित नगर माना है। जायसवाल ने कृष्ण वेणा को कृष्णा से अभिन्न बताया है और मूसिकनगर की स्थिति कृष्णा व मूसी नदियों के संगम पर नलगोण्डा जिले की सीमा पर मानी है। सरकार भी कृष्ण वेणा की पहिचान कृष्णा से करते हैं। असिक प्रदेश गौतमी पुत्र शातकर्णि के साम्राज्य में सम्मिलित था (पुलुमावी के शासन के १९ वें वर्ष का नासिक-लेख) और स्पष्टतः असिक नगर, जो इसका प्रधान नगर रहा होगा, कृष्ण वेणा के तट पर स्थित था।

(२३) इस अभियान में खारवेल को कितनी सफलता मिली कहना कठिन है। लेकिन लेख की भाषा से लगता है कि इससे खारवेल के साम्राज्य में कोई वृद्धि नहीं हुई थी, यह केवल एक धावामात्रा था। यह भी ध्यान देने की बात है कि हाथिगुम्फा-लेख खारवेल व शातकर्णि के बीच संघर्ष का उल्लेख नहीं करता। सरकार का अनुमान है (ए० इ० यू०, पृ० २१३) कि शातकर्णि व खारवेल के सम्बन्ध मैत्री पूर्ण थे और खारवेल ने ऋषिक देश पर शातकर्णि के राज्य से होकर आक्रमण किया था जबकि टॉमस का कहना है कि खारवेल शातकर्णि की सहायतार्थ गया था (जे० आर० ए० एस०, १९२२, पृ० ८३)। परन्तु इस लेख का यह कथन कि खारवेल ने 'शातकर्णि की परवाह किए बिना' पश्चिम की ओर सेना भेज दी, इन मान्यताओं के विरुद्ध है। अधिक सम्भावना यही है कि असिक नगर (या मूसिक नगर) सातवाहनों के प्रभावान्तर्गत था और उनकी अवहेलना करते हुए खारवेल ने उस पर आक्रमण कर दिया था।

(२४) **हय गज नररथ**—अश्व, गज, पदाति आर रथ। यह चतुरंगिणी सेना का प्राचीनतम अभिलेखिक उल्लेख है। प्लिनी ने एक स्थल पर कलिंग की सेना में ६० हजार पैदल, ९ हजार अश्वारोही तथा ७ सौ रथ बताए हैं।

(२५) **गंधववेदबुधो**—तु० प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को 'गान्धर्व्व ललितै व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः कहा जाना और जूनागढ़-प्रशस्ति में रुद्रदामा की गान्धर्व-विद्या में दक्षता का उल्लेख।

(२६) **दप**—'अर्थशास्त्र' में एक विशेष प्रकार के मल्लयुद्ध को दर्प कहा गया है (३. ३. ५८) इस लेख का 'दप' से आशय पालि 'दवकम्म' (प्रहसन) से भी हो सकता है जिसका उल्लेख 'महानिद्देश' में मिलता है।

(२७) **समाज**—समाजों का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में मिलता है।

(२८) **विजाधराधिवासं** = विद्याधराधिवासं। इस पंक्ति के अंशतः खण्डित होने के कारण इसका तात्पर्य तथा इसमें उल्लिखित घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

स्पष्ट नहीं है। जायसवाल का मत है कि खारवेल ने विद्याधरों के किसी पवित्र भवन का जीर्णोद्धार कराया था (जे० बी० ओ० आर० एस०, ३, पृ० ४४३)। जगन्नाथ (को० दि० इ०, २, पृ० ११३–१४) का विचार है कि 'विद्याधराधिवास' जैनियों का कोई पवित्र स्थान था जिसे खारवेल के पूर्वजों ने स्थापित किया था। गुप्त सम्वत् ११३ (=४३२ ई०) के एक मथुरा-अभिलेख में जैनियों की विद्याधरी शाखा इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। जगन्नाथ का विचार है कि इस स्थल पर भोजकों और रठिकों का उत्पात उनके खारवेल के साथ युद्ध का प्रमुख कारण रहा होगा क्योंकि खारवेल जैन होने के कारण इस स्थल की रक्षा करना अपना उत्तरदायित्व समझता होगा। बरुआ के अनुसार खारवेल ने विद्याधरों को भोजकों एवं रठिकों के विरुद्ध सहायता दी थी (आई० एच० क्यू०, १४, पृ० ४७५, टि० १६८)। उल्लेखनीय है कि जैन ग्रन्थ 'जम्बूदीव पण्णत्ति' में (लाहा द्वारा उद्धृत, इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स ऑव बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म्, पृ० ४४) विद्याधरों के सात नगरों को विन्ध्य पर्वत माला में स्थित बताया गया है। बरुआ (ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ३२४) ने विद्याधरों को मध्यप्रदेश के अर्काट भूखण्ड की आदिवासी जाति माना है। लेकिन सरकार का कहना है कि हाथिगुम्फा-लेख में खारवेल के द्वारा विद्याधर नामक किसी राजा की राजधानी हस्तगत करने का उल्लेख है (ए० इ० यू०, पृ० २१३-१४)। विद्याधरों के उल्लेख के लिए दे०, आदित्यसेन का अफसद-अभिलेख, श्लोक १; पुलुमावि का १९ वें वर्ष का नासिक-लेख।

(२९) **सवरठिक भोजके**—'रठिक' का शाब्दिक अर्थ है 'राष्ट्रिक' अर्थात् 'गवर्नर' (दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख) और 'भोजक' का अर्थ है 'जागीरदार'। लेकिन ये दोनों जातिवाचक नाम भी हैं। जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस पद का अर्थ 'रठिक अर्थात् महाराष्ट्र के भोजक अर्थात् जागीरदार' किया है (भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ८०१)। लेकिन यहाँ ये दोनों ही शब्द जातिवाचक लगते हैं। रठिकों और भोजों का उल्लेख जातियों के रूप में अशोक के पञ्चम (स० इ०, पृ० २२) व तेरहवें (वही, पृ० ३६) शिलालेखों में भी हुआ है। सरकार ने इन दोनों को बरार का निवासी माना है। रेप्सन का विचार है कि रठिक महाराष्ट्र में रहते थे और भोजक बरार में। लाहा ने इनको विद्याधरों का (जो उनके अनुसार एक आदिवासी जाती थी) शासक बताया है।

(३०) भोजकों एवं रठिकों पर आक्रमण भी स्पष्टतः उनके प्रदेशों को जीतने के लिए नहीं वरन् उनकी सम्पदा छीन लेने के लिए किया गया था।

(३१) **नंदराज ति-वस-सत औघाटितं**—इस पद में नन्द नरेश को खारवेल से 'ति-वस-सत' पूर्व रखा गया है। 'ति-वस-सत' के दो अर्थ सम्भव है, १०३ अथवा ३००। अब, अगर यह नन्दराजा नन्द वंश का संस्थापक महापद्मनन्द अथवा उसका कोई उत्तराधिकारी है तो खारवेल को उसके १०३ वर्ष उपरान्त नहीं रखा जा

सकता। इसलिए यहाँ 'तीन सौ वर्ष' अर्थ ही अपेक्षित लगता है। विस्तृत विवेचन के लिए देखें आगे, खारवेल की तिथि। इन्द्रजी (प्रोसीडिंग्स आॅव इण्टरनेशनल ओरियण्टल कोन्फ्रेन्स, लीडेन, १८८४) का यह मत कि यहाँ खारवेल द्वारा त्रिवर्षीय सत्र चालू करने का उल्लेख है, आजकल कोई नहीं मानता।

(३२) **तनसुलियवाटा**—तनसुलिय मार्ग का उल्लेख भविष्य में खारवेल की राजधानी की स्थिति निर्धारित करने में सहायक हो सकता है। बरुआ के अनुसार यह सड़क अशोक द्वारा उल्लिखित तोसाली को खारवेल की राजधानी से मिलाती थी।

(३३) **राजसेयं**—राजश्री अथवा राजैश्वर्य। जायसवाल ने इसको 'राजसुयं' पढ़ा है और यहाँ राजसूय यज्ञ का उल्लेख माना है। पाण्डेय ने पढ़ा तो 'राजसेयं' है परन्तु इसका संस्कृत रूपान्तर 'राजसूय' ही किया है।

(३४) 'वण'—वर्ण यह शब्द कभी-कभी 'विवरण' अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। दे० नागनिका नानाघाट-लेख, पंक्ति ६, स० इ०, पृ० १९४, १९६; 'कम्ब्रिज हिस्टरी आॅव इण्डिया', १, पृ० ५४९, टि०। जायसवाल ने 'सवकरवण' को 'सर्वकर पण्य' अर्थात् 'समस्त कर धन' अर्थ में लिया है।

(३५) **पोर जानपदं**—जायसवाल ने इनसे तात्पर्य व्यापारिक निगमों से माना है। दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख, पंक्ति ९–१०, टि०।

(३६) **राजगह**—राजगृह = राजगीर। यह मगध की राजधानी थी। स्पष्टतः खारवेल के इस आक्रमण का लक्ष्य मगध था।

(३७) **गोरधगिरि**—बरुआ ने पहिले इसको एक राजा का नाम माना था (ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स)। सरकार इस सुझाव को असम्भव नहीं मानते। परन्तु जायसवाल ने इसे एक पर्वत का नाम माना है। बरुआ ने बाद में जायसवाल का सुझाव मान लिया (आई० एच० क्यू०, १४, पृ० ४७७)। गोरथगिरि की पहिचान राजगृह के समीपस्थ बराबर की पहाड़ियों से की गई है। यहाँ एक महत्वपूर्ण पर्वतीय सैनिक चौकी थी। जैक्सन के बराबर की चोटी पर एक विशाल प्राचीर के अवशेषों की चर्चा की है। वहाँ एक शिला पर 'गोरथगिरि' नाम लिखा मिला है। 'महाभारत' में कहा गया है कि भीम और कृष्ण गिरिव्रज जाते समय गोरथगिरि से गुजरे थे।

(३८) **डिमित ?**—इस स्थल पर लेख का पाठ अनिश्चित है। यद्यपि इसके पूर्व 'यवनराज' पाठ सुनिश्चित है। जायसवाल, टार्न व स्टेनकोनो इसे 'डिमित' पढ़ते हैं और इस यवनराज की पहिचान डिमिट्रियस (दूसरी शती ई० पू० का पूर्वार्द्ध) से करते हैं। सरकार को 'डिमित' पाठ में शंका है। यह नाम किसी परवर्ती यूनानी राजा का लगता है। हो सकता है कि वह दियुमेत = डियोमेडिज रहा हो। नारायण (दि इण्डोग्रीक्स् पृ० ४२-३) इस सुझाव को नहीं मानते क्योंकि डियोडमेडिज के भारत पर आक्रमण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वह इस वाक्य में 'यवनराज' पाठ भी भी संदिग्ध बताते हैं। एल्थीम ने यहाँ यवनराजा अपोलोडोटस का नाम पढ़ा है।

बरुआ इस नाम को तीन के बजाय छः अक्षरों का भी मानने को प्रस्तुत है। इस यवनराज की राजधानी शायद मथुरा थी।

(३९) ध्यातव्य है कि इस अभियान के परिणामस्वरूप भी खारवेल के राज्य में कोई वृद्धि नहीं हुई।

(४०) कल्पवृक्ष सोने के लघुवृक्ष होते थे जिनको पौराणिक कल्पवृक्ष (इच्छा-पूर्ण करने वाला वृक्ष) के प्रतीक रूप में दान दिया जाता था। जैन ग्रन्थों के अनुसार इन्हें चक्रवर्ती सम्राट् ही दान में दे सकते थे।

(४१) आर० सी० पण्डा तथा बरुआ का मत है कि महाविजय प्रासाद प्राची नदी के तट पर बनवाया गया था। परन्तु स्वयं बरुआ को अपने 'प्रचि' पाठ में विशेष श्रद्धा नहीं है।

(४२) **भरधवस**—यहाँ भारत से आशय स्पष्टतः समस्त भारत से नहीं है। यहाँ इस नाम का प्रयोग गंगा की उपत्यका के किसी भाग के लिये किया गया प्रतीत होता है। उत्तरापथ (= पश्चिमोत्तर भारत, आधुनिक पाकिस्तान) इससे पृथक् था (दे०, आगे)।

(४३) इस अभियान का उद्देश्य भी केवल लूट मार करना था। इससे खार-वेल के साम्राज्य में कोई वृद्धि नहीं हुई।

(४४) **पीथुण्ड** = पितुण्ड्र (Pitundra)। पितुण्ड्र का उल्लेख टॉलेमी (दूसरी शती ई० का मध्य भाग) ने अपने 'ज्योग्रेफीक' में मेसोलोई (Maisiloi) जाति के जो मसूलिपटम प्रदेश में रहती होगी, नगर के रूप में किया है। जैन ग्रन्थ 'उत्तर ध्यान सूत्र' में 'पिहुण्ड' बन्दरगाह का उल्लेख हुआ है (बरुआ, आई० एच० क्यू, १४, पृ० ४७८, टि० १८६)।

(४५) जायसवाल के एक मत के अनुसार यहाँ 'तरह सौ वर्ष' संख्या दी गई है और दूसरे मत के अनुसार 'एक सौ तीन वर्ष'। एक स्थल पर उन्होंने 'सीस (तमर) के मूर्ति संघात' को तोड़ने का उल्लेख माना है और अन्यत्र 'तामिल देशों के संघ' को छिन्न-भिन्न करने का।

(४६) जायसवाल के अनुसार पीथुण्ड की स्थापना 'अवराज' ने की थी। अवराज का अर्थ पहिले उन्होंने 'बुरा राजा' किया और बाद में 'अवों = आन्ध्रो का राजा'। लेवी का अनुसरण करते हुए बरुआ ने यहाँ किसी पुराने राजा द्वारा स्थापित पृथुदक नामक नगर की घास फूस को लांगल नदी में ले जाने का उल्लेख माना है। लेवी, कोनो तथा सरकार इस वाक्य का ऊपर प्रदत्त अर्थ मानते है।

(४७) **उततरापध** = उत्तरापथ = पश्चिमोत्तर भारत। 'महाभारत' में यवनों, काम्बोजों, गन्धारों, किरातों और बर्बरों को उत्तरापथ में रखा गया है। 'पेतवत्थु' की टीका में धम्मपाल ने मथुरा को भी उत्तरापथ में बताया है (उत्तर मधुरा उत्तरा

पथे)। परन्तु 'काव्य मीमांसा' के अनुसार पृथूदक (थानेसर के समीप) से परे का प्रवेश उत्तरापथ कहलाता था (पृथूदकात् परतः उत्तरापथः)। जगन्नाथ का अनुमान है कि हाथिगुम्फा-लेख में उत्तरापथ का प्रयोग 'उत्तर भारत' अर्थ में किया गया है। (को०हि०इ०, २, पृ०)

(४८) **हथसं गंगाय पाययति**—कोनो का अनुसरण करते हुए जायसवाल ने इस अंश का पाठ 'हथी सुगंगीयं पाययति' मानकर इसमें नन्दों एवं मौर्यों के 'मुद्राराक्षस' में उल्लिखित सुगांग राजप्रासाद का उल्लेख माना है। लेकिन यह सम्भव नहीं लगता। शायद मौर्यों के महल का 'सुगांग' नाम भी 'मुद्राराक्षस' के लेखक की कल्पना की उपज है।

(४९) **बहसतिमितं**—जायसवाल ने बहसतिमित की पहिचान पुष्यमित्र शुंग से की थी क्योंकि भारतीय ज्योतिष में बृहस्पति को पुष्य नक्षत्र का स्वामी (नक्षत्राधिप) माना गया है। लेकिन यह सुझाव नितान्त कल्पना प्रसूत है। सरकार का विचार है कि 'बहसतिमित' का संस्कृत रूपान्तर बृहस्पतिमित्र' नहीं 'बृहत्स्वातिमित्र' होगा। खारवेल का समकालीन बहसतिमित इस नाम का वह राजा मालूम होता है जो पभोसा-लेख के अनुसार अषाढसेन का भांजा था और मोरा-लेख के अनुसार एक मथुरा-नरेश की रानी का पिता था। शशिकान्त के अनुसार बहसतिमित मथुरा का राजा था और मथुरा व पंचाल की संयुक्त सेनाओं की सहायता में वह मगध का स्वामी बना था। दे०, आगे, खारवेल की तिथि। सम्भवतः बहसतिमित और खारवेल का युद्ध गंगा के तट पर हुआ था।

(५०) **नंदराज नीतं च कालिंग जिन संनिवेस**—इन नन्दराज की पहिचान महापद्मनन्द से की सकती है जो पुराणों के अनुसार एक महान् विजेता था। नन्दों द्वारा द्वारा कलिंग पर अधिकार का वर्णन पांचवें वर्ष के वर्णन में भी हुआ है। खारवेल का उन मूर्तियों को वापिस ले आना जिन्हें नन्दराज उठा ले गया था, एक प्रकार से नन्दों के कलिंग पर आक्रमण का प्रतिशोध माना जा सकता है। बरुआ ने इस पद में 'कलिंग जनों के सन्निवेश' का उल्लेख माना है।

(५१) **अंग**—पूर्वी बिहार। इसकी राजधानी चम्पा थी।

(५२) **पाण्ड्य**—सरकार (ए० इ० यू०, पृ० २१४) का विचार है कि खारवेल ने पाण्ड्य राजा को परास्त किया था। परन्तु खारवेल एक ही वर्ष में 'उत्तरापथ' मगध और अंग के साथ पाण्ड्य देश में भी युद्ध नहीं लड़ सकता था। हमारे विचार से हाथिगुम्फा-लेख के अनुसार इस वर्ष उसने पाण्ड्य राजा को परास्त नहीं किया था वरन् उनके द्वारा भेंट स्वरूप भेजे गये मणि मुक्ता और रत्न प्राप्त किए थे।

(५३) **इध**—इह = यहाँ। 'यहाँ' से तात्पर्य कलिंग की राजधानी से होना चाहिए। तु० अशोक का पञ्चम-शिलालेख जिसमें 'इध' का प्रयोग पाटलीपुत्र के लिए हुआ है।

(५४) **कुमारी पवत**=आधुनिक उदयगिरि। खण्डगिरि को एक अभिलेख में 'कुमार पर्वत' कहा गया है। इसलिए बनर्जी का अनुमान था कि 'कुमारी पर्वत' निकटस्थ उदयगिरि को कहते होंगे।

(५५) **चिनवतानि**—जायसवाल ने इस पद में चीनी वस्त्रों का उल्लेख माना है। परन्तु यह असम्भव है।

(५६) **यापूजावकेहि**=याप उद्यापकेः। जिन विजयसूरि का मत है कि यहाँ पर उल्लिखित जैन भिक्षु यापन संघ के रहे होंगे (आई० एच० क्यू०, १४, पृ० ४८१, टि० २०४ में उद्धृत)।

(५७) बरुआ का पुराना मत था कि इस वाक्य में खारवेल व उसकी रानियं, भाइयों, पुत्रों व राजभृत्यों द्वारा एक सौ सतरह गुफाएँ खुदवाए जाने का वर्णन है (ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्)।

(५८) एक समय बरुआ इस अंश को खारवेल के शासन के १४ वें वर्ष का वर्णन मानते थे।

(५९) जायसवाल ने हाथिगुम्फा लेख के इस अंश में खारवेल की 'सिंहप्रस्थ वाली रानी सिन्धुला' का उल्लेख माना है। उनका यह मत निश्चयतः त्याज्य है।

(६०) हाथिगुम्फा–लेख के अंत के अंश में खारवेल द्वारा किसी भवन के निर्मित कराये जाने का उल्लेख है। जायसवाल ने इस भवन की पहिचान राणीनूर गुफा से की है जो उदयगिरि के एक ढलान पर बनी है। लेकिन यह एक पर्वत को काटकर खोदी गई गुफा है जबकि खारवेल ने अपना भवन शिला खण्डों से बनवाया था। बरुआ के अनुसार यह इमारत भुवनेश्वर के समीप बनवाई गई होगी। जायसवाल ने इस स्थल पर खारवेल द्वारा एक जैन संगीति के आयोजन का उल्लेख भी माना था।

(६१) 'ब्रह्माण्ड पुराण' की एक उड़ियाँ पाण्डुलिपि में, जिसका हवाला जायसवाल (जे०बी०ओ०आर०एस०, १९१७, पृ० ४८२) व बरुआ (आई०एच०क्यू०, १४ पृ० ४८२) द्वारा दिया गया है, खारवेल कलिंग के राष्ट्रवीर के रूप में वर्णित है और उसे भारत की चारों दिशाओं में स्थित अनेक प्रदेशों व नेपाल को जीतने, बिन्दु सरोवर खुदवाने एवं भुवनेश्वर मन्दिर को बनवाने का श्रेय दिया गया है। लेकिन यह ग्रन्थ नितान्त अविश्वसनीय और खारवेल के समय से बहुत बाद की, सम्भवतः १४ वीं शती ई० की रचना है।

(६२) **मुखिय कल वोछिनं च चोयठि अंग संतिकं तुरीयंउपादयति**—जायसवाल ने 'मुखिय कल' को 'मुरिय काल' पढ़ा और इसका अर्थ किया 'मौर्य काल'। इसी प्रकार उन्होंने 'चोयठि अंग संतिकं' को 'चोयठि अंग सतिकं' पढ़ा और इसका अर्थ किया 'चौसठ अध्याय वाले अंग सप्तिक का चतुर्थ भाग'। इस सम्पूर्ण वाक्य से उन्होंने अर्थ निकाला है कि खारवेल ने 'मौर्य काल' में उच्छिन्न चौसठ अध्याय वाले अंग सप्तिक का चतुर्थ भाग फिर से प्रस्तुत कराया। लेकिन उनके इस मत को अब अधिकांश विद्वान् नहीं मानते।

हाथिगुम्फा-लेख का ऐतिहासिक महत्त्व

भाषात्मक व लिप्यात्मक वैशिष्ट्य—हाथिगुम्फा-लेख प्राचीन भारत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में से एक है। प्राचीनता की दृष्टि से यह कलिंग के अपने किसी भी स्थानीय राजवंश का प्राचीनतम अभिलेख है। कुल मिला कर भी यह कलिंग के प्राचीनतम अभिलेखों में से एक है क्योंकि इस प्रदेश से इससे पुराने केवल दो अभिलेख—अशोक के जौगड़ और धौलि पृथक् धर्मलेख—ही मिलते हैं। पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से यह नयनिका के नानाघाट-अभिलेखों का निकट समकालीन है। (दे० आगे, खारवेल की तिथि पर विचार)। भाषा की दृष्टि से भी इसका बहुत महत्त्व है क्योंकि यह एकमात्र प्राचीन भारतीय अभिलेख है जो लयात्मक और प्रवाह पूर्ण पालि भाषा में लिखा है, उस पालि में जिसमें 'मिलिन्दपञ्हो' जैसे ग्रन्थ लिखे गये।

खारवेलचरित—हाथिगुम्फा-लेख प्राचीनतम राज प्रशस्ति है-केवल नयनिका की नासिक-प्रशस्ति इससे प्राचीनतर हो सकती है। बरुआ ने इसे 'खारवेलचरित' नाम दिया है और जायसवाल ने 'खारवेल प्रशस्ति। वर्णन शैली में यह अशोक के अभिलेखों से एकदम भिन्न है क्योंकि अशोक के अभिलेख मौर्य नरेश के व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति हैं जबकि हाथिगुम्फा-लेख के शासन काल की घटनाओं का वर्णन है, इस दृष्टि से यह समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के निकटतर है। परन्तु कुछ बातों में यह लेख प्रयाग-प्रशस्ति से भिन्न भी है। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विस्तृत वंशावली दी गई है और उसके शासन काल की घटनाओं को विषयानुसार वर्णित किया गया है और पराजित राजाओं की सूचियों को उनके साथ अपनाई गई नीतियों के अनुसार गिनाया गया है जबकि हाथिगुम्फा-लेख में न तो खारवेल की वंशावली दी गई है और न घटनाओं को विषयानुसार वर्णित किया गया है। इसमें खारवेल के शासन के प्रत्येक वर्ष की घटनाओं का अलग-अलग वर्णन किया गया है। इसमें प्रदत्त तथ्यों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :—

: अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार।

: खारवेल के बाल्यकाल का १५ वें वर्ष तक का उल्लेख।

: खारवेल का १५ से २४ वें वर्ष के बीच युवराज रहना।

: चौबीसवें वर्ष में 'महाराज' पद पर अभिषेक।

: अपने शासनकाल के प्रथम वर्ष में तूफान से क्षत राजधानी का पुनर्निर्माण व प्रजा का रञ्जन।

: दूसरे वर्ष शातकर्णि की अवहेलना करते हुए पश्चिम पर आक्रमण व असिक नगर को त्रास देना।

(६३) **सवपासंडपूजको**—'पासंड' शब्द का सम्प्रदाय अर्थ में प्रयोग अशोक के अभिलेखों में भी हुआ है। दे०, अशोक का द्वादश-शिलालेख एवं सप्तम-स्तम्भ-लेख। अशोक के समान खारवेल भी सब सम्प्रदायों के प्रति सम्मान प्रकट करने का दावा करता है।

(६४) **महाविजय**—खारवेल ने अपने प्रासाद का नाम भी 'महा विजय' रखा था। इससे लगता है कि 'महाविजय' उसकी उपाधि रही होगी।

(६५) 'क्षेमराज' का अर्थ 'शान्ति अथवा सुरक्षा अथवा कुशलता का राजा' है तथा 'वृद्धराज' का अर्थ 'वृद्धि अथवा उन्नति का राजा' हो सकता है। 'भिक्षुराज' से आशय सम्भवतः 'त्याग अथवा वैराग्य का राजा' है। इसका अर्थ 'भिक्षुओं का राजा' भी हो सकता है। 'धर्मराज' के गुण 'अंगुत्तर निकाय' के राजवग्ग में गिनाए गए हैं।

(६६) **सवदेवायतनसकारकारको**—इससे लगता है कि खारवेल के काल तक अन्य सम्प्रदायों के मन्दिर अस्तित्व में आ चुके थे।

हाथिगुम्फा-लेख का ऐतिहासिक महत्त्व

भाषात्मक व लिप्यात्मक वैशिष्टय—हाथिगुम्फा-लेख प्राचीन भारत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में से एक है। प्राचीनता की दृष्टि से यह कलिंग के अपने किसी भी स्थानीय राजवंश का प्राचीनतम अभिलेख है। कुल मिला कर भी यह कलिंग के प्राचीनतम अभिलेखों में से एक है क्योंकि इस प्रदेश से इससे पुराने केवल दो अभिलेख—अशोक के जौगड़ और धौलि पृथक् धर्मलेख—ही मिलते हैं। पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से यह नयनिका के नानाघाट-अभिलेखों का निकट समकालीन है। (दे० आगे, खारवेल की तिथि पर विचार)। भाषा की दृष्टि से भी इसका बहुत महत्त्व है क्योंकि यह एकमात्र प्राचीन भारतीय अभिलेख है जो लयात्मक और प्रवाह पूर्ण पालि भाषा में लिखा है, उस पालि में जिसमें 'मिलिन्दपञ्हो' जैसे ग्रन्थ लिखे गये।

खारवेलचरित—हाथिगुम्फा-लेख प्राचीनतम राज प्रशस्ति है-केवल नयनिका की नासिक-प्रशस्ति इससे प्राचीनतर हो सकती है। बरुआ ने इसे 'खारवेलचरित' नाम दिया है और जायसवाल ने 'खारवेल प्रशस्ति। वर्णन शैली में यह अशोक के अभिलेखों से एकदम भिन्न है क्योंकि अशोक के अभिलेख मौर्य नरेश के व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति हैं जबकि हाथिगुम्फा-लेख के शासन काल की घटनाओं का वर्णन है, इस दृष्टि से यह समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के निकटतर है। परन्तु कुछ बातों में यह लेख प्रयाग-प्रशस्ति से भिन्न भी है। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विस्तृत वंशावली दी गई है और उसके शासन काल की घटनाओं को विषयानुसार वर्णित किया गया है और पराजित राजाओं की सूचियों को उनके साथ अपनाई गई नीतियों के अनुसार गिनाया गया है जबकि हाथिगुम्फा-लेख में न तो खारवेल की वंशावली दी गई है और न घटनाओं को विषयानुसार वर्णित किया गया है। इसमें खारवेल के शासन के प्रत्येक वर्ष की घटनाओं का अलग-अलग वर्णन किया गया है। इसमें प्रदत्त तथ्यों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :—

: अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार।

: खारवेल के बाल्यकाल का १५ वें वर्ष तक का उल्लेख।

: खारवेल का १५ से २४ वें वर्ष के बीच युवराज रहना।

: चौबीसवें वर्ष में 'महाराज' पद पर अभिषेक।

: अपने शासनकाल के प्रथम वर्ष में तूफान से क्षत राजधानी का पुनर्निर्माण व प्रजा का रञ्जन।

: दूसरे वर्ष शातकर्णि की अवहेलना करते हुए पश्चिम पर आक्रमण व असिक नगर को त्रास देना।

: तीसरे वर्ष प्रजा का उत्सव समाज आदि द्वारा रञ्जन।
: चौथे वर्ष विद्याधराधिवास पर आक्रमण (?) व भोजकों व रठिकों का दमन।
: पांचवें वर्ष नंदराज द्वारा उद्घाटित नहर को राजधानी लाना।
: छठे वर्ष कर माफी द्वारा प्रजा पर अनुगुह।
: सातवें वर्ष का वर्णन अपठ्य है।
: आठवें वर्ष में गोरथगिरि व राजगृह पर आक्रमण जिससे डर कर यवन-राज मथुरा की ओर भाग गया।
: नवें वर्ष में ब्राह्मणों को दान देना व महाविजय प्रासाद का निर्माण।
: दसवें वर्ष में 'भारतवर्ष' पर आक्रमण।
: ग्यारहवें वर्ष में पिथुण्ड नगर का विनाश व काली ह्रद का विध्वंस करना।
: बारहवें वर्ष में 'उत्तरापथ' के राजाओं को त्रस्त करना, मगधराज बहस-तिमित पर विजय प्राप्त कर कलिंग जिन की मूर्ति को वापिस लाना तथा मगध, अंग और पाण्ड्य राजाओं की सम्पत्ति का हरण करना।
: तेरहवें वर्ष में कुमारी पर्वत पर जैन साधुओं के लिए गुफाएं खुदवाना।
: खारवेल द्वारा किसी भवन के निर्माण का उल्लेख।
: खारवेल की उपाधियों एवं महत्ता का वर्णन।

खारवेल का मूल्यांकन

खारवेल का शैशव और शिक्षा—हाथिगुम्फा-अभिलेख में बताया गया है कि खारवेल ने अपने जीवन के प्रथम पन्द्रह वर्ष बालक्रीड़ाओं में व्यतीत किये। इसके बाद उसने, जो लेख, रूप, गणना, व्यवहार और विधि में निष्णात एवं सर्वविद्याव-दात था, यौवराज्यपद का उपभोग किया। जायसवाल का यह आग्रह उचित ही है कि खारवेल ने युवराज पद पाने के पूर्व ही इन विद्याओं का अध्ययन कर लिया होगा क्योंकि यह कल्पना करना तो कदापि उचित नहीं होगा कि अपनी आयु के पन्द्रह वर्ष बालक्रीड़ाओं में बिताने के उपरान्त उसने अक्षर-ज्ञान आदि की ओर ध्यान दिया होगा। जायसवाल का यह कहना भी सही ही लगता है कि इस स्थल पर 'लेख', 'रूप', 'गणना', 'व्यवहार' तथा 'विधि' शब्दों का प्रयोग क्रमशः अक्षर-ज्ञान, मुद्राओं की पहिचान, गणित, प्रशासन और कानून इन सामान्य अर्थों में नहीं वरन् राजशासन (राजाज्ञाओं), मुद्राशास्त्र के विविध पक्ष, 'एकाउण्टेन्सी', नगर और 'सिविल' प्रशासन तथा धर्मशास्त्रीय कानून—इन विशिष्ट अर्थों में हुआ है। इन विद्याओं के अतिरिक्त उसने अन्य सभी आवश्यक विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा जैसा कि उसके विषय में प्रयुक्त 'सर्वविद्यावदात' विशेषण से स्पष्ट है। इन अनुल्लिखित विद्याओं में युद्धकला [जिसका प्रमाण उसकी सामरिक सफलताएँ हैं] तथा संगीतशास्त्र [जिसमें उसकी दक्षता 'गंधव-वेद-बुधो' अर्थात् गन्धर्व-वेद बुधः' उपाधि द्वारा अन्यत्र उल्लिखित है] सम्मिलित माने जा सकते हैं। इन सब विद्याओं में योग्यता खारवेल ने स्वयं कलिंग

में रह कर ही प्राप्त की लगती है—तक्षशिला जैसे किसी विद्याकेन्द्र में विद्यार्जन के हेतु उसके जाने का उल्लेख हाथिगुम्फा-लेख में नहीं हुआ है।

यौवराज्य एवं राज्याभिषेक—अपनी आयु के १६ वें वर्ष युवराज बन जाने पर खारवेल ने प्रशासन की व्यावहारिक समस्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद २४ वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर उसे महाराजपद पर अभिषिक्त किया गया। जायसवाल ने अनावश्यक रूप से यह कल्पना की है कि उसके पिता की मृत्यु उसकी आयु २४ वर्ष होने के पूर्व ही हो गई थी और राजसिंहासन रिक्त पड़ा था। उनका विचार है कि प्राचीन भारत में राजपद पाने के लिए कम-से-कम २४ वर्ष की आयु पूर्ण हो जाना आवश्यक समझा जाता था। अशोक के राज्यारोहण और राज्याभिषेक में ४ वर्ष का अन्तर भी इसी लिए रहा होगा क्योंकि राज्यारोहण के समय वह मात्र २० वर्ष का था। लेकिन यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि प्राचीन भारत में किसी राजकुमार का अभिषेक तब तक रोक दिया जाता था जब तक वह २४ वर्ष की आयु पूरी न कर ले। अशोक का उदाहरण इस प्रसंग में समीचीन नहीं है क्योंकि उसके राज्यारोहण और राज्याभिषेक में चार वर्ष का अन्तर सम्भवतः मौर्य वंश में गृहयुद्ध का परिणाम था। स्वयं खारवेल के मामले में यह मानने से भी काम चल सकता है कि उसके पिता की मृत्यु उस समय हुई जब खारवेल की आयु के २४ वर्ष पूरे हो रहे थे। यह भी हो सकता है कि उसके पिता ने उस समय किसी कारणवश राज्य का त्याग कर दिया हो।

खारवेल का विवाह—खारवेल के विवाह का हाथिगुम्फा लेख में उल्लेख नहीं परन्तु मंचपुरी-स्वर्गपुरी गुहा से प्राप्त अभिलेख में उसकी 'अग्रमहिषी' की चर्चा है। इससे लगता है कि उसने एक से अधिक विवाह किए थे। इस लेख में उसकी अग्रमहिषी का वर्णन 'राजिनो ललाकस हथिसिहस पपोतस धुतुनाया कलिंग चकवतिनो सिरि खारवेलस अगमहिसिया' [= राज्ञः लालार्ककस्य हस्तिसिंहस्य प्रपौत्रस्य दुहित्रा कलिंग-चक्रवर्त्तिनः श्री खारवेलस्य अग्रमहिष्या] रूप में किया गया है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि वह हस्तिसिंह नामक राजा के प्रपौत्र की पुत्री थी, लेकिन इस स्थल पर 'ललाकस' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। हो सकता है यहां हस्तिसिंह को ललार्क का पुत्र कहा गया हो और यह भी सम्भव है कि वह ललार्क वंशोत्पन्न बताया गया हो। अथवा जैसा कि बरुआ ने ध्यान दिलाया है, यह भी सम्भव है कि हस्तिसिंह लाल प्रदेश का स्वामी रहा हो और इसलिए उसे 'लाल का सूर्य' [= लालार्क] कहा गया हो [तुलनीय परवर्तीयुगीन 'बालदित्य' उपाधि]। इस विकल्प को मानकर चाटुर्ज्या ने लाल प्रदेश की पहिचान गुजरात के लाट से की है और कुछ अन्य विद्वानों ने बंगाल के लाढ़ प्रदेश से।

हाथिगुम्फा-अभिलेख में खारवेल के शासन के **सातवें वर्ष** का वर्णन करते समय सम्भवतः उसकी रानी को वजीरगढ़ की राजकुमारी बताया गया है। जाय-

सवाल ने इस स्थल पर लेख का पाठ 'वजीरधर वतिधुसित घरिनि स मतुक पद पुंग' माना है और इससे निष्कर्ष निकाला है कि खारवेल की रानी ने उसके शासनकाल के सातवें वर्ष मातृत्व का गौरव प्राप्त किया। एच० सी० सेठ ने (विक्रम वाल्यूम, पृ० ५४२-४३) ने वजीरगढ़ नाम का रूप वज्रगढ़ मानकर कल्पना की कि उसके पिता का नाम वज्रमित्र रहा होगा जिसकी पहिचान पुराणों में उल्लिखित इस नाम के शुंग नरेश से की जा सकती है। लेकिन ये सब कल्पनाएँ अनुमानाश्रित ही हैं क्योंकि इस स्थल पर अभिलेख लगभग पूर्णतः अपठनीय हो गया है। इसलिए सरकार, बरुआ और अन्य विद्वानों ने इस स्थल के जो पाठ प्रस्तावित किए हैं वे उपर्युक्त पाठों से एकदम भिन्न हैं।

खारवेल के शासन का प्रारम्भ : प्रथम वर्ष—राजा बनने के बाद पहिले वर्ष खारवेल को अपने राजधानी कलिंगनगर के, जिसे एक तूफान से हानि पहुँची थी, नगर द्वारों, प्राचीर और भवनों को सुधरवाना पड़ा। इसके अतिरिक्त उसी वर्ष उसने प्रजा के हित के लिए शीतल जल के तडाग खुदवाए, उद्यानों को सुधरवाया और इन कार्यों में ३५ लाख मुद्राएँ व्यय कीं।

खारवेल के युद्ध

खारवेल के युद्ध का क्रम—अपने शासन के दूसरे वर्ष से खारवेल ने कलिंग की तीनों दिशाओं में स्थित अपने राज्यों पर आक्रमण करने प्रारम्भ किए। सामान्यतः वह एक वर्ष प्रजा को प्रसन्न करने वाले उत्सव आदि मनाता था या कुछ निर्माण-कार्य करता था और अगले वर्ष किसी पड़ोसी राज्य या राज्यों पर आक्रमण करता था। उसने अपने शासन के दूसरे और चतुर्थ वर्ष पश्चिम दिशा में धावे बोले, आठवें और दसवें वर्ष उत्तर भारत पर आक्रमण किया, ग्यारहवें वर्ष सुदूर दक्षिण के राज्यों को आक्रान्त किया और बारहवें वर्ष पुनः उत्तर भारत पर धावा बोला।

खारवेल के शासन काल का दूसरा वर्ष : शातकर्णि की अवहेलना और ऋषिक नगर पर धावा—हाथिगुम्फा-लेख के अनुसार खारवेल ने अपने शासन के दूसरे वर्ष शातकर्णि की परवाह न करते हुए अर्थात् शातकर्णि को कुछ न मानते हुए (अचितयिता सातकंनिं) पश्चिम दिशा में हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदलों की विशाल सेना भेज दी। यह सेना कन्हबेंणा नदी तक गई और इसने असिकनगर को को वित्रस्त कर दिया। इस शातकर्णि की पहिचान हम पीछे सातवाहन राजा प्रथम शातकर्णि से सुझा आए हैं। अभिलेख की भाषा से संकेतित है कि खारवेल का यह अभियान सातवाहन नरेश के लिए एक चुनौती था और इसमें सबलतर पक्ष खारवेल का रहा था। परन्तु खारवेल को इसमें वस्तुतः कितनी सफलता मिली कहना असम्भव है फिर भी इतना निश्चित लगता है कि इसके परिणामस्वरूप खारवेल के राज्य की सीमा बिल्कुल विस्तृत नहीं हुई। इस अभियान के दौरान खारवेल की सेना कहाँ तक पहुँची यह भी कहना असम्भव है क्योंकि कृष्णवेणा और असिक

(अथवा मुसिक) नगर, दोनों की ही पहिचान अनिश्चित है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हाथिगुम्फा-लेख शातकर्णि और खारवेल के बीच न तो प्रत्यक्ष संघर्ष का उल्लेख करता है और न मुसिक नगर को स्पष्टरूपेण शातकर्णि के राज्य में स्थित बताता है। इसलिए कुछ विद्वानों का सुझाव है कि शातकर्णि और खारवेल के बीच मैत्री सम्बन्ध थे और खारवेल की सेना ने उसके मित्र शातकर्णि के राज्य से होकर मुसिक नगर पर हमला किया था जबकि टॉमस (जे० आर० ए०, एस० १९२२, पृ० ८३) जैसे कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि खारवेल शातकर्णि की सहायतार्थ गया था। लेकिन हाथिगुम्फा-लेख यह कथन कि खारवेल शातकर्णि की 'परवाह न करते हुए' पश्चिम की ओर गया था इन सुझावों के विरुद्ध है। अधिक सम्भावना यही है कि मुसिकनगर सातवाहनों के प्रभावान्तर्गत था और उनकी अवहेलना करते हुए खारवेल ने उस पर आक्रमण कर दिया था।

चौथा वर्ष : विद्याधरों, राष्ट्रिकों और भोजकों का पराभाव—शातकर्णि की अवहेलना करने के बाद **तीसरे वर्ष** राजधानी के नागरिकों का मनोरंजन करके (दे०, आगे) खारवेल ने **चौथे वर्ष** पुनः पश्चिम दिशा पर आक्रमण किया। इस वर्ष उसके आक्रमण का लक्ष्य रठिक और भोजक बने जिनके उसने छत्र और सुवर्णपात्र तोड़ डाले, समस्त रत्न सम्पत्ति अपहृत कर ली तथा जिन्हें उसने अपने चरणों में झुकने के लिए विवश किया। इसी प्रसंग में हाथिगुम्फा-लेख में प्राचीन कलिंग नृपतियों द्वारा विनिर्मित विद्याधरों के अधिवास और उनके 'वितथ मुकुट' हो जाने की चर्चा है। इन सब घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध इस स्थल पर लेख के खण्डित हो जाने के कारण संदिग्ध हो गया है। जायसवाल का मत था कि खारवेल ने विद्याधरों के किसी पवित्र अधिवास या भवन का जीर्णोद्धार कराया था। इसी प्रकार जगन्नाथ का विचार है कि विद्याधराधिवास जैनियों का कोई पवित्र स्थान था जिसे खारवेल के पूर्वजों ने स्थापित किया था। गुप्त सम्वत् ११३ (=४३२ ई०) के मथुरा लेख में जैनियों की विद्याधरी शाखा इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। जगन्नाथ का कहना है कि इस स्थान पर भोजकों और रठिकों का उत्पात खारवेल के साथ (जो जैन धर्मावलम्बी होने के कारण इस स्थल की रक्षा अपना उत्तरदायित्व समझता होगा) उनके युद्ध का कारण रहा होगा (को० हि० इ०, पृ० ११३–१४)। इसके विपरीत सरकार का कहना है कि खारवेल द्वारा यहाँ विद्याधर नामक राजा की राजधानी अधिकृत किये जाने का उल्लेख है (ए० इ० यू० पृ० २१३–२१४)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन ग्रन्थ 'जम्बुदीप पण्णत्ति' में विद्याधरों के साठ नगरों को (सट्ठिं विज्झाहरणगरावासा) वैटाढ्य (विन्ध्य) पर्वत माला में स्थित बताया गया है (दे०, लाहा, बी० सी०, इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्ट्स् ऑव बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० ४४)। इसके विपरीत बरुआ ने (ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ३२४) विद्याधरों को मध्य प्रदेश के अर्काट भूखण्ड की आदि-

वासी जाति बताया है। जहाँ तक रठिकों और भोजकों का प्रश्न है इनका शाब्दिक अर्थ गर्वनर (राष्ट्रिक) और जागीरदार (भोजक) होता है, परन्तु यहाँ ये स्पष्टतः जातिवाचक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुये हैं। सरकार ने इन दोनों को बरार प्रदेश में स्थित बताया है, जबकि रेप्सन का विचार है कि रठिक महाराष्ट्र में रहते थे और भोजक बरार में तथा ये दोनों सातवाहनों के अधीन थे। बी० सी० लाहा का विचार है कि हाथिगुम्फा-अभिलेख में रठिकों और भोजकों का जिस प्रकार उल्लेख है उससे स्पष्ट है कि वे विद्याधरों के (जो एक आदिवासी जाति थे) शासक थे। जो भी हो इसमें शंका नहीं की जा सकती कि खारवेल ने रठिक और भोजक जाति के सब नरेशों को (सब रठिक भोजके) परास्त करने में सफलता पाई थी।

रठिकों और भोजकों पर आक्रमण भी खारवेल ने उनके प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए नहीं वरन् उनके रत्न और सम्पत्ति छीनने के लिए (निखित छत भिंगरि हित रतन सपतेये = निक्षिप्तच्छत्रभृङ्गारं हृत रत्नसम्पत्तिकं) किया था। इसलिए इस युद्ध के फलस्वरूप भी उसके राज्य का विस्तार नहीं हुआ होगा।

आठवाँ वर्ष : गोरथगिरि पर विजय, राजगृह का उपपीडन और यवनराज का पलायन—पश्चिमी भारत पर धावे बोलने के अनन्तर खारवेल **पाँचवें वर्ष** नन्द-राज द्वारा निर्मित नहर को राजधानी लाया तथा छठे वर्ष उसने पुर और जनपद को करों से मुक्त कर परितुष्ट किया। **सातवें वर्ष** का वर्णन अपठनीय हो जाने के कारण अज्ञात है। **आठवें वर्ष** से उसने पुनः पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण किए। इस बार उसने अपना लक्ष्य मगध को बनाया। हाथिगुम्फा-लेख के अनुसार उस वर्ष उसने अपनी विशाल सेना के साथ आक्रमण कर गोरथगिरि को जीत लिया तथा राजगृह को आतंकित किया। इन दुष्कर कर्मों के सम्पादन के परिणामस्वरूप उत्पन्न नाद से भयभीत होकर यवनराज (दिमित ?) अपनी सेना और वाहनों को लेकर मथुरा की ओर भाग गया। गोरथगिरि निश्चित रूप से बिहार राज्य के गया जिले में स्थित बराबर नाम की पहाड़ियों का पुराना नाम था। यह मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह की पश्चिमी दिशा में स्थित महत्त्वपूर्ण सैनिक चौकी था। इस अभियान में खारवेल ने कलिंग से मगध जाते समय छोटा नागपुर वाला मार्ग पकड़ा होगा। इस युद्ध में उसका प्रतिद्वन्द्वी राजा कौन था यह नहीं बताया गया है। सरकार ने विकल्परूपेण सुझाव रखा है कि खारवेल ने गोरथगिरि नामक राजा को पराजित करके उसकी राजधानी राजगृह में लूटपाट की थी। लेकिन स्वयं सरकार के अनुसार इस विकल्प के सत्य होने की सम्भावना कम ही है। जो भी हो, खारवेल द्वारा मगध में प्राप्त इस सफलता के समाचार से यवनराज (दिमित ?) बहुत भयभीत हुआ। यह 'यवनराज' सम्भव पूर्वी पंजाब अथवा मथुरा प्रदेश का कोई स्थानीय भारतीय-यूनानी राजा था न कि यूथीडेमसका पुत्र ड्रिमिट्रियस। इस अभि-

यान द्वारा खारवेल ने मगध के किसी भाग को अपने राज्य में मिला लिया था इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

दसवां वर्ष : 'भारतवर्ष' पर आक्रमण—मगध पर आक्रमण करने के बाद खारवेल ने **नवे वर्ष** महाविजय नाम का राजप्रासाद बनवाया। इसके उपरान्त **दसवें वर्ष** उसने 'दण्ड सन्धि और साम' नीति का अनुसरण करते हुए 'भरधवस' (=भारतवर्ष) पर आक्रमण किया। यहाँ 'भारतवर्ष' से आशय उत्तर भारत (सम्भवतः गंगा की उपत्यका वाले प्रदेश) से है (तुलनीय है मध्यकाल में दोआव का 'हिन्दुस्तान' कहा जाना)। कहना असम्भव है कि खारवेल के इस अभियान का शिकार वस्तुतः कौन राजा हुआ था और इसका क्या परिणाम निकला। फिर भी इतना अनायास माना जा सकता है कि इस बार भी वह उत्तर भारत में लूटपाट करके ही लौट आया था।

ग्यारहवाँ वर्ष : पीथुण्ड नगर का विनाश और तमिल राज्यों के संघ का विघटन—अपने शासन काल के **ग्यारहवें वर्ष** खारवेल ने दक्षिणी राज्यों की ओर ध्यान दिया। हाथिगुम्फा-लेख के अनुसार उसने उस वर्ष पीथुण्ड नगर का विनाश करके उसे गधों द्वारा खींचे गये हल से जुतवा दिया, पलायित शत्रुओं के मणिरत्न प्राप्त किए और तमिल देशों के तेरह सौ वर्ष पुराने संघ (?) को, जो उसके अपने राज्य के लिए संकट का स्रोत था, छिन्न-भिन्न कर दिया। पीथुण्ड की पहिचान स्पष्टतः यूनानी लेखक टॉलेमी (दूसरी शती ई० का मध्य) द्वारा 'ज्योग्रेफीक' पुस्तक में उल्लिखित मेसोलोई (Maisoloi) जाति के, जो अनुमानतः आधुनिक मसुलिपटम् प्रदेश में रहती थी, पितुण्ड्र (Pitundra) नामक नगर से की जा सकती है। जैन ग्रन्थ 'उत्तरध्यान' में पिहुण्ड को एक बन्दरगाह बताया गया है। लेवी ने इसे भी हाथिगुम्फा-अभिलेख के पीथुण्ड से अभिन्न बताया है।

बारहवाँ वर्ष : उत्तरापथ पर आक्रमण, अंग मगध विजय तथा पाण्ड्यों से सम्पत्ति-लाभ—अपने शासन के **बारहवें वर्ष** खारवेल ने उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों पर पुनः आक्रमण किया। हाथिगुम्फा-लेख के अनुसार इस वर्ष उसने उत्तरापथ के राजाओं को वित्रस्त किया, मगधवासियों में विपुल भय उत्पन्न किया और अपने हाथियों को गंगा का जल पिलाया, मगधेश्वर बहसतिमित को अपने चरणों में झुकने के लिए विवश किया, उस जिन मूर्ति (कालिगं जिनं) को जिसे नन्दराज उठा ले गए थे तथा अंग-मगध की सम्पत्ति को कलिंग ले आया तथा पाण्ड्य नरेश द्वारा प्रेषित घोड़े, हाथी, रत्न, माणिक्य एवं सैकड़ों हजार मणिमुक्ता प्राप्त किए।

खारवेल का मूल्यांकन : एक नवीन दृष्टिकोण

खारवेल के महत्त्व के विषय में अतिरंजित धारणाएँ—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि खारवेल एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सफल विजेता था। उसने अपने समय की भारतीय राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

वह भारत का प्रथम ऐतिहासिक नरेश है जिसने 'महाराज' उपाधि धारण की। इसके अतिरिक्त उसने 'कलिंगाधिपति' (हाथिगुम्फा-लेख) और 'कलिंग चक्रवर्ती' (उसकी रानी का मंचपुरी-लेख) उपाधियाँ भी धारण की थीं। हाथिगुम्फा-अभिलेख में उसे क्षेमराज, अपराजेय राज्य और सैन्यबल का स्वामी (अप्रतिहत चक वाहन बलो = अप्रतिहत चक्र वाहिनीबलः = अपराजेयेन राज्येन सैन्यबलेन च सनाथः), धृतराज चक्र या सुशासित चक्र (चक्रधरो = चक्रधरः), सुरक्षितराज-मण्डल (गुतचको = गुप्तचक्रः) अप्रतिहत शासक (पवतचको = प्रवृत्तचक्रः) तथा महाविजय भी कहा गया है। उसकी इन उपाधियों के प्रकाश में बहुत से विद्वान् उसकी सफलताओं को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं। यह तो सामान्यतः माना ही जाता है कि खारवेल ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। काशी प्रसाद जायसवाल का विचार था कि खारवेल ने कम-से-कम मालवा तक विस्तृत भूखण्ड को अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में कर लिया था और शेष भारत भी उसके न्यूनाधिक प्रभाव में था (जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, पृ० ३०५–७)। उनके इस मत को बहुत से इतिहासकार मानते रहे हैं। ए० सी० मित्तल ने मान्यता रखी है कि, खारवेल ने भारतीय साम्राज्यिक प्रतिष्ठा को मगध से कलिंग हस्तान्तरित कर दिया। इस लेखक के अनुसार 'यहाँ मानना गलत नहीं है कि सम्पूर्ण देश कलिंगराज (= खारवेल) के प्रभावान्तर्गत था' (पूर्वो०, पृ० ३३३)। हमारे विचार से इस प्रकार की धारणाएँ पूर्णतः अशुद्ध हैं और खारवेल के युद्धों की प्रकृति को न समझने का पणिणाम हैं।

खारवेल साम्राज्य-निर्माता नहीं एक 'लोभविजयी' नरेश था—खारवेल के भाग्य से उसका उदय ऐसे समय हुआ जब मागध-साम्राज्य का पतन हो चुका था और शुंगों का स्थान लेने वाली कोई शक्ति आविर्भूत नहीं हो पाई थी। सातवाहन राज्य का भी यह उदय काल ही था। ऐसी स्थिति में मामूली शक्ति वाला परन्तु युद्ध विद्या में कुशल कोई भी नरेश अपने पड़ोस में स्थित छोटे-छोटे राज्यों में अनायास लूट पाट कर सकता था। अब, इस बात में शंका नहीं की जा सकती कि खारवेल एक योग्य सेनापति रहा होगा यद्यपि इस क्षेत्र में भी शायद इतना अवश्य ही स्वीकृत करना पड़ेगा कि कलिंग की खारवेलकालीन सेना की शक्ति और संगठन का श्रेय उसके पूर्वगामी नरेश को दिया जाना चाहिए न कि स्वयं खारवेल को। अगर खारवेल के पूर्वगामी राजा ने इस सेना को शक्तिशाली न बना दिया होता तो खारवेल अपने शासनके दूसरे ही वर्ष से पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण प्रारम्भ न कर पाता। (प्रथम वर्ष वह राजधानी को तूफान से पहुँची क्षति दूर करने में लगा रहा था)। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि खारवेल ने अपने समय की राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाया। लेकिन उसकी दिलचस्पी साम्राज्य की स्थापना में न होकर केवल पड़ोसी की सम्पत्ति का अपहरण करने में थी। स्वयं उसका अभिलेख इस बात का प्रमाण है कि उसके लगभग सभी युद्धों का अन्त विजित राज्यों की सम्पदा छीनने में हुआ।

रठिकों और भोजकों की उसने रत्न-सम्पत्ति छीनी थी, पीथुण्ड पर आक्रमण करके उसने पलायित शत्रुओं के मणिरत्न उपलब्ध किए थे, उत्तर भारत के आक्रमण में वह मगध और अगं की सम्पदा को लूट कर ले गया था और सुदूर दक्षिणमें पाण्डय राजाओं को उसने उनके मणिमुक्ताओं से विहीन किया था। अन्य युद्धों में प्राप्त सफलताओं के परिणामस्वरूप भी उसे मात्र आर्थिक लाभ ही हुआ होगा क्योंकि किसी साक्ष्य से, स्वयं हाथिगुम्फा-लेख से भी, ऐसा संकेत नहीं मिलता जिसके आधार पर माना जा सके कि उसने कलिंग के बाहर किसी प्रदेश क अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में किया था। वस्तुत: उसका हाथिगुम्फा-लेख उस वातावरणो से पूर्णतः विहीन है जो साम्राज्य संस्थापक नरेशों के अभिलेखों में प्राय: मिलता है। इसमें न तो समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के समान उन्मूलित राजवंशों का उल्लेख है, न पुलमावि के नासिक गुहा-लेख के समान (गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा) विजित प्रान्तों की चर्चा है और न स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख की तरह साम्राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था की झलक मिलती है। हाथिगुम्फा-लेख इस दृष्टि से यशोधर्मा के मन्दसौर-लेख की तरह है और इसलिए यशोधर्मा की तरह खारवेल को भी हम दूरस्थ प्रदेशों तक धावे मारने मात्र का श्रेय दे सकते हैं, साम्राज्य-निर्माता नहीं मान सकते।

लूट पर आधृत राजतन्त्र—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि खारवेल उस प्रकार का विजेता था जिसे प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा के अनुसार 'लोभविजयी' कहा जायेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके जमाने में कलिंग राज्य की आय का प्रमुख स्रोत लूट में प्राप्त सम्पत्ति ही थी। वह सामान्यत: एक वर्ष कहीं लूट-पाट करता था तथा अगले वर्ष राजकीय वैभव के प्रदर्शन अथवा जनकल्याण और मनोरंजन पर (स्पष्टतः लूट में प्राप्त) धन व्यय करता था। उदाहरणार्थ, पश्चिम दिशा में प्रथम अभियान के उपरान्त तीसरे वर्ष उसने अपनी राजधानी में उत्सव और समाजों का आयोजन करके प्रजाजन का दर्प, नृत्य, गीत व वाद्यसंगीत द्वारा मनोरंजन किया। तदुपरान्त अगले वर्ष भोजकों और रठिकों को पराजित करके स्पष्टत: उनसे छीनी सम्पदा (हृत रत्न सम्पत्तिकं) का उपयोग पाँचवें वर्ष नन्दराजा द्वारा निर्मित नहर को तनसुलिय मार्ग से राजधानी तक लाने में किया और छठे वर्ष अपने राजैश्वर्य (राजसेयं) का प्रदर्शन करते हुए पौर जानपद पर लाखों मुद्राओं के बराबर कर माफ कर दिया। उसके बाद आठवें वर्ष मगध में गोरथगिरि और राजगृह पर सफल आक्रमण करनेके उपरान्त उसने कल्पवृक्ष, घोड़े, हाथी, सारथी सहित रथ तथा घर इत्यादि दान में दिये तथा ब्राह्मणों को कर मुक्त कर दिया और नवें वर्ष ३८ लाख मुद्राएँ व्यय करके महाविजय नामक राजप्रासाद बनवाया। अन्त में, दसवें से बारहवें वर्ष पलायित शत्रुओं के मणिरत्न छीनकर, अंगमगध की सम्पत्ति को लूटकर एवं पाण्डय राजाओं के मणिमुक्ता उपलब्ध करके

उसने बारहवें वर्ष दृढ़ और लक्ष्ययुक्त गोपुर और तोरण बनवाए तथा तेरहवें वर्ष कुमारी पर्वत पर (उदयगिरि-खण्डगिरि पहाड़ियों पर) जैन भिक्षुओं के वर्षावास के रूप में आश्रय गुहाएँ बनवाई, संघीय कक्ष में स्तम्भ बनवाए तथा भिक्षुओं के लिए वस्त्रों तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था की। इस वर्णन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि उसने राजकीय वैभव के प्रदर्शन तथा जनकल्याण और मनोरंजन पर जो धन व्यय किया वह उसने प्रायः शत्रुओं से लूटकर प्राप्त किया था। इतना ही नहीं, लूट में प्राप्त सम्पदा के कारण वह बीच-बीच में प्रजा पर अनुकम्पा करते हुए उसे करों से मुक्ति भी दे देता था। यह अनायास कल्पना की जा सकती है कि उसकी इस नीति के कारण उसके राज्य में युद्ध कर्म की तुलना में उद्योग-धन्धों और कृषि का महत्त्व कम हो गया। उसने कृषि के विकास के लिए कुछ किया था, ऐसा ज्ञात नहीं है। स्मरणीय है कि उसने नन्दराज द्वारा निर्मित नहर को भी राजधानी की ओर, सम्भवतः नागरिकों के लिए पेयजल की सुविधा उपलब्ध करने के लिए बढ़वाया था, गाँवों की ओर नहीं। लेकिन ऐसी व्यवस्था तभी तक सफल हो हो सकती थी जब तक कलिंग की सेनाएँ विजय प्राप्त करती रहतीं। कलिंग की एक बार भी निर्णायक पराजय हो जाने पर इस व्यवस्था का धराशायी हो जाना अवश्यम्भावी था। पश्चिमी एशिया का असीरियन साम्राज्य ऐसा ही अन्य उदाहरण है (दे०, गोयल, विश्व की प्राचीन सम्पदाएँ, पृ. २५१-५२)। कलिंग में भी यही हुआ। कलिंग का इस युग का इतिहास मात्र हाथिगुम्फा-लेख से ज्ञात होता है किसमें खारवेल के शासन का उस वर्ष तक का वर्णन है जिस वर्ष तक उसे विजय मिलती रही इसलिए हम यह नहीं जानते कि उसके वंश का अन्त कैसे हुआ, परन्तु इतना निश्चित है और यह प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि उसके वंश का पतन या तो स्वयं उसके जीवन काल में अथवा उसके फौरन बाद हो गया था। उसके साम्राज्य का यह अस्थायित्व, जो समकालीन सातवाहन साम्राज्य के दीर्घ जीवन से सर्वथा भिन्न चित्र प्रस्तुत करता है, इस बात का अतिरिक्त यद्यपि परोक्ष प्रमाण माना जा सकता है कि उसने विजित प्रदेशों को अपने नियन्त्रण में रखने के स्थान पर लूटपाट करने की नीति अपनाई थी। इस दृष्टिसे उसकी नीति हमें पश्चिमी एशिया के असीरियन सम्राटों की नीति का स्मरण दिलाती है। उसके द्वारा पीथुण्ड नगर को विनष्ट करवाकर उसे गधों से जुतवा देने का गर्वपूर्वक उल्लेख उसके क्रूर स्वभाव की जो झाँकी देता है वह भी असीरियन सम्राटों का स्मरण दिलाने वाली है। हमारे विचार से विजित शत्रुओं के साथ इस प्रकार का व्यवहार किसी भी अन्य प्राचीन भारतीय नरेश ने नहीं किया होगा। कम से कम इसे ध्यान में रखने पर खारवेल को भारत के महत्तम नरेशों में परिगणित करना तो दुष्कर ही माना जायेगा।

खारवेल के आक्रमणों से प्रभावित भूखण्ड की सीमा—अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि क्या खारवेल ने वस्तुतः समस्त भारत को अपने घावों से

आक्रान्त किया था। जहाँ तक उत्तर भारत का सम्बन्ध है उसका सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण उसके शासन के १२वें वर्ष हुआ। उस वर्ष वह स्पष्टतः पहले उत्तरापथ और वहाँ से लौटते समय मगध गया था क्योंकि वह अगर कलिंग से मगध बंगाल होते हुए जाता तो हाथिगुम्फा-अभिलेख में लाट और गौड़ अथवा वंग का उल्लेख भी होता। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि इस अभियान के दौरान खारवेल ने गंगा नदी पारकर ली थी और वह पश्चिमोत्तर भारत से हिमालय की तलहटी-वाले मार्ग द्वारा वापिस लौटा था। इस मत के अनुसार उसने मगध की राजधानी पर आक्रमण उत्तर दिशा से किया था (मित्तल, पूर्वो०, पृ० ३२९ अ०)। लेकिन हाथिगुम्फा-लेख में इस अभियान के विषय में जो कुछ कहा गया है उसकी व्याख्या यह मानने से भी हो जाती है कि उसने कलिंग से पूर्वी मालवा होते हुए गंगा-यमुना जैसी नदियों को पार किये बिना पंजाब तक की यात्रा की और वहाँ से यमुना के दक्षिण तटवर्ती मार्ग से लौटते हुए मगध पहुँचा अथवा उत्तरापथ से कलिंग वापिस लौटने के बाद एक नयी सेना एकत्रकर छोटा नागपुर के मार्ग से (जिस मार्ग को उसने ८वें वर्ष भी अपनाया होगा) मगध को आक्रान्त किया और गंगा तक पहुँच कर (बिना उसे पार किये) अपने हाथियों की प्यास गंगाजल से बुझाने का गौरव प्राप्त किया। क्योंकि अंग की राजधानी चम्पा भी गंगा के दक्षिण में स्थित है इसलिए अंग पर आक्रमण करने के लिए भी उसे गंगा पार करने की आवश्यकता नहीं थी। यह पूर्व-मान्यता भी कि इस अभियान के दौरान उसने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया था (मित्तल, वही) निराधार है। अगर उसने यह सफलता पायी होती तो हाथिगुम्फा-लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख होता।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि खारवेल ने उत्तर भारत में मगध, अंग, मालवा और यमुना के दक्षिण-पश्चिम में स्थित प्रदेशों में ही लूटपाट की थी। कलिंग से पश्चिम की ओर वह सम्भवतः बरार तक गया और सुदूर दक्षिण में अधिक से अधिक पाण्ड्य राज्य तक। लेकिन इन सब प्रदेशों को उसके नियन्त्रण या प्रभावा-न्तर्गत मानना भूल होगी। उसका अधिकार मात्र कलिंग राज्य पर था जिसकी खारवेलकालीन सीमा अभी तक अनिश्चित है।

खारवेल का धर्म और धार्मिक नीति—खारवेल प्रश्नातीतरूप से एक जैन नरेश था। उसके हाथिगुम्फा-लेख का अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार से प्रारम्भ होना (नमो अरहंतानं नमोसव सिधानं), अपने शासन के बारहवें वर्ष उसका 'कलिंग जिन' की मूर्ति को मगध से वापिस लाना तथा अपने शासन के तेरहवें वर्ष कुमारी पर्वत पर जैन अर्हतों के वर्षावास के लिए आश्रय गुहाएँ बनवाना उसकी जैनधर्म में आस्था के सबल संकेत हैं। उसकी अग्रमहिषी ने भी अर्हतों के अनुग्रह के हेतु कलिंग के जैन साधुओं के लिए गुहा बनवाई थी (अरहन्त पसादाय कलिंगानं समनानं लेनंकारितं=अर्हत प्रसादाय कलिंगेभ्यः श्रमणेभ्यः लयनं कारितं)। खारवेल

के द्वारा 'धमराजा' और 'भिखुराजा' उपाधियाँ धारण किया जाना भी सम्भवतः उसकी जैन धर्म में रुचि का प्रमाण है। लेकिन यह भी सर्वथा स्पष्ट है कि वह धर्मान्ध जैन नहीं था। उसे धर्म के प्रभाव से विहीन और किसी भी हिन्दू राजकुमार के लिए उपयुक्त शिक्षा मिली थी। उसने अपने को सब सम्प्रदायों का आदर करने वाला (सव पासंडपूजको) तथा सब मन्दिरों का जीर्णोद्धार करानेवाला (सवदेवा-यतन-सकार-कारको=सर्वदेवायतन संस्कारकारकः) कहने में गर्वका अनुभव किया है। अपने शासन के आठवें वर्ष उसने ब्राह्मणों को कर के भार से मुक्त कर दिया था। जैनधर्म के अहिंसावाद के परिणामस्वरूप वह शत्रुओं के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग से विचलित हुआ हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इन तथ्यों के प्रकाश में उसकी जैन धर्म में रुचि को वैसा राजनीतिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता जैसा अशोक की बौद्धधर्म में रुचि को दिया जाता है।

खारवेल के वंश का अन्त—खारवेल के शासन काल की अन्य कोई घटना ज्ञात नहीं है। उसने अपने शासन के १३ वें वर्ष के उपरान्त कोई युद्ध लड़ा या नहीं, कहना असम्भव है लेकिन मित्तलका (पूर्वो०, पृ० ३३२) यह मत कि १२ वें वर्ष लड़े गये युद्ध में कलिंग-जिन की मूर्ति प्राप्त कर लेने से उसका 'अन्तिम लक्ष्य' पूरा हो गया और इसलिए उसने इसके बाद कभी कोई युद्ध नहीं लड़ा बड़ा ही हास्यास्पद है। हाथिगुम्फा लेख में उसके किसी और युद्ध की चर्चा न होने का कारण स्पष्ट यह है कि इस लेख में उसके शासन के मात्र प्रथम तेरह वर्षों का ही इतिहास दिया गया है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' की उड़िया पाण्डुलिपि में उसके द्वारा नेपाल पर आक्रमण किये जाने का उल्लेख है। अगर यह अनुश्रुति सही है तो उसने यह आक्रमण अपने शासन के १३वें वर्ष के बाद किया होगा। उसके किसी उत्तराधिकारी का नाम भी निश्चयरूपेण ज्ञात नहीं है। मंचपुरी-गुहा लेख में उल्लिखित 'कलिंगाधिपति महाराज' वक्रदेव या कूडेप उसका पूर्वगामी था या उत्तराधिकारी, यह अज्ञात है। इसी प्रकार एक अन्य लेख में चर्चित कुमार वडुख से भी उसका सम्बन्ध अनिश्चित है। खारवेल के कुछ समय उपरान्त ही कलिंग छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया लगता है।

खारवेल की तिथि—खारवेल की तिथि विषयक मतों को स्थूलतः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है: प्रथम वर्ग के विद्वानों के अनुसार खारवेल ने द्वितीय शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध में शासन किया और दूसरे वर्ग के विद्वानों के अनुसार प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम पाद में (राज्यारोहण लगभग २५ ई० पू० में)। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत जायसवाल, वनर्जी, लूडर्स, स्मिथ, दुब्रील, हरेकृष्ण मेहताव, स्टेनकोनो, जयचन्द्र विद्यालंकार तथा जगन्नाथ इत्यादि विद्वान् सम्मिलित हैं। लूडर्स, इ० आई०, १०, सं० १३४५; मेहताव, हिस्टरी ऑव उड़ीसा, पृ० १७ अ०; कोनो, एक्टा ओरण्टेलिया, १, १९२३, पृ० १२ अ०; जायसवाल, जे० बी० ओ० आर० एस०, ३, पृ० ४२५-८५;

इ० आई० २०, पृ० ७४; वनर्जी, हिस्टरी ऑव उड़ीसा, १, पृ० ९१-९२; स्मिथ, अ० हि० इ०, पृ० ४४, २०९; दुब्रील, रायचौधुरी द्वारा उद्धृत। जगन्नाथ, को० हि० इ०, पृ० ११२; विद्यालंकार, पूर्वो०, पृ० ८०० अ०। और दूसरे वर्ग में रायचौधुरी, मजूमदार, सरकार, आर० पी० चन्दा, बी० एम० बरुआ, तथा एन० एन० घोष इत्यादि। (रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, पृ० ४१९ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० २१३; वरुआ, ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्, १९२९, पृ० २९३; घोष, एन० एन०, अर्ली हिस्टरी ऑव इण्डिया, १९१८, पृ० १८९-९४; मित्तल, एन अर्ली हिस्टरी ऑव उड़ीसा, पृ० २६४ अ०; चन्दा, एम० ए० एस० आई०, १, पृ० १०-१५; मजूमदार, आई० ए०, १९१९, पृ० १८९)। हमारे विचार से इनमें दूसरे वर्ग के विद्वानों का मत सही है। इसके विषय में स्वयं हाथिगुम्फा-लेख के अन्तःसाक्ष्य पर विचार करना आवश्यक है।

खारवेल को प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों में रखनेवाले विद्वानों के तर्क : खारवेल और शातकर्णि की समकालीनता—हाथिगुम्फा-अभिलेख में खारवेल के समकालीन नरेशों में शातकर्णि का उल्लेख है। इस लेख के अनुसार अपने शासन काल के दूसरे वर्ष खारवेल ने शातकर्णि की परवाह न करते हुए एक विशाल सेना पश्चिम दिशा की ओर भेज दी थी। यह राजा स्पष्टतः सातवाहनवंशीय था। उसकी पहिचान लगभग सभी विद्वान् नानाघाट-अभिलेख में उल्लिखित शातकर्णि से करते हैं जिसे नायनिका या नागनिका का पति कहा गया है। सातवाहन वंश की स्थापना शिमुक नामक व्यक्ति ने लगभग ५० ई० पू० में की थी तथा शातकर्णि नामक उसके उपर्युक्त उत्तराधिकारी ने प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम दशकों में शासन किया। इसलिए खारवेल का समय भी स्थूलतः यही माना जा सकता है। जो विद्वान् खारवेल का समय दूसरी शती ई० पू० का पूर्वार्द्ध मानते हैं वे सातवाहन वंश के संस्थापक शिमुक को तीसरी शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में रखते हैं। परन्तु यह मान्यता पुराणों के इस कथन के कि शिमुक अन्तिम काण्वयानों का समकालीन था, एकदम विरुद्ध है।

खारवेल ने नन्दराज से 'ति-वस-सत' बाद शासन किया—खारवेल की तिथि निर्धारित करने में उसके अभिलेख की छठी पंक्ति से सर्वाधिक सहायता मिलती है—पंचमे च दानी वसे नंद राज ति वस सत ओघाटितं तनसुलिय वाटा पणाडि नगरं पवेसयति (पञ्चमे च इदानीं वर्षे नन्दराज त्रिवर्षशतोद्घाटितां तनसुलिय वर्त्मनः प्रणालीं नगरं प्रवेशयति)। अब, लगभग सब विद्वान् यह मानते हैं कि यहाँ 'सत' शब्द 'शत' अर्थात् सौ के अर्थ में प्रयुक्त है। इन्द्रजी (प्रोसीडिंग्स ऑव दि इण्टरनेशनल ओरियण्टल कांग्रेस, लीडेन, १८८४, भाग ३, पृ० १३५) के अनुसार इस पंक्ति में खारवेल द्वारा नन्दराज के त्रिवर्षीय सत्र (दानशाला) को चालू करने का उल्लेख है। स्पष्टतः उन्होंने यहाँ 'सत' का अर्थ 'सत्र' माना है जिसे आजकल कोई नहीं मानता। परन्तु 'ति-वस-सत' का अर्थ १०३ है या ३००, इस विषय में मतभेद है।

प्रोफेसर लूडर्स (इ० आई०, १०, परिशिष्ट, पृ० १६१) के अनुसार इस पंक्ति में खारवेल एक ऐसी नहर नगर में लाने का दावा करता है जो नन्दराज के समय से १०३ वर्ष तक प्रयोग में आती रही थी। दूसरे शब्दों में यह घटना नन्दराज के १०३ वर्ष बाद घटी। इसके विपरीत रायचौधुरी, मजूमदार, सरकार तथा अधिकांश विद्वानों का विचार है कि इस स्थल पर नन्दराज और खारवेल के मध्य 'तीन सौ' वर्ष का अन्तर बताया गया है। जायसवाल ने 'ति-वस-सत' का अर्थ तीन सौ मानने के बावजूद खारवेल को दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध में रखा था क्योंकि वह इस नन्दराज को नन्दवंशीय न मानकर शैशुनाग राजा नन्दिवर्द्धन मानते थे। उनका विचार था कि नन्दिवर्द्धन ने ४५८ ई० पू० में एक संवत् प्रवर्तित किया था और इस तिथि के तीन सौ वर्ष बाद अर्थात् १५८ ई० पू० में खारवेल 'नन्दराज' द्वारा बनवायी गयी नगर को बढ़ाकर अपनी राजधानी तक लाया था। स्मिथ को जायसवाल का यह सुझाव स्वीकार था। लेकिन नन्दराज की पहिचान किसी शैशुनाग राजा से करना उचित नहीं है। आजकल अधिकांश विद्वान् यही मानते हैं कि कलिंग को जीतने वाला प्रथम मागध नृपति नन्द वंश का संस्थापक महापद्मनन्द ही था। बरुआ का कहना है कि क्योंकि अशोक अपने अभिलेखों में कलिंग को अपने समय से पहिले अविजित बताता है, इसलिए उसके पूर्व कलिंग पर किसी मागध सम्राट् ने विजय प्राप्त नहीं की होगी। दूसरे शब्दों में खारवेल द्वारा उल्लिखित नन्दराज मगधेश्वर नहीं था। परन्तु स्वयं हाथिगुम्फा-लेख में ही अन्यत्र नन्दराज का उल्लेख मगध के प्रसंग में हुआ है। दूसरे, कलिंग में खारवेल के समय के पूर्व किसी स्थानीय नन्द वंश ने शासन नहीं किया। वस्तुतः इस प्रकार के दावे (जैसा कि अशोक ने किया है), शब्दशः विश्वसनीय नहीं होते (दे०, रायचौधुरी, पूर्वो०, पृ० ३७७)। लेकिन महापद्मनन्द अथवा उसके किसी वंशज को हाथिगुम्फा-लेख का नन्दराज मानते ही 'ति-वस-सत' का अर्थ १०३ मानना असम्भव हो जाता है क्योंकि अगर नन्दों ने यह नहर ३२१ ई० पू० में भी खुदवाई होगी (जब नन्द वंश का विनाश हुआ) तो खारवेल के द्वारा इसका विस्तार ३२१-१०३=२१८ ई० पू० में मानना पड़ेगा। परन्तु खारवेल इसके पूर्व ५ वर्ष राजा के रूप में शासन कर चुका था और उसके पूर्व ९ वर्ष तक युवराज रहा था। इसलिए उसका यौवराज्य २१८ + ९ + ५ = २३२ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ। फिर, वह अपने वंश का तीसरा राजा था इसलिए वंश की स्थापना लगभग २५० ई० पू० में अवश्य ही हुई माननी पड़ेगी। लेकिन उस समय कलिंग पर अशोक का स्वामित्व था। दूसरे, अशोक के अभिलेखों और हाथिगुम्फा-लेख की लिपि में करीब दो शती ई० पू० का अन्तर प्रतीत होता है (दे०, आगे)—हाथिगुम्फा-लेख की लिपि कम से कम अशोक के समय की तो कदापि नहीं है। इसलिए 'ति-वस-सत' का अर्थ ३०० मानना अनिवार्य है। इस संख्या को सुनिश्चित संख्या न मानकर गोलमोल संख्या ही माना जा सकता है। सरकार के

अनुसार यहाँ इसका प्रयोग 'चतुर्थ शती' के अर्थ में किया गया है। इसलिए अगर नन्दराज ने उस नहर को चौथी शती ई० पू० में बनवाया था तो खारवेल का समय स्थूलतः प्रथम शती ई० पू० के अन्त में मानना ही पड़ेगा।

पौराणिक साक्ष्य—इस प्रसंग में रायचौधुरी ने ध्यान दिलाया है कि पुराणों में नन्दों और खारवेल के समकालीन शातकर्णि के बीच का समय भी करीब तीन सौ वर्ष ही बताया गया है। इन ग्रन्थों के अनुसार नन्दों के उपरान्त १३७ वर्ष मौर्यो ने, ११२ वर्ष शुङ्गों ने तथा ४५ वर्ष कण्वों ने शासन किया। अन्तिम कण्व राजा का उन्मूलन प्रथम सातवाहन राजा शिमुक ने किया था। क्योंकि शिमुक ने कण्वों का अन्त शायद अपने शासन के अन्तिम वर्षों में किया होगा इसलिए कण्वों के बाद वह दो-चार वर्ष ही शासन कर पाया होगा। उसे हम कण्वों के बाद स्थूलतः ५ वर्ष का समय दे सकते हैं। उसके बाद उसके भाई कृष्ण ने १८ या १० वर्ष शासन किया और कृष्ण के बाद खारवेल के समकालीन शातकर्णि ने। इस प्रकार नन्दों के बाद शातकर्णि के राज्यारोहण तक स्थूलतः १३७ + ११२ + ४५ + ५ + १८ = ३१७ वर्ष गुजरे। यह संख्या हाथिगुम्फा-लेख की गोलमोल संख्या 'तीन सौ' के बहुत निकट है। अगर यह माना जाय कि शिमुक ने कण्वों का उन्मूलन करने के बाद एकाध वर्ष ही शासन किया और कृष्ण ने कुल दस वर्ष तो नन्दों और शातकर्णि के बीच का अन्तर (जो नन्दों और खारवेल के बीच का अन्तर भी होगा) घटकर १३७ + ११२ + ४५ + १ + १० = ३०५ हो जाता है। इस तथ्य के प्रकाश में 'ति-वस-सत' का अर्थ 'तीन सौ वर्ष' मानना ही समीचीन लगता है।

हाथिगुम्फा-लेख की ११वीं पंक्ति में 'तेरस-वस-सत' पुराने 'त्रमिर-दह-संघात' का उल्लेख है (जनपदभावनं च तेरस वस सत कतं भिदति त्रमिर दह (?) संघातं =जनपद भावनं च त्रयोदश वर्ष शतकृतं भिनत्ति तिमिर हृद संघातं)। जायसवाल और बनर्जी ने इसका अर्थ 'तमिल राज्यों का ११३ वर्ष पुराना संघ' किया था (इ० आई०, २०, पृ० ७१ अ०)। लेकिन 'ति-वस-सत' का अर्थ अगर ३०० है तो 'तेरस-वस-सत' का अर्थ १३०० वर्ष मानना अनिवार्य हो जाता है। सरकार ने यही अर्थ माना है (स० इ०, पृ० २१७, टि० ३)। यद्यपि कुछ राज्यों के १३०० वर्ष पुराने संघ का अस्तित्व अस्वीकार्य लगता है लेकिन इतने प्राचीन काल में ११३ वर्ष पुराने संघ के अस्तित्व की धारणा भी बहुत युक्तियुक्त नहीं होगी। सम्भवतः इस संघ की तिथि के विषय में खारवेल ने किसी परम्परागत अनुश्रुति को लिखवा दिया है।

हाथिगुम्फा-लेख की लिपि—यह निष्कर्ष कि खारवेल ने प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम दशकों में शासन किया, हाथिगुम्फा-लेख की लिपि से समर्थित होता है। यह तो निश्चित ही है कि यह लेख अशोक के अभिलेखों से बाद का है। प्राचीनतर पुरालिपिशास्त्रियों ने इसकी तुलना सातवाहनों के नानाघाट-अभिलेखों से की जिन्हें

वे दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध का मानते थे। लेकिन बाद में आर० पी० चन्दा ने सिद्ध कर दिया कि नानाघाट-अभिलेख प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध से प्राचीनतर नहीं हो सकते। (एम० ए० एस० आई०, १, पृ० १०-१५; आई० एच० क्यू०, १९२९, पृ० ६०१ अ०। बाद में बनर्जी ने भी मान लिया था कि नानाघाट-अभिलेख में कुछ अक्षर प्राचीनतर हैं लेकिन कुछ का रूप प्रारम्भिक कुषाण काल का लगता है; एम० ए० एस० आई०, ११, ३, पृ० १४५)। हेलियोडोरस के बेसनगर से प्राप्त अभिलेख से जो निश्चित रूप से दूसरी शती ई० पू० के अन्तिम वर्ष में लिखा गया, यह निश्चित हो गया है कि सातवाहनों के नानाघाट-अभिलेख तथा खारवेल का हाथिगुम्फा-अभिलेख जो लिपिशास्त्रीय दृष्टि से निकट समकालीन लगते हैं हेलियोडोरस के अभिलेख से परवर्ती अर्थात् दूसरी शती ई० पू० से बाद के हैं। सरकार के अनुसार खारवेल के अभिलेख में व, म, प, ह तथा य अक्षरों का नुकीला रूप इस बात का प्रमाण है कि इसे ईसवी सन् के प्रारम्भ के बहुत पहिले नहीं रखा जा सकता (स० इ०, पृ० २१३, टि० १)। इस तथ्य से स्पष्ट है कि खारवेल को दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध में नहीं रखा जा सकता ; उसे प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में ही रखना उचित होगा। अहमदहसन दानी तो हाथिगुम्फा-लेख को प्रथम शती ई० के पूर्वार्द्ध में रखने के लिए भी प्रस्तुत हैं (दानी, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ५९)।

अन्य प्रमाण—खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख से ज्ञात कुछ अन्य तथ्य भी संकेत देते हैं कि खारवेल द्वितीय शती ई० पू० से पर्याप्त बाद का राजा था। (१) खारवेल और वक्रदेव को उनके अभिलेखों में 'महाराज' उपाधि से विभूषित किया गया है। यह उपाधि मौर्य और शुंग काल में प्रचलित नहीं थी। अशोक जैसा सम्राट् अपने को केवल 'राजा' कहता था। 'महाराज' उपाधि का प्रचलन भारत में विदेशी नरेशों की आडम्बर पूर्ण उपाधियों के प्रभाव का परिणाम माना जाता है। क्योंकि इसका प्रयोग सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर भारत में दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्ध में यूनानियों ने किया था इसलिए देश के पूर्वी छोरपर स्थित कलिंग के राजाओं ने उनका अनुकरण इसके कुछ बाद में ही किया होगा। (२) हाथिगुम्फा-लेख गद्य में हैं लेकिन इसकी शैली पालित्रिपिटक और अशोक के अभिलेखों से भिन्न एवं काव्य-शैली से स्पष्टतः प्रभावित है। इसकी यह विशेषता इसे दूसरी शती ई० पू० से बाद का लेख बताती है। (३) खारवेल की रानी के द्वारा निर्मित मंचपुरी गुहा को मार्शल जैसे आधुनिक इतिहासकार कलात्मक दृष्टि से भारहुत के तोरणों से (जिनका समय प्रथम शती ई० पू० का प्रारम्भ है) 'काफी बाद का' मानते हैं (कै० हि० इ०, पृ० ५८०)।

खारवेल को दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्ध में रखनेवाले विद्वानों की आलोचना : बहसतिमित की पहिचान—खारवेल को दूशरी शती ई० पू० में रखनेवाले जायसवाल प्रभृति कुछ विद्वानों का आग्रह है कि खारवेल पुष्यमित्र शुंग का समकालीन था। अब, हाथगुम्फा-लेख में पुष्यमित्र का उल्लेख नहीं है परन्तु ये विद्वान् मानते

हैं कि खारवेल ने अपने शासन के बारहवें वर्ष वहसतिमित (=बृहस्पतिमित्र) नामक जिस मगध नरेश को परास्त किया था वह पुष्यमित्र ही है क्योंकि भारतीय ज्योतिष में बृहस्पति को पुष्य नक्षत्र का स्वामी (नक्षत्राधिप) बताया है लेकिन बहस-तिमित को पुष्पमित्र सिद्ध करने का यह प्रयास कदापि स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। जगन्नाथ खारवेल को लग० २०० ई० पू० में रखते हैं परन्तु बहसतिमित की पहिचान पुष्यमित्र शुंग से नहीं करते (को० हि० इ०, पृ० ११५)। जैसा कि मजूमदार ने ध्यान दिलाया है हाथिगुम्फा-लेख में 'बहसतिमितं' पाठ निश्चित नहीं है। इस शब्द में 'ह' अक्षर के साथ 'उ' की मात्रा जुड़ी लगती है और तीसरे तथा चौथे अक्षर 'प' तथा 'स' प्रतीत होते हैं (आई० ए०, १९१९, पृ० १८९)। एलन को भी 'बहसतिमित्त' पाठ में पूरी शंका थी, उनका तो विचार था कि यहाँ किसी राजा का नाम लिखा ही नहीं है (कैटेलाग भू०, पृ० ९७)। दूसरे, यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सरकार महाशय के अनुसार प्राकृत नाम बहसतिमित का संस्कृत रूपान्तर 'बृहस्वातीमित्र' होगा न कि 'बृहस्पतिमित्र'। तीसरे, 'दिव्यावदान' में पुष्यमित्र और बृहस्पति नाम के राजाओं में भेद किया गया है। इसमें बृहस्पति को मौर्य नरेश सम्प्रति के उत्तराधिकारियोंमें गिनाया गया है। पुनः इस ग्रन्थ के अनुसार पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी ज़बकि खारवेल का मागध प्रतिद्वन्द्वी राजगृह नृप (राज-गहनप) कहा गया लगता है। हमारा आशय यह नहीं है कि 'दिव्यावदान' का बृहस्पति ही हाथिगुम्फा-लेख का बहसतिमित था। हमारा मन्तव्य केवल इतना है कि साहित्य बृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र नाम के पृथक् व्यक्तियों से परिचित है इस-लिए पुष्यमित्र को केवल इसीलिए बृहस्पतिमित्र नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि बृहस्पति पुष्य नक्षत्र के स्वामी कहे गये हैं। जो भी हो, इतना निश्चित है कि पुराणों में मगध पर शुंग-कण्व काल में शासन करनेवाले राजाओं की जो सूचियाँ दी गई हैं उनमें तो बहसतिमित नाम का राजा अनुल्लिखित है इसलिए खारवेल के सम-कालीन बहसतिमित की पहचान सम्भवतः इलाहाबाद के समीप उपलब्ध पभोसा-गुहा-लेख में उल्लिखित बहसतिमित्र नामक राजा से करना अधिक उचित होगा। इस लेख को सरकार ने पुरालिपिशास्त्र के आधार पर 'प्रथम शती ई०पू० के अन्त के लगभग' रखा है। (स० इ०, पृ० ९६)। सम्भवतः उसे वह बहसतिमित भी माना जा सकता है जिसकी पुत्री यशमिता का एक लेख मथुरा के समीप मोरा स्थल से मिला है। बहसतिमित नाम के एक अथवा दो राजाओं के सिक्के भी मिले हैं जिनमें कुछ पुनर्मुद्रित हैं। (एलन, पूर्वो०, पृ० ९६; पृ० १५० दे०, अल्तेकर, जे० एन० एस० आई०, ४, पृ. १४३१)। रायचौधुरी और बरुआ के अनुसार कण्वों के उपरान्त मगध पर 'मित्र' नामान्त राजाओं ने शासन किया था। (रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, पृ० ४०१; बरुआ, गया एण्ड बुद्धगया, २, १९३४, पृ० ७४ अ०)। इनमें इद्राग्निमित्र, ब्रह्ममित्र और बृहस्पतिमित्र सम्मिलित हैं। बरुआ का विश्वास है कि इन्द्राग्निमित्र

और ब्रह्ममित्र बृहस्पतिमित्र के पूर्वज थे और यह बृहस्पतिमित्र ही खारवेल का समकालीन था।

क्या खारवेल डिमिट्रियस का समकालीन था?—जायसवाल और उनके समर्थकों के अनुसार हाथिगुम्फा-अभिलेख की आठवीं पंक्ति में 'यवनराज दिमित' का उल्लेख है जो खारवेल की गतिविधि की सूचना पाकर मथुरा छोड़कर भाग गया था। जायसयाल ने उसकी पहिचान पुष्यमित्र शुंग के समकालीन बैक्ट्रियायी यूनानी नरेश डिमिट्रियस से की है (जे० बी० ओ० आर० एस०, १३, १९२७, पृ० २२१, २२८)। इस स्थलपर जायसवाल के पाठ और व्याख्या को बनर्जी तथा कोनो (एक्टा ओरण्टेलिया, १,१९२३, पृ० २७) ने स्थूलतः स्वीकृत किया यद्यपि कोनो का कहना था और बाद में स्वयं जायसवाल का विचार भी यही हो गया था (पूर्वो०, १४, पृ० ४१७) कि इस पंक्ति में यवनराज दिमित के 'मथुरा की ओर' भाग जाने का उल्लेख है। लेकिन इस स्थल पर दिमित नाम ही लिखा है यह अनिश्चित है। स्वयं जायसवाल भी यहाँ केवल 'म' अक्षर पढ़ पाये थे, शेष अक्षर उन्होंने न्यूनाधिकरूपेण अपनी कल्पना से पुनर्योजित किए थे। कोनो ने भी यहाँ केवल 'म' अक्षर का पाठ स्पष्ट बताया है। अगर 'दिमित' पाठ ही सही माना जाय तब भी इस यवनराज की पहिचान डिमिट्रियस से करना आवश्यक नहीं है। जैसा कि ह्वाइटहेड ने ध्यान दिलाया है, हो सकता है कि वह ड्यूमेत (Diyumeta) अथवा डियोमिडिज (Diomedes) नाम का राजा रहा हो (इण्डोग्रीक क्वायन्स्, पृ० ३६)।

क्या हाथिगुम्फा-लेख में 'मौर्यकाल' का उल्लेख है?—इन्द्रजी जैसे प्राचीनतर पुरालेखविद् यह मानते थे कि हाथिगुम्फा-लेख की १६वीं पंक्ति में मौर्यकाल के १६५वें वर्ष (पानंतरिय सठी वस सते राजा मुरिय काले वोच्छिने) का उल्लेख है। इस आधार पर उन्होंने इस लेख की तिथि अशोक की कलिंग-विजय की तिथि के १६५ वर्ष उपरान्त अर्थात् २५५–१६५=९० ई० पू० मानी और खारवेल का राज्याभिषेक १०३ ई० पू० में। इसके विपरीत स्मिथ जैसे उन कुछ विद्वानों ने जो खारवेल को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन मानते हैं 'मौर्यकाल' की गणना चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण से करके खारवेल का राज्याभिषेक ३२४ ई० पू०—१६५ + १३=१७२ ई० पू० बताया। अब यह लगभग सभी विद्वान् मानते हैं कि हाथिगुम्फा लेख में मौर्यकाल का नहीं मुख्य कलाओं का उल्लेख हुआ है (मुखिय कल वोछिनं च चोयठिअंग संतिकं तुरियं उपादयति=मुख्यकलावच्छिन्नं चतुः षष्ठ्यङ्गं शान्तिकं तौर्यं उत्पादयति) और जिस वाक्यांश का अर्थ इन्द्रजी ने '१६५ वाँ वर्ष' किया था उसमें 'पञ्चोत्तरशतसहस्र' मुद्राओं (पानंतरीय सत सहसेहि) का (स० इ०, पृ० २१८, २२१; पो० हि० ए० इ०, पृ० ३७४-७५)।

खारवेल की अग्रमहिषी का मञ्चपुरी गुहा-लेख

लेख परिचय—यह लघु गुहालेख कलिंगराज खारवेल की महारानी का है। यह उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरि खण्डगिरि पहाड़ियों में बनी मन्चपुरी नामक एक गुफा की उपरली मञ्जिल में जो स्वर्गपुरी कहलाती है, खुदा है। लेख की भाषा प्राकृत है और लिपि हाथिगुम्फा-लेख जैसी, अर्थात् प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों की। इसका उद्देश्य खारवेल की रानी द्वारा जैन भिक्षुओं के लिए इस गुफा के खुदवाये जाने का उल्लेख करना है। इसमें कोई तिथि नहीं दी गयी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ और निबन्ध—भगवानलाल इन्द्रजी, एक्टस० ओरियण्टल०, भाग ३ खण्ड २, पृ० १५२ अ०; बनर्जी, ई० आई० १३, पृ० १५९ अ०; बरुआ, ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ५५ अ०, १४, पृ० १५९ अ०, लूडर्स, सूची, सं० १३४९; सरकार, स० इ०, पृ० २२१ अ०।

मूलपाठ

१. अरहंत पसादाय कलिंगा (नं) (सम) नानं लेनं कारितं (।) राजिनो ललाक (स)

२. हथि (सि) हस पपोतस धु (तु) ना (या) कलिग च (कवतिनो सिरि खार) वेलस

३. अगमहिसि (य) । (कारितं) (॥)

पाठ टिप्पणी—इन्द्रजी ने 'पसादाय' में 'य' को 'न' पढ़ा था। कुछ लोग 'पदासनं' पढ़ते हैं। 'हथि सिहस' को चन्द्रजी ने 'हथिसाहानं' पढ़ा है और बनर्जी ने 'हथिसाहस'। हम इस लेख का सरकार द्वारा प्रदत्त पाठ दे रहे हैं।

शब्दार्थ

पसासाद=प्रसादाय, कृपा पाने के लिए, **समनानं**=श्रमणेभ्यः, जैन श्रमणों के लिए, **लेनं**=लयनं, गुहा, **राजिनां**=राज्ञः, राजा की, **पपोतस**=प्रपौत्रस्य, **घुतुनाया**=दुहित्रा

अनुवाद

अर्हतों के अनुग्रहलाभ के हेतु (अर्थात् उनकी कृपा पाने हेतु) कलिंग के जैन भिक्षुओं के (निवास करने के) लिए गुफा बनवाई। ललाक वंशीय राजा हस्तिसिंह के प्रपौत्र की दुहिता कलिंग चक्रवर्ती श्री खारवेल की अग्रमहिषी ने गुफा बनवाई।

व्याख्या

(१) **ललाकस**=ललार्कस्य। इस शब्द का सही भावार्थ स्पष्ट नहीं है। हो सकता है हस्तिसिंह ललाक वंशीय रहा हो, हो सकता है वह ललाक का पुत्र रहा हो अथवा हो सकता है वह 'लाल' प्रदेश का स्वामी रहा हो और इसलिए 'लालका सूर्य' (=ललार्क=ललाक) कहा गया हो। तु० परवर्ती युगीन 'बालादित्य' उपाधि। इस विकल्प को सही मानकर चाटुर्ज्या ने लाल प्रदेश की पहिचान लाट से की है और अन्य कुछ विद्वानों ने लाढ़ प्रदेश से (दे० मित्तल, हिस्टरी ऑव उड़ीसा, पृ० ३१७)। 'महावंश' में लंका के एक राजा का नाम यसललाक तिस्स बताया गया है।

(२) **चक्रवतिनो**—खारवेल के लिए यह उपाधि हाथिगुम्फा-लेख में प्रयुक्त नहीं है। जायसवाल ने इसे 'सम्राट्' अर्थ में लिया है।

(३) **अगमहिसिया**—इससे स्पष्ट है कि खारवेल ने कई विवाह किये थे।

कूडेप (वक्रदेव ?) का मञ्चपुरी गुहा-लेख

लेख-परिचय—यह लेख कलिंग के महामेघवाहन वंशीय नरेश कूडेप का है। कुछ लोग उसके नाम को वक्रदेव पढ़ते हैं। स्पष्टतः वह खारवेल के वंश का सदस्य रहा होगा। खारवेल के साथ उसका सम्बन्ध अज्ञात है। यह लेख उसी गुफा में मिला है जिसमें खारवेल की रानी का लेख खुदा है। इसकी भाषा प्राकृत है, लिपि प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों की है, और इसमें कोई तिथि नहीं दी गयी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ व निबन्ध—इन्द्रजी, एक्टस० ओरियण्टल०, भाग ३, खण्ड २, पृ० १५२ अ०, बनर्जी, ई० आई० १३, पृ० १६०; बरुआ, ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ६३ अ०, आई० एच० क्यू०, १४ पृ० १६०; लूडर्स, सूची, सं० १३४७, सरकार, स० इ०, पृ० २२२।

मूलपाठ

१. ऐरस महाराजस कलि (.) गाधि पतिनो माहा (मेघ) वाह (नस) कूडेप सीरीनो लेंण (.) (॥)

पाठ-टिप्पणी—कुछ विद्वानों ने कूडेप नाम को कदंप अथवा वकदेप (=वक्रदेव) भी पढ़ा है। 'ऐरस' को बनर्जी ने 'खरस' पढ़ा था।

अनुवाद

आर्य महाराज कलिंगाधिपति महामेघवाहन (वंश में उत्पन्न) श्री कूडेप द्वारा बनवाई गयी गुफा।

व्याख्या

इस लेख में भी 'ऐर' और 'महामेघवाहन' विशेषणों का प्रयोग द्रष्टव्य है। स्पष्टतः महामेघवाहन इन राजाओं के वंश का नाम था।

कुबेरक के काल के भट्टिप्रोलु मञ्जूषा अभिलेख

प्राप्ति-स्थल—आन्ध्र प्रदेश के कृष्णा जिले में भट्टिप्रोलु स्तूप।

भाषा—प्राकृत **लिपि** : द्वितीय शती ई० पू० की ब्राह्मी।

तिथि—नहीं दी गयी है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—ब्युलर, ई० आई०, २, पृ० ३२३ अ०; लूडर्स सूची, सं० १३२९-३९; सरकार, स० इ०, पृ० २२४-८।

प्रथम मञ्जूषा

मूलपाठ

[ए] कुर-पितुनो च कुर-मा [तु] च कुरष सिव [ष] च मजुसं पणति फालिग-षमुगं च बुध-सारिराणं निखेतु [॥ *]

[बी] बनव-पुतष कुरष षपीतुकष मजुष [॥*]

[सी] उतनो पिगह-पुतो काणीठो [॥*]

द्वितीय मञ्जूषा

मूलपाठ

[ए] १. गोठि

२. हिरञवघवा

३. [वु] गालको कालहो

४. विसको थोरसिसि

५. समणो ओदलो

६. अपक [ठो ?] षमुदो

७. अनुग [हो] कुरो

८. सतुघो जेत को [जे] तो आलिनक

९. वरुणो पिग [ल] को कोषको

१०. सुतो पापो कमेर [खो] [गाले] को

११. समन [दा] षो भरदो

१२. ओडालो [?] थोरतिसो तिसो

१३. गीलाणो जंभो

१४. पुडर [?] [आ] बो

१५. गालव त ** जनको

१६. गोसालकानं कूरो

१७. उपोषथ-पुतो उतरो

१८. कारह-पुतो [॥*]

[बी] सम [णदा] ष [तो हित] *** बुधष सरिरानि महियानु [नि] [षं] माष [॥*]

[सी] १. गोठि-समनो कुबो [। *]

२. हिरणकार गामणी-पुतो बूबो [। *]

[डी] ष गठि निगम-पुतानं राजपामुखा [। *] षारिरष पुतो खुबिरको राजा षीहगोठिया पामुखो [। *] तेषां अंनं मं [जूषं] फालिग-षमुगो च पाषाणषमुगो च ॥

[इ] समणो चघत्र-पुतो उतरो आरामु तर—[पू] त [।*]

तृतीय मञ्जूषा

मूलपाठ

[ए] १. नेगमा
२. वछो चघो
३. जेतो जंभो तिसी
४. रेतो अचिनो षमिको
५. अखधो केलो केसो माहो
६. सेटो छदिको [घ] खबूलो
७. सोणुतरो समणो
८. समणदाषो सामको
९. कामुको चीतको [। *]

अरहदिनानं गोठिया मजूस च षमुगो च [। *] तेन कम येन कुबिरको राजा अं [कि] [॥*

चतुर्थ मञ्जूषा

मूलपाठ

१. मातुगामस [नं] दपुराहि
२. सुवणमाहा
३. शमनुदेशानं च
४. गिलानकेरस अयसक-
५. [स (गो ?)] ठिय
६. गोहिया अ * ग दानं [॥*]

महामेघवाहनवंशीय नरेश सद का गुण्टुपल्ली स्तम्भअभिलेख

प्राप्ति-स्थल और लेख-परिचय—यह अभिलेख हाल ही में आन्ध्र प्रदेश के गुण्टुपल्ली नामक गाँव से, जो पश्चिमी गोदावरी जिले में कमवरपुकोट से छह मील दूर स्थित है, प्राप्त हुआ है। इसकी चार पंक्तियाँ चार स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिली हैं। तीन स्तम्भों (संख्या १, २, ४) में यह पाँच पंक्तियों में लिखा है, और एक (संख्या ३) पर ६ में। इसलिए इसकी विभिन्न प्रतियों के अक्षर-क्रम में कुछ भेद है। किसी-किसी शब्द की वर्तनी में भी भेद मिलता है यथा तीसरे लेख में 'महिसकाधिपदिस' पाठ मिलता है जब कि शेष तीन लेखों में यह शब्द 'महिसकाधिपतिस' है।

अध्ययन-इतिहास—इस लेख को सर्व प्रथम आर० सुब्रामण्यम ने १९६८ में 'दि गुण्टुपल्ली ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन ऑव खारवेल' नाम के शोध-लेख में आन्ध्र राज्य की सरकार की 'एपिग्राफिकल सिरीज न० ३' के रूप में प्रकाशित किया। इसके बाद दि० च० सरकार ने इसको 'जनरल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी' (१९६९-७०) के तीसरे अंक में छापा और इसके राजा को खारवेल मानने से इन्कार किया।

उद्देश्य—इस लेख का उद्देश्य चुलगोम नामक एक लेखक द्वारा एक मण्डप दान दिये जाने का उल्लेख करना है। सम्भवतः उपर्युक्त चारों स्तम्भ उस मण्डप के अंग थे।

भाषा और लिपि—गुण्टुपल्ली-लेख की भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी। सुब्राह्मण्यम ने इसकी लिपि को खारवेलयुगीन माना है। परन्तु सरकार के अनुसार इसकी लिपि में उत्तरी और दक्षिणी एवं प्राचीन और परवर्ती अक्षर मिले-जुले हैं। इसमें 'च', 'ड', 'ल', 'ह' इत्यादि के द्रुत रूप के साथ 'म' तथा 'स' आदि का दक्षिणी रूप भी मिलता है जब कि 'प' का रूप प्राचीन है। जो भी हो, सरकार के विचारानुसार इस लिपि के अक्षर खारवेल के समय से पर्याप्त बाद के, सम्भवतः दूसरी शती ई० के, हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और लेख—सुब्रामण्यम, दि गुण्टुपल्ली इन्स्क्रिप्शन ऑव खारवेल, हैदराबाद, १९६९-७०; सरकार, जे०ए०आई० एच०, ३, पृ० ३१ अ०।

मूलपाठ

प्रथम स्तम्भ

१. मह (ा) राजस कलिग म (ि) ह
२. सकाधिपतिस (म) हामे -
३. (ख) वाहनस सिरि सद –
४. (स) ले (खसक) च (ु) ल–गो –
५. मस मडपो दानं (॥)

द्वितीय स्तम्भ

१. महाराजस कलिग महिसक (ा)
२. धिपतिस महामेखवा (ह)
३. नस सिरि सदस लेख
४. कस चुल गोमस मण
५. डपो दानं (॥)

तृतीय स्तम्भ

१. महारजस कलिगा –
२. महिसकाधिपदिस म –
३. हामेखवाहनस
४. सिरि सदसा लेख –
५. कस चुल (ग) ो मस मड –
६. पो दानं (॥)

चतुर्थ स्तम्भ

१. महाराजस कलिग म –
२. हिसकाधिपतिस मह –
३. माखवाहनस सिरि स –
४. दस लेखकस चुल गो –
५. मस मडपो दानं (॥)

पाठ-टिप्पणी—सुब्रामण्यम ने 'सिरिसदस लेखकस' को 'सिरि सन्देस लेखकस' पढ़ा है। तीसरे स्तम्भ के लेख में 'महिसकाधिपदिस' पाठ है, शेष तीन में 'महिसकाधिपतिस'। दूसरे स्तम्भ में 'मण्डपो' पाठ है, शेष में 'मडपो'।

अनुवाद

यह मण्डप महामेखवाहन (वंशोत्पन्न) महाराज कलिंग (और) महिषक के अधिपति श्रीसद के लेखक चूल गोम का दान है।

व्याख्या

(१) **महामेखवाहन**=महामेघवाहन। सरकार के अनुसार पैशाची प्राकृत में में 'मेघ' का प्रायः 'मेख' हो जाता था। दक्षिण में पैशाची के लक्षणों का अस्तित्व द्रविड प्रभाव के कारण था।

(२) **'मण्डप'** का सही अर्थ अस्पष्ट है। कहना कठिन है कि यहाँ इसका प्रयोग 'भवन' के अर्थ में हुआ है, मन्दिर में स्थित कक्ष के अर्थ में, 'मन्दिर' के अर्थ में, मन्दिर के सम्मुख बने मण्डप के अर्थ में अथवा 'सार्वजनिक भवन' के अर्थ में (दे०, सरकार, इण्डियन एपि० ग्लॉसरी, पृ० १९५-६)।

(३) **चूल गोम**=क्षुद्रगोम=छोटा गोम।

(४) **महिषक**—की स्थिति के लिए दे०, दे, नन्दलाल, ज्यो० डिक्शनरी ऑव इण्डिया, पृ० १२०। इस लेख से ज्ञात होता है कि महिषक नामका कोई प्रदेश कलिंग के पास भी था।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत लेख हाल ही में मिले प्राचीन भारतीय अभिलेखों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सुब्रामण्यम ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया था : 'यह मण्डप महाराज कलिंग और महिषकाधिपति महामेखवाहन के श्रीसन्देश लेखक (सिरी सन्देस लेखकस) चुलगोम का दान है।' इस तरह उनके अनुवाद में राजा का नाम नहीं था। लेकिन उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि यह राजा, जो कलिंग का अधिपति और महामेखवाहन=महामेघवाहन बताया गया है, हाथिगुम्फा-लेख में वर्णित सुप्रसिद्ध नरेश खारवेल से अभिन्न होना चाहिए। इससे प्रमाणित होता है कि खारवेल महिषकों का भी स्वामी था। जी० एस० घई सुब्रामण्यम से सहमत हैं (जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, ३, पृ० २४७)।

लेकिन सरकार महोदय सुब्रामण्यम व घई के विचार से सहमत नहीं है। वह इस लेख के नरेश को खारवेल से अभिन्न नहीं मानते। एक, वह यह मानते हैं कि इस लेख में इसके राजा का नाम सद दिया गया है। इसलिए वह खारवेल नहीं हो सकता। दूसरे, इस लेख की लिपि खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख की लिपि से बहुत भिन्न और परवर्ती हैं। तीसरे, खारवेल प्रधानत; कलिंग का राजा था, उसे कहीं भी महिषकों का अधिपति नहीं कहा गया है। सरकार ने ध्यान दिलाया है कि गुण्टूर जिले के बेलपुरू-स्थल से प्राप्त लगभग द्वितीय शती ई० के एक अभिलेख में गालव गोत्रीय 'महाराज' 'हारीतीपुत्र' मानसद का उल्लेख हुआ है (ई० आई०, ३२, पृ० ८८ अ०)।

वह राजा ऐर वंशोत्पन्न कहा गया है। उधर खारवेल भी ऐर वंशीय था। इसलिए उसका खारवेल के वंश से किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा होगा। सरकार का अनुमान है कि सद नाम का यह राजा मानसद का कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। उसका समय लिपि शास्त्रीय दृष्टि से भी मानसद के बाद में पड़ेगा। उल्लेखनीय है कि खारवेल, मानसद व सद इन तीनों ने ही 'महाराज' उपाधि धारण की थी। मानसद और सद के नामों में आया सद शब्द वस्तु 'शात' या 'सात (वाहन)' हो सकता है। सम्भवतः ये राजा सातवाहन वंशीय राजकुमारियों के पुत्र रहे होंगे और इसलिए उन्होंने 'सत्त' नाम धारण किया होगा। पल्लव वंश में एक राष्ट्रकूटवंशीया रानी के पुत्र को स्पष्टतः दन्तिदुर्ग के नाम का अनुकरण करते हुए दन्तिवर्मा कहा जाना और एक पाल नरेश का, जिसकी माता शायद राष्ट्रकूटवंशोत्पना थी, हारवर्ष कहा जाना (वर्षान्त उपाधियां राष्ट्रकूटों में खूब चलती थीं) ऐसे अन्य उदाहरण हैं।

जो भी हो, इस लेख से प्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शतियों में पश्चिमी गोदावरी जिले पर कलिंग के महामेघवाहनवंशीय राजाओं का शासन था।

मानसद का वेल्पूर-अभिलेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख गुण्टूर के श्री पी० शेषाद्रि शास्त्री ने वेल्पूर में एक पाषाण पर लिखित पाया था। इसमें छः पंक्तियाँ हैं जो ११"×१२" क्षेत्र-फल में लिखी हैं। लेख बहुत क्षत अवस्था में मिला है। इसकी लिपि द्वितीय शती ई० की है और गौतमीपुत्र शातकर्णि व पुलुमावि के लेखों की लिपि से सादृश्य रखती है। इसकी भाषा प्राकृत है जिस पर संस्कृत का प्रभाव केवल 'ऐरस' में 'ऐ' के प्रयोग में दिखाई देता है। संयुक्ताक्षरोंमें व्यंजकों को दोहराया नहीं गया है। 'महारायस' में 'ज' के स्थान पर 'य' का प्रयोग द्रष्टव्य है।

सन्दर्भ-लेख—सरकार, ई० आई०, ३२, पृ० ८२-७।

मूलपाठ

१. ····[ा] नमो भगवतो [।] ग [ल]
२. यस ऐरस महारा [य]-
३. [स] हारिति [पुतस] ि[स] [ि] र [म]
४. ····[स] दस दि ि[स] [ध] ा रिकाय
५. ····[व] ा य....[गव] भूतगा [ह]-
६. ····[स म] ड [पा [(पो)] [ए] को [निव] हितो (॥)

पाठ-टिप्पणी—'नमो' के पूर्व हो सकता है 'सिद्धम' लिखा रहा हो। गलयस=गलवेयस ?=गालवेयस्य। चौथी पंक्ति का प्रथम गलित अक्षर 'न' लगता है। पाँचवीं पंक्ति के शुरू में लिखित नाम महिला है अतः यह 'देवा' या 'रेवा' जैसा कोई नाम रहा होगा। उसके बाद का शब्द 'भगवतो' हो सकता है। उसके उपरान्त लिपिक का उद्देश्य 'भूतगाहकस' लिखना रहा हो सकता है।

अनुवाद

(सिद्धम्) भगवान् को नमस्कार। भगवत् भूतगाहक का एक मण्डप....वा ने (अर्थात् 'देवा' जैसे किसी नामवाली महिला ने) जो हारीतीपुत्र ऐर गालवेय श्री मानसद की धृशोधरिका (मशाल वाहिनी अर्थात् मशाल लेकर चलनेवाली) है, पूरा कराया।

व्याख्या

(१) चौथी पंक्ति का प्रथम गलित अक्षर 'त' भी हो सकता है। उस अवस्था में लेख का पाठ होगा 'सिरिमत सदस' अर्थात् 'श्रीमत शातस्य'। लेकिन सरकार ने इस अक्षर को 'न' पढ़ना अधिक उचित माना है। उनको यह लेख सातवाहन-लेख प्रतीत नहीं होता।

(२) इस लेख से प्रमाणित होता है कि दूसरी शती में गण्टूर प्रदेश सातवाहन साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था।

(३) इस लेख में उल्लिखित मानसद को 'ऐर' कहा जाना उसके खारवेल के वंश के साथ सम्बन्ध का संकेत देता है। परन्तु इस सम्बन्ध का सही रूप अज्ञात है।

मानसद् का वेल्पूर-अभिलेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख गुण्टूर के श्री पी० शेषाद्रि शास्त्री ने वेल्पूर में एक पाषाण पर लिखित पाया था। इसमें छः पंक्तियाँ हैं जो ११"×१२" क्षेत्रफल में लिखी हैं। लेख बहुत क्षत अवस्था में मिला है। इसकी लिपि द्वितीय शती ई० की है और गौतमीपुत्र शातकर्णि व पुलुमावि के लेखों की लिपि से सादृश्य रखती है। इसकी भाषा प्राकृत है जिस पर संस्कृत का प्रभाव केवल 'ऐरस' में 'ऐ' के प्रयोग में दिखाई देता है। संयुक्ताक्षरोंमें व्यंजकों को दोहराया नहीं गया है। 'महारायस' में 'ज' के स्थान पर 'य' का प्रयोग द्रष्टव्य है।

सन्दर्भ-लेख—सरकार, ई० आई०, ३२, पृ० ८२-७।

मूलपाठ

१. ····[ि] नमो भगवतो [।] ग [ल]
२. यस ऐरस महारा [य]-
३. [स] हारिति [पुतस] ि[स] [ि] र [म]
४. ····[स] दस दि ि[स] [ध] ा रिकाय
५. ····[व] ा य....[गव] भूतगा [ह]-
६. ····[स म] ड [पा [(पो)] [ए] को [निव] हितो (॥)

पाठ-टिप्पणी—'नमो' के पूर्व हो सकता है 'सिद्धम' लिखा रहा हो। गलयस=गलवेयस ?=गालवेयस्य। चौथी पंक्ति का प्रथम गलित अक्षर 'न' लगता है। पाँचवीं पंक्ति के शुरू में लिखित नाम महिला है अतः यह 'देवा' या 'रेवा' जैसा कोई नाम रहा होगा। उसके बाद का शब्द 'भगवतो' हो सकता है। उसके उपरान्त लिपिक का उद्देश्य 'भूतगाहकस' लिखना रहा हो सकता है।

दक्षिण भारत : सातवाहनों के अभिलेख

दक्षिण भारत : सातवाहनों के अभिलेख

कृष्ण सातवाहन का नासिक गुहा-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख सातवाहन वंश के दूसरे नरेश कृष्ण का है। यह महाराष्ट्र के नासिक जिले में इसी नाम के स्थान के समीप स्थित एक गुहा (संख्या १९) की दाहिनी खिड़की की ऊपरली शिला पर लिखा है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि द्वितीय शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। इसके पहिले भगवानलाल इन्द्रजी व ब्युलर ने 'आक्यॉलोजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया' में प्रकाशित किया और फिर इन्द्रजी ने इसपर 'बाम्बे गजेटियर' में टिप्पणियाँ प्रकाशित कीं। अन्त में इसे सेना ने 'एपि० इण्डिका' में छापा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—भगवानलाल इन्द्र व ब्युलर, ए०एस०डब्ल्यू०आई० ४, पृ० ९१, न० १; इन्द्रजी, बाम्बे गजेटियर, १६; लूडर्स, सूची, सं० ११४४; सेना, इ०आई, ८, पृ० ९३; सरकार, स० इ०, पृ० १८९-९०।

मूलपाठ

१. सादवाहन कु (ले) कन्हे राजिनि नासिकेकेन
२. समणेन महामातेण लेण [ं] कारित (ं) ॥

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने 'सादवाहन कुले' के स्थानपर 'सादवाहन कुल' पढ़ा है।

कृष्ण सातवाहन का नासिक गुहा-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख सातवाहन वंश के दूसरे नरेश कृष्ण का है। यह महाराष्ट्र के नासिक जिले में इसी नाम के स्थान के समीप स्थित एक गुहा (संख्या १९) की दाहिनी खिड़की की ऊपरली शिला पर लिखा है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि द्वितीय शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। इसके पहिले भगवानलाल इन्द्रजी व ब्युलर ने 'आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया' में प्रकाशित किया और फिर इन्द्रजी ने इसपर 'बाम्बे गजेटियर' में टिप्पणियाँ प्रकाशित कीं। अन्त में इसे सेना ने 'एपि० इण्डिका' में छापा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—भगवानलाल इन्द्र व ब्युलर, ए०एस०डब्ल्यू०आई० ४, पृ० ९१, न० १; इन्द्रजी, बाम्बे गजेटियर, १६; लूडर्स, सूची, सं० ११४४; सेना, इ०आई, ८, पृ० ९३; सरकार, स० इ०, पृ० १८९-९०।

मूलपाठ

१. सादवाहन कु (ले) कन्हे राजिनि नासिकेकेन
२. समणेन महामातेण लेण [ं] कारित (ं)॥

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने 'सादवाहन कुले' के स्थानपर 'सादवाहन कुल' पढ़ा है।

शब्दार्थ

राजिनी = राज्यकाल में ; **समणेन** = श्रमणेन; **महामातेण** = महामात्रेण ।

अनुवाद

सातवाहन कुल के (नरेश) कृष्ण के राजत्वकाल में नासिक (नगर) निवासी श्रमणों के (व्यवहार) के लिए महामात्र द्वारा (यह) गुहा बनवाई गयी ।

व्याख्या

(१) सेना का विचार है कि यहाँ 'समणेन' के स्थान पर 'समणानं' पाठ होना चाहिए था । उनके द्वारा प्रस्तावित अनुवादानुसार यह गुहा नासिक के श्रमणों की देखभाल करनेवाले महामात्र ने बनवाई थी ।

(२) इस अभिलेख से लगता है कि अशोक द्वारा नियुक्त 'महामात्र' नामक पदाधिकारी वर्ग अभी तक विद्यमान था ।

(३) इस लेख में नासिक नाम के उल्लेख से लगता है कि गोवर्धन स्थान इसके निकट स्थित होने के बावजूद इससे पृथक् था ।

(४) **सातवाहन कुल**—'सातवाहन' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है । सोमदेव के अनुसार इसका अर्थ है 'वह जिसका वाहन सात नामक यक्ष था' । जिनप्रभसूरि ने इसका अर्थ दिया है 'वह जिसने वाहन दिए' । 'शिलप्पादिकारम्' के टीकाकार अडियर्क्कुनल्लार ने शातवाहन को 'शात्तन' नाम ग्राम देवी से सम्बद्ध किया है । प्रजाइलुस्की ने इसकी व्युत्पत्ति मुण्डा शब्द 'सादम' (= घोड़ा) और 'हपन' (=पुत्र) से मानी है और इसका अर्थ 'अश्वमेध करनेवाले का पुत्र' किया है । बार्नेट व जायसवालने इसका सम्बन्ध अशोक के अभिलेखों के सतियपुत से जोड़ा है । प्राचीन लेखकों ने ज्यादातर इस नाम को 'सातवाहन' ,रूप में लिखा है (यथा सोमदेव, बाण, हेमचन्द्र आदि ने) जबकि वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में तथा रेप्सन और रायचौधुरी आदि आधुनिक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में इसको 'सातवाहन' रूप में लिखा है । इन दोनों में 'सातवाहन' (साहित्यिक प्राकृत में 'सत्तवाहन') संस्कृत के 'सप्तवाहन' का प्राकृत रूप होने के कारण अधिक सार्थक लगता है । 'सप्तवाहन' को 'स्कन्द पुराण' में सूर्य का नाम बताया गया है और 'विष्णुसहस्रनाम' में विष्णु का । बाद में 'सातवाहन' नाम बिगड़ने पर इसके 'सालिवाहन', 'सातावहन', 'सालाहन' और 'हाल' आदि रूप बने । काश्मीर के लौहर नरेश भी अपने को सातवाहन कुल का कहते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन वास्तव में सिमुक के किसी पूर्वज का व्यक्तिगत नाम था । उसके नामपर यह वंश 'सातवाहन' कहलाया । नानाघाट गुहा-मूर्त्तिनाम-अभिलेखों में एक कुमार का नाम केवल सातवाहन दिया गया है । स्वयं सिमुक को भी वहाँ सिमुक-सातवाहन कहा गया है । इसका अर्थ 'सातवाहन का वंशज सिमुक' हो सकता है । प्रस्तुत लेख में सिमुक का भाई कृष्ण अपने को स्पष्टतः सातवाहन

कुल में उत्पन्न बताता ही है। सातवाहन नामक राजा के सिक्के भी उपलब्ध हैं जिनपर 'रञो सिरि साद वाहनस' लेख लिखा है। मिराशी उन्हें इस वंश के संस्थापक के सिक्के मानते हैं (जे०एन०एस०आई०, १४, पृ० २६ अ०) परन्तु कटारे एवं पी० एल० गुप्त को यह मत स्वीकार्य नहीं है।

(५) कन्ह—कृष्ण को पुराणों में सिमुक का अनुज बताया गया है। परन्तु उसका नाम नानाघाट-अभिलेखों में नहीं मिलता। कुछ आधुनिक विद्वान् उसे सिमुक का पुत्र बताते हैं (सरकार, स० इ०, पृ० १९१, टि० १)। पुराणों में उसे प्रथम शातकर्णि का पिता भी बताया गया है। हो सकता है शातकर्णि वस्तुतः सिमुक का पुत्र रहा हो (को० हि० इ०, २, पृ. ३०३)।

अभिलेख का महत्त्व

यह अभिलेख सातवाहन वंश का प्राचीनतम उपलब्ध अभिलेख है। इस वंश के राजाओं को पुराणों में 'आन्ध्रभृत्याः' अथवा आन्ध्रजातीयाः' कहा गया है। इसलिए स्मिथ और बर्गेस आदि पुराने इतिहासकार सातवाहनों को आन्ध्र देश (गोदावरी, कृष्णा व गुण्टूर जिले) का मूल निवासी मानते थे। परन्तु प्रस्तुत अभिलेख से संकेतिक है तथा अन्य अभिलेखों, मुद्राओं व साहित्यिक साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि सातवाहनों का उदय प्रतिष्ठान (महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले का पैठान नामक स्थल) के आस-पास हुआ था (विस्तृत विवेचन के लिए दे०, को० हि० इ०, २, पृ० २९६-३००)। आन्ध्रों के साथ सातवाहनों का क्या सम्बन्ध था कहना कठिन है। रायचौधुरी के अनुसार पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र इसलिए कह दिया गया क्योंकि जब पुराणों की रचना हुई, सातवाहनों का शासन आन्ध्र देश तक सीमित रह गया था। सुकथङ्कर ने 'आन्ध्रभृत्य' शब्द को तत्पुरुष समास मान कर इसका अर्थ 'आन्ध्रों का भृत्य' किया है और इस आधार पर सातवाहनों को आन्ध्र माना ही नहीं है। एस० ए० जोगलेकर का कहना है कि पुराण सातवाहनों को आन्ध्र देश का नहीं बताते, वे उन्हें आन्ध्र जातीय इसलिए कहते हैं क्योंकि वे पूना के निकटस्थ आन्ध्र उपत्यका के निवासी थे। सरकार व गोपालाचारी ने 'आन्ध्रभृत्य' शब्द को कर्मधारय समास माना है (= आन्ध्र जो भृत्य थे)। उनका कहना है कि सातवाहन इन राजाओं का कुल नाम था जब कि आन्ध्र उनकी जाति थी। हमारे विचार से सातवाहन नाम इस कुल के किसी आदि पुरुष का था। (दे०, ऊपर टि० ४)।

इस अभिलेख का नरेश कृष्ण अपने वंश का द्वितीय राजा है, इसलिए इस लेख की तिथि की समस्या सातवाहन के तिथि क्रम की समस्या से जुड़ी है। कुछ इतिहासकार सातवाहनों की उत्पत्ति तीसरी शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध अथवा दूसरी शती ई० पू० के प्रारम्भ में रखते हैं और इसलिए इस लेख को लगभग २०० ई० पू० का बताते हैं (को० हि० इ०, पृ० ३०१)। लेकिन दूसरे वर्ग के विद्वान् सिमुक को

अन्तिम कण्वों का समकालीन मानते हैं और कृष्ण तथा उसके इस लेख को प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम पाद में रखते हैं। लिपिशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत अभिलेख व नानाघाट-अभिलेख प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम वर्षों के ही प्रतीत होते हैं। (दे०, चन्दा, एम० ए० एस० आई०, १; सरकार, स० इ०, पृ० १८९, टि० १)।

नागन्निका एवं प्रथम शातकर्णि कालीन नानाघाट गुहा मूर्तिनाम-लेख

लेख-परिचय—ये लेख नानाघाट की, जो महाराष्ट्र में पश्चिमी घाट में पूना के समीप कोंकण से जुन्नार जाने वाला एक दर्रा है, एक गुफा में मिले हैं। यह पैठान से नाक की सीध में करीब दो सौ मील है। यहाँ से नागन्निका का एक अन्य लेख भी उपलब्ध हुआ है। प्रस्तुत लेख वस्तुतः उकेरी हुई मूर्तियों के ऊपर, जो अब तक मिट चुकी हैं (पैरों के कुछ अंशों को छोड़कर), प्राकृत भाषा में और प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध की लिपि में लिखे हुए नाम हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ५, पृ० ६४ ; लूडर्स, सूची, सं० १११३-१८; सरकार, स० इ०, पृ० १९०-९२; कटारे, जे० एन० एस० आई० १६, पृ० ७७-८९ मिराशी, ; जे० एन० एस० आई० १४, पृ० ३२। दे०, ए० इ० यू०, पृ० १८९, को० हि० इ०, पृ० ३०२ तथा टि० १।

मूलपाठ

पहला

१. राया सिमुक – सातवाह
२. नो सिरिमातो ॥

दूसरा

१. देवि नायनिकाय रञो
२. च सिरि – सातकनिनो ॥

तीसरा

१. कुमारो भा –
२. य... .... ॥

चौथा और पाँचवाँ

(नाम मिट गये हैं)

छठा

१. महारठि त्रनकयिरो ॥

सातवाँ

१. कुमरो हकुसिरि ॥

आठवाँ

१. कुमारो सातवाहनो ॥

अनुवाद

राजा सिमुक सातवाहन श्रीमान् । देवी नागन्निका और राजा श्री शातकर्णि की (दो मूर्तियां) । कुमार भाग....। महारथी त्राणकार्य । कुमार शक्ति श्री । कुमार सातवाहन ।

व्याख्या

(१) ये लेख नागन्निका और प्रथम शातकर्णि के शासनकाल में लिखवाए गए होंगे, इसीलिए मात्र उनके नाम ही षष्ठी विभक्ति में दिए गए हैं । शेष नामों में एक शातकर्णि का पिता है, एक नागन्निका का पिता है और बाकी पठ्य नाम मात्र कुमारों के हैं ।

(२) इस मूर्तिसमूह में कृष्ण, जो सिमुक का भाई था और जिसने सिमुक के बाद और शातकर्णि के पूर्व शासन किया, अनुपस्थित है ।

(३) इस लेख में सिमुक के नाम के साथ 'सातवाहन' शब्द का प्रयोग ध्यातव्य है । दे०, कृष्ण का नासिक–लेख, टि० ४ ।

(४) नायनिका के नाम का संस्कृत रूप होगा नागन्निका । उसका नाम 'नागा' रहा होगा । 'अनिका' (अण्णिका, अंणिका) दक्षिण भारतीय लेखों में स्त्रियों के नाम के साथ प्रायः जुड़ा मिलता है ।

(५) शातकर्णि नाम सातवाहनों में बहुत प्रचलित रहा था । वे इसका प्रयोग मातृ नाम के सहित (यथा, गौतमीपुत्र शातकर्णि) और उसके बिना भी करते थे । आजकल इसका 'शातकर्णि' रूप प्रचलित हो गया है परन्तु रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख, एक कन्हेरी-अभिलेख, व शान्तिवर्मा के तालगुण्ड-अभिलेख से स्पष्ट है कि इसका संस्कृत अनुवाद में भी उच्चारण 'सातकर्णि' था न कि शातकर्णि । इसका सही अर्थ अज्ञात है । प्रजाइलुस्की ने इसको मुण्डा शब्द माना है और इसका अर्थ 'अश्वपुत्र' (=अश्वमेधयाजी का पुत्र) किया है । 'शिलप्पादिकारम्' में इसका अर्थ 'सौकान वाला' बताया गया है । जोगलेकर ने इसको 'सात किरणें' अथवा 'सात बाण' अर्थ में लिया है । इन नाम का सम्बन्ध 'सातवाहन' शब्द से प्रतीत होता है ।

(६) ब्युलर ने 'भाय' का पूरा नाम 'भायल' माना था और उसे शातकर्णि का छोटा भाई बताया था ।

(७) मिराशी (जे० एन० एस० आई०, १६, पृ० ३२), गोपालाचारी (को० हि० इ०, पृ० ३०२ टि० १) व अन्य अनेक विद्वानों का विश्वास है कि तीसरे व छठे नामों के बीच में दो मूर्ति नाम और थे जो अब मिट गए हैं । सरकार ने इ मान्यता में एक स्थल पर शंका प्रकट की है (स० इ०, पृ० १९०, टि० ३) अन्यत्र विश्वास प्रकट किया है (ए० इ० यू० पृ० १९८) ।

(८) **महारठि त्रनकयिरो**—नानाघाट-यज्ञ-अभिलेख में सम्भवतः नागन्न

को 'बालाय महारठिनो' (महारथी की पुत्री) कहा गया है। इसलिए यह 'महारठि त्रनकयिरो' नागन्निका का पिता माना जाता है।

(९) **कुमरो हकुसिरि**—इसकी पहिचान सामान्यतः दीर्घतर नानाघाटलेख के कुमार शक्ति श्री से की जाती है। हकु = शक्ति जैसे उदाहरण कुछ सिक्कों पर 'हिरु यञ हातकणि' = श्रीयज्ञ शातकर्णि (रेप्सन, केटेलॉग, पृ० ४५) तथा 'हघान' = संघानाम् (स० इ०, पृ० २३२) में देखने में आते हैं। परन्तु गोपालाचारी इस सुझाव को नहीं मानते। एक ही नाम के दो प्राकृत रूपों का प्रयोग होना सम्भव भी नहीं लगता।

(१०) मिराशी का अनुमान है कि ये मूर्तिनाम-लेख नागन्निका के पुत्र वेदश्री के शासनकाल में लिखवाए गए थे। उनके विचार से 'कुमार भाय'-नागन्निका का अकाल मृत्यु को प्राप्त पुत्र था और जो दो नाम मिट गए हैं वे क्रमशः वेदश्री व शक्तिश्री (नागन्निका के पुत्र) के थे। छठा नाम नागन्निका के पिता का था और सातवें और आठवें नाम वेदश्री के पुत्रों के थे। मिराशी का यह सुझाव सही हो सकता है, परन्तु यह भी सम्भव है कि मिटे हुए नामों में एक कृष्ण का रहा हो तथा हकुश्री और कुमार सातवाहन स्वयं प्रथम शातकर्णि के पुत्र रहे हों।

(११) **कुमार सातवाहन**—कटारे (जे० एन० एस० आई०, १३, पृ० ३५ अ०) ने 'सातवाहन' लेख वाले सिक्के इस कुमार सातवाहन के माने हैं।

अनुवाद

राजा सिमुक सातवाहन श्रीमान्। देवी नागन्निका और राजा श्री शातकर्णि की (दो मूर्तियां)। कुमार भाग····। महारथी त्राणकार्य। कुमार शक्ति श्री। कुमार सातवाहन।

व्याख्या

(१) ये लेख नागन्निका और प्रथम शातकर्णि के शासनकाल में लिखवाए गए होंगे, इसीलिए मात्र उनके नाम ही षष्ठी विभक्ति में दिए गए हैं। शेष नामों में एक शातकर्णि का पिता है, एक नागन्निका का पिता है और बाकी पठ्य नाम मात्र कुमारों के हैं।

(२) इस मूर्तिसमूह में कृष्ण, जो सिमुक का भाई था और जिसने सिमुक के बाद और शातकर्णि के पूर्व शासन किया, अनुपस्थित है।

(३) इस लेख में सिमुक के नाम के साथ 'सातवाहन' शब्द का प्रयोग ध्यातव्य है। दे०, कृष्ण का नासिक-लेख, टि० ४।

(४) नायनिका के नाम का संस्कृत रूप होगा नागन्निका। उसका नाम 'नागा' रहा होगा। 'अनिका' (अण्णिका, अंणिका) दक्षिण भारतीय लेखों में स्त्रियों के नाम के साथ प्रायः जुड़ा मिलता है।

(५) शातकर्णि नाम सातवाहनों में बहुत प्रचलित रहा था। वे इसका प्रयोग मातृ नाम के सहित (यथा, गौतमीपुत्र शातकर्णि) और उसके बिना भी करते थे। आजकल इसका 'शातकर्णि' रूप प्रचलित हो गया है परन्तु रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख, एक कन्हेरी-अभिलेख, व शान्तिवर्मा के तालगुण्ड-अभिलेख से स्पष्ट है कि इसका संस्कृत अनुवाद में भी उच्चारण 'सातकर्णि' था न कि शातकर्णि। इसका सही अर्थ अज्ञात है। प्रजाइलुस्की ने इसको मुण्डा शब्द माना है और इसका अर्थ 'अश्वपुत्र' (=अश्वमेघयाजी का पुत्र) किया है। 'शिलप्पादिकारम्' में इसका अर्थ 'सौकान वाला' बताया गया है। जोगलेकर ने इसको 'सात किरणें' अथवा 'सात बाण' अर्थ में लिया है। इन नाम का सम्बन्ध 'सातवाहन' शब्द से प्रतीत होता है।

(६) ब्युलर ने 'भाय' का पूरा नाम 'भायल' माना था और उसे शातकर्णि का छोटा भाई बताया था।

(७) मिराशी (जे० एन० एस० आई०, १६, पृ० ३२), गोपालाचारी (को० हि० इ०, पृ० ३०२ टि० १) व अन्य अनेक विद्वानों का विश्वास है कि तीसरे व छठे नामों के बीच में दो मूर्ति नाम और थे जो अब मिट गए हैं। सरकार ने इस मान्यता में एक स्थल पर शंका प्रकट की है (स० इ०, पृ० १९०, टि० ३) तथा अन्यत्र विश्वास प्रकट किया है (ए० इ० यू० पृ० १९८)।

(८) **महारठि त्रनकयिरो**—नानाघाट-यज्ञ-अभिलेख में सम्भवतः नागन्निका

को 'बालाय महारठिनो' (महारथी की पुत्री) कहा गया है। इसलिए यह 'महारठि त्रनकयिरो' नागन्निका का पिता माना जाता है।

(९) **कुमरो हकुसिरि**—इसकी पहिचान सामान्यतः दीर्घतर नानाघाटलेख के कुमार शक्ति श्री से की जाती है। हकु = शक्ति जैसे उदाहरण कुछ सिक्कों पर 'हिरु यञ हातकणि' = श्रीयज्ञ शातकर्णि (रेप्सन, केटेलॉग, पृ० ४५) तथा 'हघान' = संघानाम् (स० इ०, पृ० २३२) में देखने में आते हैं। परन्तु गोपालाचारी इस सुझाव को नहीं मानते। एक ही नाम के दो प्राकृत रूपों का प्रयोग होना सम्भव भी नहीं लगता।

(१०) मिराशी का अनुमान है कि ये मूर्तिनाम-लेख नागन्निका के पुत्र वेदश्री के शासनकाल में लिखवाए गए थे। उनके विचार से 'कुमार भाय'-नागन्निका का अकाल मृत्यु को प्राप्त पुत्र था और जो दो नाम मिट गए हैं वे क्रमशः वेदश्री व शक्तिश्री (नागन्निका के पुत्र) के थे। छठा नाम नागन्निका के पिता का था और सातवें और आठवें नाम वेदश्री के पुत्रों के थे। मिराशी का यह सुझाव सही हो सकता है, परन्तु यह भी सम्भव है कि मिटे हुए नामों में एक कृष्ण का रहा हो तथा हकुश्री और कुमार सातवाहन स्वयं प्रथम शातकर्णि के पुत्र रहे हों।

(११) **कुमार सातवाहन**—कटारे (जे० एन० एस० आई०, १३, पृ० ३५ अ०) ने 'सातवाहन' लेख वाले सिक्के इस कुमार सातवाहन के माने हैं।

अनुवाद

राजा सिमुक सातवाहन श्रीमान् । देवी नागन्निका और राजा श्री शातकर्णि की (दो मूर्तियां) । कुमार भाग....। महारथी त्राणकार्य । कुमार शक्ति श्री । कुमार सातवाहन ।

व्याख्या

(१) ये लेख नागन्निका और प्रथम शातकर्णि के शासनकाल में लिखवाए गए होंगे, इसीलिए मात्र उनके नाम ही षष्ठी विभक्ति में दिए गए हैं । शेष नामों में एक शातकर्णि का पिता है, एक नागन्निका का पिता है और बाकी पठ्य नाम मात्र कुमारों के हैं ।

(२) इस मूर्तिसमूह में कृष्ण, जो सिमुक का भाई था और जिसने सिमुक के बाद और शातकर्णि के पूर्व शासन किया, अनुपस्थित है ।

(३) इस लेख में सिमुक के नाम के साथ 'सातवाहन' शब्द का प्रयोग ध्यातव्य है । दे०, कृष्ण का नासिक–लेख, टि० ४ ।

(४) नायनिका के नाम का संस्कृत रूप होगा नागन्निका । उसका नाम 'नागा' रहा होगा । 'अनिका' (अण्णिका, अंणिका) दक्षिण भारतीय लेखों में स्त्रियों के नाम के साथ प्रायः जुड़ा मिलता है ।

(५) शातकर्णि नाम सातवाहनों में बहुत प्रचलित रहा था । वे इसका प्रयोग मातृ नाम के सहित (यथा, गौतमीपुत्र शातकर्णि) और उसके बिना भी करते थे । आजकल इसका 'शातकर्णि' रूप प्रचलित हो गया है परन्तु रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख, एक कन्हेरी-अभिलेख, व शान्तिवर्मा के तालगुण्ड-अभिलेख से स्पष्ट है कि इसका संस्कृत अनुवाद में भी उच्चारण 'सातकर्णि' था न कि शातकर्णि । इसका सही अर्थ अज्ञात है । प्रजाइलुस्की ने इसको मुण्डा शब्द माना है और इसका अर्थ 'अश्वपुत्र' (=अश्वमेधयाजी का पुत्र) किया है । 'शिलप्पादिकारम्' में इसका अर्थ 'सौकान वाला' बताया गया है । जोगलेकर ने इसको 'सात किरणें' अथवा 'सात बाण' अर्थ में लिया है । इन नाम का सम्बन्ध 'सातवाहन' शब्द से प्रतीत होता है ।

(६) ब्युलर ने 'भाय' का पूरा नाम 'भायल' माना था और उसे शातकर्णि का छोटा भाई बताया था ।

(७) मिराशी (जे० एन० एस० आई०, १६, पृ० ३२), गोपालाचारी (को० हि० इ०, पृ० ३०२ टि० १) व अन्य अनेक विद्वानों का विश्वास है कि तीसरे व छठे नामों के बीच में दो मूर्ति नाम और थे जो अब मिट गए हैं । सरकार ने इस मान्यता में एक स्थल पर शंका प्रकट की है (स० इ०, पृ० १९०, टि० ३) तथा अन्यत्र विश्वास प्रकट किया है (ए० इ० यू० पृ० १९८) ।

(८) **महारठि त्रनकयिरो**—नानाघाट-यज्ञ-अभिलेख में सम्भवतः नागन्निका

को 'बालाय महारठिनो' (महारथी की पुत्री) कहा गया है। इसलिए यह 'महारठि त्रनकयिरो' नागन्निका का पिता माना जाता है।

(९) **कुमरो हकुसिरि**—इसकी पहिचान सामान्यतः दीर्घतर नानाघाटलेख के कुमार शक्ति श्री से की जाती है। हकु=शक्ति जैसे उदाहरण कुछ सिक्कों पर 'हिरु यत्र हातकणि' =श्रीयज्ञ शातकर्णि (रेप्सन, केटेलॉग, पृ० ४५) तथा 'हघान' = संघानाम् (स० इ०, पृ० २३२) में देखने में आते हैं। परन्तु गोपालाचारी इस सुझाव को नहीं मानते। एक ही नाम के दो प्राकृत रूपों का प्रयोग होना सम्भव भी नहीं लगता।

(१०) मिराशी का अनुमान है कि ये मूर्तिनाम-लेख नागन्निका के पुत्र वेदश्री के शासनकाल में लिखवाए गए थे। उनके विचार से 'कुमार भाय'-नागन्निका का अकाल मृत्यु को प्राप्त पुत्र था और जो दो नाम मिट गए हैं वे क्रमशः वेदश्री व शक्तिश्री (नागन्निका के पुत्र) के थे। छठा नाम नागन्निका के पिता का था और सातवें और आठवें नाम वेदश्री के पुत्रों के थे। मिराशी का यह सुझाव सही हो सकता है, परन्तु यह भी सम्भव है कि मिटे हुए नामों में एक कृष्ण का रहा हो तथा हकुश्री और कुमार सातवाहन स्वयं प्रथम शातकर्णि के पुत्र रहे हों।

(११) **कुमार सातवाहन**—कटारे (जे० एन० एस० आई०, १३, पृ० ३५ अ०) ने 'सातवाहन' लेख वाले सिक्के इस कुमार सातवाहन के माने हैं।

नागन्निका और वेदश्री का नानाघाट गुहा-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख नानाघाट नामक उसी स्थल से मिला है जहां से पीछे वर्णित मूर्तिनाम-अभिलेख मिले हैं। यह एक बहुचर्चित लेख है। इसको सर्वप्रथम पढ़ा था इन्द्रजी ने और सम्पादित किया ब्युलर ने। लेकिन ब्युलर के पाठ को एच० कृष्ण शास्त्री व वी० वी० मिराशी आदि विद्वान् पर्याप्त शंकाग्रस्त मानते हैं। इस लेख की भाषा प्राकृत है और यह सम्पूर्णतः गद्य में लिखा गया था। इसमें 'व' 'प' 'द' तथा 'च' अक्षर काफी विकसित हैं, 'व' शेरिफविहीन होने के बावजूद त्रिकोणात्मक होता लगता है और 'प' का रूप कुषाण लिपि के 'प' के सदृश हो गया है।

उद्देश्य—इस लेख का उद्देश्य किसी रानी के द्वारा जो, वेदश्री और शक्तिश्री की माता थी, स्पष्टतः अपने पति के साथ किए गए यज्ञों का वर्णन करना है। अभाग्यवश इस रानी और उसके पति दोनों के नाम मिट गए हैं। लेकिन ब्युलर का अनुमान था कि यह रानी नागन्निका थी। उसके पति की पहिचान प्रथम शातकर्णि से की जाती है जिसका नाम नागन्निका के नाम के साथ नानाघाट-मूर्तिनाम-अभिलेखों में मिलता है। लेकिन कटारे को इस में शंका है।

प्रस्तुत लेख में २० सुदीर्घ पंक्तियां हैं। छठी पंक्ति में 'वनो' (=विवरण) शब्द से नागन्निका व उसके पति द्वारा किए गए वैदिक यज्ञों का विवरण प्रारंभ होता है। उस विवरण का यहां केवल सार दे दिया गया है।

संदर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ५, पृ० ६० आ०; लूडर्स, सूची, सं० ११११२; रेप्सन, केटेलॉग, भू०, पृ० ४५–४६; सरकार, आई० एच० क्यू०, ७, पृ० ४१२; स० इ०, पृ० १९२ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ४८ अ०; मिराशी, जे० एन० एस० आई०, १४, पृ० २६ अ०; कटारे, एस० एल०, वही, १६, पृ० ७६ अ०।

मूलपाठ

(बायीं दीवार पर)

१. [ओं नमो पजापति] नो धंमस नमो ईंदस नमो संकंसन-वासुदेवान चंद-सूरानं [महि] मा [व] तानं चतुंनं च लोकपालानं यम वरुन कुबेर वासवानं नमो कुमारवरस वेदिसिरिस र[ञो]

२. .... वीरस सूरस अप्रतिहतचकस दखि [न प] ठ [पतिनो]........ ....

३. मा ....वालाय महारठिनो अंगियकुल वधनस सगरगिरिवल [या] य पथविय पथम वीरस वस... ...य व अलह ...(?).......सलसु य महतो मह.... ...

४. ....सिरिस भारिया देवस पुत्रदस बरदस कामदस धनदस वेदिसिरिमातु सतिनो सिरिसतस च मातुय सीम.... ....प.मय....... .. ..

५. वरिय.....................अ [ना] अवरदयिनिय मासो पवासिनिय गहतापसाय चरित ब्रह्मचरियाय दिखव्रतयंज सुंडाय यजा हुता धूपन सुगंधा य निय.......

६. रायस...............[य] जेहि यिठं। यनो। अगाधेय यंजो द [खि] ना दिना गावो वारस १० (+*) २ असो च। (।*) अनारभनियो यंजो दखिना धेनु....................

७. ....दखिनायो दिना गावो १००० (+*) १०० हथी १०....... ....

८. ... . स ससतरय [व] ासलठि २०० (+*) ८० (+*) ९ कुंभियो रुपामयियो १० (+*) ७ भि..........

९. ....रिको यंजो दखिनायो दिना गावो १०००० (+*) १००० असा १००० पस पको *]................

१०. ....१० (+*) २ गमवरो १ दखिना काहापना २०००० (+*) ४००० (+*) ४०० पसपको काहापना ६०००। राज [सूयो यंजो *].......सकटं

(दाहिनी दीवार पर)

११. धंजगिरि-तंस पयुतं १ सपटो १ असो १ अस-रथो २ गावीनं १०० (।*) असमेधो यंजो बितियो [यि *] ठो दखिनायो [दि] ना असो रुपाल [का] रो १ सुवंन.... नि १० (+*) २ दखिना दिना काहापना १०००० (+*) ४००० गामो १ [हठि]....[दखि] ना दि [ना]

१२. गावो... सकटं धंजगिरि-तस-पयुतं १ (।*) *वायो यंजो...१० (+*) ७ [धेनु] ?७ ... *वाय... सतरस

पाठ-टिप्पणी—सरकार ने प्रथम पंक्ति के शुरू में केवल '(सिधं)........नो' अक्षर पढ़े हैं। मिराशी ने ऊपर प्रदत्त पाठ माना है। 'चंदसूरानं' की जगह ब्युलर व मिराशी 'चंद सूतानं' पढ़ते हैं। 'वेदिसिरि' को कृष्णशास्त्री 'खदसिरि' पढ़ते हैं लेकिन सरकार को 'वे' तथा 'दि' दोनों अक्षर स्पष्ट लगते हैं। कृष्णशास्त्री ने 'अंगियकुल' के स्थान पर 'अंभियकुल' पढ़ा है। कुछ लोग 'वालाय' के स्थान पर 'कललाय' पढ़ते हैं।

५४

नागन्निका और वेदश्री का नानाघाट गुहा-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख नानाघाट नामक उसी स्थल से मिला है जहां से पीछे वर्णित मूर्तिनाम-अभिलेख मिले हैं। यह एक बहुचर्चित लेख है। इसको सर्वप्रथम पढ़ा था इन्द्रजी ने और सम्पादित किया ब्युलर ने। लेकिन ब्युलर के पाठ को एच० कृष्ण शास्त्री व वी० वी० मिराशी आदि विद्वान् पर्याप्त शंकाग्रस्त मानते हैं। इस लेख की भाषा प्राकृत है और यह सम्पूर्णत: गद्य में लिखा गया था। इसमें 'व' 'प' 'द' तथा 'च' अक्षर काफी विकसित हैं, 'व' शेरिफविहीन होने के बावजूद त्रिकोणात्मक होता लगता है और 'प' का रूप कुषाण लिपि के 'प' के सदृश हो गया है।

उद्देश्य—इस लेख का उद्देश्य किसी रानी के द्वारा जो, वेदश्री और शक्तिश्री की माता थी, स्पष्टत: अपने पति के साथ किए गए यज्ञों का वर्णन करना है। अभाग्यवश इस रानी और उसके पति दोनों के नाम मिट गए हैं। लेकिन ब्युलर का अनुमान था कि यह रानी नागन्निका थी। उसके पति की पहिचान प्रथम शातकर्णि से की जाती है जिसका नाम नागन्निका के नाम के साथ नानाघाट-मूर्तिनाम-अभिलेखों में मिलता है। लेकिन कटारे को इस में शंका है।

प्रस्तुत लेख में २० सुदीर्घ पंक्तियां हैं। छठी पंक्ति में 'वनो' (=विवरण) शब्द से नागन्निका व उसके पति द्वारा किए गए वैदिक यज्ञों का विवरण प्रारंभ होता है। उस विवरण का यहां केवल सार दे दिया गया है।

संदर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ५, पृ० ६० आ०; लूडर्स, सूची, सं० १११२; रेप्सन, केटेलॉग, भू०, पृ० ४५–४६; सरकार, आई० एच० क्यू०, ७, पृ० ४१२; स० इ०, पृ० १९२ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ४८ अ०; मिराशी, जे० एन० एस० आई०, १४, पृ० २६ अ०; कटारे, एस० एल०, वही, १६, पृ० ७६ अ०।

मूलपाठ

(बायीं दीवार पर)

१. **[ओं नमो पजापति] नो धंमस नमो ईदस नमो संकंसन-वासुदेवान चंद-सूरानं [महि] मा [व] तानं चतु नं च लोकपालानं यम वरुन कुबेर वासवानं नमो कुमारवरस वेदिसिरिस र[ञो]**

२. .... **वीरस सूरस अप्रतिहतचकस दखि [न प] ठ [पतिनो]**........
....

३. मा ....बालाय महारठिनो अंगियकुल वधनस सगरगिरिवल [या] य पथविय पथम वीरस वस......य व अलह ...(?)......सलसु व महतो मह.... ...

४. ....सिरिस भारिया देवस पुत्रदस वरदस कामदस धनदस वेदिसिरिमातु सतिनो सिरिमतस च मातुय सीम.... ....प.मय........ .. ..

५. वरिय.......... ....अ [ना] अवरदयिनिय मासो पवासिनिय गहतापसाय चरित ब्रह्मचरियाय दिखब्रतयंज सुंडाय यजा हुता धूपन सुगंधा य नियं........

६. रायस..............[य] जेहि यिठं। वनो।
अगाधेय यंजो द [खि] ना दिना गावो वारस १० (+*) २ असो च। (।*)
अनारभनियो यंजो दखिना धेनु.....................

७. ....दखिनायो दिना गावो १००० (+*) १०० हथी १०....... ....

८. ... . स ससतरय [व] ासलठि २०० (+*) ८० (+*) ९ कुभियो रुपामयियो १० (+*) ७ भि..........

९. ....रिको यंजो दखिनायो दिना गावो १०००० (+*) १००० असा १००० पस .पको *]................

१०. ....१० (+*) २ गसवरो १ दखिना काहापना २०००० (+*) ४००० (+*) ४०० पसपको काहापना ६०००। राज [सुयो यंजो *].......सकटं

(दाहिनी दीवार पर)

११. धंजगिरि-तंस पयुतं १ सवटो १ असो १ अस-रथो २ गावीनं १०० (।*) असमेधो यंजो बितियो [यि *] ठो दखिनायो [दि] ना असो रुपाल [का] रो १ सुवंन.... नि १० (+*) २ दखिना दिना काहापना १०००० (+*) ४००० गामो १ [हठि]....[दखि] ना दि [ना]

१२. गावो ...सकटं धंजगिरि-तस-पयुतं १ (।*) *वायो यंजो ...१० (+*) ७ [धेनु] ?७.... *वाय ....सतरस

पाठ-टिप्पणी—सरकार ने प्रथम पंक्ति के शुरू में केवल '(सिधं)........नो' अक्षर पढ़े हैं। मिराशी ने ऊपर प्रदत्त पाठ माना है। 'चंदसूरानं' की जगह ब्युलर व मिराशी 'चंद सूतानं' पढ़ते हैं। 'वेदिसिरि' को कृष्णशास्त्री 'खदसिरि' पढ़ते हैं लेकिन सरकार को 'वे' तथा 'दि' दोनों अक्षर स्पष्ट लगते हैं। कृष्णशास्त्री ने 'अंगियकुल' के स्थान पर 'अंभियकुल' पढ़ा है। कुछ लोग 'बालाय' के स्थान पर 'कललाय' पढ़ते हैं।

१३. ····१० (+*) ७ अच····न····लय····पसपको दि [नो]····[दखि] ना दिना सु···· पीनि १० (।*) ३ अ (?) सो रुप [लं] कारो १ दखिना काहाप [ना] १००००····२

१४. ····गावो २००० [।*] [भगल]—दसरतो यंञो यि [ठो] [दखिना] [दि] ना [गावो] १०००० । गर्गतिरतो यञो यिठो [दखिना]······पसपको पटा ३०० । गवामयनं यंञो यिठो [दखिना दिना] गावो १००० (+*) १०० ।···गावो १०० (+*) १०० (?) पसपको काहापना····पटा १०० (।*) अतुयामो यंञो····

१५.····[ग] वामयनं य [ञो] दखिना दिन गावो १००० (+*) १०० । अंगिरस [I]— मयनं यंञो यिठो [द] खिना गावो १००० (+*) १०० । त····[दखिना दि] ना गावो १००० (+*) १०० । सतातिरतं यंञो····१००० (।*) [यं] ञो दखिना ग [I] [वो] १००० (+*) १०० (।*) अंगिरस [ति] रतो यंञो यिठो [दखि] ना गा [वो]····(।*)····

१६. ····[गा] वो १०० (+*) २ (।*) छन्दोमप [व] मा [नतिरत] दखिना गावो १००० । अं [गि र [सतिर] तो यं [ञो] [यि] ठो द [खिना]····(।*) रतो यिठो यञो दखिना दिना (।*) यंञो यिठो दखिना (।*)····यञो यिठो दखिना दिना गाओ १००० ।

१७. ····न स सयं····दखिना दिना गावो त····[।*] अं] गि [रसा] मयनं छवस····[दखि] ना दिना गाव १०००····(।*)····[दखिना] दिना गावो १००० । तेरस····अ ····(।*)

१८. ···(।*) तेरसरतो स···छ····[अ] ग-दखिना दिना गावो···(।*)····दसरतो म····[दि] ना गावो १०००० । उ·· १०००० । द····

१९. ··· [यं] ञो दखिना दि [ना]···

२०. ····[द] खिना दिना····

पाठ-टिप्पणी—लेख के इस अंश में सम्पादित यज्ञों का वर्णन है जिनमें दो अश्वमेघ, एक राजसूय, तथा अन्य अनेक यज्ञ यथा अग्न्याधेय, अनलम्भणीय, गवामयन, आंगिरसातिरात्र, अप्तोर्याम, अंगिरसामयन, गर्गातिरात्र, छन्दोगपवमानातिरात्र, त्रयोदशरात्र, दशरात्र, शतातिरात्र आदि शामिल हैं। इनमें कुल मिलाकर ४२ हजार ७०० गाएं, १० हाथी १००० घोड़े, १७ रजतपात्र, एक अश्वचालित रथ तथा ६८ हजार कार्षापण द ए गए।

शब्दार्थ

धमंस = धर्माय, धर्म को (के लिए); **ईदस** = इन्द्र को ; **सूर** = सूर्य; **महिमा-वतानं** = महिमवद्भ्यां, महिमामयों को ; **चतुंनं** = चतुर्भ्यः, चारों को ; **वासव** = एक लोकपाल का नाम, इन्द्र ; **कुमारवरस** = कार्त्तिकेय; **बाला** = कन्या; **देवस** = देवस्य, राजा का; **पुत्रद** = पुत्र देने वाला; **सतिनो सिरिमतस** = शक्तिश्री की; **नाग** = हाथी; **मासोपवासिनिय** = पूरे माह उपवास करने वाली; **गहतापसाय** = गृहतापस्या, घर में तपस्वी की तरह रहने वाली ; **सुंड** = शौण्ड, निष्णात ; **यञ** = यज्ञ; **वनो** = वर्णः, वर्णन, विवरण ।

अनुवाद

ओं ! प्रजापति (और) धर्म को नमस्कार । इन्द्र को नमस्कार । संकर्षण, वासुदेव, महिमामय चन्द्र और सूर्य, तथा यम वरुण कुबेर (तथा) इन्द्र चारों लोकपालों को नमस्कार । कार्त्तिकेय को नमस्कार । वीर, शूर, अप्रतिहतचक्र, दक्षिणापथपति····राजा वेदश्री के····अंगिक कुलवर्धन महारथी की पुत्री····सागर (और) पर्वतों द्वारा घिरी पृथिवी के एक मात्र वीर (शातकर्णि) श्री की भार्या, पुत्र और वरदान प्रदान करने वाले, काम को देने वाले (अर्थात् इच्छाओं की पूर्ति करने वाले देव (अर्थात् राजा) वेदश्री की माता और शक्तिश्रीमत् की भी माता···· श्रेष्ठ हाथियों को देनेवाली, (पूरे) माह उपवास करने वाली, घर में तपस्विनी की तरह रहने वाली, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली, दीर्घव्रत और यज्ञों में निष्णात (उस राज माता) सुगन्धित द्रव्यों की आहुतियों से सुगन्धीकृत यज्ञों को····राजा (शातकर्णि के साथ)····किया । (उनका) वर्णन—

व्याख्या

(१) प्रस्तुत लेख का ऊपर प्रदत्त अनुवाद ब्युलर के अनुवाद से कई स्थान पर भिन्न है । एक, ब्युलर ने इसका अनुवाद करते समय प्रथम पंक्ति में अन्तिम 'नमो' को 'कुमारवरस वेदिसिरिसरञो' के साथ जोड़ा है और इसका अर्थ 'श्रेष्ठतम कुमार वेदश्री को नमस्कार' किया है । उनका निष्कर्ष था कि जिस समय यह लेख लिखा गया अल्पवयस्क कुमार वेदश्री का शासनकाल चल रहा होगा और उसकी माता नागन्निका उसकी संरक्षिका होगी । लेकिन मिराशी ने यह सही ही ध्यान दिलाया है कि 'नमो' शब्द का प्रयोग अभिलेखों में देवताओं अथवा सिद्धों के लिए होता था और वह भी उनके नाम के उल्लेख के पूर्व । इसलिए मिराशी ने यहां अन्तिम 'नमो' को 'कुमारवरस (=कार्त्तिकेय) के लिए नमस्कार के अर्थ में लिया है । इसके उपरान्त उन्होंने 'रञो' से वेदश्री का राजा के रूप में उल्लेख माना है और अनुमान किया है कि पतिनो' के बाद वाले गलित अंश में इस लेख की तिथि वेद-श्री के शासन काल के वर्ष में दी गई होगी, जैसा कि पुलुमावि के अभिलेखों में मिलती

है। इसलिए यह लेख वेदश्री के राजत्वकाल का है। इसके लिखे जाने के समय न वह कुमार था और न उसकी माता उसकी संरक्षिका। दूसरे, ब्युलर ने इस लेख की चौथी पंक्ति के 'देवस पुत्रदस वरदस कामदस धनदस' शब्दों को श्री शातकर्णि का विशेषण माना था जबकि ऊपर प्रदत्त अनुवाद में ये वेदश्री के विशेषण माने गए हैं।

(२) प्रस्तुत लेख में न तो नागन्निका का नाम पढ़ा जा सकता है और न उसके पति का। परन्तु इतना निश्चित है कि इसमें वर्णन हुआ है एक राजमाता का। चूंकि वह राजमाता 'महारथी' की पुत्री थी और 'महारथी त्रनकयिरो' का नाम नानाघाट-मूर्तिनाम-लेखों में मिलता है, इसलिए इस राजमाता की पहिचान मूर्तिनाम-लेखों में उल्लिखित नागन्निका के साथ लगभग निश्चित मानी जा सकती है। उस अवस्था में मूर्तिनाम-अभिलेखों में उसके साथ उल्लिखित शातकर्णि को उसका पति मानना होगा। इन्द्रजी ने उसके पति की पहिचान सिमुक से की थी और कटारे ने उनका समर्थन किया है (जे० एन० एस० आई०, १३, पृ० ३५ अ०)। परन्तु मिराशी (वही, १४, पृ० २६ अ०) ने इस का सप्रमाण खण्डन किया है। नागन्निका के जिन दो पुत्रों के नाम प्रस्तुत अभिलेख में मिलते हैं वे नानाघाट मूर्तिनाम-अभिलेखों में नहीं मिलते। परन्तु हो सकता है वे उन स्थानों पर लिखे रहे हों जहां दो मूर्तिनाम-लेख मिट गए हैं।

(३) इस अभिलेख की प्रथम पंक्ति में धर्म और इन्द्र को अलग गिनाया गया है और यम तथा वासव को चार लोकपालों के साथ। बाद में हिन्दू धर्म में धर्म की पहिचान यम से की गई और इन्द्र की वासव से। लगता है इस लेख के लिखे जाने तक महाराष्ट्र प्रदेश में ये पहिचानें नहीं मानी जाती थीं।

(४) संकर्षण और वासुदेव के साथ प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का अनुल्लेख यह संकेत देता है कि इस लेख के लिखे जाने तक इस प्रदेश में चतुर्व्यूह सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ था।

(५) सूर्य के लिए प्राकृत में 'सूर' शब्द का प्रयोग भी होता था। दे० अत्था-हिलासी भअवं सूरो (मुद्राराक्षस, अंक ४)।

(६) **सगरगिरिवरवलयाय** = 'सागर और पर्वतों से घिरी हुई'। बौद्ध धर्म में पृथिवी को सागर और चक्रवाल पर्वतों से घिरी हुई माना गया है।

(७) ब्युलर का मत था कि इस लेख में वर्णित यज्ञ नागन्निका ने अपने पति की मृत्यूपरान्त स्वयं किए थे। लेकिन शास्त्रीय विधानानुसार स्त्रियों के लिए अकेले यज्ञ करना वर्जित है। इसलिए ये यज्ञ नागन्निका के पति के जीवन काल में ही किए गए होंगे। छठी पंक्ति में 'रायस ··यञहि यिठं' शब्दों से इसका समर्थन होता है। लेकिन यह भी सम्भव है कि इनमें कुछ यज्ञ नागन्निका ने अपने पति की मृत्यू-परान्त ब्राह्मणों के हाथों से कराए हों।

(८) सतिसिरि—यह सम्भवतः जैन साहित्य के शक्तिकुमार से, जिसे सालिवाहन का पुत्र बताया गया है, अभिन्न है। वेदश्री के नाम को कुछ विद्वान् खदसिरि = स्कन्दश्री पढ़ते हैं।

(९) शातकर्णि नामक एक राजा का उल्लेख एक साञ्ची-लेख में भी हुआ है जो साञ्ची स्तूप के दक्षिणी तोरण पर खुदा हुआ है। इस लेख में वासिष्ठीपुत्र आनन्द के, जिसे श्री शातकर्णि का प्रधान कारीगर बताया गया है, किसी दान का उल्लेख है। यह राजा प्रथम शातकर्णि है अथवा इस नाम का दूसरा राजा, कहना कठिन है। इस लेख से यह प्रश्नातीत रूप से प्रमाणित नहीं होता कि इस शातकर्णि का पूर्वी मालवा पर अधिकार था ही, क्योंकि हो सकता है उसका कारीगर आनन्द वहां तीर्थ यात्री के रूप में गया हो।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख प्रारंभिक सातवाहन इतिहास पर अत्यन्त रोचक प्रकाश देता है। इससे (१) सातवाहन इतिहास में नागन्निका की महत्त्वपूर्ण भूमिका का पता चलता है। (२) इससे ज्ञात होता है कि प्रथम शातकर्णि के काल में सातवाहन साम्राज्य में यज्ञ धर्म का पुनरुद्धार हुआ (३) यह अभिलेख सातवाहन साम्राज्य के विकास और प्रसार की प्रथम अवस्था को सूचित करता है। यह प्रथम लेख है जिसमें किसी सातवाहन नरेश को 'दक्षिणापथपति' कहा गया है और उनके चक्र को अप्रतिहत बताया गया है (४) नानाघाट मूर्तिनाम-अभिलेखों और प्रस्तुत लेख से प्रारंम्भिक सातवाहन परिवार के सदस्यों की जानकारी मिलती है। इतनी जानकारी अन्य समकालीन लेखों से नहीं मिलती। (५) इस लेख से पौराणिक हिन्दू धर्म में चतुर्व्यूह सिद्धान्त व लोकपाल अवधारणा के विकास पर प्रकाश मिलता है। (६) यह लेख नागन्निका के व्यक्तित्व को भी काफी प्रकाशित करता है। इससे मालूम होता है कि उस युग में एक आदर्श विधवा रानी को किस रूप में देखा जाता था।

गौतमीपुत्र शातकर्णि का नासिक गुहा-लेख

वर्ष १८

लेखक-परिचय—प्रस्तुत लेख सुप्रतिथ सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि (लगभग १०६-३० ई०) का है। यह नासिक की गुहा संख्या ३ में बरामदे की पूर्वी दीवाल पर छत के नीचे छः पंक्तियों में लिखा मिला है। इसकी भाषा प्राकृत है, लिपि द्वितीय शती ई० के पूर्वार्द्ध की ब्राह्मी है और यह सम्पूर्णतः गद्य में है। यह गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन के १८ वें वर्ष में लिखवाया गया था। मूलतः यह किसी ताम्रपत्र या कपड़े पर लिखवाया गया होगा, उससे उसकी नकल गुफा की दीवारपर की गई होगी।

अध्ययन-इतिहास—इस लेख को सर्वप्रथम इन्द्रजी द्वारा प्रकाशित छाप की सहायता से ब्युलर ने अनूदित किया। तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रजी ने इस पर 'बाम्बे गजेटियर' में टिप्पणियां प्रकाशित कीं। अन्त में सेना ने इसे 'एपि० इण्डिका' में सम्पादित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ४, पृ० १०४ अ०; इन्द्रजी बाम्बे गजेटियर, १६, पृ० ५५८ आ०; सेना, ई० आई०, ८, पृ० ७१ अ०; लूडर्स, सूची, सं० ११२५; सरकार, स० इ०, पृ० १९७ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५०–१; दे०, ए० इ० यू० तथा कॉ० हि० इ०, २, के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. **सि [धं] [॥] सेनाये [वे] जयं [ति] ये विजय-खधावारा [गो] वधनस बेनाकटक-स्वामि गोतमिपुतो सिरि सदकणि**

२. **आनपयति गोवधने अमच वि [ण्हु] पालितं [।] गामे अपर कखडि [ये] [य] खेतं अजकालकियं उसभदातेन भूतं निवतन**

३. **सतानि वे २०० एत अम्हखेत निवतण सतानि बे २०० इमेस पवजितान तेकिर-सिण वितराम [।] एतस चस खेतस परिहार**

४. **वितराम अपावेसं अनोमस अलोण खा [दकं] अरठसविनयिकं सवजातपारिहारिक च [।] ए [ते] हि नं परिहारेहि परिह [र] हि [।]**

५. **एते चस खेत परिहा [रे] च एथ निबधापेहि [।] अवियेन आणतं [।] अमचेन सिवगुतेन छतो [।] महासामियेहि उपरखितो [।]**

६. **दता पटिका सवछरे १० (+) ८ वास पखे २ दिवसे १ [।] तापसेन कटा [॥]**

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर व इन्द्रजी ने 'बेनाकटक' के स्थान पर 'बेनाकटका' पढ़ा है। तीसरी पंक्ति में 'तेकिरसिण' को गलती से 'तेरसिकानं' के स्थान पर उत्कीर्ण माना जाता है। इसी पंक्ति में 'एतस चस खेतस' को 'एतस च खेतस' पढ़ें।

शब्दार्थ

आनपयति = आज्ञपयत्ति, आज्ञा देता है; **अमच** = अमात्य ; **अपर** = पश्चिमी; **अजकालकियं** = अजकालकीय नाम का, अथवा अद्यकालकीयम् अर्थात् आज तक; **भूतं** = भुक्तं, भोगा गया; **बे** = द्वे, दो; **अम्ह** = हमारे; **इमेस** = एभ्य:; **तेकिरसिण** = तेरसिकानं, त्रिरश्मि पर्वत पर निवास करने वालों के लिए ; **वितराम** = प्रदान किया जाता है; **परिहार** = राजकीय विशेषाधिकारों से विमुक्ति; **अपावेसं** = अप्रावेश्यं, जिसमें सैनिक के लिए प्रवेश वर्जित है; **अनोमस** = अनावमर्श्यं; राजपुरुषों द्वारा अस्पर्श्य (अवमर्श = स्पर्श) अर्थात् उनके द्वारा दी जा सकने वाली बाधाओं से विमुक्त; **अलोणखादकं** = जिसमें नमक के लिए खाने न खोदी जाएं; **अरठ सविनयिकं** = अराष्ट्र सांविनयिकं, राष्ट्र के सामान्य दण्ड विधान से पृथक्; **सवजात पारिहारिक च** = सर्वजाति पारिहारिकं च, और सब प्रकार की विमुक्तियां; **एतेहि** = एतैः; **नं** = एनत् ; **परिहरहि** = लागू करें; **एथ** = अत्र, यहां; **निवधापेहि** = रजिस्टर्ड करें; **अवियेन** = भाणितेन, उक्तेन, कहकर ; **आणतं** = आज्ञप्तम्; **छतो** = लिखत:; **महासमियेहि** = महास्वामिकैः, महास्वामी नामक पदाधिकारी द्वारा अथवा राजा द्वारा; **उपरखितो** = उपलक्षितं, परीक्षित; **दता** = दत्ता; **पटिका** = पट्टिका, ताम्रपत्र; **कटा** = कृता, कार्यान्वित ।

अनुवाद

सिद्धं ।। विजयिनी सेना के विजय स्कन्धावार से गोवर्धन के (अर्थात् गोवर्धन जिले के अन्तर्गत स्थित) बेनाकटक (नामक स्थान) के स्वामी गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि गोवर्धन में नियुक्त अमात्य विण्हुपालित (विष्णुपालित) को आज्ञा देते हैं :—पश्चिमी कखडी ग्राम में जो खेत आज तक (अथवा आजकालकिय नाम का जो खेत) उसभदात (= ऋषभदत्त) = उषवदात द्वारा भोगा गया दो सौ २०० निवर्त्तन—अपने उस खेत (के)—दो सौ २०० निवर्त्तन हम त्रिरश्मि के (अर्थात् त्रिरश्मि पर्वत पर स्थित गुफाओं में रहने वाले) इन प्रव्रजितों के लिए प्रदान करते हैं। और उस खेत को हम (क्षेत्र सम्बन्धी इन राजकीय विशेषाधिकारों से) विमुक्ति प्रदान करते हैं—(वह) राजकीय (सैनिकों और भटों से) अप्रावेश्य (राजपुरुषों जनित बाधाओं से) अस्पर्श्य, नमक के लिए (सरकार द्वारा) न खोदा जाने वाला, राष्ट्र के शासन (अर्थात् सामान्य दण्ड विधान) से पृथक् तथा (अन्य) सब प्रकार की विमुक्तियां इस खेत में लागू करें। और इन (विमुक्तियों) को तथा खेत के दान को निबद्ध करें (अर्थात् उनको रजिस्टर में दर्ज कराएं) । मौखिक रूप से (यह) आज्ञा दी गई । अमात्य शिवगुप्त द्वारा शासन (आज्ञापत्र) लिखा गया। महास्वामी द्वारा परीक्षित हुआ (अर्थात् आज्ञापत्र की जांच की गई) । पट्टिका (दानपत्र) संवत्सर १८ अट्ठारह में वर्षा के २ दूसरे पक्ष (= पखवाड़े) में पहिले दिन दी गई। तापस ने (आदेश को) कार्यान्वित किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि का नासिक गुहा-लेख

वर्ष १८

लेखक-परिचय—प्रस्तुत लेख सुप्रतिथ सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि (लगभग १०६-३० ई०) का है। यह नासिक की गुहा संख्या ३ में बरामदे की पूर्वी दीवाल पर छत के नीचे छः पंक्तियों में लिखा मिला है। इसकी भाषा प्राकृत है, लिपि द्वितीय शती ई० के पूर्वार्द्ध की ब्राह्मी है और यह सम्पूर्णतः गद्य में है। यह गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन के १८ वें वर्ष में लिखवाया गया था। मूलतः यह किसी ताम्रपत्र या कपड़े पर लिखवाया गया होगा, उससे उसकी नकल गुफा की दीवारपर की गई होगी।

अध्ययन-इतिहास—इस लेख को सर्वप्रथम इन्द्रजी द्वारा प्रकाशित छाप की सहायता से ब्युलर ने अनूदित किया। तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रजी ने इस पर 'बाम्बे गजेटियर' में टिप्पणियां प्रकाशित कीं। अन्त में सेना ने इसे 'एपि० इण्डिका' में सम्पादित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ४, पृ० १०४ अ०; इन्द्रजी बाम्बे गजेटियर, १६, पृ० ५५८ आ०; सेना, ई० आई०, ८, पृ० ७१ अ०; लूडर्स, सूची, सं० ११२५; सरकार, स० इ०, पृ० १९७ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५०–१; दे०, ए० इ० यू० तथा कॉ० हि० इ०, २, के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. **सि [धं] [॥] सेनाये [वे] जयं [ति] ये विजय-खधावारा [गो] वधनस बेनाकटक-स्वामि गोतमिपुतो सिरि सदकणि**
२. **आनपयति गोवधने अमच वि [ण्हु] पालितं [।] गामे अपर कखडि [ये] [य] खेतं अजकालकियं उसभदातेन भूतं निवतन**
३. **सतानि वे २०० एत अम्हखेत निवतण सतानि बे २०० इमेस पवजितान तेकिर-सिण वितराम [।] एतस चस खेतस परिहार**
४. **वितराम अपावेसं अनोमस अलोण खा [दकं] अरठंसविनयिकं सवजातपारिहारिक च [।] ए [ते] हि नं परिहारेहि परिह [र] हि [।]**
५. **एते चस खेत परिहा [रे] च एथ निबधापेहि [।] अवियेन आणतं [।] अमचेन सिवगुतेन छतो [।] महासामियेहि उपरखितो [।]**
६. **दता पटिका सवछरे १० (+) ८ वास पखे २ दिवसे १ [।] तापसेन कटा [॥]**

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर व इन्द्रजी ने 'वेनाकटक' के स्थान पर 'बेनाकटका' पढ़ा है। तीसरी पंक्ति में 'तेकिरसिण' को गलती से 'तेरसिकानं' के स्थान पर उत्कीर्ण माना जाता है। इसी पंक्ति में 'एतस चस खेतस' को 'एतस च खेतस' पढ़ें।

शब्दार्थ

आनपयति = आज्ञपयति, आज्ञा देता है ; **अमच** = अमात्य ; **अपर** = पश्चिमी; **अजकालकियं** = अजकालकीय नाम का, अथवा अद्यकालकीयम् अर्थात् आज तक; **भूतं** = भुक्तं, भोगा गया; **वे** = द्वे, दो; **अम्ह** = हमारे; **इमेस** = एभ्यः; **तेकिरसिण** = तेरसिकानं, त्रिरश्मि पर्वत पर निवास करने वालों के लिए ; **वितराम** = प्रदान किया जाता है ; **परिहार** = राजकीय विशेषाधिकारों से विमुक्ति; **अपावेसं** = अप्रावेश्यं, जिसमें सैनिक के लिए प्रवेश वर्जित है ; **अनोमस** = अनावमर्श्यं ; राजपुरुषों द्वारा अस्पर्श्य (अवमर्श = स्पर्श) अर्थात् उनके द्वारा दी जा सकने वाली बाधाओं से विमुक्त; **अलोणखादकं** = जिसमें नमक के लिए खाने न खोदी जाएं; **अरठ सविनयिकं** = अराष्ट्र सांविनयिकं, राष्ट्र के सामान्य दण्ड विधान से पृथक्; **सवजात पारिहारिक च** = सर्वजाति पारिहारिकं च, और सब प्रकार की विमुक्तियां; **एतेहि** = एतैः; **नं** = एनत् ; **परिहरहि** = लागू करें; **एथ** = अत्र, यहां; **निवधापेहि** = रजिस्टर्ड करें; **अवियेन** = भाणितेन, उक्तेन, कहकर ; **आणतं** = आज्ञप्तम्; **छतो** = लिखतः; **महासमियेहि** = महास्वामिकैः, महास्वामी नामक पदाधिकारी द्वारा अथवा राजा द्वारा; **उपरखितो** = उपलक्षितं, परीक्षित; **दता** = दत्ता; **पटिका** = पट्टिका, ताम्रपत्र; **कटा** = कृता, कार्यान्वित ।

अनुवाद

सिद्धं ।। विजयिनी सेना के विजय स्कन्धावार से गोवर्धन के (अर्थात् गोवर्धन जिले के अन्तर्गत स्थित) बेनाकटक (नामक स्थान) के स्वामी गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि गोवर्धन में नियुक्त अमात्य विण्हुपालित (विष्णुपालित) को आज्ञा देते हैं :—पश्चिमी कखडी ग्राम में जो खेत आज तक (अथवा आजकालकिय नाम का जो खेत) उसभदात (= ऋषभदत्त) = उषवदात द्वारा भोगा गया दो सौ २०० निवर्त्तन—अपने उस खेत (के)—दो सौ २०० निवर्त्तन हम त्रिरश्मि के (अर्थात् त्रिरश्मि पर्वत पर स्थित गुफाओं में रहने वाले) इन प्रव्रजितों के लिए प्रदान करते हैं। और उस खेत को हम (क्षेत्र सम्बन्धी इन राजकीय विशेषाधिकारों से) विमुक्ति प्रदान करते हैं—(वह) राजकीय (सैनिकों और भटों से) अप्रावेश्य (राजपुरुषों जनित बाधाओं से) अस्पर्श्य, नमक के लिए (सरकार द्वारा) न खोदा जाने वाला, राष्ट्र के शासन (अर्थात् सामान्य दण्ड विधान) से पृथक् तथा (अन्य) सब प्रकार की विमुक्तियां इस खेत में लागू करें। और इन (विमुक्तियों) को तथा खेत के दान को निबद्ध करें (अर्थात् उनको रजिस्टर में दर्ज कराएं)। मौखिक रूप से (यह) आज्ञा दी गई। अमात्य शिवगुप्त द्वारा शासन (आज्ञापत्र) लिखा गया। महास्वामी द्वारा परीक्षित हुआ (अर्थात् आज्ञापत्र की जांच की गई)। पट्टिका (दानपत्र) संवत्सर १८ अट्ठारह में वर्षा के २ दूसरे पक्ष (= पखवाड़े) में पहिले दिन दी गई। तापस ने (आदेश को) कार्यान्वित किया।

व्याख्या

(१) **सेनाये वेजयंतिये**—सेना नामक विद्वान् ने वैजयन्ति को नगर का नाम माना है और उसकी पहिचान उत्तर कन्नड़ प्रदेश के वनवासी स्थल से की है। लेकिन अन्य अधिकांश विद्वान् यहां इस शब्द को सेना अर्थात् फौज का विशेषण मानते हैं। सम्भवतः गौतमीपुत्र की सेना उस समय ऋषभदत्त के ऊपर विजय प्राप्त कर रही थी।

(२) **बेनाकटक स्वामि गोतमिपुतो सिरिसदकणि**—इन्द्रजी व ब्युलर ने यहां 'बेनाकटका (त्)' पढ़ा है और निष्कर्ष निकाला है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने यह आदेश बेनाकटक नामक स्थान से जारी किया था। उन्होंने 'स्वामि' को 'गौतमिपुत' के साथ जोड़ कर इसे अकेले गौतमीपुत्र की उपाधि माना है। परन्तु यहां लेख का पाठ 'बेनाकटक' है न कि 'बेनाकटका' दूसरे 'स्वामि' शब्द अगर अकेले ही उपाधि रूप में प्रयुक्त होता तो 'गोतमीपुत्र' के बाद 'स्वामि सिरि सदकणि लिखा जाता। अन्य कई अभिलेखों में 'सामि' का प्रयोग मातृनाम के उपरान्त ही मिलता है यथा 'गोतमिपुतस सामि सिरि यञ सातकणिस' (स०इ०, पृ० २११)। अतः यहां 'बेनाकटक स्वामि' का अर्थ बेनाकटक के स्वामी' मानना चाहिए। तु० 'नरवर स्वामी वासिठीपुतो सिरि पुलुमावि' (स० इ०, पृ० २०७)। बेनाकटक स्थान और बेना नामक नदी नासिक प्रदेश में स्थित रहे होंगे। इस बेना की पहिचान वेनगंगा और पेनगंगा से नहीं की जा सकती।

(३) **निवतन**—निवर्त्तन भूमि के माप की एक इकाई थी। इसका माप विभिन्न युगों में बदलता रहा, कभी ४¾, एकड़ और कभी ३, २¼ या २ एकड़।

(४) **अमच** = अमात्य। 'अमात्य' का अर्थ मन्त्री भी होता था। परन्तु बहुधा यह उच्च पदाधिकारियों के लिए प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य शब्द था। रामवर्मा की 'रामायण' १.७.४ पर टीकानुसारः' अमात्या देशादिकार्यनिर्वाहकाः, मन्त्रिणो व्यवहार द्रष्टार इति भेदः'। (दे०, स० इ०, पृ० १९९ टि० १)।

(५) **अजकालकियं**—एक भरहुत-लेख में अजकालक नामक यक्ष का उल्लेख है। हो सकता है उसी के नाम पर यह खेत विख्यात रहा हो। लेकिन सम्भवः यहां इसका अर्थ 'अद्यकालकीयम् = अद्यतनसमयं यावत्' = अब तक' है।

(६) **अलोण खादकं**—प्राचीन भारत में सभी प्रकार के खानों से उत्पन्न चीजों पर सामान्यतः सरकार का अधिकार माना जाता था। नमक पर भी सरकार का अधिकार होता था, परन्तु दान में दी गई भूमि पर कभी-कभी सरकार अपना अधिकार छोड़ देती थी।

(७) **अरठसविनयिकं**—सेना ने इसका अर्थ किया है 'वह जिसमें जिले के पदाधिकारियों को हस्तक्षेप करने का अधिकार न हो'। परन्तु 'विनी' अथवा

'संविनी' का अर्थ है 'शासन करना, नियन्त्रण रखना'। इसलिए 'संविनय' का अर्थ होगा 'सरकारी नियन्त्रण'। अतः इस पद का तात्पर्य है कि दान में दी गई भूमि सरकारी नियन्त्रण से मुक्त कर दी गई थी। तु०, परवर्ती युग में दान में दी गई भूमि की 'सदण्डदशापराध' से मुक्ति।

(८) **महासामि** = महास्वामी। इसका तात्पर्य 'राजा' से भी हो सकता है और राजपुरुषों के एक विशेष प्रकार से भी।

(९) **उसभदात** = ऋषभदत्त = उषवदात। वह नहपान का दामाद और नासिक-प्रदेश का शक गवर्नर था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि का नासिक-गुहालेख

वर्ष २४

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख भी सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि का है। यह नासिक की गुहा संख्या ३ में १८ वें वर्ष के लेख के ठीक बाद में लिखा है और उससे मात्र एक स्वस्तिक चिह्न द्वारा पृथक् किया गया है। यह भी सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि दूसरी शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी। इसमें कुल सात पंक्तियाँ हैं। इसका शुरू का भाग सावधानी से परन्तु अन्तिम भाग कुछ लापरवाही से उकेरा गया लगता है। यह मूलतः किसी ताम्रपत्र अथवा कपड़े पर लिखा गया होगा, उसकी नकल गुहा दीवार पर कर दी गई है।

अध्ययन-इतिहास—इस लेख को सर्वप्रथम इन्द्रजी द्वारा प्रकाशित छाप की सहायता से ब्युलर ने अनूदित किया। तत्पश्चात् इन्द्रजी ने 'बाम्बे गजेटियर' में इस पर टिप्पणियाँ प्रकाशित कीं। अन्त में सेना ने इसे 'एपि० इण्डिका' में सम्पादित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, पृ० १०५ अ०; इन्द्रजी, बाम्बे गजेटियर, १६, पृ० ५६० अ०; सेना, इ० आई०, ८, पृ० ७३; लूडर्स, सूची, स० ११२६; पाण्डेय हि० लि० इ०, पृ० ५१–२; सरकार, स० इ०, पृ० २००–१; दे०, कॉ० हि० इ०, भाग २, तथा ए० इ० यू० के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. **सिद्धं [॥] गोवधने अम [च]स सामकस [दे] यो [रा] जा णितो [।]**
२. **रञो गोतमिपुतस सातकणि [स] म [हा] देवीय च जीवसुताय राज-मातुय वचनेन गोवधने [अम] चो सामको अरोग वतव [।] ततो एव च**
३. **वतवो [।] एथ अम्हेहि पवते तिरण्हुम्हि अम्ह धमदाने लेणे पतिवसतानं पवजितान भिखून गा [मे] कखडीसु पुव खेतं दत [।] त च खेत**
४. **[न] कसते [।] सो च गामो न वसति [।] एवं सति य दानि एथ नगर-सीमे**

पाठ-टिप्पणी—इन्द्रजी व ब्युलर ने 'सामकस' को 'समकस' पढ़ा है। इन्द्रजी ने 'राजाणितो' को 'राजनितो' पढ़ा है और 'सातकणिस' को 'सतकणिस'। 'अमचो' पाठ भी इन्द्रजी ने सुझाया है। 'ततो एव' के वाद 'च' सर्वप्रथम सेना ने पढ़ा था। ब्युलर ने 'एथ' को 'एठ' पढ़ा है तथा चौथी पंक्ति के प्रथम को 'व'। सेना को यहाँ न 'न' पढ़ने में आया है और न 'व'।

राजकं खेतं अम्ह-सतकं ततो एतेस पवजितान भिखूनं तेरण्हुकानं दद [म]

५. खेतस निवतण सतं १०० [।] तस च खेतस परिहार वितराम अपावेस अनोमस अलोण-खादक-अरठ-सविनयिक सव-जात-पारिहारिक च [।]

६. एतेहि न परिपारेहि परिहरेठ [।] एत चस खेत परीहा [रे] च एथ निवधापेय [।] अवियेन आणत [।] पटिहा (र)-रखिय लोटाय छतो लेखो [।] सवछरे २० (+) ४

७. वासान पखे ४ दिवसे पचमे ५[।] सुजिविना कटा [।] निबघो निवघो सवछरे २० (+) ४ गिंहान पखे २ दिवसे १० [॥]

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने 'सुजिविना' को 'पुवजितिना' पढ़ा है। लिपिक की असावधानी के कारण निबधो' शब्द दो बार उत्कीर्ण हो गया है।

गौतमीपुत्र सातकर्णि का नासिक-गुहालेख

वर्ष २४

लेख-परिचय—प्रस्तुत लेख भी सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि का है। यह नासिक की गुहा संख्या ३ में १८ वें वर्ष के लेख के ठीक बाद में लिखा है और उससे मात्र एक स्वस्तिक चिह्न द्वारा पृथक् किया गया है। यह भी सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी भाषा प्राकृत है और लिपि दूसरी शती ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी। इसमें कुल सात पंक्तियाँ हैं। इसका शुरू का भाग सावधानी से परन्तु अन्तिम भाग कुछ लापरवाही से उकेरा गया लगता है। यह मूलतः किसी ताम्रपत्र अथवा कपड़े पर लिखा गया होगा, उसकी नकल गुहा दीवार पर कर दी गई है।

अध्ययन-इतिहास—इस लेख को सर्वप्रथम इन्द्रजी द्वारा प्रकाशित छाप की सहायता से ब्युलर ने अनूदित किया। तत्पश्चात् इन्द्रजी ने 'बाम्बे गजेटियर' में इस पर टिप्पणियाँ प्रकाशित कीं। अन्त में सेना ने इसे 'एपि० इण्डिका' में सम्पादित किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, पृ० १०५ अ०; इन्द्रजी, बाम्बे गजेटियर, १६, पृ० ५६० अ०; सेना, इ० आई०, ८, पृ० ७३; लूडर्स, सूची, स० ११२६; पाण्डेय हि० लि० इ०, पृ० ५१–२; सरकार, स० इ०, पृ० २००–१; दे०, कॉ० हि० इ०, भाग २, तथा ए० इ० यू० के सम्बद्ध अंश।

मूलपाठ

१. **सिद्धं [॥] गोवधने अम [च]स सामकस [दे] यो [रा] जा णितो [।]**

२. **रञो गोतमिपुतस सातकणि [स] म [हा] देवीय च जीवसुताय राज-मातुय वचनेन गोवधने [अम] चो सामको अरोग वतव [।] ततो एव च**

३. **वतवो [।] एथ अम्हेहि पवते तिरण्हुम्हि अम्ह धमदाने लेणे पतिवसतानं पवजितान भिखून गा [मे] कखडीसु पुव खेतं दत [।] त च खेत**

४. **[न] कसते [।] सो च गामो न वसति [।] एवं सति य दानि एथ नगर-सीमे**

पाठ-टिप्पणी—इन्द्रजी व ब्युलर ने 'सामकस' को 'समकस' पढ़ा है। इन्द्रजी ने 'राजाणितो' को 'राजनितो' पढ़ा है और 'सातकणिस' को 'सतकणिस'। 'अमचो' पाठ भी इन्द्रजी ने सुझाया है। 'ततो एव' के बाद 'च' सर्वप्रथम सेना ने पढ़ा था। ब्युलर ने 'एथ' को 'एठ' पढ़ा है तथा चौथी पंक्ति के प्रथम को 'व'। सेना को यहाँ न 'न' पढ़ने में आया है और न 'व'।

(यह) आज्ञा मौखिक रूप से दी गई। प्रतीहार रक्षिका लोटा द्वारा लेख (अर्थात् आज्ञा पत्र का प्रारूप) लिखा गया। सुजीवि द्वारा संवत्सर २४ में वर्षा के ४ चौथे पक्ष में पाँचवें दिन (आज्ञा को) कार्यान्वित किया गया। (दानादेश को) निवद्ध किया गया (= अर्थात् राजकीय अभिलेखागार में रक्षित प्रतिलिपि पर लिखा गया) संवत्सर २४ ग्रीष्म के दूसरे पक्ष में १० दसवें दिन।

व्याख्या

(१) इस लेख के इस अंश से अन्दाज लगता है कि उस युग में राजा लोग अपने मन्त्रियों को पत्र लिखते समय उन्हें किस प्रकार सम्वोधित करते थे। पत्रों में इस प्रकार कुशल-क्षेम पूछने की परम्परा भारत में अभी तक प्रचलित है।

(२) इस अंश में गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता को 'जीवसुता' कहा जाना महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेख के लिखे जाने के समय शातकर्णि बीमार था और जनता को उसके जीवित होने का विश्वास दिलाना आवश्यक जान पड़ रहा था। हो सकता है यह बीमारी ही उसकी मृत्यु का कारण सिद्ध हुई हो।

(३) **अम्ह धमदाने लेणे** = उस गुफा में, जो हमारा धर्मदान है। यहां लेण से आशय सम्पूर्ण गुहा से नहीं हो सकता क्योंकि इस गुफा का शेष भाग शातकर्णि की माता गौतमी बलश्री ने अपने पौत्र पुलुमावि के शासन के १९ वें वर्ष में बनवा कर दान दिया था। दे०, पुलुमावि का वह अभिलेख व उसके महत्त्व का विवेचन जहां भण्डारकर के इस मत का विश्लेषण किया गया है कि शातकर्णि का प्रस्तुत अभिलेख पुलुमावि के उपर्युक्त अभिलेख से बाद का है।

(४) इस अंश में अन्त में 'परिहरेठ' और 'निबधापेश' क्रियाओं के प्रयोग से, जो बहुवचन में है, लगता है कि इस आदेश को राजा से सामक तक किसी अन्य अधिकारी के माध्यम से पहुँचाया गया था। अगर आदेश सीधे सामक को मिला होता तो इन क्रियाओं का एकवचन में प्रयोग हुआ होता। आगे कहा भी गया है कि यह आदेश मौखिक रूप से दिया गया था। लेख के अन्त में दो तिथियों के प्रयोग से भी यही प्रमाणित होता है।

(५) **कखडी**—गौतमीपुत्र शातकर्णि के १८ वें वर्ष के नासिक अभिलेख में उल्लिखित दान में प्रदत्त भूमि 'अपर कखडी' (पश्चिमी कखडी) गांव में थी। अपर कखडी ग्राम या तो कखडी ग्राम के पश्चिम में स्थित रहा होगा अथवा कखडी ग्राम का पश्चिमी भाग होगा। प्रस्तुत लेख में जिस पुराने भूमि दान का उल्लेख है वह हो सकता है वही रहा हो जो १८ वें वर्ष में दिया गया था।

शब्दार्थ

अमचस = अमात्याय, अमात्य के लिए; **राजाणितो** = राजाज्ञप्तं, राजाज्ञा पत्र; **वचनेन** = शब्दों द्वारा; **आरोग वतव** = आरोग्य वक्तव्य, कुशलता पूछना, आरोग्य की कामना करना। **एथ** = अत्र, यहां; **अम्हेहि** = अस्माभिः, हमारे द्वारा; **तिरण्हु** = त्रिरश्मि; **अम्ह धमदाने लेणे** = उस गुफा में जो हमारा धर्मदान है; **पतिवसतानं** = प्रतिवसद्भ्यः, निवासियों के लिए; **पविजतान भिखून** = प्रव्रजित भिक्षुओं के लिए; **पुव** = पूर्वकाल में, **कसते** = कृष्यते, जोता जाता है; **वसति** = अध्युष्यते, बसा है; **य दानि**=यत् इदानीम्, जो अब; **नगर सीमे** = नगर की सीमा पर; **राजकं खेतं** = राजकीय खेत; **अम्ह सतकं** = हमारे स्वत्व से विशिष्ट; **एतेस** = ऐतेभ्यः, इनः; **ददम** = दद्मः, देते हैं; (अन्य शब्दों के लिए दे०, पिछला अभिलेख)। **पटिहार रखिय** = प्रतीहार रक्षिण्या, अन्तःपुर की द्वाररक्षिकाओं की अध्यक्षा द्वारा; **छतो** = क्षतः अर्थात् लिखितः, **कटा** = कृता (कार्यान्वित किया गया); **निबधो** = निबद्धः, लिखा गया।

अनुवाद

सिद्धम् ॥ गोवर्धन में स्थित अमात्य सामके (श्यामक) को देने के लिए राजाज्ञा पत्र। राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि और जीवसुता महादेवी राजमाता (=वह महादेवी राजमाता जिसका पुत्र जीवित है) के शब्दों द्वारा (अर्थात् उनकी तरफ से) गोवर्धन स्थित अमात्य सामक के आरोग्य की कामना की जाय (अर्थात् कुशलता पूछी जाए) और इसके बाद (उससे) कहा जाय—

'यहां त्रिरश्मि (= तिरण्हु) पर्वत पर उस गुफा में, जो हमारा धर्मदान है रहने वाले प्रव्रजित भिक्षुओं के लिए हमारे द्वारा कखडी ग्राम में पूर्वकाल में दिया गया खेत है। (लेकिन) न यह खेत जोता जाता है और न गांव बसा है। ऐसी स्थिति में यहां नगर की सीमा पर हमारे स्वत्व से विशिष्ट जो राजकीय खेत (है) उस खेत से हम तिरण्हु के इन प्रव्रजित भिक्षुओं को सौ १०० निवर्तन भूमि देते हैं और उस खेत को विमुक्ति प्रदान करते हैं—(वह) (राजकीय सैनिकों और भटों के लिए) अप्रावेश्य, (राजपुरुषों द्वारा जनित बाधाओं से) अस्पर्श्य, नमक के लिए (सरकार द्वारा) न खोदा जाने वाला तथा राष्ट्र के शासन (अर्थात् सामान्य दण्ड विधान) से पृथक् और (अन्य) सब प्रकार की विमुक्तियों से युक्त रहेगा। इसको (= इस खेत को) इन सब विमुक्तियों से मुक्त करें (अर्थात् यहां ये सब विमुक्तियां लागू करें)। इन विमुक्तियों व खेत के दान को निबद्ध करें (अर्थात् इन्हें रजिस्टर में दर्ज कराएं)।

(यह) आज्ञा मौखिक रूप से दी गई। प्रतीहार रक्षिका लोटा द्वारा लेख (अर्थात् आज्ञा पत्र का प्रारूप) लिखा गया। सुजीवि द्वारा संवत्सर २४ में वर्षा के ४ चौथे पक्ष में पाँचवें दिन (आज्ञा को) कार्यान्वित किया गया। (दानादेश को) निबद्ध किया गया (= अर्थात् राजकीय अभिलेखागार में रक्षित प्रतिलिपि पर लिखा गया) संवत्सर २४ ग्रीष्म के दूसरे पक्ष में १० दसवें दिन।

व्याख्या

(१) इस लेख के इस अंश से अन्दाज लगता है कि उस युग में राजा लोग अपने मन्त्रियों को पत्र लिखते समय उन्हें किस प्रकार सम्बोधित करते थे। पत्रों में इस प्रकार कुशल-क्षेम पूछने की परम्परा भारत में अभी तक प्रचलित है।

(२) इस अंश में गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता को 'जीवसुता' कहा जाना महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेख के लिखे जाने के समय शातकर्णि बीमार था और जनता को उसके जीवित होने का विश्वास दिलाना आवश्यक जान पड़ रहा था। हो सकता है यह बीमारी ही उसकी मृत्यु का कारण सिद्ध हुई हो।

(३) **अम्ह धमदाने लेणे** = उस गुफा में, जो हमारा धर्मदान है। यहां लेण से आशय सम्पूर्ण गुहा से नहीं हो सकता क्योंकि इस गुफा का शेष भाग शातकर्णि की माता गौतमी बलश्री ने अपने पौत्र पुलुमावि के शासन के १९ वें वर्ष में बनवा कर दान दिया था। दे०, पुलुमावि का वह अभिलेख व उसके महत्त्व का विवेचन जहां भण्डारकर के इस मत का विश्लेषण किया गया है कि शातकर्णि का प्रस्तुत अभिलेख पुलुमावि के उपर्युक्त अभिलेख से बाद का है।

(४) इस अंश में अन्त में 'परिहरेठ' और 'निबधापेश' क्रियाओं के प्रयोग से, जो बहुवचन में है, लगता है कि इस आदेश को राजा से सामक तक किसी अन्य अधिकारी के माध्यम से पहुँचाया गया था। अगर आदेश सीधे सामक को मिला होता तो इन क्रियाओं का एकवचन में प्रयोग हुआ होता। आगे कहा भी गया है कि यह आदेश मौखिक रूप से दिया गया था। लेख के अन्त में दो तिथियों के प्रयोग से भी यही प्रमाणित होता है।

(५) **कखडी**—गौतमीपुत्र शातकर्णि के १८ वें वर्ष के नासिक अभिलेख में उल्लिखित दान में प्रदत्त भूमि 'अपर कखडी' (पश्चिमी कखडी) गांव में थी। अपर कखडी ग्राम या तो कखडी ग्राम के पश्चिम में स्थित रहा होगा अथवा कखडी ग्राम का पश्चिमी भाग होगा। प्रस्तुत लेख में जिस पुराने भूमि दान का उल्लेख है वह हो सकता है वही रहा हो जो १८ वें वर्ष में दिया गया था।

(६) लोटा नामक एक महिमा-कर्मचारी द्वारा आज्ञा पत्र के प्रारूप का तैयार किया जाना रोचक है। क्योंकि राजमाता ने अन्तःपुर से वह आदेश जारी किया गया होगा, इसलिए इसका प्रारूप अन्तःपुर की प्रतीहार-रक्षिका द्वारा तैयार किया गया होगा।

(७) इस अंश में प्रदत्त प्रथम तिथि आदेश के कार्यान्वियन की है और दूसरी आदेश के पहिली बार कार्यालय में दर्ज होने की। इसलिए दूसरी तिथि पहली तिथि से पुरानी है।

गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक-लेखों का महत्त्व

प्रस्तुत लेख व इसके पहिले प्रदत्त अभिलेख सुप्रतिथ सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के हैं। सातवाहन वंश के इतिहास में प्रथम शती ई० अवनति और सापेक्ष अन्धकार का है। इसका कारण क्षहरात शकों का उत्कर्ष था जिन्होंने नहपान के नेतृत्व में अन्य अनेक सातवाहन प्रदेशों के अतिरिक्त स्वयं नासिक और पूना प्रदेश भी जीत लिए थे। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने दूसरी शती के प्रारम्भिक दशकों की अपने वंश की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। प्रस्तुत अभिलेख इस बात को प्रमाणित करते हैं। उसके १८ वें वर्ष का अभिलेख उसकी विजयिनी सेना के स्कन्धावार से जारी किया था। इसमें उसे गोवर्धन के बेनाकटक का स्वामी कहा गया है और उसके द्वारा कुछ ऐसी भूमि दान दिए जाने का उल्लेख किया गया है जिसका उपभोग इसके पूर्व नहपान का दामाद और नासिक प्रदेश का शक गवर्नर उषवदात कर रहा था। इसलिए यह प्रायः माना जाता है कि नहपान के शासन का अन्तिम ज्ञात वर्ष—४६—गौतमीपुत्र शातकर्णि के १८ वें वर्ष के नजदीक होगा। इस लेख में आए 'अजकालकियं' शब्द का अर्थ अगर 'अब तक' है तो यह बात सर्वथा निश्चित मानी जाएगी। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन का १८वां वर्ष नहपान के शासन से ४६ वें वर्ष से अभिन्न माना जा सकता है। अन्य तथ्यों से इस निष्कर्ष का समर्थन होता है। दे०, पुलुमावि के शासन के १९ वें वर्ष का नासिक-अभिलेख।

गौतमीपुत्र के नासिक अभिलेखों से सातवाहनयुगीन भूमि-व्यवस्था पर महत्त्व-पूर्ण प्रकाश मिलता है। ये भारत के प्रथम अभिलेख हैं जिनमें राजाओं द्वारा संघ को भूमिदान देने की शर्तों का वर्णन मिलता है और ज्ञात होता है कि राजा लोग इस प्रकार भूमिदान देते समय अपने किन-किन विशेषाधिकारों को छोड़ देते थे।

प्रस्तुत अभिलेखों से सातवाहनकालीन शासन-व्यवस्था की भी कुछ झलक मिलती है। इसमें अमच्च, महास्वामी तथा प्रतिहार आदि पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है और भूमिदान दिए जाने से लेकर राजाज्ञा के कार्यान्वियन तथा दानपत्र के लिखे जाने तक की प्रक्रिया की झलक मिलती है।

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का कार्ले-गुहालेख

(वर्ष ७)

प्राप्ति-स्थल : महाराष्ट्र के पूना जिले में कार्ले गुहा

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ७

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सरकार, स० इ०, पृ० २०२; सेना, इ० आई०, ७, पृ० ६१ अ०

मूलपाठ

१. रञो वासिठिपुतस सामि-सिरी-[पुलु़मावित *] सवछरे सतमे ७ गिम्ह पखे पचमे ५

२. दिवसे पथमे ? एताय पुवाय ओखळकियानं महार [थि] स कोसिकिपुतस मित-देवस पुतेन

३. [म *] हारथिना वासिठिपुतेन सोमदेवेन गामो दतो वलुरक-संघस वलुरक-लेनसस-करुकरो स-देय-मेयो (॥*)

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का नासिक-गुहा-लेख

वर्ष १९

प्राप्ति-स्थल—प्रस्तुत अभिलेख सुप्रतिथ सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के शासन काल के १९वें वर्ष में लिखवाया गया था। यह नासिक (महाराष्ट्र) की गुफा सं० ३ के बरामदे की पिछली दीवार पर प्रवेश-द्वार के ऊपर खुदा है।

उद्देश्य—इस लेख का उद्देश्य गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता और पुलुमावि की पितामही गोतमी बलसिरी (=गौतमी बलश्री) द्वारा भदावनीय भिक्षुसंघ को एक गुहा और गुहा के चित्रण के हेतु पुलुमावि द्वारा 'पिसाजिपदक' गांव दान दिये जाने का उल्लेख करना है। सरकार का विचार है कि यह लेख ताम्रपत्र अथवा कपड़े पर लिखित किसी पत्र से नकल किया गया होगा।

भाषा, लिपि और तिथि—प्रस्तुत लेख की भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी जो दूसरी शती के मध्य उत्तरी दक्षिणापथ में प्रचलित थी। इसमें कुल ग्यारह, सुदीर्घ पंक्तियां हैं। यह सम्पूर्णतः गद्य में है। वर्तनी में 'पुळुमावि' और 'मुळक' में 'ळ' का प्रयोग द्रष्टव्य है। इसमें पुलुमावि के शासन के १९ वें वर्ष का उल्लेख है, इसलिए इसकी तिथि लगभग १४९ ई० होगी क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु एवं पुलुमावि का राज्यारोहण लगभग १३० ई० में हुआ माना जाता है (ए० इ० यू०, पृ० २०२)।

अध्ययन-इतिहास—अन्य नासिक अभिलेखों के साथ यह लेख भी सर्वप्रथम जर्नल ऑव बॉम्बे ब्राञ्च, ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी के ७ वें अंक (पृ० ३७ अ०) में छपा था। इसके बाद भाण्डारकर ने इस पर कुछ टिप्पणियां १८७४ की लन्दन कांग्रेस के 'ट्राञ्जेक्शन्स्' में प्रकाशित कीं (पृ० ३०६ अ०)। इसके बाद ब्युलर ने इसका अनुवाद 'आक्योंजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया' में छापा और भगवानलाल इन्द्रजी ने 'बॉम्बे गजेटियर' की १६ वीं जिल्द में।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—इन्द्रजी, बॉम्बे गजेटियर, भाग १६, पृ० ५५० अ०; ब्युलर, ए० एस० डब्ल्यू० आई०, ४, पृ० १८० अ०; सेना, इ० आई०, ८, पृ० ६० अ०; लूडर्स, सूची, ११२३; सरकार, स० इ०, पृ० २०३ अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५२ अ०।

मूलपाठ

१. सिद्धं [।।*] रञो वासिठीपुतस सिरिपुळुमायिस सवछरे एकुनवीसे १० (+*) ९ गीम्हाणं पखे बितीये २ दिवसे तेरसे १० (+*) ३ राजरञो गोतमीपुतस हिमव [त]-मेरु

२. मंदर-पवत-सम-सारस असिक-असक मुळक-सुरठ-कुकुरापरंत-अनुप-विदभ-आकरा-वंति-राजस विझछवत-पारिचात-सय्ह(सह्य)-कण्हगिरि-मच-सिरिटन-मलय-महिद-

३. सेटगिरि-चकोर-पवत-पतिस सवराज [लोक[-म]ं] डल-पतिगहीत-सासनस दिवसकर-[क]र-विबोधित-कमलविमल-सदिस-वदनस तिसमुद-तोय-पीत-वाहनस पटिपू [ं]ण-चद-मडल-ससिरीक-

४. पियदसनस वर-वारण-विकम-चारु-विकमस भुजगपति-भोग-पीन-वाट-विपुल-दीघ-सुद[र*]-भुजस अभयोदकदान-किलिन-निभय-करस अविपन-मातु-सुसूसाकस सुविभत-तिवग-देस-कालस

५. पोरजन-निविसेस-सम-सुख-दुखस खतिय-दप-मान-मदनस सक-यवन-पल्हव-निसूद-नस धमोपजित-कर-विनियोग करस कितापराधे पि सतुजने अ-पाणहिसा-रुचिस दिजावर-कुटूब-विवध-

६. नस खखरात वस निरवसेस-करस सातवाहनकुल-यस-पतिथापनकरस सव-मंडलाभिवादित-च [र*] णस विनिवतित-चातूवण-संकरस अनेक-समरावजित-सतु-सघस अपराजित-विजयपताक-सतुजन-दुपधसनीय

७. पुरवरस कुल-पुरिस-परपरागत-विपुल-राज-सदस आगमान [नि] लयस सपुरिसानं असयस सिरी [ये] अधिठानस उपचारान पभवस एककुसस एक धनुधरस एक सूरस एक बम्हणस राम-

८. केसवाजुन-भीमसेन-तुल-परकमस छण-घनुसव-समाज-कारकस नाभाग-नहुस-

पाठ-टिप्पणी—इन्द्रजी ने 'सिद्धं' को सिद्ध' पढ़ा है, 'सवछरे' को ब्युलर 'संवछरे' पढ़ते हैं, तथा सेना 'सविछरे'। 'गीम्हाणं, को ब्युलर व इन्द्रजी ने 'गिंहान पढ़ा है और सेना ने' गिहाण'। इन्द्रजी 'असक' को 'सुसक' पढ़ते हैं तथा ब्युलर ने 'परिचात' को 'परिवात' पढ़ा है। सेना ने 'पटिपूंण' को 'पटिपुण' पढ़ा है तथा इन्द्रजी व ब्युलर ने 'पीनवाट' को 'पीनवट'। ब्युलर ने 'वस' को 'वंस' पढ़ा है। सेना ने 'चातूवणं संकरस' को 'चातुवण सकरस' पढ़ा है तथा ब्युलर ने 'दुपधसनीय' को 'पधससनीय'। इन्द्रजी 'आगमान' को 'आग मानं' पढ़ते हैं ; तथा 'उपचारान' को 'उपचारानं'। ब्युलर 'एक सूरस' शब्दों को बिल्कुल नही पढ़ पाए हैं और 'परकमस' के स्थान पर 'पराकमस' पढते हैं।

जनमेजय-सकर-य [या] ति-रामाबरीस-सम-तेजस अपरिमितमखयमचितमभुत पवन-गरुळसिध-यख-राखस-विजाधर-भूत-गधव-चारण-

९. चद-दिवाकर-नखत-गह-विचिण-समरसिरसि जित-रिपु-सघस नागवर खधा गगनतलमभिविगाढस कुल-विपु [लसि] रि-करस सिरि सातकणिस मातुय महादेवीय गोतमीय बलसिरीय सचवचन-दान-खमा-हिसा-निरताय तप-दम-निय

१०. मोपवास-तपराय राजरिसिवधु सदमखिलमनुविधीयमानाय कारित देयधम [केलासपवत] सिखर-सदिसे-[ति] रण्हु-पवत-सिखरे विम [ान*] वर-निविसेस-महिढीकं लेण (।*) एत च लेण महादेवी महाराज-माता महाराज-[पि] तामही ददाति निकायस भदावनीयान भिखु-सघस (।*)

११. एतस च लेण [स] चितण-निमित महादेवीय अयकाय सेवकामो पियकामो च ण [ता] [सिरि-पुलुमावि] [दखिणा*] पथेसरो पितु-पतियो (पितिये) धमसेतुस [ददा] ति गामं तिरण्हु पवतस अपर-दखिण-पसे-पिसाजिपदक-सवजात-भोग-निरठि [।।]

पाठ-टिप्पणी—इन्द्रजी ने 'छणयनुसव' को 'छणयनुस' पढ़ा है, 'गरुळ' को 'गरुड़', तथा 'नागवर' को 'णंगवर'। ब्युलर ने 'महादेवीय' को 'महादेविय' पढ़ा है, 'राजरिसिवधु' को 'राजरिसिवधू' तथा 'भदावनीयान' को 'भदावनिया'। उन्होंने ही 'केलास पवत' पाठ पुनर्योजित किया है। इन्द्रजी ने 'हिमा' को 'हिंसा' पढ़ा है और 'सघस' को 'संघस'। ब्यूलर ने 'चितण' को 'चितना' पढ़ा है, 'पथेसरो' को 'पठिसरी' तथा 'पिसाजिपदक' को 'पिसाचीपदक'। 'निरठि' को 'निरठं' पढ़ें।

शब्दार्थ

सिद्धं = सिद्धः अस्तु, सिद्धि हो; **रञो** = राज्ञः, राजा की; **सवछरे** = संवत्सरे; **एकुनवीसे** = एकोनविंशे; **गीम्हाणं** = ग्रीष्म के; **बितीये** = द्वितीये ।

समसारस = समसारस्य, समान बल वाला; **पवत पतिस** = पर्वतों का स्वामी; **पतिगहीत सासनस** = प्रतिगृहीतशासनस्य, वह जिसके आदेश माने जाते थे; **दिवसकर** = सूर्य; **कर** = किरणें; **विबोधित** = जगा हुआ, खिला हुआ; **सदिस** = सदृश; **वदन** = मुख; **तिसमुद** = त्रिसमुद्र; **वाहन** = हाथी अथवा अश्व ।

पटिपूंण = परिपूर्ण (आशय 'प्रतिपूर्ण' से है); **चदमडल** = चन्द्रमण्डल ; **ससिरीक** = सश्रीक, सुन्दर ; **पियदसन** = प्रियदर्शन; **वरवारण** = श्रेष्ठ हाथी ; **विकम** = विक्रम, चाल ; **भुजगपति** = नागराज ; **भोग** = कुण्डली ; **पीन** =मांसल; **वाट** = वृत्त, गोल, सुडौल ; **किलिन** = क्लिन्न, आर्द्र, भीगा हुआ ; **अभयोदकदान** = अभय दानोदक, अभयदान के जल से ; **अविपन** = अविपन्न, असीम रूप से, बिना बाधा के ; **सुसूसाकस** = शुश्रूषकस्य, आज्ञाकारी ; **सुविभत** = सुविभक्त ; **तिवग** = त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम); **निविसेस** = निर्विशेष, समान रूप से, बिना भेद किए ।

निसूदन = मारने वाला, नाश करने वाला ; **धमोपजित** = धर्मोपचित, धर्म शास्त्रों द्वारा अनुमोदित ; **विनियोग** = लगाना ; **कितापराधे** = कृतापराधे, अपराध किए हुए, अपराधी ; **हि** = अपि, भी ; **अपाणहिसारुचिस** = अप्राणहिंसा रुचेः, प्राण हिंसा में रुचि न रखने वाला ; **दिजावर** = द्विजावर, द्विज व अवर अर्थात् द्विज और हीन जन ; **कुटूब** = कुटुम्ब ; **विवधनस** = विवर्धनस्य, बढ़ाने वाला ; **खखरात** = क्षहरात ; **निरवसेसकरस** = निरवशेषकरस्य, समूल नष्ट करने वाला ; **पतिथापस** = प्रतिष्ठापक ; **मंडल** = मण्डल, प्रान्त ।

विनिवतित = विनिवर्त्तित, रोक दिया ; **अनेक समरावजित सतु सघन** = अनेक समरावजितशत्रुसंघस्य, अनेक युद्धों में शत्रु संघों अर्थात् शत्रु गणों को जीतने वाला ; **दुपधसनीय** = दुष्प्रधर्षणीय, अनाक्रम्य (**प्रधर्षण** = आक्रमण) ; **पुरवर** = राजधानी ; **परपरागत** = परम्परागत ; **राजसदस** = राजशब्दस्य (**शब्द** = उपाधि) ; **आगमान** = आगमानां, वेदादि शास्त्र ; **निलयस** = निलयस्य, निवास स्थान ; **सपुरिसानं** = सत्पुरुषाणाम्; **असयस** = आश्रयस्य ; **सिरी ये अधिठानस** = श्रियः अधिष्ठानस्य, लक्ष्मी का शरण स्थल ; **उपचारान** = उपचाराणां, सदाचारों का ; **पभवस** = प्रभवस्य, उद्भवस्य ; **एक** = अप्रतिम ; **एक कुसस** = एकाङ्कुश, अप्रतिम शासक ; **सूरस**= शूरस्य ; **परकमस** = पराक्रमस्य ।

जनमेजय-सकर-य [या] ति-रामाबरीस-सम-तेजस अपरिमितमखयमचितमभुत पवन-गरुळसिध-यख-राखस-विजाधर-भूत-गधव-चारण-

९. चद-दिवाकर-नखत-गह-विचिण-समरसिरसि जित-रिपु-सघस नागवर खधा गगनतलमभिविगाढस कुल-विपु [लसि] रि-करस सिरि सातकणिस मातुय महादेवीय गोतमीय बलसिरीय सचवचन-दान-खमा-हिसा-निरताय तप-दम-निय

१०. मोपवास-तपराय राजरिसिवधु सदमखिलमनुविधीयमानाय कारित देयधम [केलासपवत] सिखर-सदिसे-[ति] रण्हु-पवत-सिखरे विम [ान*] वर-निविसेस-महिढीकं लेण (।*) एत च लेण महादेवी महाराज-माता महाराज-[पि] तामही ददाति निकायस भदावनीयान भिखु-सघस (।*)

११. एतस च लेण [स] चितण-निमित महादेवीय अयकाय सेवकामो पियकामो च ण [ता] [सिरि-पुलु मावि] [दखिणा*] पथेसरो पितु-पतियो (पितिये) धमसेतुस [ददा] ति गामं तिरण्हु पवतस अपर-दखिण-पसे-पिसाजिपदक-सवजात-भोग-निरठि [॥]

पाठ-टिप्पणी—इन्द्रजी ने 'छणघनुसव' को 'छणयनुस' पढ़ा है, 'गरुळ' को 'गरुड़', तथा 'नागवर' को 'णंगवर'। ब्युलर ने 'महादेवीय' को 'महादेविय' पढ़ा है, 'राजरिसिवधु' को 'राजरिसिवधू' तथा 'भदावनीयान' को 'भदावनिया'। उन्होंने ही 'केलास पवत' पाठ पुनर्योजित किया है। इन्द्रजी ने 'हिमा' को 'हिंसा' पढ़ा है और 'सघस' को 'संघस'। ब्यूलर ने 'चितण' को 'चितना' पढ़ा है, 'पथेसरो' को 'पठिसरी' तथा 'पिसाजिपदक' को 'पिसाचीपदक'। 'निरठि' को 'निरठं' पढ़ें।

शब्दार्थ

सिद्धं = सिद्धः अस्तु, सिद्धि हो; **रञो** = राज्ञः, राजा की; **सवछरे** = संवत्सरे; **एकुनवीसे** = एकोनविंशे; **गीम्हाणं** = ग्रीष्म के; **बितीये** = द्वितीये।

समसारस = समसारस्य, समान बल वाला; **पवत पतिस** = पर्वतों का स्वामी; **पतिगहीत सासनस** = प्रतिगृहीतशासनस्य, वह जिसके आदेश माने जाते थे; **दिवसकर** = सूर्य; **कर** = किरणें; **विबोधित** = जगा हुआ, खिला हुआ; **सदिस** = सदृश; **वदन** = मुख; **तिसमुद** = त्रिसमुद्र; **वाहन** = हाथी अथवा अश्व।

पटिपूंण = परिपूर्ण (आशय 'प्रतिपूर्ण' से है); **चदमडल** = चन्द्रमण्डल; **ससिरीक** = सश्रीक, सुन्दर; **पियदसन** = प्रियदर्शन; **वरवारण** = श्रेष्ठ हाथी; **विकम** = विक्रम, चाल; **भुजगपति** = नागराज; **भोग** = कुण्डली; **पीन** = मांसल; **वाट** = वृत्त, गोल, सुडौल; **किलिन** = क्लिन्न, आर्द्र, भीगा हुआ; **अभयोदकदान** = अभय दानोदक, अभयदान के जल से; **अविपन** = अविपन्न, असीम रूप से, बिना बाधा के; **सुसूसाकस** = शुश्रूषकस्य, आज्ञाकारी; **सुविभत** = सुविभक्त; **तिवग** = त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम); **निविसेस** = निर्विशेष, समान रूप से, बिना भेद किए।

निसूदन = मारने वाला, नाश करने वाला; **धमोपजित** = धर्मोपचित, धर्म शास्त्रों द्वारा अनुमोदित; **विनियोग** = लगाना; **कितापराधे** = कृतापराधे, अपराध किए हुए, अपराधी; **हि** = अपि, भी; **अपाणहिसारुचिस** = अप्राणहिंसा रुचेः, प्राण हिंसा में रुचि न रखने वाला; **दिजावर** = द्विजावर, द्विज व अवर अर्थात् द्विज और हीन जन; **कुटूब** = कुटुम्ब; **विवधनस** = विवर्धनस्य, बढ़ाने वाला; **खखरात** = क्षहरात; **निरवसेसकरस** = निरवशेषकरस्य, समूल नष्ट करने वाला; **पतिथापस** = प्रतिष्ठापक; **मंडल** = मण्डल, प्रान्त।

विनिवतित = विनिवर्त्तित, रोक दिया; **अनेक समरावजित सतु सघन** = अनेक समरावजितशत्रुसंघस्य, अनेक युद्धों में शत्रु संघों अर्थात् शत्रु गणों को जीतने वाला; **दुपधसनीय** = दुष्प्रधर्षणीय, **अनाक्रम्य** (**प्रधर्षण** = आक्रमण); **पुरवर** = राजधानी; **परपरागत** = परम्परागत; **राजसदस** = राजशब्दस्य (**शब्द** = उपाधि); **आगमान** = आगमानां, वेदादि शास्त्र; **निलयस** = निलयस्य, निवास स्थान; **सपुरिसानं** = सत्पुरुषाणाम्; **असयस** = आश्रयस्य; **सिरी ये अधिठानस** = श्रियः अधिष्ठानस्य, लक्ष्मी का शरण स्थल; **उपचारान** = उपचाराणां, सदाचारों का; **पभवस** = प्रभवस्य, उद्भवस्य; **एक** = अप्रतिम; **एक कुसस** = एकाङ्कुश, अप्रतिम शासक; **सूरस** = शूरस्य; **परकमस** = पराक्रमस्य।

घनुसव = घनोत्सव, महोत्सव ; **छण** = क्षण, (यहां 'शुभ दिवस' अर्थ में प्रयुक्त हुआ लगता है) ; **सकर** = सगर नाम के राजा ; **सिध** = सिद्ध ; **यख** = यक्ष ; **राखस** = राक्षस ; **विजाधर** = विद्याधर ; **चारण** = किन्नर ; **चद** = चन्द्र ; **नखत** = नक्षत्र ; **गह** = ग्रह ; **विचिण** = विचीर्ण, देखा हुआ; ईक्षित् ; **समरसिरसि** = युद्ध में सेना के आगे ; **नागवर** = श्रेष्ठ हस्ती ; **खधा** = स्कन्धात्, पीठसे ; **अभिविगाढस** = अभिविगाढस्य, प्रवेश करने वाला।

खभा = क्षमा ; **निरताय** = निरतया, लगी हुई, प्रसन्नता अनुभव करने वाली ; **तपराय** = तत्परया, तत्पर ; **अनुविधीयमानाय** = अनुविदधत्या, धारयन्त्या, धारण करने वाली ; **देयधम** = देयधर्म, पवित्र दान, धर्मदान ; **सदिसे** = सदृशे ; **तिरण्हु** = त्रिरश्मि ; **विमानवर** = श्रेष्ठ विमान, अर्थात् पुष्पक विमान ; **निविसेस**= निर्विशेष, समान ; **महिढीकं**=महर्द्धिकं, महान् समृद्धि से युक्त ; **लेण**=गुफा ; **निकायस**=निकायाय, निकाय के लिए, सम्प्रदाय के लिए।

लेणस = लयनस्य, गुहा की ; **चितण** = चित्रण ; **महादेवीय अयकाय** = आर्यका महादेवी की ; **सेवाकामो** = सेवाकामः, सम्मानित करने के इच्छुक ; **पियकामो** = प्रियकामः ; **णतानप्ता** = पौत्र ; **दखिणापथेसरो** = दक्षिणापथेश्वरः ; **पितुपतियो** = पितृ प्रीतये, पिता को प्रसन्न करने के लिए ; **धमसेतुस** = धर्मसेतवे, पृथिवी और स्वर्ग के बीच सेतु के समान निर्मित गुहा के लिए ; **अपर दखिण पसे** = दक्षिण-पश्चिम पार्श्व में स्थित ; **सवजातभोग निरठि** = सर्वजातभोग निरस्तं, सब प्रकार के राजभाग और भोग आदि से मुक्त।

अनुवाद

सिद्धि हो। राजा वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि के उन्नीसवें वर्ष—१९ वें—में ग्रीष्म ऋतु के द्वितीय—२ रे—पक्ष में तेरहवें—१३ वें दिन राजाओं के राजा गौतमीपुत्र[1] की ;—

जो हिमवत्, मेरु, (तथा) मन्दर पर्वतों के समान बलवान था ; जो ऋषिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ (तथा)आकरावन्ति का राजा था; जो विन्ध्य, ऋक्षवत्, पारियात्र, सह्य, कृष्णगिरि, मत्स्य, श्रीस्तन (अथवा श्रीस्थान), मलय, महेन्द्र, श्रेष्ठगिरि (तथा) चकोर पर्वतों का स्वामी था ; जिसके शासन को लोक मण्डल में (अर्थात् पृथिवी पर) सब राजा स्वीकृत करते थे ; जिसका मुख सूर्य की किरणों द्वारा खिले हुए विमल कमल के सदृश था; जिसके हाथियों ने तीनों समुद्रों का जल पिया था ;—

यहां आए 'गौतमीपुतस' शब्द से लेकर आगे नवीं पंक्ति में 'सिरि सातकणिस' तक गौतमीपुत्र शातकर्णि का षष्ठी एकवचन में वर्णन है और तदुपरान्त उसकी माता गौतमी बलश्री का जिसने भदावनीय भिक्षुसंघ को गुफा दान में दी थी।

जो पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान सुन्दर (और) प्रियदर्शन था; जिसकी चाल श्रेष्ठ हस्तियों की चाल की तरह सुन्दर थी ; जिसकी भुजाएं नागराज की कुण्डली के समान मांसल, सुडौल, स्थूल, दीर्घ और सुन्दर थीं ; जिसके निर्भय हाथ अभयदान के जल से आर्द्र रहते थे; जो माता का असीम आज्ञाकारी था जिसने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के लिए स्थान और काल का सुविभाजन कर रखा था (अर्थात् जो त्रिवर्ग को पाने के लिए स्थान और काल का समुचित प्रयोग करना जानता था); जो पौरजनों के सुख-दुख में समान रूप से (भाग लेता था);—

जो क्षत्रियों के दर्प और मान को मर्दित करने वाला था ; जो शकों, यवनों और पह्लवों का विनाश करने वाला था ; जो धर्मशास्त्रों द्वारा अनुमोदित कर लगाने वाला था ; जो अपराधी शत्रु की भी प्राणहिंसा में रुचि नहीं रखता था ; जो द्विजों और अद्विजों के कुटुम्बों को बढ़ाने वाला था ; जो क्षहरात वंश का समूल नाश करने वाला था ; जो सातवाहन कुल के यश का प्रतिष्ठापन करने वाला था ; जिसके चरण सब प्रान्तों द्वारा अभिवादित थे ;—

जो चातुवर्ण्य संकरता को रोकने वाला था ; जो अनेक समरों में शत्रुवृन्दों को जीतने वाला था ; जिसका श्रेष्ठ पुर (= राजधानी) अपराजित विजय पताका वाला (और) एवं शत्रुजनों के लिए अनाक्रम्य था ; जिसके कुलपुरुषों में (अर्थात् पूर्वजों में) विपुल 'राजा' उपाधि परम्परागत रूप से चली आई थी ; जो वेदादि शास्त्रों का आधार था ; जो सत्पुरुषों का आश्रय था ; जो लक्ष्मी का शरणस्थल था ; जो सदाचारों का उत्पत्ति स्थल था ; जो अप्रतिम शासक था ; जो अप्रतिम शूर था ; जो अप्रतिम धनुर्धर था ; जो अप्रतिम ब्राह्मण था ; जो राम (अर्थात् परशुराम) कृष्ण, अर्जुन, भीमसेन के तुल्य पराक्रम वाला था ;—

जो शुभ दिनों में महोत्सवों और समाजों (का आयोजन) करने वाला था ; जो नाभाग, नहुष; जनमेजय, सगर, ययाति, राम (दाशरथि) तथा अम्बरीष के समान तेजस्वी था ; जो पवन, गरुड़, सिद्ध, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, भूत, गन्धर्व, किन्नर, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र (तथा) ग्रह द्वारा ईक्षित (देखे गए) अपरिमित्त अक्षय, अचिन्त्य और अद्भुत युद्धों में सबसे आगे रहकर रिपुओं के संघ को जीतने वाला था ; जो (समर में) श्रेष्ठ हस्ती की पीठ से गगन तल में प्रवेश करता था (अर्थात् हाथी की पीठ पर बैठने पर आकाश की ऊँचाई को छूता प्रतीत होता था) ; जो कुल की लक्ष्मी को विपुल करने वाला था ;—

(उस) श्री शातकर्णि की (जिसका वर्णन पिछली पंक्तियों में हुआ है) माता महादेवी गौतमी बलसिरि (=गौतमी बलश्री) द्वारा, जो सत्य वचन, दान, क्षमा और अहिंसा में सुख लाभ करती है, तप, दम, (संयम), नियम और उपवास में तत्पर रहती है, (तथा) 'राजर्षिवधू' उपाधि को पूर्णतः धारण करती है (अर्थात्

राजर्षिवधू के सब गुणों से युक्त है), कैलाश पर्वत के शिखर के सदृश (इस) त्रिरश्मि पर्वत शिखर पर श्रेष्ठ विमान (अर्थात् पुष्पक विमान) के समान समृद्धि युक्त (यह) गुफा देयधर्म (अर्थात् धर्मदान) रूप में बनवाई गई। और उस गुफा को महादेवी गौतमी बलश्री, जो महाराज-माता और महाराज-पितामही है, भद्रयानीय (भद्रायणी) भिक्षुसंघ के सम्प्रदाय को देती है।

और उस गुहा के चित्रण (अर्थात् उसे चित्र आदि से सुन्दर बनाने) के लिए महादेवी आर्यका (अर्थात् अपनी दादी) का सम्मान और प्रिय करने का इच्छुक उसका पौत्र दक्षिणापथेश्वर श्रीपुलुमावि (अपने स्वर्गगत) पिता को प्रसन्न करने के हेतु (भूलोक और स्वर्ग के बीच) गुहारूपी (इस) धर्मसेतु के लिए तिरण्हु पर्वत (= त्रिरश्मि पर्वत) के दक्षिण-पश्चिमी पार्श्व में स्थित पिसाजिपदक (=पिशाची-पद्रक) गांव को सब प्रकार के भोग (भोग आदि राजभाग) से मुक्त करके (दान) देता है।

व्याख्या

(१) **असिक-असक-मुळक-सुरठ कुकुरापरंत-अनुप-विदभ आकरावन्ति**—सुरठ (=सुराष्ट्र)। कुकुर, अपरान्त, अनूप व आकरावन्ति के लिए दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-अभिलेख। **असिक** = ऋषिक। इन्द्रजी ने असिक का सम्बन्ध ईरान के अर्सक नामक नरेश से माना था परन्तु यह असम्भव है। 'महाभारत' में ऋषिकों का उल्लेख अनूपों के साथ हुआ है (इ० आई०, ८, पृ० ६१)। हाथिगुम्फा-लेख से संकेतित है कि ऋषिक देश कृष्णा और गोदावरी के मध्य अश्मक के दक्षिण की ओर था। **असक** अश्मक। 'सुत्तनिपात' के अनुसार अस्सक प्रदेश में प्रतिष्ठान और महिष्मती का मध्यवर्ती भाग सम्मिलित थे। भाण्डारकर ने इसको वहीं स्थित माना है। परन्तु रीज़ डेविड्स अश्मकों को अवन्ति के दक्षिण पश्चिम में स्थित मानते हैं।'दशकुमारचरित' में दण्डी ने इसे विदर्भ के अधीन राज्य बताया है। 'अर्थशास्त्र' के टीकाकार भट्टस्वामी ने 'अश्मक' को महाराष्ट्र से अभिन्न बताया है। पोतन अथवा पौदन्य, जो गोदावरी के तट पर स्थित था, अश्मक की राजधानी था। **मूलक** = प्रतिष्ठान के आस-पास का प्रदेश। विदर्भ आधुनिक बरार को कहते थे।

(२) **विझछवत-पारिचात सह्य-कण्हगिरि-मच सिरिटन-मलय-महिद-सेट-गिरि चकोर पवत**—विझ = विन्ध्य। विन्ध्य नाम का प्रयोग गुजरात से पूर्व में स्थित सम्पूर्ण विन्ध्य पर्वत माला के लिए भी होता था और उसके केवल पूर्वी भाग के लिए भी। यहां सीमित अर्थ अभीष्ट है। छवत = अक्षवत् = विन्ध्यका मध्यवर्ती भाग जो नर्मदा के उत्तर में पड़ेगा। (लाहा, माउण्टेन्स ऑव इण्डिया, पृ० १७)। पारिचात = पारियात्र = पश्चिमी विन्ध्य और अरावड़ा पर्वत श्रेणियां। सयह = सह्य = पश्चिमी घाट। कण्हगिरि = कृष्णगिरि = कन्हेरी। 'वायुपुराण' में इसका

वर्णन आता है। मच = मत्स्य ? इसकी स्थिति अनिश्चित है। इसी प्रकार सिरिटन (= श्रीस्तन ? = श्रीस्थान ?) को पहचानना भी कठिन है। सेटगिरि को सरकार नागार्जुनीकोण्ड के समीप स्थित एक पहाड़ी बताया है। महेन्द्र के लिए दे० यशोधर्मा का मंदसौर स्तम्भ लेख, श्लोक, ५। मलय=पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग। चकोर सम्भवतः पूर्वी घाट के दक्षिणी भाग को कहते थे (कॉ० हि० इ०, पृ० ३१३)।

(३) **तिसमुदतोय-पीत-वाहनस**—तीन समुद्रों से आशय बंगाल की खाड़ी, अरब सागर व हिन्दमहासागर से है। तु०, चालुक्य अभिलेखों का पद 'त्रिसमुन्द्रातर्वर्ति भुवन मण्डलाधीश्वर' तथा 'हर्षचरित' में एक सातवाहन राजा 'त्रिसमुद्राधिपति' रूप में वर्णन (कॉ० हि० इ०, पृ० ३१३)। दे०, एहोले-प्रशस्ति का श्लोक ३५।

(४) नासिक लेख की पंक्ति २ में वर्णित बहुत से प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरात शकों से छीने थे। क्षहरातों के अधिकार में अजमेर से महाराष्ट्र तक के प्रदेश सम्मिलित थे। उषवदात के नासिक व कार्ले से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसके श्वसुर नहपान के अधिकार में गोवर्धन (नासिक) मामाल (पूना) ही नहीं कापूर (भूतपूर्व बड़ौदा राज्य में स्थित कपूर), दशपुर (पश्चिमी मालवा), प्रभास, भृगुकच्छ (भड़ौंच), शूर्पारक(सोपारा), पुष्कर (अजमेर) आदि नगर भी थे। स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र ने क्षहरातों को महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, अपरान्त व मालवा से निकाल बाहर किया था। गौतमीपुत्र के नासिक से प्राप्त १८ वें वर्ष के अभिलेख के अनुसार उसने कुछ भूमि, जो पहिले ऋषवदत्त उर्फ उषवदात के अधिकार में थी, दान दी थी। यह दान उसने अपनी सेना के, जो विजय प्राप्त कर रही थी, गोवर्धन आहार (नासिक) में स्थित स्कन्धावार से दिया गया था। मामाल आहार (पूना) में भी करजिक नामक गांव को पहिले उषवदात ने दिया था, बाद में गौतमीपुत्र ने। जोगलथम्बी (नासिक) से प्राप्त मुद्रा-निधि के १३२५० सिक्कों में से ९००० से भी ज्यादा ऐसे हैं जिन्हें पहिले नहपान ने जारी किया था और फिर गौतमीपुत्र ने उन्हें पुनर्मुद्रित करके चलाया।

(५) गौतमीपुत्र शातकर्णि की यह विजय स्थायी सिद्ध नहीं हुई क्योंकि उसके द्वारा जीते गए उपर्युक्त प्रदेशों में कमसे कम कुकुर, अनूप, सुराष्ट्र तथा आकरावन्ति पर १५० ई० के पहिले ही कार्दमक वंशीय शक महाक्षत्रप रुद्रदामा ने अधिकार कर लिया था। दे०, रुद्रदामा की जूनागढ़-प्रशस्ति। आनर्त्त, श्वभ्र और मरु का उल्लेख जूनागढ़-प्रशस्ति में तो है, नासिक-लेख में नहीं हुआ है।

(६) **पियदसन**—यहां गौतमीपुत्र के लिए दर्शन विशेषण का प्रयोग द्रष्टव्य है। इसका प्रयोग अशोक के लिए उसके लेखों में एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए 'मुद्रा राक्षस' में हुआ है।

(७) **वरवारणविकमचारुविकम**—कुछ विद्वान्, जो गौतमीपुत्र शातकर्णि की पहिचान दन्त कथाओं के विक्रमादित्य से करते हैं, यहां उसके लिए विक्रम उपाधि

का प्रयोग हुआ मानते हैं। परन्तु यह धारणा गलत है। यहां 'विक्रम' शब्द का प्रयोग 'चाल' अर्थ में हुआ है।

(८) **अभयोदकदान-किलिन-निभय-करस**—यहां 'अभयदानोदक किलिन-निभयकरस' पाठ अधिक उचित होता (इन्द्रजी)। तुलनीय : 'सर्वदानाधिकमभय-प्रदानम्' (स० इ०, पृ० २०४, टि० ३ में उद्धृत)। प्राचीनकाल में हाथ में जल लेकर दान देने की प्रथा थी। दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख।

(९) **पोरजन-निविसेस-सम-सुख-दुखस**—नैतिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय नरेशों को प्रजासेवक और प्रजा-सुख के लिए उत्तरदायी समझा जाता था। तु०, अशोक का अपने को प्रजा के पिता के समान समझना और प्रजा हित के लिए प्रयास करना। दे०, स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-अभिलेख के श्लोक ६ तथा २२। 'अर्थ-शास्त्र' (१.१९.१६) में कहा गया है :

> प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हिते हितम्।
> नात्मप्रिये हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

इसी प्रकार 'विष्णु संहिता' में कहा गया है :

> प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः।
> स कीर्त्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥

'रामायण' (२.२.४०–४१) में कहा गया है :

> व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः॥
> उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण 'रघुवंश' आदि ग्रन्थों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

(१०) **खतिय-दप-मान-मदनस**—कुछ विद्वानों ने यहां 'खतिय' का अर्थ खत्री जाति किया है। परन्तु आगे गौतमीपुत्र को 'एक बम्हण' कहा गया है और उसकी तुलना राम (=परशुराम) से की गई है जिन्हें कथाओं में पृथिवी को क्षत्रियों से विहीन करने का श्रेय दिया गया है। इसलिए यहां 'खतिय' का सामान्य अर्थ 'क्षत्रिय' ही उचित जान पड़ता है।

(११) **सक-यवन-पल्हव-निसूदनस** तथा **खखरात-वस-निरवसस-करस**—सकों से तात्पर्य क्षहरात शकों से है जिनका उल्लेख 'खखरात' नाम से इसी अंश में हुआ है। यवन व पल्हव = भारतीय यूनानी व पह्लव। ये पंजाब व सिन्ध पर शासन कर रहे थे। दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख। नहपान व उषवदात के नेतृत्व में क्षहरातों ने सातवाहन राज्य के बहुत से प्रदेशों को जीत लिया था। दे०, ऊपर। गौतमीपुत्र शतकर्णि ने क्षहरातों का उन्मूलन कर सातवाहन राजवंश को

फिर से प्रतिष्ठित किया। जैन ग्रन्थ 'आवश्यकसूत्र' की 'निर्युक्ति' की एक गाथा में कहा गया है कि नहपान भृगुकच्छ का स्वामी था और उसने बहुत धनसंग्रह कर लिया था। प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा ने विशाल सेना लेकर उस पर आक्रमण किया, परन्तु असफल रहा। इसके बाद उसने छल से अपने एक मन्त्री द्वारा नहपान को अपना धन दान में खर्च कर देने के लिए उकसाया। इसके बाद उसने नहपान पर फिर आक्रमण करके उसका समूल विनाश कर दिया। इस कथा की पृष्ठभूमि में जोगलथम्भी से प्राप्त विशाल मुद्रानिधि व क्षहरात अभिलेखों के वर्णित दान कार्यों का अनायास स्मरण हो आता है।

(१२) **धमोपजित-कर-विनियोग-करस**—तु०, जूनागढ़ लेख में रुद्रदामाका 'यथावत्प्राप्तैर्बलि शुल्क भागैः कनकरजत वज्र वैडूर्य रत्नोपचय विष्यन्दमान कोशेन' रूप में वर्णन। सेना के अनुसार यहां लेख का आशय है कि गौतमीपुत्र न केवल धर्मशास्त्रों के नियमों के अनुसार कर लगाता था, वरन् उनसे प्राप्त धन को उसी प्रकार व्यय भी करता था।

(१३) **कितापराधे पि सतु-जने अ-पाणहिसा-रुचिस**—तु०, जूनागढ़-लेख का यह कथन कि रुद्रदामा ने संग्राम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी मानव वध न करने की प्रतिज्ञा को निबाहा था।

(१४) **अपराजित-विजयपताक**—इन्द्रजी व सेना ने इसका अनुवाद 'अपराजित विजय पताका' किया है और इसे गौतमीपुत्र का स्वतन्त्र विशेषण माना है। परन्तु इस अवस्था में यहां लेख का पाठ 'अपराजित विजय' पताकस' होता।

(१५) **राजसदस** = राजशब्दस्य। शब्द=उपाधि। सेना ने इसका अनुवाद राजकीय संगीत किया है। उन्होंने इसे पञ्च महाशब्दों से तुलनीय माना है। परन्तु यह धारणा अशुद्ध है। पञ्च महाशब्दों की कल्पना सर्वथा भिन्न थी। 'पञ्च महाशब्द' पांच वाद्य थे जिनको प्रयोग करने की अनुमति सम्राट् अपने अधीन राजाओं को उनकी प्रतिष्ठा सूचित करने के लिए दे देते थे। दे०, भोज के ८६२ ई० के देवगढ़-लेख में महासामन्त विष्णु को 'तत्प्रदत्त पञ्च महाशब्द' कहा जाना। इसी लेख में आगे 'राजर्षिवधू शब्द' आया है जिसका अर्थ 'राजर्षिवधू पद' ही हो सकता है।

(१६) गौतमीपुत्र को 'एक बम्हण' कहे जाने से सातवाहनों का ब्राह्मण होना प्रमाणित होता है। 'राम' से यहां तात्पर्य परशुराम से प्रतीत होता है क्योंकि एक तो पाँचवीं पंक्ति में गौतमीपुत्र अपने को क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करने वाला कहता है और दूसरे दाशरथि राम का उल्लेख अगली पंक्ति में अन्य वैदिक राजाओं के साथ पृथकतः हुआ है।

का प्रयोग हुआ मानते हैं। परन्तु यह धारणा गलत है। यहां 'विक्रम' शब्द का प्रयोग 'चाल' अर्थ में हुआ है।

(८) **अभयोदकदान-किलिन-निभय-करस**—यहां 'अभयदानोदक किलिन-निभयकरस' पाठ अधिक उचित होता (इन्द्रजी)। तुलनीय : 'सर्वदानाधिकमभय-प्रदानम्' (स० इ०, पृ० २०४, टि० ३ में उद्धृत)। प्राचीनकाल में हाथ में जल लेकर दान देने की प्रथा थी। दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख।

(९) **पोरजन-निविसेस-सम-सुख-दुखस**—नैतिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय नरेशों को प्रजासेवक और प्रजा-सुख के लिए उत्तरदायी समझा जाता था। तु०, अशोक का अपने को प्रजा के पिता के समान समझना और प्रजा हित के लिए प्रयास करना। दे०, स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-अभिलेख के श्लोक ६ तथा २२। 'अर्थ-शास्त्र' (१.१९.१६) में कहा गया है :

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हिते हितम्।
नात्मप्रिये हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

इसी प्रकार 'विष्णु संहिता' में कहा गया है :

प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः।
स कीर्त्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥

'रामायण' (२.२.४०-४१) में कहा गया है :

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण 'रघुवंश' आदि ग्रन्थों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

(१०) **खतिय-दप-मान-मदनस**—कुछ विद्वानों ने यहां 'खतिय' का अर्थ खत्री जाति किया है। परन्तु आगे गौतमीपुत्र को 'एक बम्हण' कहा गया है और उसकी तुलना राम (=परशुराम) से की गई है जिन्हें कथाओं में पृथिवी को क्षत्रियों से विहीन करने का श्रेय दिया गया है। इसलिए यहां 'खतिय' का सामान्य अर्थ 'क्षत्रिय' ही उचित जान पड़ता है।

(११) **सक-यवन-पल्हव-निसूदनस** तथा **खखरात-वस-निरवसस-करस**—सकों से तात्पर्य क्षहरात शकों से है जिनका उल्लेख 'खखरात' नाम से इसी अंश में हुआ है। यवन व पल्हव = भारतीय यूनानी व पह्लव। ये पंजाब व सिन्ध पर शासन कर रहे थे। दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख। नहपान व उषवदात के नेतृत्व में क्षहरातों ने सातवाहन राज्य के बहुत से प्रदेशों को जीत लिया था। दे०, ऊपर। गौतमीपुत्र शतकर्णि ने क्षहरातों का उन्मूलन कर सातवाहन राजवंश को

फिर से प्रतिष्ठित किया। जैन ग्रन्थ 'आवश्यकसूत्र' की 'निर्युक्ति' की एक गाथा में कहा गया है कि नहपान भृगुकच्छ का स्वामी था और उसने बहुत धनसंग्रह कर लिया था। प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा ने विशाल सेना लेकर उस पर आक्रमण किया, परन्तु असफल रहा। इसके बाद उसने छल से अपने एक मन्त्री द्वारा नहपान को अपना धन दान में खर्च कर देने के लिए उकसाया। इसके बाद उसने नहपान पर फिर आक्रमण करके उसका समूल विनाश कर दिया। इस कथा की पृष्ठभूमि में जोगलथम्भी से प्राप्त विशाल मुद्रानिधि व क्षहरात अभिलेखों के वर्णित दान कार्यों का अनायास स्मरण हो आता है।

(१२) **धमोपजित-कर-विनियोग-करस**—तु०, जूनागढ़ लेख में रुद्रदामाका 'यथावत्प्राप्तैर्वलि शुल्क भागैः कनकरजत वज्र वैडूर्य रत्नोपचय विष्यन्दमान कोशेन' रूप में वर्णन। सेना के अनुसार यहां लेख का आशय है कि गौतमीपुत्र न केवल धर्मशास्त्रों के नियमों के अनुसार कर लगाता था, वरन् उनसे प्राप्त धन को उसी प्रकार व्यय भी करता था।

(१३) **कितापराधे पि सतु-जने अ-पाणहिंसा-रुचिस**—तु०, जूनागढ़-लेख का यह कथन कि रुद्रदामा ने संग्राम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी मानव वध न करने की प्रतिज्ञा को निवाहा था।

(१४) **अपराजित-विजयपताक**—इन्द्रजी व सेना ने इसका अनुवाद 'अपराजित विजय पताका' किया है और इसे गौतमीपुत्र का स्वतन्त्र विशेषण माना है। परन्तु इस अवस्था में यहां लेख का पाठ 'अपराजित विजय' पताकस' होता।

(१५) **राजसदस** = राजशब्दस्य। शब्द=उपाधि। सेना ने इसका अनुवाद राजकीय संगीत किया है। उन्होंने इसे पञ्च महाशब्दों से तुलनीय माना है। परन्तु यह धारणा अशुद्ध है। पञ्च महाशब्दों की कल्पना सर्वथा भिन्न थी। 'पञ्च महाशब्द' पांच वाद्य थे जिनको प्रयोग करने की अनुमति सम्राट् अपने अधीन राजाओं को उनकी प्रतिष्ठा सूचित करने के लिए दे देते थे। दे०, भोज के ८६२ ई० के देवगढ़-लेख में महासामन्त विष्णु को 'तत्प्रदत्त पञ्च महाशब्द' कहा जाना। इसी लेख में आगे 'राजर्षिवधू शब्द' आया है जिसका अर्थ 'राजर्षिवधू पद' ही हो सकता है।

(१६) गौतमीपुत्र को 'एक बम्हण' कहे जाने से सातवाहनों का ब्राह्मण होना प्रमाणित होता है। 'राम' से यहां तात्पर्य परशुराम से प्रतीत होता है क्योंकि एक तो पाँचवीं पंक्ति में गौतमीपुत्र अपने को क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करने वाला कहता है और दूसरे दाशरथि राम का उल्लेख अगली पंक्ति में अन्य वैदिक राजाओं के साथ पृथकतः हुआ है।

(१७) **विनिवतित-चातूवण-संकरस**—प्राचीन भारतीय नरेश अपने को वर्ण-व्यवस्था का रक्षक प्रायः बताते थे। दे०, हराहा-अभिलेख, श्लोक ६। 'महाभारत' (शान्तिपर्व ६९।७७) में कहा गया है :

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानाम संकरे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये॥

(१८) **समाज**—'समाजों' के विस्तृत विवरण के लिए देखें अशोक के अभिलेख।

(१९) **राम**—राम के साथ गौतमीपुत्र की तुलना दो जगह की गई है। पहले सातवीं पंक्ति में जहाँ परशुराम से आशय होना चाहिए और दूसरे आठवीं पंक्ति में जहाँ राम का नाम नाभाग, नहुष, अम्बरीष, सगर आदि वैदिक राजाओं के साथ आया है। स्पष्टतः यहाँ आशय दाशरथि राम से है।

(२०) चारण का सामान्य अर्थ 'भाट' होता है। परन्तु इसका एक अर्थ किन्नर भी था। दे०, 'रामायण' का अगली टि० में उद्धृत श्लोक तथा मोनियर विलियम्स की 'डिक्शनरी' में प्रदत्त सन्दर्भ। विद्याधरों के लिए दे०, खारवेल का हाथिगुम्फा-लेख।

(२१) यह कल्पना कि मानवों के भयंकर युद्धों को देखने के लिए देवगण आदि भी पधारते हैं, अत्यन्त प्राचीन है। 'रामायण' (स० इ० में पृ० २०५ टि० २ में उद्धृत) में कहा गया है :

समेयुश्च महात्मानौ युद्धदर्शनाकांक्षिणः।
ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सहचारणैः॥

इसी प्रकार 'गौडवहो' (श्लोक ४१६) में कहा गया है कि यशोवर्मा और गौड़ नरेश के भयंकर युद्ध को आकाश से देवताओं ने देखा और विजेता पर पुष्पों की वर्षा की।

(२२) **देयधम**—इसका अर्थ मोनियर विलियम्स ने 'देने का कर्त्तव्य' बताया है, डॉसन ने 'भक्ति पूर्वक दिया गया अर्घ्य' तथा ब्युलर और इन्द्रजी ने 'पुण्यदान' अथवा 'धर्मदान' इसका सही तात्पर्य है 'धर्म वृद्धि के लिए दी गई कोई भी वस्तु'।

(२३) **भदावनीयान**—इस सम्प्रदाय का नाम पुलुमावि के, इस गुहा में ही लिखित, २२ वें वर्ष के अभिलेख में 'भदायनिय' दिया गया है। 'महावंश' में बौद्धों के भद्दयानिक सम्प्रदाय का उल्लेख है। भद्रयानिक लोग स्थविरवादियों की एक शाखा थे (आई० एच० क्यु०, २४, पृ० २५२)। एक अभिलेख (लूडर्स, सूची, स० १०१८) में 'भद्दजनिज्ज' सम्प्रदाय का उल्लेख है।

(२४) **विमानवर**—सेना ने इसको 'स्वर्गीय प्रासाद' अर्थ में लिया है।

(२५) **चितण-निमित**—ब्युलर ने 'चित' का अर्थ चिन्तन मानकर इस पद से यह भाव ग्रहण किया है कि यह दान गुहा की 'देख भाल' के लिए दिया गया था। इन्द्रजी ने इसका सही अनुवाद 'चित्रण' किया परन्तु इसका अत्यन्त संकीर्ण अर्थ किया—'रंगना'। सम्भवतः यहाँ 'चितण-निमित' का प्रयोग 'चित्रादि द्वारा अलंकृत करने के लिए' अर्थ में हुआ है।

(२६) **पितु-पतियो**—सेना ने इसे 'पिता को पुण्य अर्पित करते हुए' अर्थ में लिया है।

(२७) ब्युलर ने पिशाचीपद्रक ग्राम की पहिचान पुलुमावि के २२ वें वर्ष के लेख में उल्लिखित सुदिसन ग्राम से की है। लेकिन इन दोनों ग्रामों के न केवल नाम भिन्न हैं वरन् दोनों की स्थिति भी भिन्न-भिन्न बताई गई है—पिशाचीपद्रक तिरण्हु पर्वत के दक्षिण-पश्चिम की तरफ बताया गया है और सुदिसन गोवधनाहार के दक्षिण में।

(२८) इस लेख के अन्त में प्रदत्त पद 'सव जात-भोग-निरठि' में कुछ शब्द छूट गये लगते हैं।

अभिलेख का महत्व

सातवाहनों की जाति—पुलुमावि के शासन के १९वें वर्ष के नासिक-अभिलेख का अनेक दृष्टि से महत्त्व है। इससे ज्ञात होता है वि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने वंश की प्रतिष्ठा को, जो उसके उदय के पूर्व धूमिल पड़ चुकी थी, पुनः प्रतिष्ठापित किया। उसकी मृत्यु के करीब २० वर्ष बाद उत्कीर्ण इस लेख में उसकी माता गौतमी ने उसकी उपलब्धियों का वर्णन किया है। अतः बहुत से विद्वान् इस लेख को 'एक खिन्न माता का अपने पुत्र की स्मृति में दिया गया मातमी भाषण' कहते हैं। सातवाहनों की उत्पत्ति पर प्रकाश देने वाला तो यह एक मात्र अभिलेख है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे जाति से ब्राह्मण थे। एक, इस लेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'एक बम्हण' (अप्रतिम ब्राह्मण) कहा गया है। दूसरे, इसमें उसे क्षत्रियों का दर्प और मान का मर्दन करने वाला (खतिय-दप-मान-मदनस) बताया गया है। जैसा कि रायचौधुरी ने ध्यान दिलाया है इन दोनों दावों का तात्पर्य यही हो सकता है कि सातवाहन नरेश अपने को ब्राह्मण मानते थे। 'द्वात्रिंशपुत्तलिका' में भी सालिवाहन (=सातवाहन) में ब्राह्मण और नाग रक्त का मिश्रण माना गया है (नाग रक्त के लिए ध्यातव्य नागन्निका तथा स्कन्दनागशातकर्णि जैसे नाम)। भ्रमरघोष (आई० सी०, १, पृ० ५१३ अ०), गोपालाचारी (कॉ० हि० इ०, २, पृ० ३००) तथा भाण्डारकर (इ० आई०, २२, पृ० ३२ अ०) रायचौधुरी के इस निष्कर्ष को नहीं मानते। उनका कहना है कि (१) 'एक बम्हण' का अर्थ 'एक ब्रह्मण्य' = 'ब्राह्मणों का रक्षक' हो सकता है। (२) 'खतिय' से आशय उस 'खतिरिअइओई' जाति से हो सकता है

जिसका उल्लेख 'क्लासिकल' लेखकों ने किया है। (३) गौतमी बलश्री अपने को 'राजर्षिवधू' कहती है। (४) पुराणों में सातवाहन वंश के आदिराज़ को 'वृषल' कहा गया है (डा० क० ए०, पृ० ३८)। परन्तु इन तर्कों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि (१) जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है कि यह आग्रह बड़ा ही विचित्र है कि नासिक-अभिलेख में आए 'वम्हण' और 'खतिय' शब्दों को हम उनके सर्वमान्य अर्थ में न लें और इनका तात्पर्य उन जातियों से मानें जो वस्तुतः ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं थीं। (२) 'राजर्षिवधू' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण 'राजा' की पत्नी के लिए उपयुक्त था। वास्तव में गौतमी बलश्री को उसके पति के ब्राह्मण होने पर भी 'ब्रह्मर्षि वधू' कहना उपयुक्त नहीं होता। 'राजर्षि' का अर्थ 'क्षत्रिय जाति में उत्पन्न ऋषि' नहीं वरन् 'राजकुल में उत्पन्न ऋषि' था (द०, मोनियर विलियम्स्, 'डिक्शनरी')। रायचौधुरी ने ब्राह्मण कुलोत्पन्न राजर्षियों के कई उदाहरण दिए हैं। (३) पुराणों में सातवाहनों के आदि-राज को 'वृषल' इसलिए कहा गया है क्योंकि उन्होंने ब्राह्मणों के लिए अकर्मा कर्म किए थे। 'महाभारत' में कहा गया है कि जो ब्राह्मण धनुर्धारण (अर्थात् युद्धकर्म) राजसेवा, वृषली से विवाह तथा ब्राह्मणों के लिए अन्य अकर्मा कर्म करते हैं वे शूद्र हो जाते हैं। (पो० हि० ए० इ०, पृ० ३६६ पर उद्घृत)। सातवाहनों ने धनुष धारण किया था और शक तथा द्रविड राजकुमारियों से विवाह किए थे। इसलिए कुछ ब्राह्मण लेखकों द्वारा वे अगर 'वृषल' घोषित कर दिए गए, तो कोई आश्चर्य नहीं।

गौतमीपुत्र शातकर्णि की सफलताएँ—इस अभिलेख का सर्वाधिक महत्व गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासनकाल के पुनर्निर्माण की दृष्टि से है। गौतमीपुत्र शात-कर्णि के आविर्भाव के पूर्व सातवाहन साम्राज्य अवनति के एक लम्बे दौर से गुजर चुका था। उनकी अवनति का प्रमुख कारण नहपान के नेतृत्व में क्षहरात शकों का उत्कर्ष था। गौतमीपुत्र के १८वें वर्ष के नासिक अभिलेख से प्रमाणित है कि उसने नहपान के दामाद और नासिक तथा पूना प्रदेशों के शक गर्वनर उषवदात (ऋषभदत्त) को परास्त किया था (दे०, ऊपर)। पुलुमावि के प्रस्तुत नासिक-लेख से इसका समर्थन होता है क्योंकि इसमें गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'सातवाहन कुल के यश को प्रतिष्ठा-पित करने वाला', तथा 'शक यवन पह्लव निसूदन' ही नहीं वरन् 'क्षहरात वंश को निरवशेष करने वाला' भी कहा गया है। (विस्तृत विवेचन के लिए दे०, ऊपर टि०)।

शातकर्णि के साम्राज्य की सीमाएँ—प्रस्तुत नासिक-अभिलेख से गौतमीपुत्र शातकर्णि के साम्राज्य का विस्तार भी ज्ञात होता है। इस लेख में उसके साम्राज्य में ऋषिक, अश्मक, मूलक, विदर्भ, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप तथा आकरावन्ति को गिनाया गया है। इससे स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र का प्रत्यक्ष शासन दक्षिण में कृष्णा से लेकर उत्तर में मालवा एवं काठियावाड़ तक और पश्चिम में कोंकण से लेकर

पूर्व में बरार तक विस्तृत था। इसके अलावा गौतमीपुत्र विन्ध्य के दक्षिण में स्थित समस्त दक्षिणापथ पर प्रभुत्व का दावा करता था क्योंकि इस लेख में उसे न केवल विन्ध्य, ऋक्षवत्, पारियात्र, सह्य, मलय, महेन्द्र, तथा दक्षिणापथ की अन्य पर्वत श्रेणियों का स्वामी बताया गया है वरन् उसे अपनी सेना को तीनों समुद्रों का जल पिलाने का श्रेय भी दिया गया है (दे०, सम्बद्ध टिप्पणियां)। सरकार का कहना है कि इस लेख में दक्षिणापथ के राजाओं के लिए बताए गए चक्रवर्ती-क्षेत्र की कल्पना की अभिव्यक्ति हुई है।

गौतमीपुत्र शातकर्णि का व्यक्तित्व—प्रस्तुत अभिलेख गौतमीपुत्र के व्यक्तित्व का बड़ा रोचक वर्णन करता है। इसके अनुसार गौतमीपुत्र एक अत्यन्त सुन्दर और प्रियदर्शन व्यक्ति था। उसका मुख सूर्य की किरणों से खिले कमल के सदृश था। उसकी चाल श्रेष्ठ हाथियों की चाल के समान सुन्दर थी और भुजाएँ नागराज की कुण्डली के समान मांसल, सुडौल, सुदीर्घ और स्थूल। वह स्वयं एक निर्भय व्यक्ति था और दूसरों को अभयदान देने के लिए प्रस्तुत रहता था। अपनी माता के प्रति वह सदैव आज्ञाकारी रहता था। वह सदाचार का उत्पत्ति-स्थल बताया गया है। हिन्दू धर्म में बताए गए मानव जीवन के तीनों लक्ष्यों—धर्म, अर्थ और काम—के प्रति वह जागरूक रहता था और इनको पाने के लिये अपने समय का समुचित प्रयोग करना जानता था। एक राजा के रूप में वह प्रजा के सुख व दुख दोनों में भाग लेता था और द्विजों और हीन जातियों का समान रूप से हितैषी था। शुभ दिनों में वह प्रजा के लिए उत्सवों व समाजों का आयोजन करता था। वह धर्मशास्त्रों द्वारा अनुमोदित कर ही लगाता था। उसकी धर्मशास्त्रों में श्रद्धा वर्णसंकरता को रोकने के लिए किए गए उसके प्रयास से भी स्पष्ट है। उसे वेदादि शास्त्रों का आधार बताया गया है। स्वभाव से वह दयालु था और अपराधी शत्रुओं की भी प्राणहिंसा में रुचि नहीं रखता था। लेकिन व्यक्तिगत रूप से वह एक महान् योद्धा, अप्रतिम शूर, अप्रतिम धनुर्धर, अद्भुत युद्धों में शत्रुओं को जीतने वाला तथा राम, अर्जुन और भीमसेन के तुल्य पराक्रम वाला था। यह वर्णन निश्चय ही अतिरञ्जित है, परन्तु इससें इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि गौतमीपुत्र शातकर्णि एक अत्यन्त प्रतापी और महान् नरेश रहा होगा।

संयुक्त शासन का मत—आर० जी० भाण्डारकर एवं उनके पुत्र डी० आर० भाण्डारकर ने प्रस्तुत नासिक-अभिलेख के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि एवं उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने कुछ समय के लिए साथ-साथ शासन किया था। उनके प्रमाण : (१) गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासनकाल के २४वें वर्ष में लिखवाया गया नासिक-लेख, जो तीसरी गुफा के बरामदे की पूर्वी दीवार पर खुदा है और जिसमें गौतमीपुत्र शातकर्णि व उसकी माता द्वारा संयुक्त रूप से दान देने का उल्लेख है, गौतमी बलश्री द्वारा अपने पौत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि

के शासन काल के १९वें वर्ष में इसी गुफा में लिखवाए गए प्रस्तुत लेख से बाद का है क्योंकि २४वें वर्ष वाले अभिलेख में कहा गया है कि वह गुफा गौतमी बलश्री व उसके पुत्र ने मिलकर दान दी थी। अतः गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासनकाल का २४वां वर्ष पुलुमावि के शासन के १९वें वर्ष से बाद में पड़ेगा। यह तभी सम्भव हो सकता था जब गौतमीपुत्र शातकर्णि और पुलुमावि ने साथ-साथ शासन किया हो। (२) प्रस्तुत अभिलेख में गौतमी बलश्री अपने को एक 'महाराज' (शातकर्णि) की माता और एक 'महाराज' (पुलुमावि) की पितामही कहती है। ये दोनों उस समय जीवित रहे होंगे। (३) प्रस्तुत अभिलेख पुलुमावि के शासनकाल में लिखवाया गया था परन्तु इसमें वर्णन है केवल शातकर्णि की सफलताओं का। अगर इस लेख के लिखवाए जाने के समय तक शातकर्णि मर चुका होता तो इसमें पुलुमावि की सफलताओं का भी वर्णन होता। वरना यह बात समझानी मुश्किल हो जाती है कि इस लेख में मृत राजा का इतने विस्तार से वर्णन क्यों है जबकि जीवित राजा को एकदम नजरअन्दाज कर दिया गया है।

आलोचना—लेकिन भाण्डारकर के ये तर्क समीचीन नहीं है। (१) गौतमीपुत्र शातकर्णि के २४वें वर्ष के अभिलेख में उल्लिखित दान में हो सकता है केवल बरामदा शामिल रहा हो जबकि पुलुमावि के १९वें वर्ष वाले इस लेख में उल्लिखित दान सम्पूर्ण गुफा का—बरामदे सहित अथवा बरामदे रहित—रहा होगा। (२) यह सही है कि प्रस्तुत लेख में बलश्री को एक 'महाराज' की माता और एक 'महाराज की पितामही कहा गया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय उसका पुत्र जीवित ही था। इस स्थल पर वह एक 'महादेवी' (एक महाराज की पत्नी) भी कही गई है। क्या इसका यह मतलब होगा कि उस समय तक उसका पति भी जीवित था ? (३) यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि एक तरफ २४वें वर्ष वाले लेख में पुलुमावि का उल्लेख तक नहीं है और दूसरी तरफ प्रस्तुत लेख में पुलुमावि के शासन काल का वर्ष दिया गया है। अगर शातकर्णि प्रस्तुत लेख लिखवाए जाने के समय जीवित होता तो उसके शासनकाल का वर्ष दिया गया होता। (४) शातकर्णि के २४वें वर्ष के लेख में, गौतमी बलश्री को 'महादेवी जीवसुता और राजमाता' कहा गया है। परन्तु प्रस्तुत लेख में उसके महादेवी और राजमाता विशेषण तो मिलते हैं 'जीवसुता' (वह जिसका पुत्र जीवित है) विशेषण को छोड़ दिया गया है। (५) प्रस्तुत अभिलेख में शातकर्णि की सफलताओं का वर्णन इसलिए हुआ है क्योंकि बलश्री ने इस लेख में वर्णित दान से सम्बन्धित एक अन्य दान उसी स्थान पर अपने स्वर्गवासी पुत्र के साथ मिलकर दिया था। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि बलश्री अपने इस दान के उल्लेख के समय अपने स्वर्गवासी प्रिय पुत्र की सफलताओं का बखान करती। (६) अगर गौतमीपुत्र शातकर्णि और उसके पुत्र पुलुमावि ने संयुक्तरूपेण शासन किया होता तो इस तथ्य का उल्लेख करने वाला कोई न कोई अभिलेख अथवा सिक्के अवश्य मिले होते।

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का नासिक गुहा-लेख

वर्ष २२

प्राप्ति-स्थल : महाराष्ट्र में नासिक गुहा सं० ३; पुलुमावि के ही १९ वें वर्ष के लेख के उपरान्त

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष २२

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : इन्द्रजी, बॉम्बे गजे०, १६, पृ० ५५४, स० ३; सेना, इ० आई०, ८, पृ० ६५ अ०, सं० ३; लूडर्स, सूची, सं० ११२४; सरकार, स० इ०, पृ० २०७-८

मूलपाठ

१. सिद्धम् । नवनर-स्वामी वासिठी-पुतो सिरि-पुळुमवि [आ] नपयति गोवधने आमच

२. सिवखदिल य अ [म्हे] सव १० (+*) ९ गि प २ दिव १० (+*) ३ धनकट-समनेहि यो एथ [पवते] तिर [ण्हुम्हि *] न धं [म] सेतुस [ले] णस पटिसंथरणे [दत] अखय [नीवि *]-हेतु एथ गोवधनाहारे दखिण-मगे गामो सुदिसणा भिखुहि देवि-लेण-वासोहि निकायेन भदायनियेहि [प] तिगय दतो (।*) एतस दान-गामस सुदिसन [स] परिवटके एथ गोवधन [हारे] पुव-मगे

३. गाम समलिपद ददाम (।*) एत त मह-अइरकेन ओदेन धमसेतुम लेणस पटिसंथरणे अखय-निवि-हेतु गाम सामलिप [द] [भिखुहि देवि]-लेण [वासीहि*] [निका] येन भदायनियेहि पति [ग] ह्य [ओ] यप [पे] हि (।*) एतस च गामस सामलि-[पदस भिखुहल-परिहार]

४. वितराम अपा [वे] स अनोमस अ [लो] णखादक अरठसविनविक सवजात-पारिहारिक च (।*) ऐतहि न परिहारेहि परिहरेहि (।*] एत च गाम-समलिपद-प [रि] हारे च एथ निबधापेहि सु [दिसन] गामस च (।*) सुदिसना [स] विनिब [ध*] कारेहि अणता (।*) महासेनापतिना मेधुनेन····ना छतो (।*) बटि [का]···केहि····तो [।*] दता पटिका सव ११ गि पखे····दिव ७ (।*)····तकणिना कटा (।*) गोवधन-वाथवान फा [सुकाये] विण्हुपालेन स्वामि-वणन णत (।*) नम भगत-सपति-पतपस जिनवरस बुधस (।।*)

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का कार्ले गुहा-लेख

वर्ष २४

प्राप्ति-स्थल : महाराष्ट्र के पूना जिले में स्थित कार्ले गुहा

भाषा : संस्कृत से प्रभावित प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष २४

सन्दर्भ ग्रन्थ व लेख : सेना, इ० आई०, सं० २० ; लूडर्स, सूची सं० ११०६ ; सरकार, स० इ०, पृ० २१०

मूलपाठ

१. सिध (।*) रञो वासिठि-पुतस सिरि-पुळुमाविस सवछरे चतुविसे २० (+*) ४ हेमंतान पखे ततिये ३ दिवसे बि-

२. तिये २ उपासकस हरफरण-सतेफरण पुत्तस्य सोवसकस्य अबुलामाय वथवस्य इम देयधम मडपो

३. नव-गभ माहासधियानं परिगहो सघे चातुदिसे दिन मातापितुनं पुजा (ये*) सव-सतानं हित-सूघ-स्थतये (।*) एक [वि] से सं-

४. वछरे निठितो सहेत च मे पुन बुधरखितेन मातर चस्य दि····उपासिकाय (।*) बुधरखितस मातु देयधंम पिठो अनो (।।*)

यज्ञ शातकर्णि का नासिक गुहालेख

वर्ष ७

प्राप्ति-स्थल : महाराष्ट्र में नासिक स्थल की गुहा सं० २० के वरामदे की पिछली दीवार

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष : ७

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सेना, इ० आई०, ८, पृ० ९४, सं० २४; लूडर्स, सूची, सं० ११४६; सरकार, स० इ०, पृ० २११

मूलपाठ

१. सिधं (।*) रञो गोतमि-पुतस सामि-सिरि यञ-सातकणिस संवछरे सातमे ७ हेमताण पखे ततिये ३

२. दिवसे पथमे कोसिकस महासे [णा] पतिस [भ] वगोपस भरिजाय महासेणापतिणिय वासुय लेण

३. बोपकि-यति-सुजमाने अपयवसित-समाने बहुकाणि वरिसाणि उकुते पयवसाण नितो चातुदि-

४. सस च भिखु-सघस आवसो दतो ति ॥

पुळुमावि का मयाकदोनि-शिलालेख

वर्ष ८

प्राप्ति-स्थल : मयाकदोनी, जिला बेलारी

भाषा : प्राकृत

लिपि : ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ८

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सुकथङ्कर, इ० आई०, १४, पृ० १५५; सरकार, स० इ०, पृ० २१२

मूलपाठ

१. [सि] ध [ं] (।*) रञो सातव [ा] हनानं [सि] रि-पुळुमाविस सव ८ हेम २ दिव १

२. [मस] महासेनाप [ति] स खंद [ना] कस जनपदे स [ा] तव [ा] हणिहारे

३. [गा] मिकस कुमारदतस गामे वेपुरके वथवेन गहपतिकेन [कों] तानं [संबे] न

४. तळाकं खानितं (॥*)

विजय शातकर्णि का नागार्जुनीकोण्ड लेख
वर्ष ६

प्राप्ति-स्थल : आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में नागार्जुनीकोण्ड

भाषा : प्राकृत

लिपि : तीसरी शती ई० की दक्षिण भारतीय मध्य ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ६

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : सरकार, एच०, इ० आई०, ३६, पृ० २७३-४ ; सरकार, दि० च०, स० इ० पृ० ५२१

मुलपाठ

१. **नमो भगवतो अगपोगलस (।*)**
२. **रञो गोतमिपुतस सिरि-विजय सा-**
३. **तकणिस सव ६ गि-प ४ दिव वेसा-**
४. **ख-पुनिम (।।*)**

दक्षिण भारत : कुछ अन्य अभिलेख

कुमारवीरदत्त का गुञ्जी शिलालेख

वर्ष ५ व ६

प्राप्ति-स्थल : मध्यप्रदेश के रायगढ़ जिले में शक्ति रेलवे स्टेशन के समीप स्थित गुञ्जी स्थल

भाषा : प्राकृत

लिपि : प्रथम शती ई० के अन्त की ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ५ व ६

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : मिराशी, इ० आई०, २७, पृ० ४८ अ० ; सरकार, स० इ०, पृ० २२३

मूलपाठ

१. सिध (॥*) नमो भगवतो (॥*) रु (रं) ञो कुमारवीरदत-सिरिस संवछरे पचमे हेमत-पखे चतुथे ४ दिवसे [पंचद *] से १० (+ *) ५ भगवतो उसुभ-तिथे अमचस पोठधिय [प*] पो [तस]

२. गोडछस णतुकेण अमतस मतजु (ज) नपालित [स] पु [ते] न अमचेन दंडनायकेन बलाधिकतेन वासिठीपुतेन पोठदतेन दतं वस-सहसायु-वधनिके

३. [ब] म्हनाणं गोसहसं १००० (।*) संवछरे [छ] ठे ६ गिम्ह-पखे छठे ६ दिव [से १०] बितियं गोसहसं दतं १००० (।*) एतस ये व भाव [टा] अमचेन दंडनायकेन दानि [स नति] केन

४. ** [स पुते *] न इददवे (ते ?) न दता बह्मनानं गोसहसाय (।*)

शालिहुण्डम् से प्राप्त ब्राह्मी शिलाफलक-लेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख आन्ध्र प्रदेश श्रीकाकुलम जिले में स्थित सुप्रतिथ बौद्ध स्थल शालिहुण्डम् से प्राप्त हुआ था। इसकी खोज बड़ौदा के ए० एस० गद्रे ने १९५३ में की। यह एक शिलाफलक पर उत्कीर्ण है जो महाचैत्य में लगा हुआ था। लेख की भाषा प्राकृत है और लिपि गद्रे के अनुसार दूसरी-पहिली शती ई० पू० की। लेकिन सरकार के अनुसार इसकी लिपि दूसरी शती ई० के बहुत पहिले की नहीं हो सकती।

सन्दर्भ-लेख—गद्रे, इ० आई०, ३१, पृ० ८७-८ ; सरकार, स० इ०, पृ० ५२८ ; पी० आई० एच० सी०, १९५३, पृ० ७९-८० ; घोष, ए०, आई० ए०, १९५३-५४, पृ० १३१।

मूलपाठ

१. धंम रञो असोकसिरिनो

व्याख्या

धंमरञो—गद्रे के अनुसार प्रस्तुत लेख खण्डित रूप में मिला है और इसमें अशोक के 'धंमा' अर्थात् धर्म लेखों का उल्लेख है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार अशोक ने चैत्यों में स्मारकों के रूप में शिला-यष्टियां लगवाई थीं। इसलिए हो सकता है कि शालिहुण्डम् स्तूप मौर्यकालीन हो और बाद में किसी श्रद्धालु बौद्ध ने अपने लेख में अशोक के अभिलेखों की चर्चा कर दी हो। इसके विपरीत ए० घोष और सरकार 'धंमरञो' शब्द को अशोक के लिए प्रयुक्त 'धर्मराज' अर्थ में लेते हैं। गद्रे का कहना है कि बौद्ध धर्म में 'धर्मराज' उपाधि चक्रवर्ती अर्थ में केवल बुद्ध के लिए प्रयुक्त होती थी, अशोक के लिए यह कहीं प्रयुक्त नहीं हुई है। स्वयं अशोक अपने लेखों में अपने को 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा' मात्र कहता है। लेकिन सरकार का आग्रह है कि अशोक बौद्ध धर्म में 'द्वीप-चक्रवर्ती' (= जम्बूद्वीप का स्वामी) कहा गया है, इसलिए वह चक्रवर्ती कहला सकता था और 'धर्मराज' उपाधि उसके लिए प्रयुक्त हो सकती थी। अतः सरकार इस लेख का अनुवाद 'धर्मराज अशोक का (चैत्य)' करते हैं।

(२) यह अभिलेख अशोकोत्तर युग के उन विरल लेखों में से एक है जिनमें इस राजा का उल्लेख मिलता है। भारतीय अभिलेखों में उसका उल्लेख करने वाला एक अन्य अभिलेख कुमारदेवी का सारनाथ-लेख है (इ० आई०, ९, पृ० ३१९ अ०)।

वसुषेण आभीर का नागार्जुनीकोण्ड लेख

वर्ष ३० (=२७८ ई०)

प्राप्ति-स्थल : आन्ध्रप्रदेश के गुण्टूर जिले में नागार्जुनीकोण्ड

भाषा : संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण

लिपि : दक्षिण भारतीय मध्य ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ३०

सन्दर्भ ग्रन्थ व लेख : सरकार, इ० आई०, ३४ पृ० १९७ अ० ; स० इ०, पृ० ५२५-६

मूलपाठ

सीद्धं ॥

१. नमो भगवतो देवपरमदेवस्य पुराणपुरुषस्य नारायणस्य (।*) रञो वासेठ्ठीपुत्रस्य आभीरस्य वसुषेणस्य संवत्सर [३०] वा-पा [२]

२. [दि] वस १ महाग्रामिकेन महातलवरेण महादण्डनायक (के) न कौशिकसगोत्रेन पेरिविडेहाणां शिवसेबेन संजयपुरीण-यो (न*) राजि (ज) भि

३. आव [न्त] केन शकेन रुद्रदामेन वानवासकेन च विष्णुरुद्रशिवलानन्द- [सात] -कण्णिना [स्था] ना (न) तो (ऽ*) पि न चालितो एष भगवां रुंबरभवो आष्टं (अष्ट) (भु*) जस्वामि

४. [सेड] गिरिय स्थापितो (।*) पर्व्वतस्य च प्राकारो चितापितो (।*) वापि च महा [नं] दा सोधिता (।*) तडागानि च २ सेडगिरियं मुडेराय च खानितानि (।*) तलवनानि च

५. रोपितानि (।*) यो च ब्राह्मणार्त्थे मित्रार्त्थे च प्राण (म*) पि न परि (त्य*) क्षति गुणतश्च
सर्व्वातिथि [सर्व्व-सख] कृतज्ञ [:]
सत्यव्रत शत्रुगणावमर्द्दि (।*)
रुजु [व्वट]-व्यासन प्रेम-नि-

[ष्ठो]

६. यो [धा*] मिक साधु-जनाभिनं दि । (।*) [उलेखग] श्चास्य सेबक-वर्धमान] [को] (।*) भरद्वाज-सगोत्रेण अमात्येन तिष्यसंमेण भगव [च्छवतृया] : कृतं (।*) स्वस्ति गोक्षातेभ्य: ।

वीरपुरुषदत्त का नागार्जुनीकोण्ड अभिलेख
वर्ष ६

प्राप्ति-स्थल : नागार्जुनी-कोण्ड, आन्ध्र प्रदेश

भाषा : प्राकृत

लिपि : तृतीय शती ई० की दक्षिण भारतीय ब्राह्मी

तिथि : वर्ष ६

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : फोगल, इ० आई०, २०, पृ० १६ अ०, पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ५७

मूलपाठ

१. सिधं [।] नमो भगवतो देवराज-सकतस सुपबुध-बाधिनो सवंञुनो
२. सव-सतानुकंपकस जित-राग-दोस-मोह-विपमुतस महागणि-वसभ
३. [गं] धहथिस संम-सं [बुध] स धातुवर-परिगहितस [।] महाचेतियेमहाराजस
४. विरूपखपति-महासेन-परिगहितस हिरण-कोटि-गोसतसहस-हलस-
५. तसह [म]-दायिस सवथेसु अपतिहतसंकपस वासिठिपुतस इस्वाकुस
६. सिरिचातमूलस सोदरा भगिनि रंञो माढरीपुतस सिरि विरपुरिसदतस
७. पितुछा महासेनापतिस महातलवरस वासिधी-पुतस पूकीयानं कंदसिरि [स]
८. भरिया समण-बमण-कवण-वनिजक दीनानुगह वेलामिक-दान-पटि-
९. भागवो-छिन-धार-पदायिनि सव-साधु-वछला महादानपतिनि महातलवरि खंदसा-
गरंनक-माता
१०. च [।] तिसिरि अपनो उभयकुलस अतिछितमनागतवटमानकानं परिनामेतुनं
११. उभय-लोक-हित-सुखावहथनाय च अतनो च निवाण-सपति-संपादके
१२. सव-लोक-हित-सुखावहथनाय च इमं खंभं पतिथपितं ति [।]
१३. रंञो सिधि वीरपुरिसदतस सव ६ वा प ६ दि १० [।।]

वीरपुरुषदत्त का नागार्जुनीकोण्ड-लेख
वर्ष १८

प्राप्ति-स्थल : नागार्जुनीकोण्ड, आन्ध्र प्रदेश

भाषा : प्राकृत

लिपि : तृतीय शती की दक्षिण भारतीय ब्राह्मी

तिथि : वर्ष १८

सन्दर्भ ग्रन्थ व लेख : फोगल, ई० आई०, २० पृ० २१ ; सरकार, स० इ०, पृ० २३६-७

मूलपाठ

१. सिधम् । नमो भगवतो बुधस (।*) चेतिय घर महारजस विरुपखपतिमहासेन-परिगहितस अगिहोत [ा] गिठोम-वाजपेयासमेध-याजिस अनेक हिरन-कोटि-गौसतसहस-हलसतस (हस*) पदायिस सवथेसु अपतिहत-संकपस वासेठि-पुतस इखाकुलस सिरि-चातमूलस सहोदरा भगिनि महातलवरस वासेठिपुतस युगियान खंदसिरिस भरिय महातलवरि खंदसागरंनग-म [ा] ता चातिसिरि अपनो जामतुकस रञो मठरि-पुतस इखकुनं सिरि-विरपुरिसदतस अयुवधनिके वेजयिके

२ अपनो च उभय-[लोक]-हित-सुख-[निवाणथनाय]-संमसंबुधस]धा]-तु-परिगहितस महाचेतिय-पादमूले पवजितानं नाना-देश-समनागतानं सव-साधूनं महा-भिखु-स [ं] घस अप[नो] [च] [उ] भय-कुलस अतिछित [म] नागत-वटमान के निकपनिके च परिनामेतुनं अपरमहाविन-सेलियानं परिगहे सव-नियुत चातुसल-परिगहितं सेलमंटव पतिठ [ा] पित (।*) रंञो सिरि-वीरपुरिसदतस संवछरं सं १० (+*) ८ हेमंत पखं छठं ६ दिवसं पंचम ५ (।*) सव-सतानं हित [ा] य सुखाय होतु ति (।।*)

रुडपुरिसदत्त का नागार्जुनीकोण्ड-अभिलेख
वर्ष ११

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख नागार्जुनीकोण्ड के स्थल सं० १३ से मिला था और अब नागार्जुनीकोण्ड संग्रहालय में रखा है। यह एक पाषाण स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिसके उपरले भाग में एक 'रिलीफ' चित्र खुदा है। 'रिलीफ चित्र अब कुछ अस्पष्ट हो गया है। अभिलेख में ९ पंक्तियां हैं। इसकी **भाषा** प्राकृत है और **लिपि** दक्षिण भारत में चतुर्थ शती ई० के पूर्वार्द्ध में प्रचलित 'मध्य ब्राह्मी' जो अन्य इक्ष्वाकु अभिलेखों में भी मिलती है। **वर्तनी** में किसी-किसी शब्द में एक ही व्यञ्जन की पुनरावृत्ति, जो सामान्यतः प्रारम्भिक प्राकृत अभिलेखों में देखने में नहीं आती, इस अभिलेख में व एहुवुल चंतमूल के कुछ अन्य अभिलेखों में दृष्टव्य है। एकादश के लिए 'एक्कार' का और 'पत्न्याः' के लिए 'पत्तीय' का प्रयोग भी रोचक हैं। अभिलेख में **तिथि** दी गई है: रुडपुरिसदत्त के शासन का ११ वां वर्ष।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—सरकार, स० इ०, पृ० ५२४; सरकार व कृष्णन्, इ० आई०, ३४, पृ० २० अ०।

मूलपाठ

१. **महाराजस असमेधयाजिस अनेकहिरंणकोडि-गोस-**
२. **तसहस-हलसतसहस-पदायिस स्वामि-सिरि-चंतमूलस**
३. **पसुन्हाय महाराजस स्वामि-सिरि-वीरपुरि** (सदतस)
४. **सुंन्हाय महाराजस** [**स्वामि-**]**-सिरि-एहुवलचंतमूलस**
५. **पत्तीय रञो वासिठीपुतस इखाकूनं सिरि-रुद-**
६. **पुरिसदतस मातूय महादेवीय महाखतप धूतूय बहु-**
७. **फल-सगोताय सिरि-वंमभटाय संवछर एक्कारं १०** (+ *) **१**
८. **वासापखं पथमं १ दिवसं अठमं ८ सग-गताय छाय-**
९. **खं** [**भो**] ॥

शब्दार्थ

असमेधयाजिस = अश्वमेधयाजिनः, अश्वमेध करने वाला ; हिरणं = हिरण्य, सोना ; **कोडि** = कोटि, करोड़ ; **पदायिस** = प्रदायिनः, देने वाला ; **पसुन्हाय** = प्रस्नुषायाः, पौत्रवधू ; **सुन्हाय** = स्नुषायाः, पुत्रवधू ; **पत्तीय** = पत्न्याः, पत्नी ; **धूतूय** = दुहितुः, पुत्री ; **बहफलसगोताय** = वृहत्फलसगोत्रायाः ; **वंमभटाय** = वर्मभटा (नामक रानी) ; **एकूकारं** = एकादशे ; **वासापखं** = वर्षापक्षे ; **सगगताय** = स्वर्गगतायाः ; **छायखंभो** = छायास्तम्भः, मूर्त्तियुक्त स्तम्भ

अनुवाद

अनेक करोड़ सुवर्ण, लाखों गायें (तथा) लाखों हल दान देने वाले अश्वमेधयाजी महाराज स्वामी श्री शान्तमूल की पौत्रवधू, महाराज स्वामी श्री वीरपुरुषदत्त की पुत्रवधू, महाराज स्वामी श्री एहुवल शान्तमूल की पत्नी, इक्ष्वाकुओं के राजा वासिष्ठी पुत्र श्री रुद्रपुरुषदत्त की माता (= विमाता), महाक्षत्रप दुहिता, बृहत्फल गोत्रोत्पन्ना, स्वर्गगता महादेवी श्री वर्मभटा का (रुद्रपुरुषदत्त के शासनकाल के) संवत्सर एकादश—११—के वर्षापक्ष के प्रथम—१—दिन अष्टमी—८ (श्रावण के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को) (स्थापित) छायास्तम्भ ।

व्याख्या

(१) **छाया खंभ** = छाया स्तम्भ = मूर्त्ति युक्त स्तम्भ । 'छाया' शब्द यहाँ 'मूर्त्ति' अर्थ में प्रयुक्त है । १३५२ ई० के श्रीकर्मांम्-अभिलेख में गंग नरेश तृतीय भानु ने अपने पिता व विमाता की एक-एक छाया (= मूर्त्ति) श्रीकर्मांम् मन्दिर को देने का उल्लेख किया है । प्रस्तुत लेख जिस स्तम्भ पर लिखा है उसके ऊपर वस्तुतः एक 'रिलीफ' मूर्त्ति उत्कीर्ण है जिसमें एक स्त्री (सम्भवतः स्वयं वर्मभटा) को एक ऊँची चौकी पर बैठे दिखाया गया है । उसके पैर एक चरणपीठ पर रखे हैं और उसके दाहिने हाथ में दर्पण है । उसके सामने एक दासी खड़ी है और एक लघु नारी पैरों के पास बैठी है । रानी ने विदेशी उदीच्य वेशभूषा धारण की हुई है जो स्वाभाविक है क्योंकि वह शकजातीय थी ।

(२) **मातूय**—अभिलेख में वर्मभटा को रुद्रपुरुषदत्त की 'माता' कहा गया है । परन्तु वह वहफल (बृहत्फल) सगोत्रा थी जबकि रुद्रपुरुषदत्त = 'वासिष्ठीपुत्र' था अर्थात् उसकी मां वसिष्ठ गोत्रोत्पन्ना थी । इसलिए यहाँ 'माता' का अर्थ 'विमाता' होगा ।

(३) **बहफल सगोताय** = बृहत्फल सगोत्रायाः । स्पष्टतः वर्मभटा यह मानती थी कि उसके पितृकुल का गोत्र—अर्थात् शक नरेशों का गोत्र—बृहत्फल था ।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख का इक्ष्वाकु इतिहास की दृष्टि से नहीं अन्य अनेक दृष्टियों से भी महत्व है। इक्ष्वाकुओं ने आन्ध्र प्रदेश पर तीसरी शती व सम्भवतः चौथी शती ई० के प्रारम्भिक वर्षों में शासन किया था। उनका उत्तर भारत के इक्ष्वाकुओं से सम्बन्ध अज्ञात है। उनका उल्लेख पुराणों में सम्भवतः श्रीपर्वतीय आन्ध्रभृत्यों के रूप में है। उनकी राजधानी नागार्जुनीकोण्ड घाटी में श्रीपर्वत के समीप स्थित विजयपुरी थी। उनके वंश का संस्थापक प्रथम शान्तमूल (तीसरी शती का द्वितीय पाद) था जिसे इस अभिलेख व अन्य अभिलेखों में अश्वमेधयाजी, अनेकों करोड़ सुवर्ण दान देने वाला व अन्य लेखों में वाजपेय आदि यज्ञ करने वाला तथा महासेन (कुमार = कार्तिकेय = स्कन्द) द्वारा स्वीकृत (महासेन परिगहितस) बताया गया है। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र माठरीपुत्र वीरपुरुषदत्त था। उसकी एक रानी महादेवी रुद्रधर भट्टारिका को एक अभिलेख में 'उजनिका महार बालिका' (उज्जयिनी के महाराज की पुत्री) कहा गया है। स्पष्टतः वह पश्चिमी भारत के शक महाक्षत्रपों के वंश में उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार शकों के साथ इक्ष्वाकुओं का सम्बन्ध वीरपुरुषदत्त के काल में ही प्रारम्भ हो गया था। उसके पुत्र एहुवल शान्तमूल ने वर्मभटा से विवाह करके इस सम्बन्ध को दृढ़ किया। प्रस्तुत अभिलेख में वर्मभटा को महाक्षत्रप दुहिता कहा गया है। शकों और इक्ष्वाकुओं के सम्बन्ध का संकेत गुण्टूर जिले के पेटलुरिपालेम स्थल से शक मुद्राओं की एक विशाल निधि तथा नागार्जुनीकोण्ड की कलाकृतियों में शकों के अंकन से भी मिलता है। (इ० आई०, ३४, पृ० २१)। अभाग्यवश वर्मभटा इस लेख में अपने पिता का नाम नहीं बताती परन्तु वह यह रोचक सूचना देती है कि वह बहफल (बृहत्फल) गोत्र में उत्पन्न हुई थी। यह गोत्र उसके पितृकुल का ही होना चाहिए। इस प्रकार इस लेख से ज्ञात होता है कि हिन्दू संस्कृति के प्रभावान्तर्गत आने के बाद शक नरेश अपने को बृहत्फलगोत्रोत्पन्न मानने लगे थे।

प्रस्तुत लेख व सातवाहन, इक्ष्वाकु तथा अन्य दाक्षिणात्य वंशों के ऐसे ही अभिलेखों से स्पष्ट है कि दक्षिणी भारत में रानियों का उल्लेख करते समय उनके पिता का नाम कभी-कभी उसकी वंशावली व गोत्र सहित दे दिया जाता था। इस तथ्य का महत्व अभी भली-भाँति नहीं समझा गया है। उदाहरणार्थ इस तथ्य के प्रकाश में यह सामान्य धारणा कि गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती-गुप्ता का अपने लेखों में अपने पितृकुल का वर्णन करना व अपने को धारण सगोत्रा कहना यह प्रमाणित करता है कि वह अपने पितृकुल में बहुत अभिमान करती थी, आधारहीन माना जाना चाहिए।

प्रस्तुत अभिलेख में उल्लिखित रुडपुरिसदत्त (= रुद्रपुरुषदत्त) एहुवल शान्तमूल का पुत्र था। वह निस्सन्देह गुर्जला – अभिलेख से ज्ञात रुळु पुरिसदत्त

है। दो अभिलेखों में 'ड' और 'ळ' में अन्तर सम्भवतः संस्कृत 'द्र' के द्रविडीकरण के प्रयास का परिणाम था।

रुद्रपुरुषदत्त अपने वंश का अन्तिम ज्ञात नरेश है। उसके काल में ही या उसके तत्काल बाद आन्ध्र प्रदेश पर पल्लवों ने अधिकार कर लिया (द्र०, पल्लवों का मयिडवोलु-दानपत्र, स० इ०, पृ० ४५७)। उसका शासन आन्ध्र पर समुद्रगुप्त के आक्रमण के कुछ दशक पहिले पड़ेगा। इस दृष्टि से समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति की भाषा पर इक्ष्वाकु अभिलेखों का प्रभाव (यथा, 'असमेधयाजिस,' हिरंणकोटि पदायिस' आदि वाक्यांशों में) बड़ा रोचक है।

महाराज गण का भद्रक पाषाण अभिलेख
वर्ष ८ (तीसरी शती ई०)

लेख-परिचय—यह लेख श्री एस० सी० दे ने उड़ीसा के भद्रक नामक **स्थल** से पांचमील दूर स्थित भद्रकाली के मंदिर से १९५१ में प्राप्त किया था। वहाँ इस प र भक्त लोग अपने पैर धोया करते थे। बाद में इसे सरकार ने इ० आई० में प्रकाशित किया। लेख में कुल तीन पंक्तियां हैं। इसकी **भाषा** प्राकृत है और **लिपि** तीसरी शती ई० की ब्राह्मी। इसमें तिथि नहीं दी गई है लेकिन सरकार ने लिपि के आधार और इसमें संस्कृत के बजाय प्राकृत का प्रयोग होने के कारण इसे तीसरी शती ई० के उत्तरार्द्ध का माना है। लेख के बहुत से अक्षर अपठ्य हो गये हैं।

सन्दर्भ-लेख व ग्रन्थ—सरकार, इ० आई०, २९, पृ० १६९ अ०; स० इ०, पृ० १९; आई० एच० क्यु०, ३७, भाग ४, पृ० १८८-९२; पाणीग्रही, के० सी०, वही, ३५, भाग ३, पृ० २४०-६।

मूलपाठ

१. महाराज सिरि ग [णस सं ८] [।] मूल जपे [न] देवा ३ दता (।*)
२. **वप ८० (।) महाकुलपति अय्य अगिसमेणं पानिदे वडिदं पडिछिदं (।*)
३. *[अधिवासक] [भद] अपवस महासर खलि अडसम [।]**

पाठ-टिप्पणी—'महाराज' के पूर्व 'सिद्धम्' के चिह्न का कुछ अंश शेष है। दूसरी पंक्ति के प्रथम दो अपठ्य अक्षर 'आढ' हो सकते हैं और तीसरी पंक्ति के शुरु में किसी स्थान का नाम रहा होगा। पाणीग्रही ने महाराज के बाद 'सुर शम्मस' पाठ माना है।

शब्दार्थ

देंवा=देव प्रतिमाएँ ; **अय्य**=आर्य ; **आढवाप**=भूमि माप की एक इकाई ; **पानिदे**=पानिद स्थल पर ; **वडिदं**=वण्टितं, बँटवारा ; **पडिछिदं**=परिगृहीतम्, स्वीकार्य है ; **अधिवासक**=निवास करने वाले

अनुवाद

सिद्धि हो। महाराज श्री गण के (शासन के) ८वें वर्ष में। मूलजप (नामक व्यक्तिद्वारा) द्वारा तीन देव प्रतिमाएँ दी गईं (और) ८० (आढ ?) वाप (भूमि भी)। पानिद (नामक ग्राम) में (भूमि का) बंटवारा महाकुलपति आर्य अगिसम (=अग्निशर्मा) को स्वीकृत है। (अमुक स्थान) के निवासी भद (= भद्र), अपवस (=अपवर्ष), महसर (=महासार ?), खलि तथा अडसम (अटशर्मा) (दान के साक्षी हैं)।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख गुप्तों के उदय के पूर्व उत्कल की राजनीतिक स्थिति पर कुछ प्रकाश देता है। इस लेख में उल्लिखित महाराज गण अन्य साक्ष्य से अज्ञात है। वह पुष्करण के महाराज चन्द्रवर्मा के समान, जिसे समुद्रगुप्त ने उखाड़ फेंका था एक स्वतन्त्र नरेश लगता है।

परिशिष्ट १

प्रथम कनिष्क का आगरा पाषाण स्तम्भ लेख

यह प्रथम कनिष्क का नवीनतम अभिलेख है। यह १.३० मीटर ऊँचे तथा .९६ मीटर परिधि वाले कुछ गोलाकार और अंशत खण्डित स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जो बलुआ पत्थर से निर्मित है और आजकल आँक्योंलोजिक सर्वे ऑव इण्डिया, नार्दन सर्किल, के सुपरिण्टेण्डेण्ट के आगरा स्थित कार्यालय में रखा हुआ है। इसका **प्राप्तिस्थल** अज्ञात है परन्तु अनुमानतः यह मथुरा-आगरा प्रदेश से ही मिला होगा। कट्टि के अनुसार सम्भवतः यह एक मन्नत (वोटिव) स्तम्भ था। इस लेख में आठ पंक्तियां थीं जिनमें अन्तिम दो लगभग मिट गई हैं। शेष लेख भी काफी क्षत हो गया है। अन्तिम चार पंक्तियों का आशय तो सर्वथा अस्पष्ट है, परन्तु भाग्यवश राजा का नाम व तिथि बच गये हैं। इसकी **भाषा** प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और **लिपि** प्रथम शती ई० की कुषाणकालीन ब्राह्मी। इसके अक्षर प्रायः १.५ सेण्टीमीटर ऊंचे हैं और कोसम, सहेत-महेत, तथा मथुरा (कर्जन संग्रहालय) अभिलेखों के समान हैं। **वर्तनी** की विशेषताओं में 'कनिष्क' के नाम का 'काणिष्क' रूप में लिखा जाना उल्लेखनीय हैं। इसकी तिथि 'महाराज' (= महाराज) काणिष्क (प्रथम कनिष्क) के शासन का १६ वां वर्ष (=९४ ई०) है।

यह लेख हाल ही में प्राप्त हुआ है। इसे सर्वप्रथम श्री माधव एन० कट्टि ने 'जर्नल ऑव एपिग्राफिकल सोसायटी' के अंक ४ (पृ०७६-८) में सम्पादित किया है।

मूलपाठ

१. म[हा] रजस्य-काणिष्कस्य····
२. [सं] वछरे १०(+ *) ६ एताये [पु]
३. [वं]····[भि] कुना प्रति [ठित]
४. [ठभो रि]ष्टिबेण-[स] गोत्राना [ं]
५. [प्रथम]····भिकुय····
६. [भिकु]····[खत्तिय]····
७. [थभो]····
८. ········

अनुवाद

महाराज कनिष्क के संवत्सर १६ में, इस पूर्वोक्त तिथि को······भिक्षु द्वारा प्रतिष्ठापित स्तम्भ···· ····रिष्टिषेण गोत्र के···· ·· प्रथम······भिक्षु के लिये······ भिक्षु······क्षत्रिय······स्तम्भ

महत्त्व

इस लेख का उद्देश्य एक अज्ञात भिक्षु द्वारा एक स्तम्भ की स्थापना कराये जाने और उस अवसर पर दान दिये जाने का उल्लेख करना है। दाता सम्भवतः स्वयं प्रथम कनिष्क था। पाने वाले थे वह भिक्षु तथा रिष्टिषेण गोत्र का कोई व्यक्ति जो ब्राह्मण रहा होगा। यह कनिष्क का प्रथम लेख है जो मन्नत-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है और जिसमें १६ वें वर्ष का उल्लेख है। कनिष्क द्वारा एक भिक्षु तथा एक ब्राह्मण को एक साथ दान देने का उल्लेख करके यह लेख कनिष्क के उदार धार्मिक दृष्टिकोण का अतिरिक्त रूप से समर्थन करता है।

रेह शिवलिंग अभिलेख

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्री गोवर्द्धनराय शर्मा एवं उनके सहयोगियों ने उत्तर प्रदेश के फतहपुर जिले के रेह नामक स्थल से, जो कौशाम्बी से ९६ किलोमीटर पश्चिम की ओर स्थित है, एक लेख खोज निकाला है जो उनके अनुसार भारतीय-यवन नरेश मिनेण्डर का है। यह लेख १४५ सेण्टीमीटर लम्बे एक शिवलिंग पर उत्कीर्ण है जिसका उपरला लिंग वाला भाग जो ६८ से० मी० लम्बा है, स्थूल है और निचला, दण्ड वाला भाग ११ से० मी० लम्बा और अपेक्षया पतला है। शर्माजी के अनुसार इसका आकार अशोकीय स्तम्भ के समान है। लेख दण्ड वाले भाग में सबसे नीचे लिखा है। इसमें कुल चार पंक्तियाँ हैं जिनमें अन्तिम पंक्ति लगभग सम्पूर्णतः अपठ्य हो गई है। शर्मा जी का अनुमान है कि लेख में इसके बाद कुछ पंक्तियाँ और रही होंगी जो अब लिंग का दण्ड भाग टूट जाने के कारण अनुपलब्ध हैं। अक्षर अशोक के अहरौरा लघु शिला लेख के समान हैं लेकिन प्रो० शर्मा के अनुसार लिपि-शास्त्रीय दृष्टि से बेसनगर लेख से बहुत भिन्न नहीं है। इसलिये इसे प्राचीनतम मौर्योत्तर अभिलेखों में अनायास परिगणित किया जा सकता है। शर्मा जी ने इसकी तिथि लगभग १५० ई० पू० या इसके कुछ वर्ष पूर्व मानी है। वह इसमें भारतीय-यवन नरेश मिनान्दर (मिनेण्डर) का नाम उल्लिखित मानते हैं जब कि हमें इसमें उसका नाम पढ़ने में नहीं आया।

रेह अभिलेख के अस्तित्व का पता अप्रैल १९७९ में चला लेकिन पता नहीं क्यों इसकी उपलब्धि की घोषणा राष्ट्रीय समाचारपत्रों में इसके ठीक एक वर्ष उपरान्त की गई (द्र०, हिन्दुस्तान टाइम्स एवं टाइम्स ऑव इण्डिया, अप्रैल १२, १९८०) जब इसके ऊपर प्रोफेसर शर्मा की एक पुस्तक प्रकाशित हुई (शर्मा, जी० आर०, रेह इन्स्क्रिप्शन ऑव मिनेण्डर एण्ड द इण्डोग्रीक इन्वेजन ऑव द गंगा वैली, इलाहाबाद, अप्रैल १९८०)।

अखबारों में इसकी उपलब्धि का समाचार प्रकाशित होने के पूर्व ही वह शिवलिंग जिस पर यह लेख लिखा है, गांव वालों द्वारा पुनः प्रतिष्ठापित किया जा चुका था और उसके चारों ओर चबूतरा बनाया जा चुका था। इसलिये अब इस लेख के सही पाठ के लिये पुरालेखविद् प्रोफेसर शर्मा द्वारा प्रकाशित चित्र पर निर्भर रहने के लिये विवश हैं। न जाने क्यों इस अभिलेख को लिखवाने वाले ने इसे शिव-लिंग के सबसे निचले भाग पर ही क्यों उत्कीर्ण कराया था क्योंकि वह यह तो समझता ही होगा कि शिवलिंग का यह भाग सदैव भूगर्भस्थ रहने के कारण भक्त और दर्शकों की दृष्टि में कभी नहीं आयेगा।

मूल पाठ

१. महाराजस राजराजस
२. महांतस त्रातारस धांमी
३. कस जयंतस च अप्र
४. ....र (?) ि...ा...र

पाठ टिप्पणी—इस लेख की चौथी पंक्ति अत्यन्त खण्डितावस्था में मिली है। प्रो० शर्मा का इस पंक्ति का पाठ है '(जितस) मि ना न द (दे ? र स'। परन्तु स्वयं शर्मा जी ने इस पंक्ति के जिन प्रथम तीन अक्षरों का 'जितस' पाठ सुझाया है, उनमें वह केवल 'त' अक्षर की खड़ी रेखा ही पढ़ पाते हैं। लेकिन तीसरे पंक्ति के अन्तिम दो अक्षर 'अप्र' हैं, इसलिये हो सकता है चौथी पंक्ति के प्रारंभ में 'च–र–स' अक्षर रहे हों और जिस खड़ी रेखा को शर्मा जी 'त' का अवशेष मानते हैं वह 'र' का अवशिष्ट भाग हो। 'अप्रचरस' उपाधि स्वयं मिनेण्डर के शिनकोट (बाजौर) लेख में आई भी है। इसके उपरान्त शर्मा जी ने 'मि–ना–न–द (अथवा दे)–र–स' अक्षर पढ़े हैं। लेकिन हमें इनमें केवल ह्रस्व 'इ' तथा 'आ' मात्राएं तथा 'र' अक्षर ही पढ़ने में आये हैं। 'इ' तथा 'आ' भी मात्रायें जिन अक्षरों पर लगी हैं वे स्पष्ट नहीं हैं। उनकी केवल उपरली खड़ी रेखायें दिखाई देती है, निचला भाग टूट गया है। ये अक्षर क्रमशः 'मि' तथा 'ना' ही थे, कहना दुष्कर है। इस पंक्ति का अन्तिम अक्षर भी हमें 'स' नहीं लगता।

व्याख्या

प्रस्तुत अभिलेख बड़ा महत्वपूर्ण है। अगर इसकी चौथी पंक्ति का शर्मा जी के द्वारा पठित पाठ सही है तो यह यवनराज मिनेण्डर का ही नहीं, किसी भी भारतीय-यवन नरेश का भारत में पाया जाने प्रथम ब्राह्मी अभिलेख होगा और इससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित होगा कि मिनेण्डर ने कम से कम उत्तर प्रदेश में फतहपुर तक विजय प्राप्त की थी। परन्तु हमें इस लेख में मिनेण्डर का उल्लेख मानना निर्विवाद नहीं जान पड़ता। यह तथ्य स्मरणीय है कि मिनेण्डर निश्चय ही बौद्ध था जब कि प्रस्तुत लेख किसी शैव राजा का है। हमें प्रोफेसर शर्मा का यह आग्रह भी सही नहीं लगता कि इस अभिलेख से यह निर्णायकरूपेण प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय-यवन नरेशों में शुंग साम्राज्य और गंगा उपत्यका का प्रमुख विजेता मिनेण्डर ही था क्योंकि तर्क के लिये इस लेख में मिनेण्डर का उल्लेख स्वीकार करने के बावजूद यह मानना सम्भव है कि मिनेण्डर के पूर्व डिमिट्रियस इन प्रदेशों को आक्रान्त कर चुका था। भारत पर यूनानी आक्रमण के समर्थन में शर्मा जी ने जितने पुरातात्त्विक साक्ष्य गिनाये हैं वे सभी इस मान्यता के साथ भी व्याख्येय हैं कि उत्तर भारत को आक्रान्त करने वाला प्रथम भारतीय-यूनानी नरेश डिमिट्रियस था। अगर अकेला महमूद गजनवी कुछ ही वर्षों में उत्तर भारत के कुछ प्रदेशों को अनेक बार आक्रान्त कर सकता था तो ऐसी ही सफलता मिनेण्डर के कुछ ही वर्ष पहले डिमिट्रियस क्यों नहीं प्राप्त कर सकता था।

महाक्षत्रप रुपिअम्मा का तिथिविहीन पौनी स्तम्भ-लेख

वह स्तम्भ जिस पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है, १९६० ई० में मध्य प्रदेश के पौनी नामक स्थान पर मणिराम लन्जेवार नामक सज्जन के खेत की खुदाई के समय मिला था। स्तम्भ टूटा फूटा है और ३० सेण्ट मीटर चौड़ा तथा ३० से ५७ सेण्टी-मीटर तक ऊंचा है। इस पर द्वितीय शती ई० की ब्राह्मी लिपि में और प्राकृत भाषा में मात्र तीन पंक्तियों में एक लघु लेख लिखा है। इसकी वर्तनी में 'महाखत्तव' शब्द में 'प' के स्थान पर 'व' का प्रयोग उल्लेख्य है। लेख की दो पंक्तियों की लम्बाई २१ सेण्टीमीटर है तथा तीसरी की केवल ९ सेण्टीमीटर। लेख का उद्देश्य महाक्षत्रप कुमार रुपिअम्मा की स्मृति में एक छाया स्तम्भ की स्थापना किये जाने का उल्लेख करना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—इस अभिलेख को बी० बी० मिराशी ने इ० आई०, ३७, भाग ५, में पृ० २००–३ पर सम्पादित किया है।

मूल पाठ

१. सिध (   ) महखत्तव—कुमारस
२. रुपिअंमस छाया—
३. खंभो (   )

अनुवाद

सिद्धि हो (यह) महाक्षत्रप कुमार रुपिअम्मा का छाया स्तम्भ (है)।

व्याख्या

(१) **महाखत्तव कुमार** = महाक्षत्रप कुमार। यहां 'महाक्षत्रप' के साथ 'कुमार' शब्द का प्रयोग समस्यामूलक है। यहां 'कुमार' का अर्थ पुत्र नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था में उसके पिता महाक्षत्रप का नाम दिया गया होता। दूसरे क्षत्रप अभिलेखों में 'कुमार' शब्द 'पुत्र' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। दे०, अगली टि०।

(२) **छाया खंभ** = छाया स्तम्भ। इसका तात्पर्य मूर्ति चित्र युक्त स्तम्भ है। इस अर्थ में इस शब्द का यह प्राचीनतम ज्ञात प्रयोग है। बाद में यह इस अर्थ में इक्ष्वाकु अभिलेखों में प्रयुक्त मिलता है। उदाहरणार्थ रुडपुरिसदत्त के शासन के ११ वें वर्ष के एक नागार्जुनीकोण्ड अभिलेख में 'छाया स्तम्भ' का उल्लेख है (इ० आई०, ३४, पृ० २० अ०; दे०, पीछे)।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख से रुपिअम्मा नामक एक नये महाक्षत्रप का अस्तित्व ज्ञात होता है। वह शकजातीय लगता है। उसका उन्मूलन गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किया होगा, यह कल्पना करना सम्भव है।

परिशिष्ट २

कुछ नवीन अभिलेख : संक्षिप्त परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार हो जाने के उपरान्त भारत के विभिन्न भागों से अनेक नवीन अभिलेख प्रकाश में आये हैं। उनमें कुछ का संक्षिप्त वर्णन, जो हमें उपलब्ध हो पाया है, इस प्रकार है—

(१) मध्यभारत के सेहोर जिले के पंगुदारी स्थल से, जो विदिशा से महिष्मती जाने वाले मार्ग पर पड़ता है, **अशोक के दो शिलालेख** मिले हैं। इनमें अशोक ने अपने परिवार के एक राजकुमार को आदेश दिया है कि वह वहां सब दिशाओं से आने वाले बौद्ध भिक्षुओं की सुख-सुविधा की व्यवस्था करे।

(२) **अशोक के चार नवीन अभिलेख** कर्नाटक से मिले हैं—दो नित्तूर के समीप तथा दो उदेगोलम् के निकट। ये दोनों ही स्थान बेलारी जिले के सिरिगुप्पा ताल्लुके में हैं। इनमें कुछ में अशोक का उल्लेख अशोक नाम से हुआ है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है, क्योंकि अभी तक उसका यह नाम केवल मास्की तथा गुजर्रा अभिलेखों में ही प्राप्त था। कर्नाटक से उपलब्ध अशोकीय अभिलेखों की संख्या अब दस हो गई है।

(३) श्री के० एम० श्रीवास्तव को अपने उत्खनन-कार्य के दौरान **पिप्राहवा से कुछ लघु अभिलेख तथा मुहर-छापें** मिली हैं। इनमें कुछ में 'कपिलवस्तु' नाम आया है। इससे पिप्राहवा की कपिलवस्तु से पहिचान निर्णायकरूपेण सिद्ध हो गई है।

(४) कुल स्थानों से गुहा चित्रों के साथ लघु अभिलेख उत्कीर्ण मिले हैं। उदाहरणार्थ मध्य भारत में भीमबैठका की एक गुफा में अशोकीय ब्राह्मी में सिंहकस-लेण (=सिंहक की गुहा) लिखा मिला है। ग्वालियर के समीप एक गुफा में 'दुम्बकेन कारितम्' (=दुम्बक द्वारा बनवाई गई) उत्कीर्ण है। इसी प्रकार कोटा जिला में कोला-जी-कुई स्थान पर श्री जी० आर० किशोर द्वारा खोजी गई एक गुफा में द्वितीय प्रथम शती ई० पू० की ब्राह्मी में घटससि नामक ग्राम की निवासिनी भिक्षुणी अपभ-सेना का तथा अप्रदेस विषय के निवासी श्रमण सिपिसेन का उल्लेख है।

(५) शोभना गोखले को महाराष्ट्र में ईसवी संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों के कुछ नवीन लघु लेख कन्हेरी स्थल से प्राप्त हुए हैं। इनमें लगभग १५ बौद्ध विद्वानों का उनके नाम से उल्लेख हुआ है।

(६) इक्ष्वाकु नरेश प्रथम शान्तमूल का एक अभिलेख गुण्टूर जिले के केसन-पल्ली स्थान पर स्थित स्तूप के निकट मिला है। यह उसका प्रथम ज्ञात अभिलेख है।

(७) मध्यप्रदेश के अमरावती जिले के मल्हार स्थल से पांच ताम्रपत्रों का एक 'सेट' मिला है। इसमें एक ब्राह्मण राजवंश का उल्लेख है जिसके शासक अश्वमेधयाजी थे। लेख प्राञ्जल संस्कृत में है तथा इसकी लिपि पेटिकाशीर्ष ब्राह्मी है। इससे विदर्भ के प्राक्-वाकाटकयुगीन इतिहास पर नवीन प्रकाश मिला है।

(८) पिछले वर्षों में मथुरा के विभिन्न स्थलों से कई महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं :—

(अ) मथुरा के मिर्जापुर नामक स्थान से प्राप्त एक लेख में, जिसे श्री के० एम० शर्मा ने प्रकाशित किया है, शक महाक्षत्रप शोडास के कोषाध्यक्ष मूलवस्तु की पत्नी पक्षका के दान का उल्लेख है। उसने अन्य अनेक वस्तुओं के अतिरिक्त पाषाण फलक पर उत्कीर्ण एक श्री (=लक्ष्मी) प्रतिमा भी दान दी थी जो वासुदेव के मन्दिर के समीप स्थापित की गई थी। वैष्णव धर्म में श्री पूजा के इतिहास की दृष्टि से यह लेख बड़ा महत्वपूर्ण है।

(आ) मथुरा से प्राप्त एव नवीन कुषाणकालीन अभिलेख में कोत्सीपुत्र मगक के दान एवं महेश्वर (=शिव) की उपासना का उल्लेख है। यह अभिलेख शिवो-पासना के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

(इ) मथुरा से प्राप्त एक अन्य नवीन कुषाणकालीन बुद्ध प्रतिमा अभिलेख में बुद्ध का शाक्यमुनि नाम से उल्लेख है। इसे किसी कायस्थ की पत्नी ने लिखवाया था। 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग करने वाला सम्भवतः यह प्राचीनतम अभिलेख है।

(ई) 'कायस्थ' का प्रयोग संवत् ९३ (=१७१ ई०) के एक अन्य अभिलेख में भी मिला है। इसमें एक कायस्थ–बौद्ध श्रमण द्वारा एक प्रतिमा एवं छत्र दान दिये जाने का उल्लेख है।

(उ) मथुरा के गोविन्दनगर स्थान से संवत् २८ (= १०६ ई०) का एक लेख मिला है जिसमें एक वाणिक परिवार के नगररक्षित नामक व्यक्ति द्वारा अभिताम बुद्ध की प्रतिमा स्थापित किये जाने का उल्लेख है।

परिशिष्ट ३

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

रुम्मिनदेई स्तम्भ-लेख—श्री ए० एल० श्रीवास्तव ने इस लेख की तृतीय पंक्ति में आये पद 'सिला विगड भीचा' में 'भीचा को 'मित्या' (= दीवार सहित) अर्थ में लेकर इसका अनुवाद 'पाषाण की भली-भाँति निर्मित दीवार के साथ' किया है। इसी पंक्ति में आये 'उसपापिते' शब्द को भी वह 'खड़ा किया गया' अर्थ में नहीं लेते वरन् प्रो० श्याम नारायण का अनुसरण करते हुए 'वृपभार्पितः' (= वृषभार्पित किया', अर्थात् 'स्तम्भ को वृषभशीर्ष से सुशोभित कराया') करते हैं। उनका विचार है कि रुम्मिनदेई स्तम्भ, रामपुरवा स्तम्भ के समान, वृषभशीर्ष युक्त रहा होगा। शुआन च्वांग ने इसे अश्वशीर्ष वाला बताया है, परन्तु हो सकता है शुआन-च्वांग के समय तक वृषभ मूर्त्ति कुछ खण्डित हो गई हो और चीनी यात्री को वह अश्वमूर्त्ति जान पड़ी हो (जर्नल ऑव द गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, गोपीनाथ कविराज स्मृति अंक, १९७६, पृ० २०७-१६)।

रानी का स्तम्भ-लेख—हाल ही में के० आर० नार्मन (स्टडीज़ इन इण्डियन एपिग्रेफी, मैसूर, ३,१९७६, पृ० ४२) ने रानी के स्तम्भ-लेख के विषय में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं :—

(१) इस अभिलेख में लिखित आदेश केवल कौशाम्बी के महामात्रों के पास ही नहीं (जैसा कि सी० डी० चटर्जी का विचार है, ए० बी० ओ० आर० आई०, ३३, पृ० ५७-८२; ३४, पृ० ३०-५०; ३७, २०८-३३) वरन् अन्यत्र भी भेजा गया होगा। सातवें स्तम्भ-लेख में कहा गया है कि महामात्र नामक पदाधिकारी स्वयं अशोक एवं उसकी रानियों के दानकार्य का विवरण भी रखते थे। इस लेख में प्रेषित आदेश का उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि महामात्रों को द्वितीय रानी के दान को उसके पदनाम और व्यक्तिगत नाम के अन्तर्गत दर्ज करना चाहिये। क्योंकि इस आदेश का सम्बन्ध केवल महामात्रों से था, सामान्य जनता से नहीं, इसलिए इसे स्तम्भ पर उत्कीर्ण नहीं कराया जाना चाहिये था। अतः कौशाम्बी के महामात्रों ने इसे स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराकर गलती की। इसीलिये यह कौशाम्बी के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता।

(२) नार्मन ने अनुमान से इस लेख का वह पाठ भी प्रस्तुत किया है जो उनके अनुसार मूलतः पाटलिपुत्र से भेजा गया होगा पर जो स्तम्भ पर खोदे जाने के समय अशुद्ध हो गया। इस आनुमानित पाठ का अनुवाद उन्होंने इस प्रकार किया है—

देवानांप्रिय की आज्ञा से महामात्रों से सर्वत्र यह कहा जाना चाहिये : ये जो द्वितीय देवी के दान आपके प्रदेश में हैं चाहे आम्रवाटिका, आराम या दानगृह अथवा अन्य, उन्हें (इस समय) देवी के नाम में गिने जाने चाहिये (अर्थात् उनके नामान्तर्गत पञ्जीकृत किये जाने चाहियें)। (भविष्य में) इनको इसी प्रकार पञ्जीकृत करें : द्वितीय रानी अर्थात्) तीवर की माता कालुवाकी के (नामान्तर्गत)।

पिप्राहवा बौद्ध पात्र-लेख

इस अभिलेख पर पिछले सभी पुराविदों के कार्य की समीक्षा के लिये दे०, के० एम० श्रीवास्तव, स्टडीज़ इन एपिग्रेफी, मैसूर, १९७५, पृ० ९८-११०।

नागन्निका और वेदश्री का नानाघाट गुहा-लेख

अभी तक सभी विद्वान् यह मानते रहे हैं कि नानाघाट-लेख में उल्लिखित रानी जिसका नाम मिट गया है, प्रथम शातकर्णि की पत्नी थी। परन्तु हाल ही में पी० एल० गुप्त (स्टडीज़ इन इण्डियन एपिग्रेफी, मैसूर, २, १९७५, पृ० ५९-७१) ने विचार प्रकट किया है कि वह किसी महारथी की (जिसके नाम के अन्त में 'श्री' शब्द आता था) पत्नी, वेदसिरि व सतिसिरि की माता तथा अग्निय वंश की पुत्र वधू थी। पी० एल० गुप्त उसके पिता का उल्लेख 'दक्षिणापथपति' के रूप में हुआ मानते हैं, इसलिये उनके अनुसार इस लेख को परवर्ती सातवाहन काल का मानना चाहिये जब यह विरुद प्रचलन में आया। उनके अनुसार इस लेख का उसी गुहा में लिखित मूर्त्तिनाम लेखों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन मिराशी (वही, ३, १९७६, पृ० ८६-९०) ने इस लेख के पुराने अर्थ को, जिसे हमने पीछे पृष्ठों में स्वीकार किया है, सही माना है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि मूर्त्तिनाम लेखों व प्रस्तुत लेख की लिपि समान है, अतः दोनों का समय एक है और इसलिये इन्हें परस्पर सर्वथा असम्बद्ध मानना गलत होगा। दूसरे, एक रजत मुद्रा पर 'सिरिसातक' (=श्री शातकर्णि) तथा 'नागनिकाय' (नागन्निका) नाम लिखे मिले हैं। इससे भी सिद्ध है कि नागनिका शातकर्णि की ही पत्नी थी।

प्रथम कनिष्क का २३वें वर्ष का मथुरा मूर्त्ति अभिलेख

इस अभिलेख से, जो इस समय मथुरा के कर्जन म्युजियम ऑव ऑर्क्योलाजी में रखा होने के कारण 'कनिष्क का कर्जन म्युजियम अभिलेख' भी कहलाता है, इस राजा की अन्तिम तिथि ज्ञात होती है। इस लेख का मूल पाठ प्रस्तुत ग्रन्थ में पीछे दे दिया गया है। चार पंक्तियों के इस अभिलेख में कहा गया है : 'महाराज कनि (ष्क) के २३ (वें वर्ष) की ग्री(ष्म) के १ (=प्रथम पक्ष) को, इस पूर्वोक्त (तिथि) को, महाराज मत्स्यगुप्त की पुत्री पुष्य (दत्ता) अपने विहार में (इस बोधिसत्व (की मूर्त्ति) को प्रतिष्ठापित करती है'।

इस अभिलेख का महाराज मत्स्यगुप्त अन्य साक्ष्य से अज्ञात है। उसकी पुत्री का कनिष्क के साम्राज्य में विहार बनवाना और वहां बोधिसत्व की प्रतिमा स्थापित कराना महत्वपूर्ण है।

महाराज महासेनापति सेन की विदिशा-मुहर

इस मुहर को प्रोफेसर के० डी० बाजपेयी (पी० आई० एच० सी, ३७वां अधिवेशन, कलकत्ता. १९७६, पृ० ७३-७५) ने प्रकाशित किया है। यह विदिशा के समीप बेस नदी के दाहिनी तट पर कहीं प्राप्त हुई थी। लाल पकाई हुई मिट्टी की यह अण्डाकार मुहर ३.८ × २.७ सेण्टीमीटर आकार की है। इसमें एक आयत के अन्दर दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध अथवा तीसरी शताब्दी ई० के प्रारम्भ की ब्राह्मी लिपि में के० डी० बाजपेयी के अनुसार, निम्नलिखित लेख है :—

महाराज महासेनापति सेन

'सेन' नामक इस शासक का परिचय अज्ञात है। विदर्भ के शासकों में यज्ञ-सेन और माधवसेन के नाम कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' से ज्ञात हैं, लेकिन उनका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। उनकी ऐतिहासिकता भी सन्दिग्ध है। इस मुहर के शासक का 'महाराज' के साथ 'महासेनापति' उपाधि धारण करना महत्त्वपूर्ण है।

नामानुक्रमणिका

'अ'

'ऊ'

'ऋ'

'ए'

'ऐ'

'ओ'

'औ'

'अं'

'क'

'ख'

'छ'

'ज'

'थ'

'द'

'फ'

'ब'

'म'

'भ'

'म'

'य'

'र'

'ल'

'व'

'ल'

'व'

'श'

'ह'

'क्ष'

'त्र'

फलक नं. 1 अशोक का प्रथम शिलालेख (गिरनार संस्करण)

फलक सं. 2. अशोक के द्वितीय तथा तृतीय शिलालेख (गिरनार संस्करण)

फलक सं. 3. अशोक के तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम शिलालेख (गिरनार संस्करण)

फलक सं॰ 4 अशोक के षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम शिलालेख (गिरनार संस्करण)
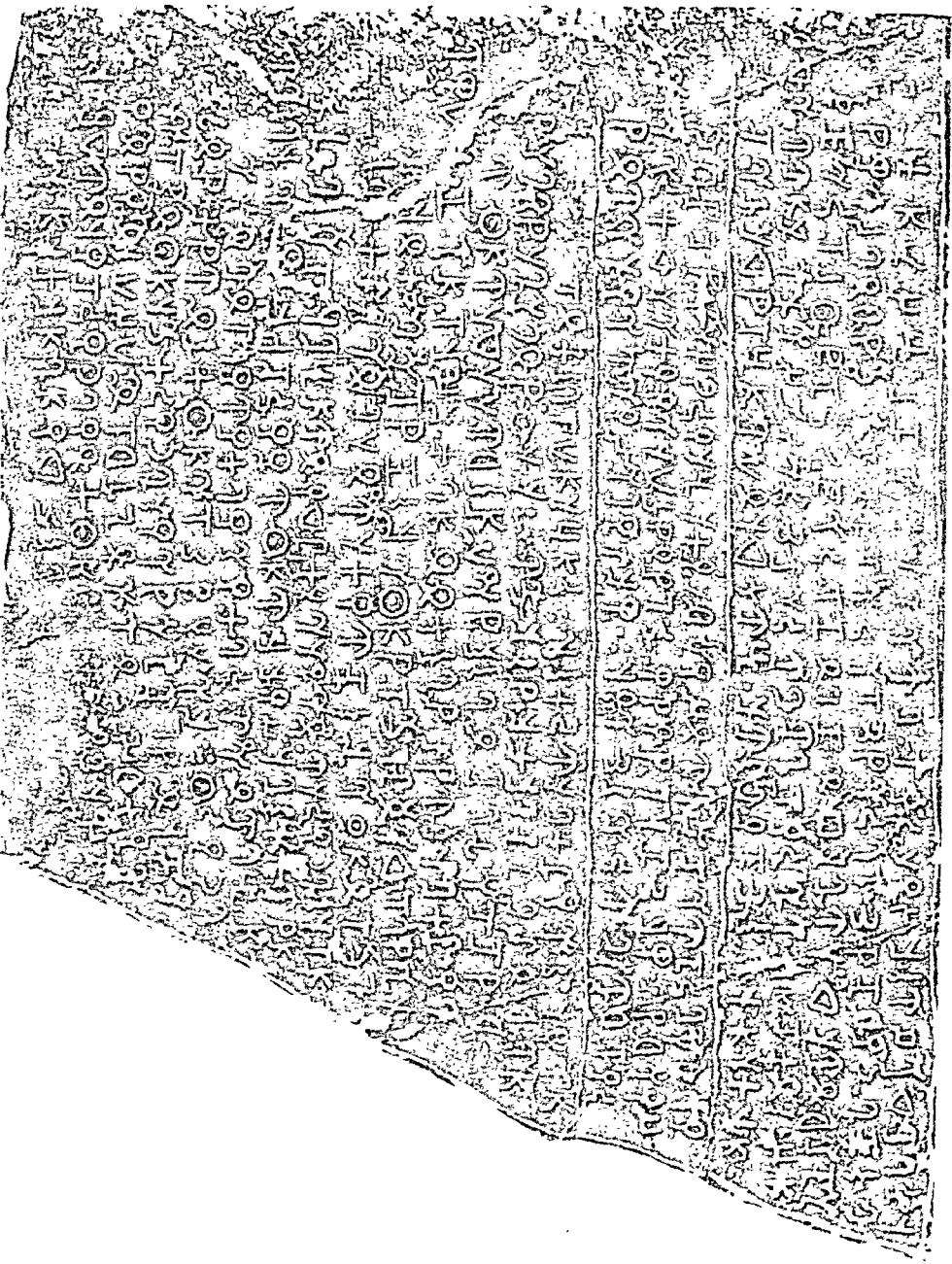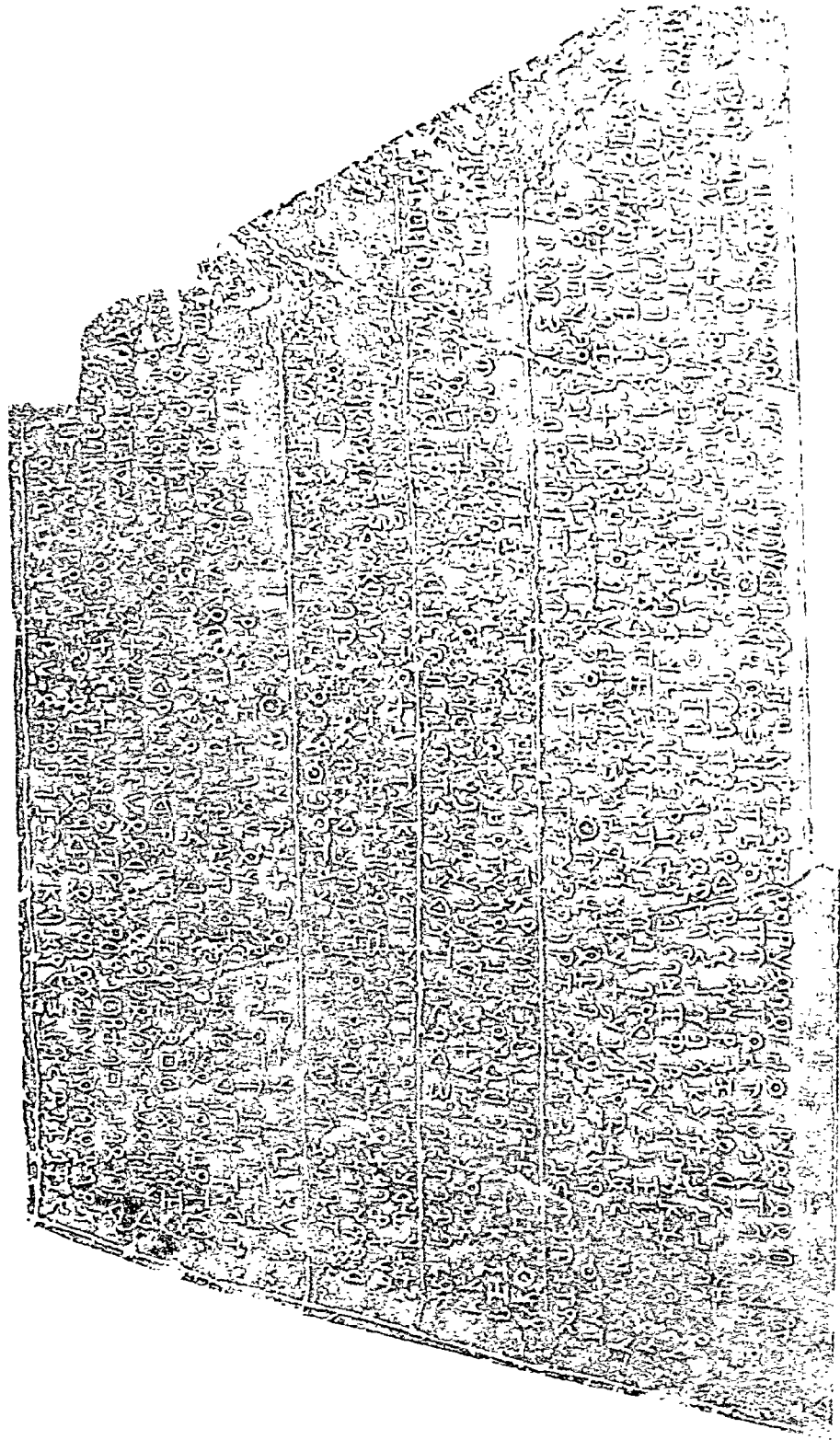
फलक सं. 5. अशोक के नवम, दशम, एकादश तथा द्वादश शिलालेख (गिरनार संस्करण)
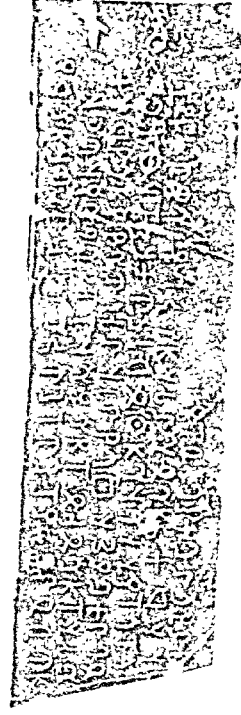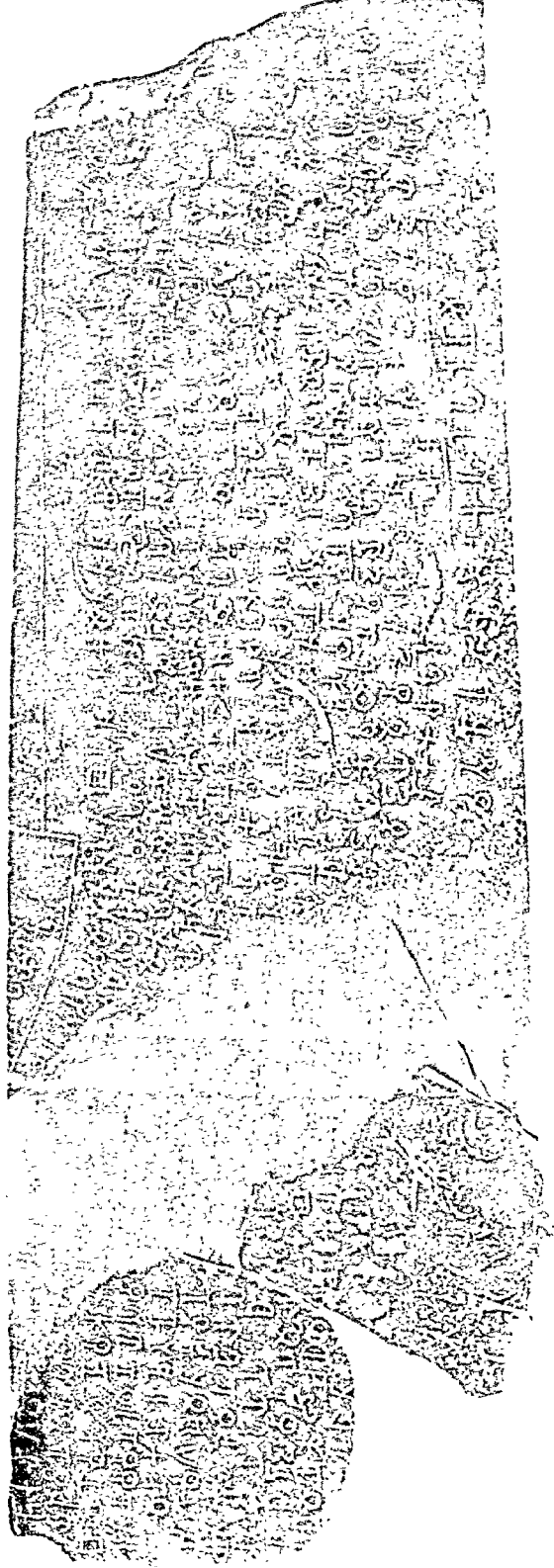
फलक सं. 6. अशोक के त्रियोदस तथा चतुर्दस शिलालेख (गिरनार संस्करण)
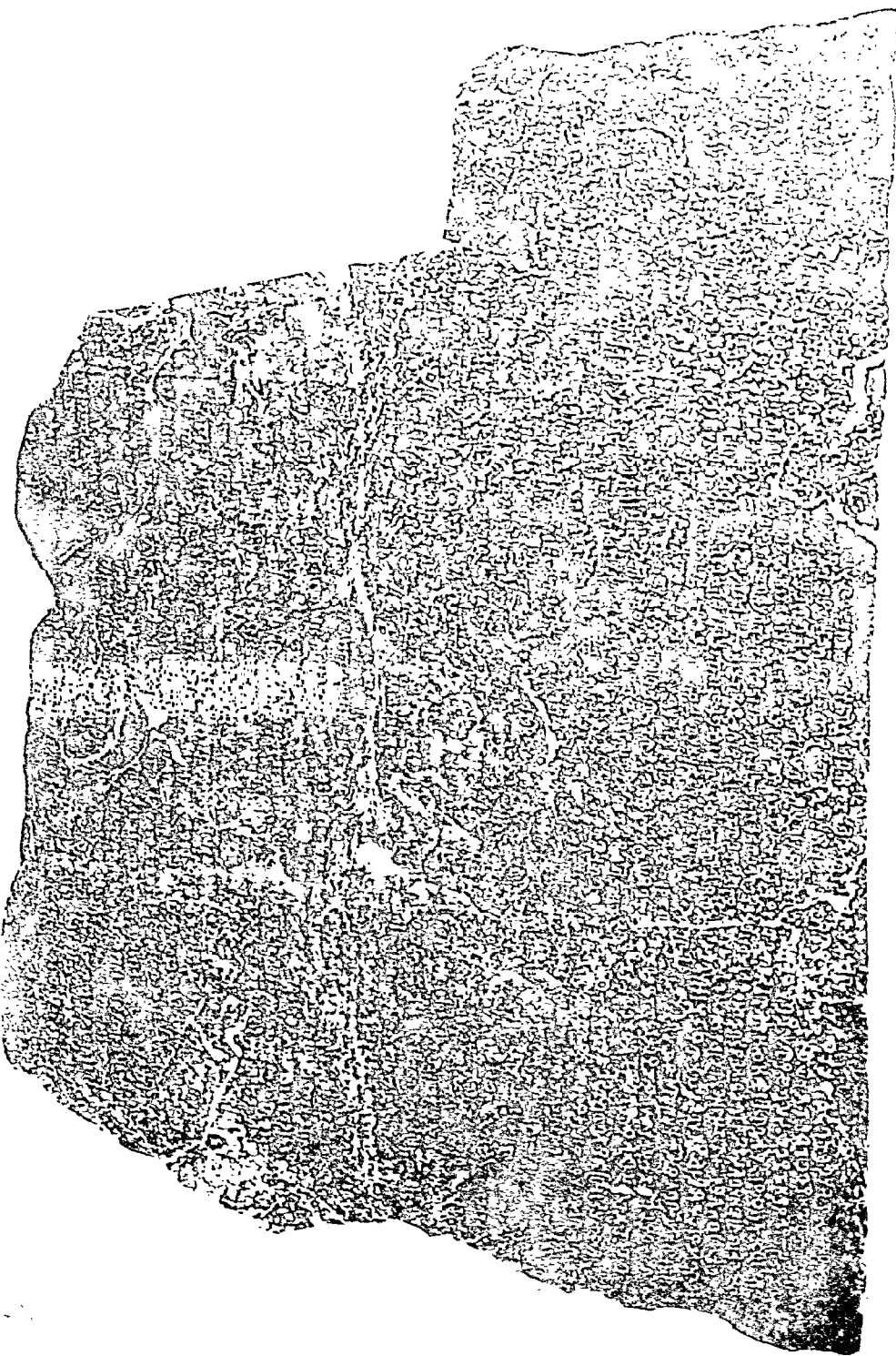
फलक सं. 7. अशोक के कालसी शिलालेख (प्रथम से त्रियोदस तक)
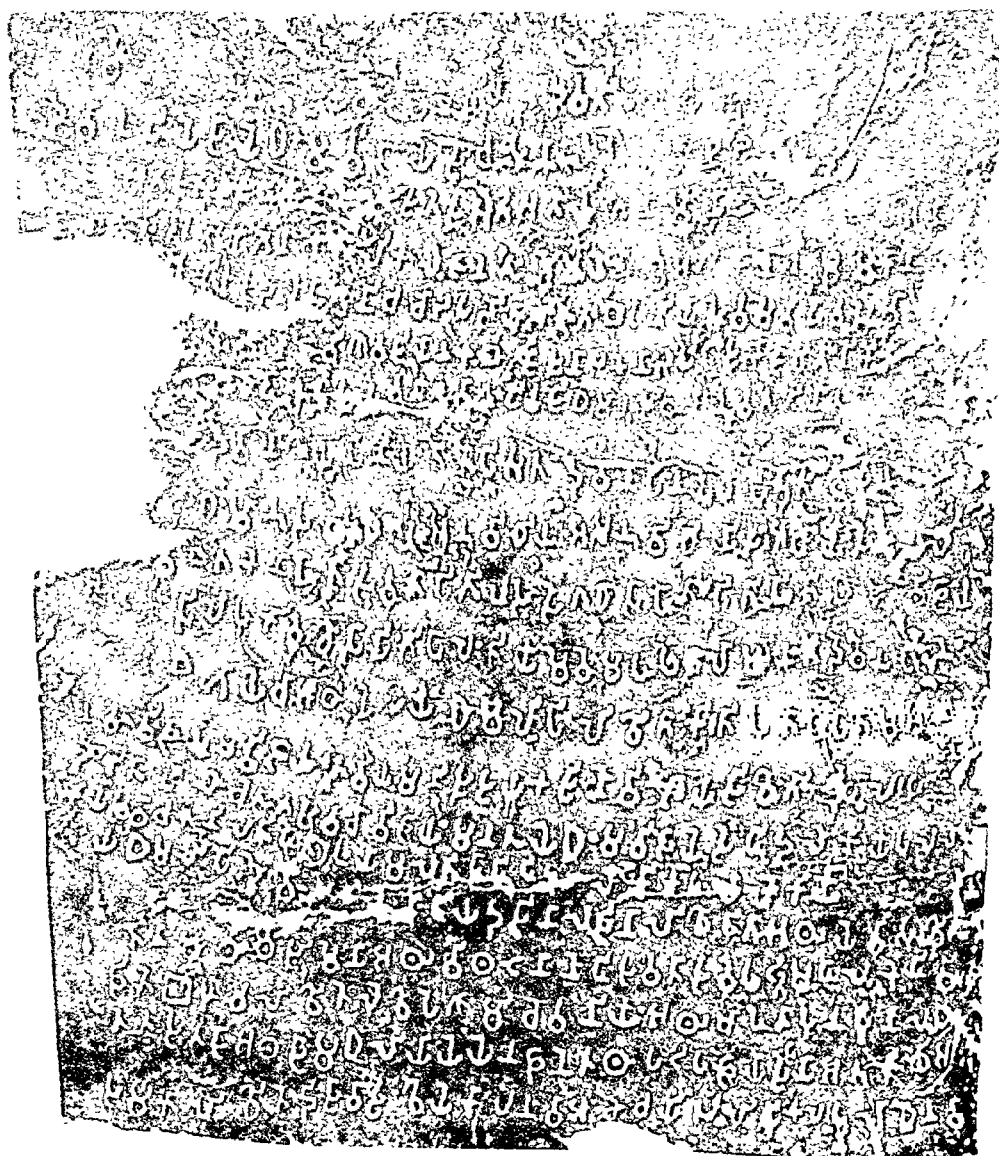
फलक सं. 8. अशोक के कालसी शिलालेख का पश्चिमी भाग (चतुर्दश लेख सहित)

फलक सं. 9. अशोक का लघु शिलालेख (अहरौरा संस्करण)
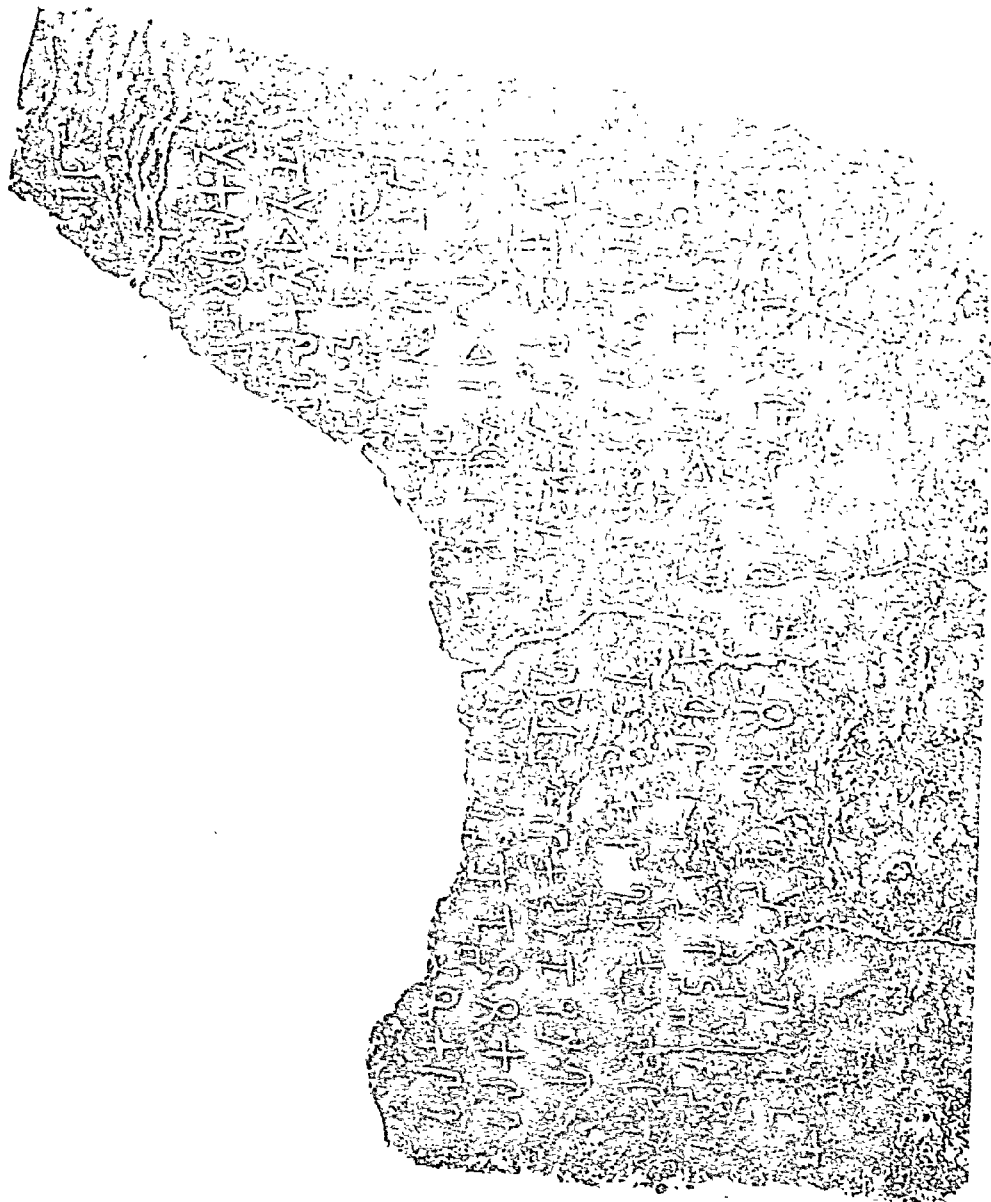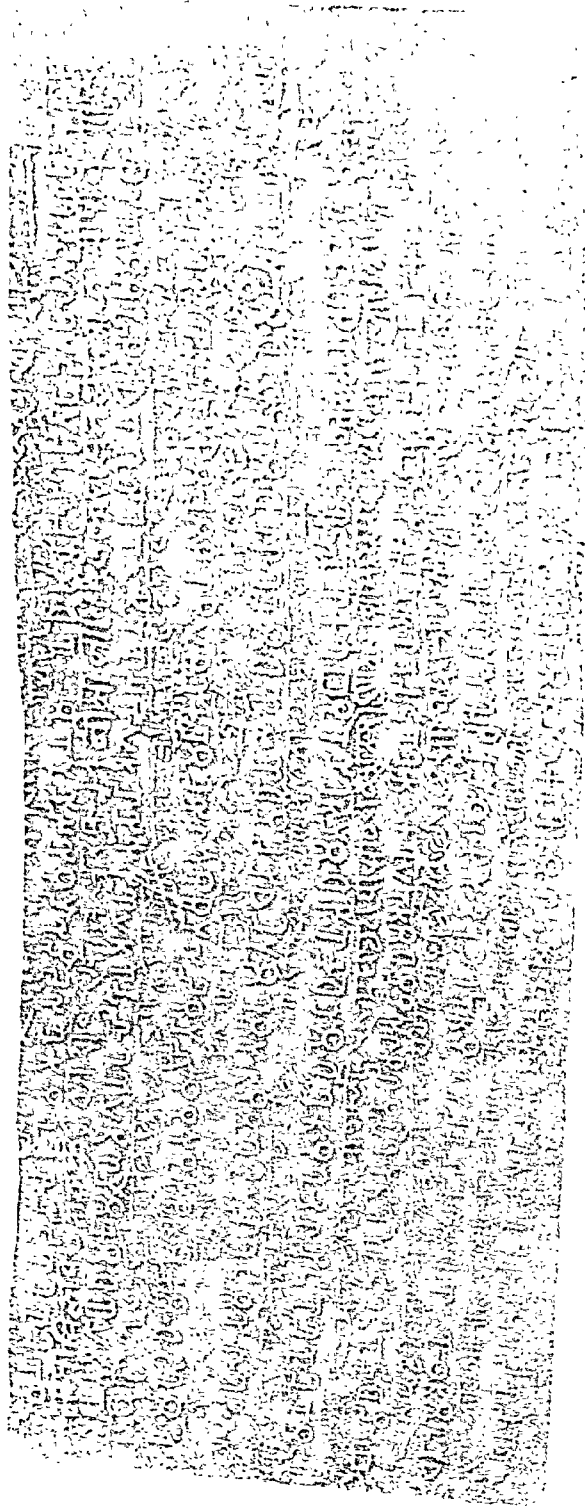
फलक सं. 17. कोसम स्तम्भ लेख (प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय)
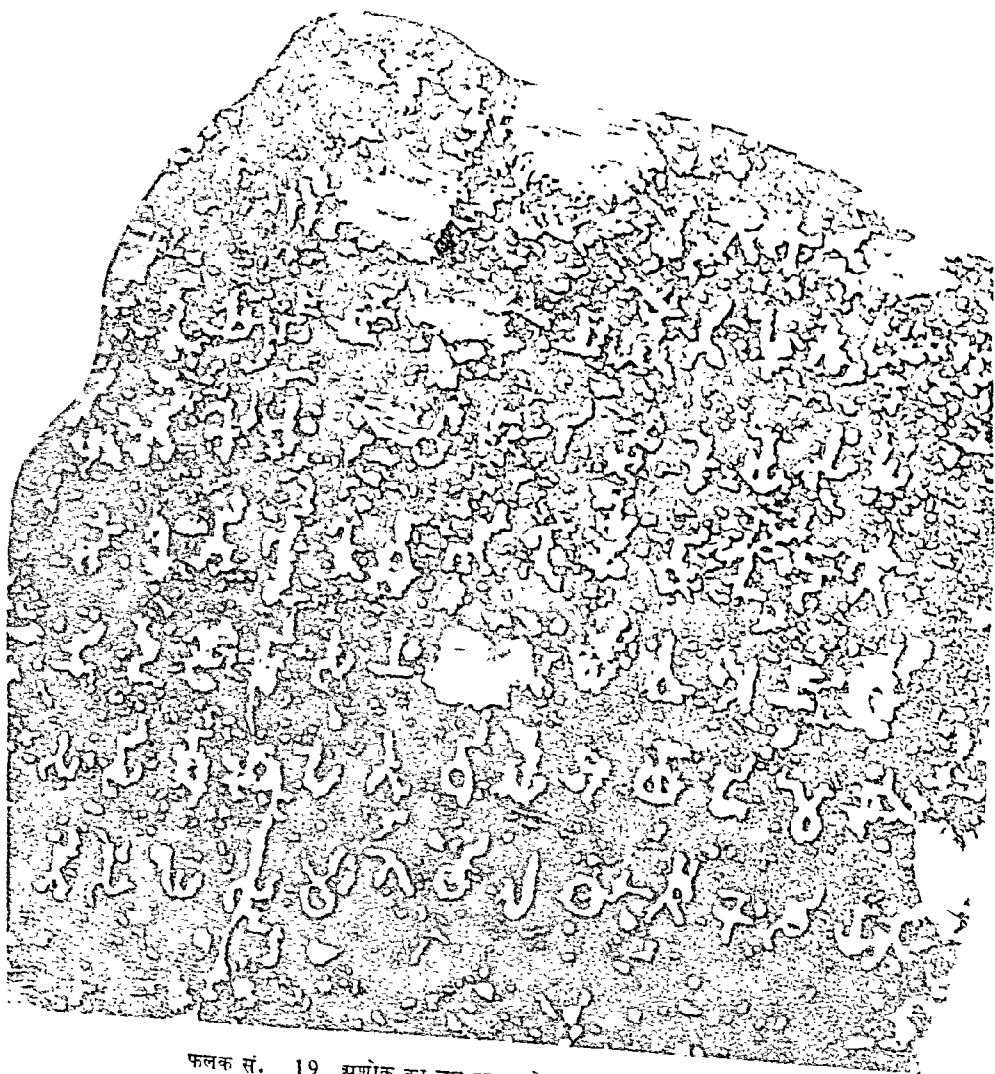
फलक सं. 19. अशोक का लघु स्तम्भ लेख (साँची संस्करण)

फलक सं. 19. अशोक का लघु स्तम्भ लेख (साँची संस्करण)

फलक सं. 20. अशोक का लघु स्तम्भ (संघभेद) लेख (सारनाथ संस्करण)

फलक सं. 21. रानी का प्रयाग लघु स्तम्भ लेख

फलक सं.   23. अशोक के तीन बराबर–गुहा लेख

फलक सं. 24. दशरथ के तीन नागार्जुनी-गुहा-लेख

फलक सं. 25. सहगौरा कांस्य पात्र-अभिलेख

फलक सं. 26. महास्थानगढ़ खण्डित पाषाण–लेख

फलक सं 27. हेलियोदोर का वेसनगर गरुड़ स्तम्भ-लेख

फलक सं. 28. भरहुत बौद्ध स्तम्भ लेख

फलक सं. 29. धन (देव) का अयोध्या पाषाण लेख

फलक स. 30. ऊदाक का पभोसा प्रथम गुहा लेख–वर्ष 10 (गुहा के बाहर)
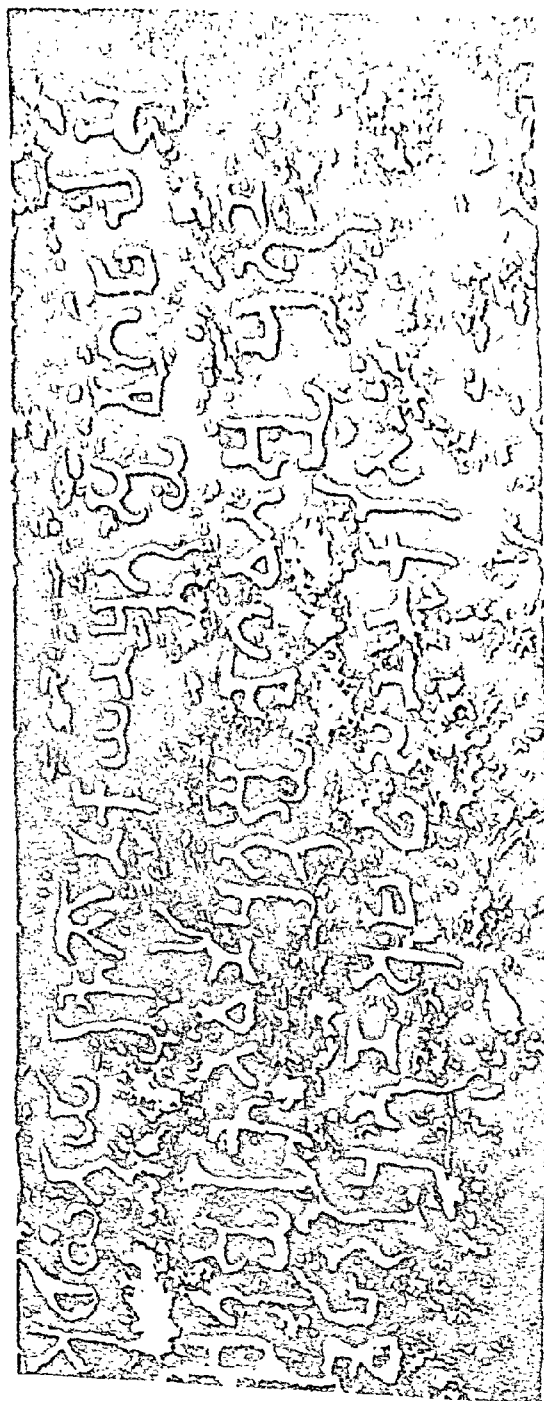
फलक सं. 31. ऊदाक का द्वितीय पभोसा गुहा लेख (गुहा के बाहर)

फलक सं. 32. सर्वतात् का घोसूण्डी (हाथी बाड़ा) शिलालेख

फलक स. 33. शिनकोट (बाजौर) सलखड़ी-पेटिका अभिलेख

A'

A

C
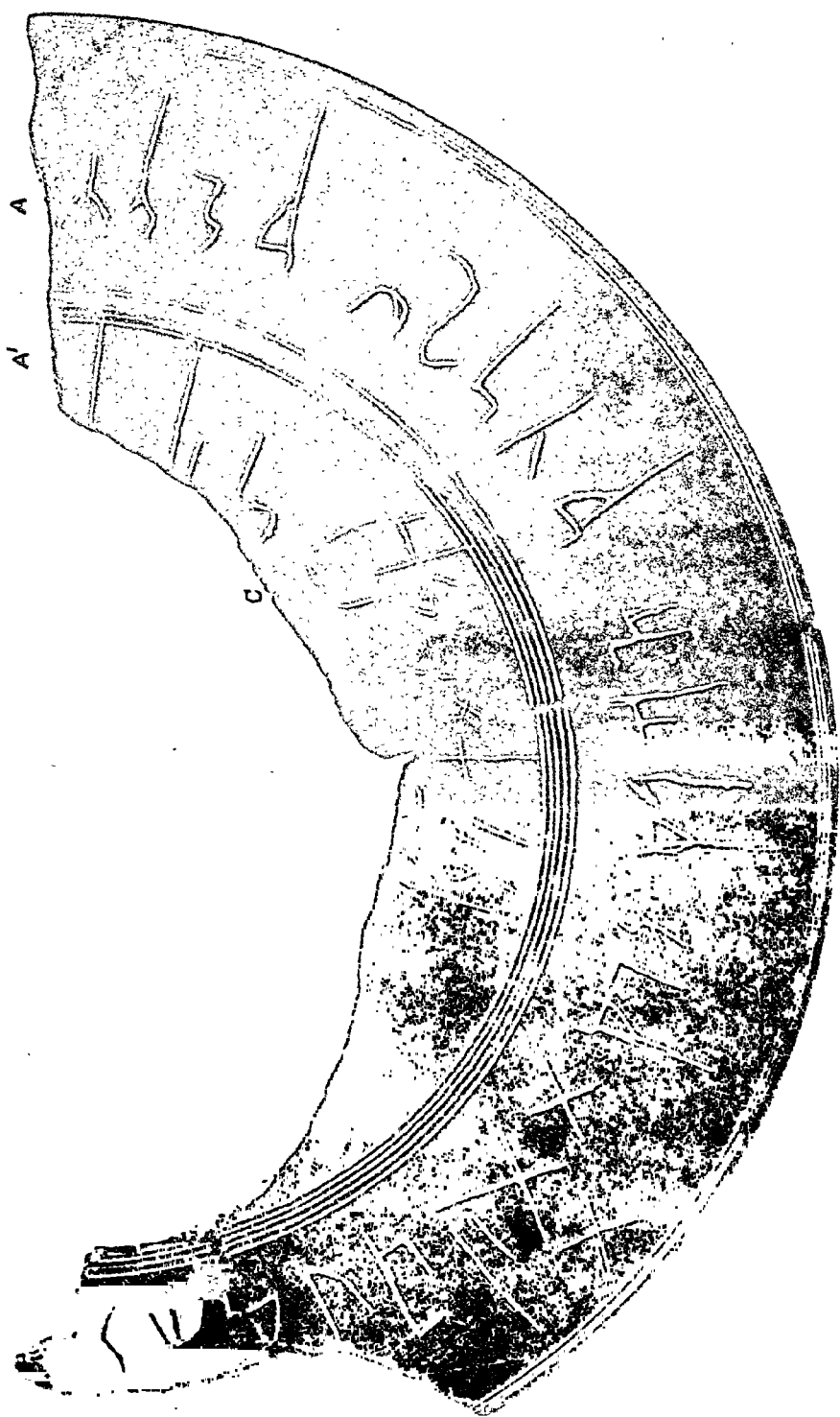
फलक सं. 34. शिनकोट शैलखड़ी–पेटिका अभिलेख (क्र. सं. 1)
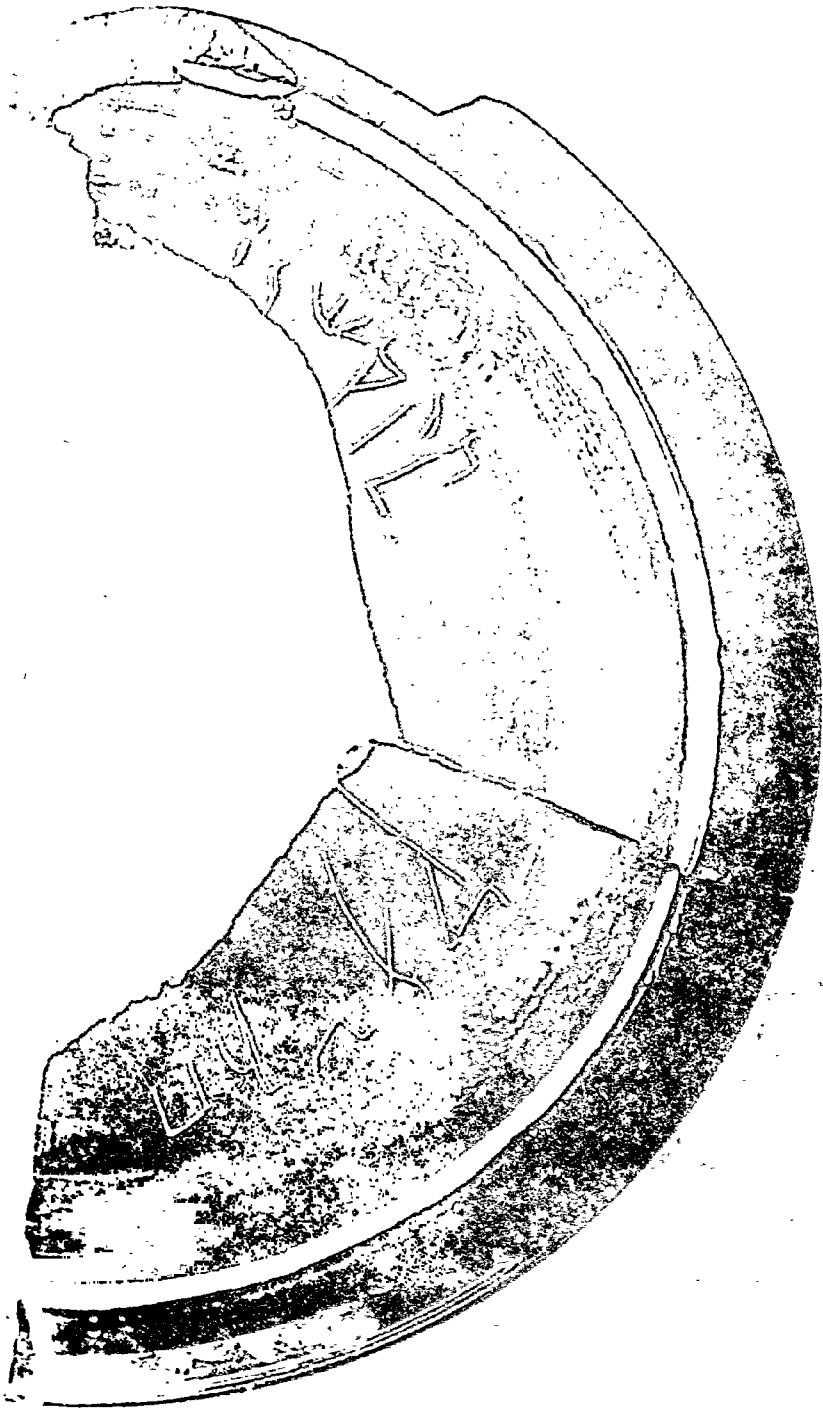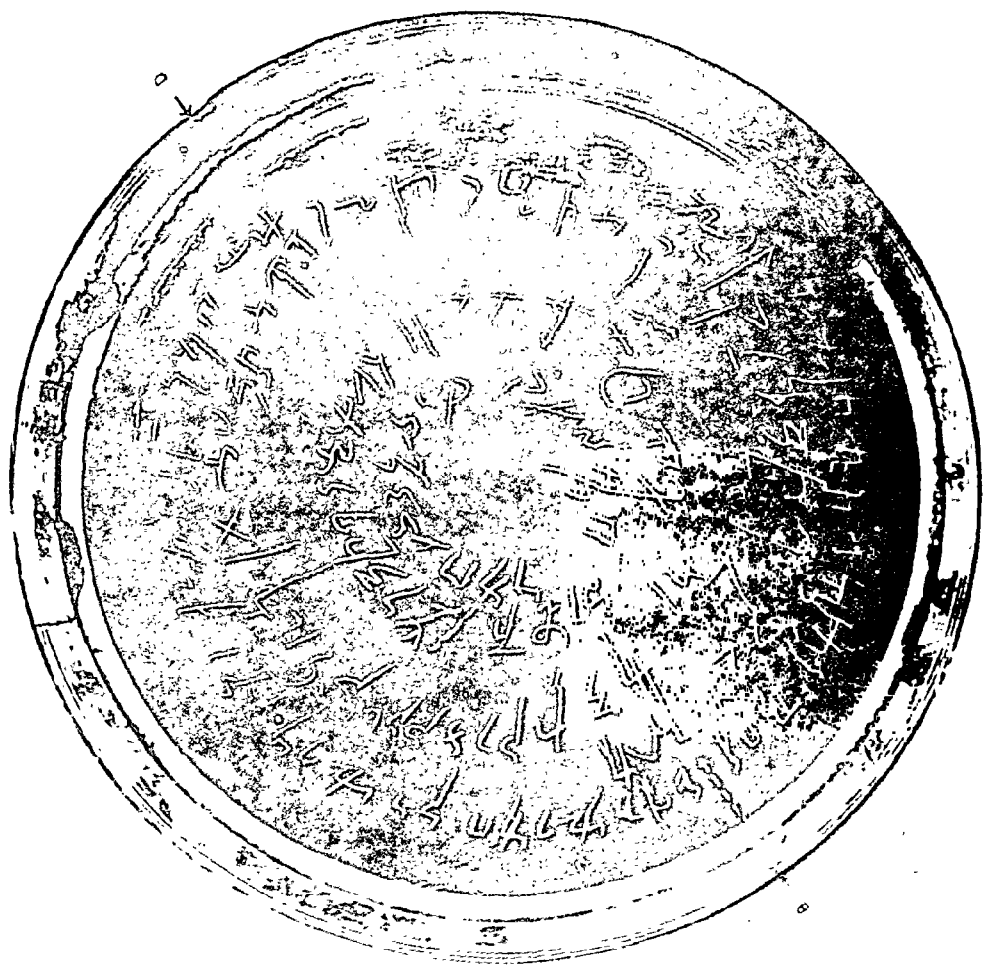
फलक सं. 35. शिनकोट शैलखड़ी–पेटिका अभिलख (प्र 2)

फलक सं. 36. शिनकोट शैलखड़ी–पेटिका अभिलेख (द)

फलक सं 37. चितकोट पौनमठी–वेदिका अभिलेख (ट)

फलक सं. 38. थियोडोरस का स्वात मंजूषा अभिलेख

फलक सं. 39. शोडासकालीन मथुरा पाषाण लेख–1

फलक सं. 40. शोडासकालीन मथुरा पाषाण
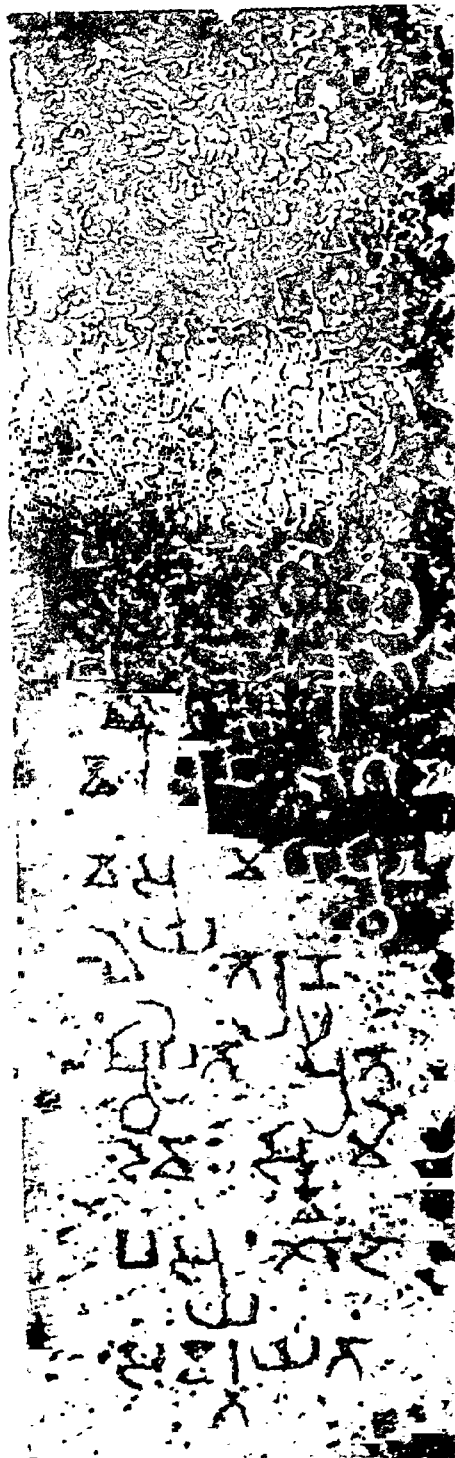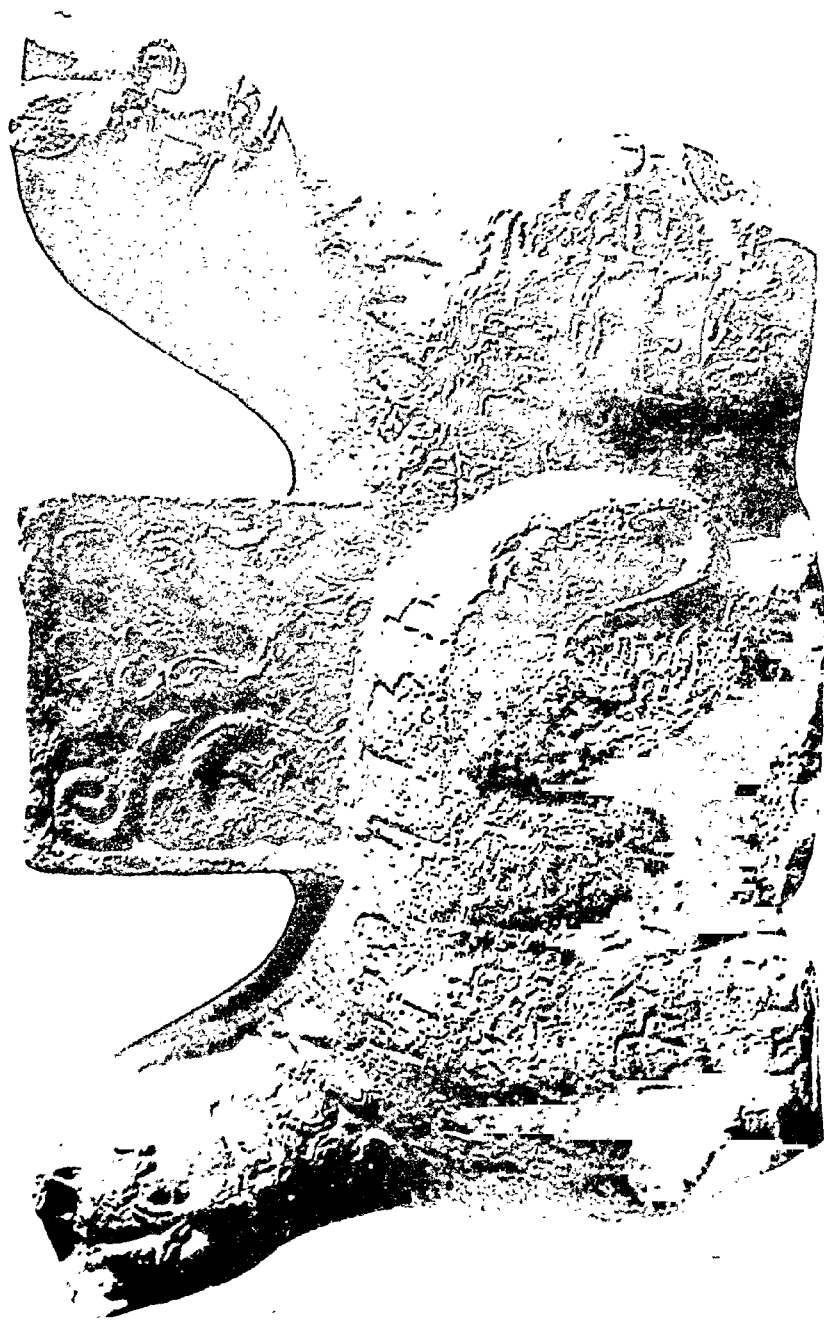
फलक सं. 42. राजूवूल के शासनकाल का मथुरा सिंहशीर्ष-अभिलेख
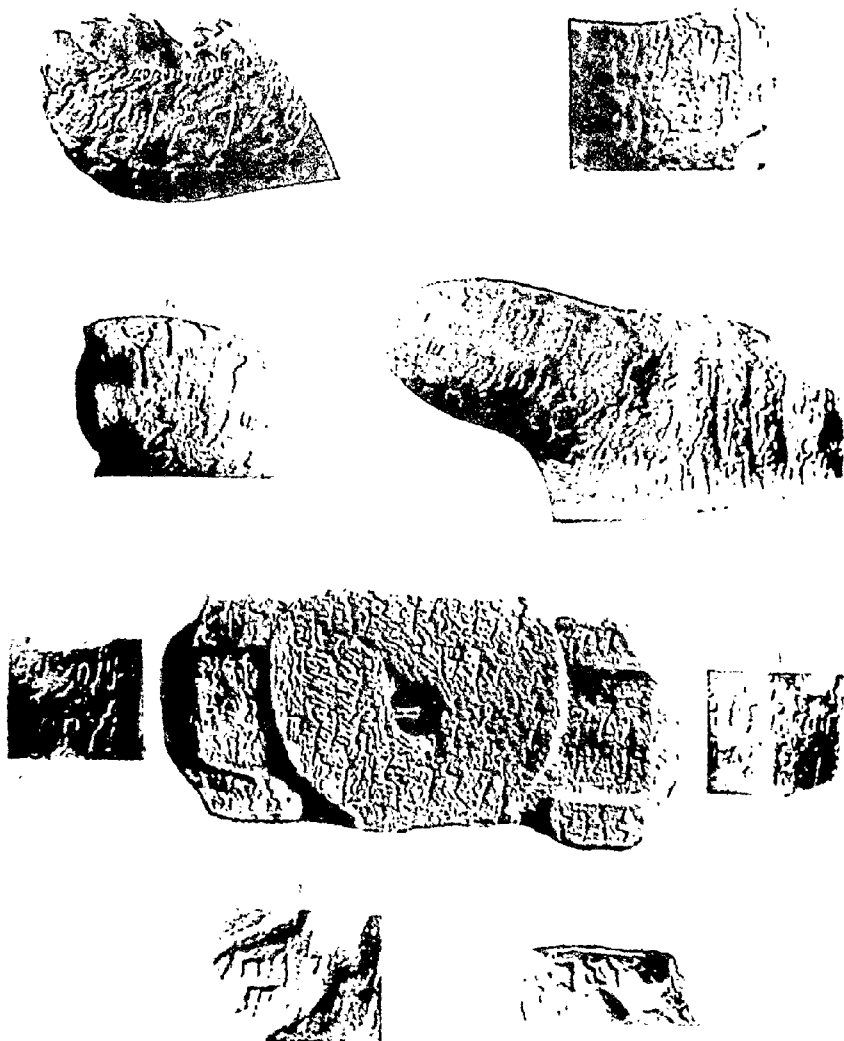
फलक सं. 43. राजूवुल कालीन सिंह शीर्ष अभिलेख-(अ) भाग

फलक सं. 44. राजूवुल कालीन सिंह शीर्ष अभिलेख–(आ) भाग

फलक सं. 45. राजूवुल कालीन सिंह शीर्ष अभिलेख-(इ) भाग

फलक सं. 46. राजूवुल के पुत्र का मोरा (मथुरा) पाषाण लेख

फलक सं. 47. गोन्दो फर्निज का तख्ते-बाही पाषाण लेख-वर्षः 26

फलक सं. 48. किसी कुषाण नरेश का पंचतार पाषाण-लेख-वर्ष 122

फलक सं. 49: कलचाम ताम्र-पत्र अभिलेख-वर्ष 134

फलक सं. 48. किसी कुषाण नरेश का पंचतार पाषाण-लेख-वर्ष 122

फलक सं. 49: कलवाम ताम्र-पत्र अभिलेख-वर्ष 134

फलक सं. 50. किसी कुषाण नरेश का तक्षशिला रजतपत्र लेख-वर्ष 136

फलक सं. 51. उविमिकस्तुस (?) का खलात्से पाषाण लेख-वर्ग 187

फलक सं. 52. जिहोणिक का तक्षशिला रजतपात्र अभिलेख-सं. 191
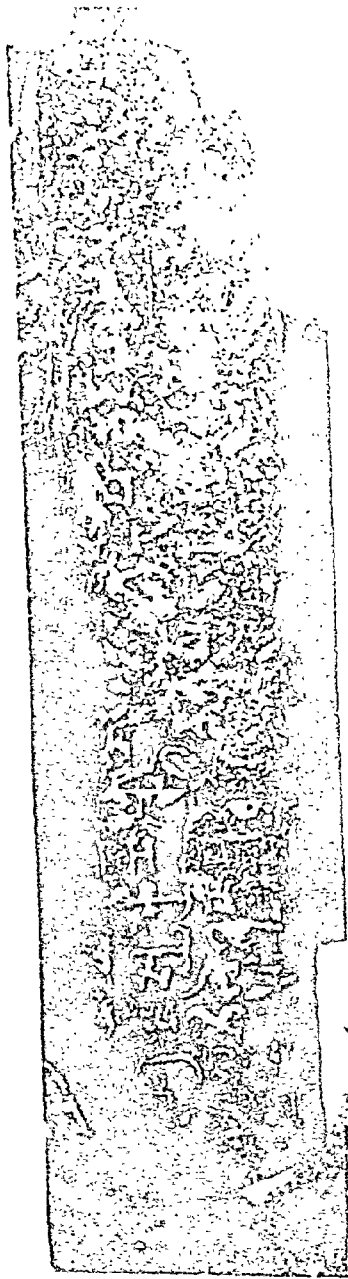
फलक सं. 53. प्रथम कनिष्क के काल का कोसम-बौद्धमूर्ति लेख

फलक सं. 55. प्रथम कनिष्क कालीन जेड़ा अभिलेख-वर्ष 11
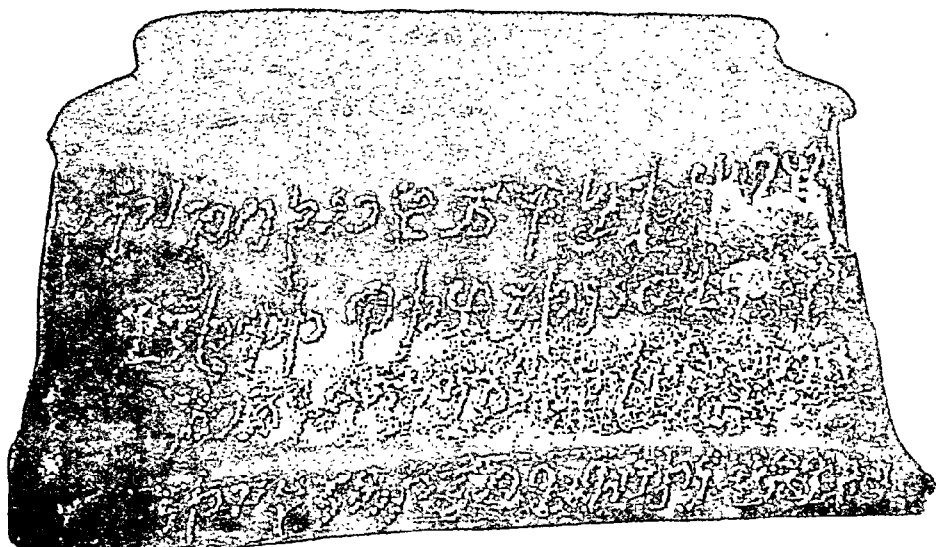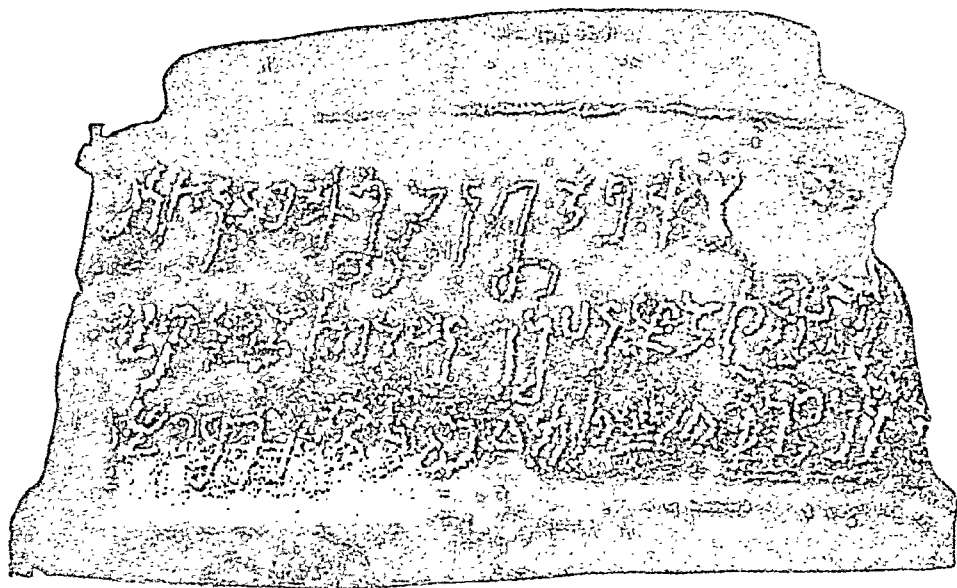
फलक सं· 56. प्रथम कनिष्क का सुई विहार ताम्रपत्र लेख-वर्ष 11

फलक सं· 57· प्रथम कनिष्क का मथुरा बौद्ध मूर्ति अभिलेख-वर्ष 14

फलक सं. 58. प्रथम कनिष्क का मणिक्याला पाषाण अभिलेख-वर्ष 18

फलक सं. 59. कुर्रम ताम्रमंजूषा लेख-वर्ष 21 (अ) तथा (आ)

फलक सं. 60. कुर्रम ताम्रमंजूषा लेख-वर्ष 21 (इ) तथा (ई)

फलक सं. 61. प्रथम कनिष्क का मथुरा मूर्तिलेख वर्ष 23

फलक सं. 60. कुर्रम ताम्रमंजूषा लेख-वर्ष 21 (इ) तथा (ई)
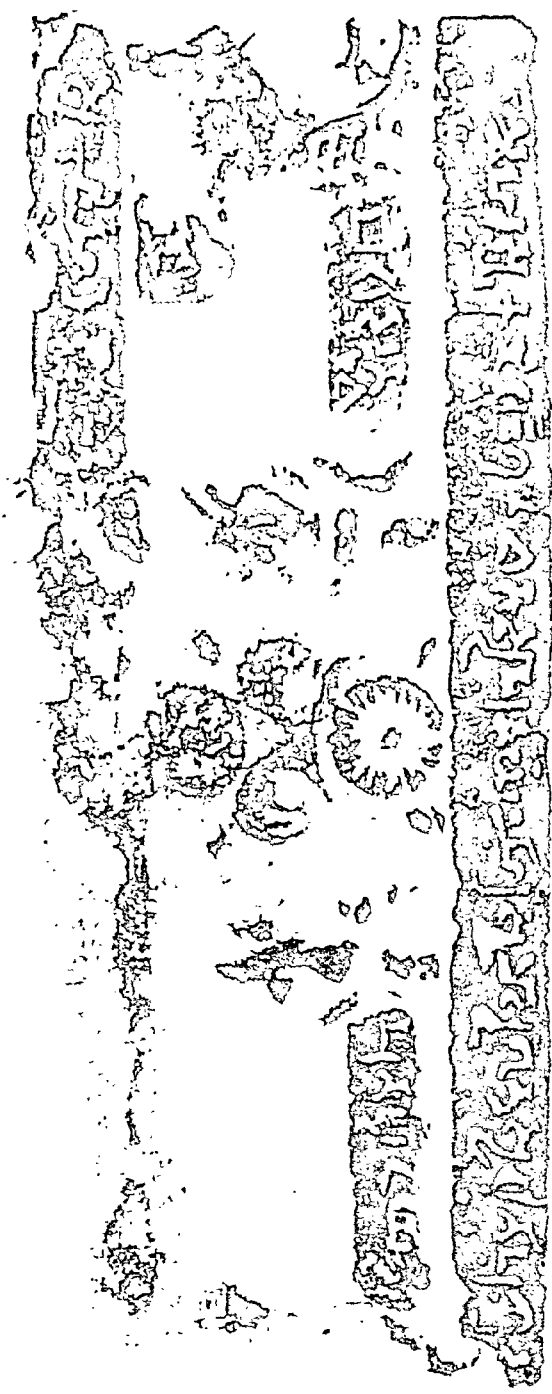
फलक सं· 61. प्रथम कनिष्क का मथुरा मूर्तिलेख वर्ष 23
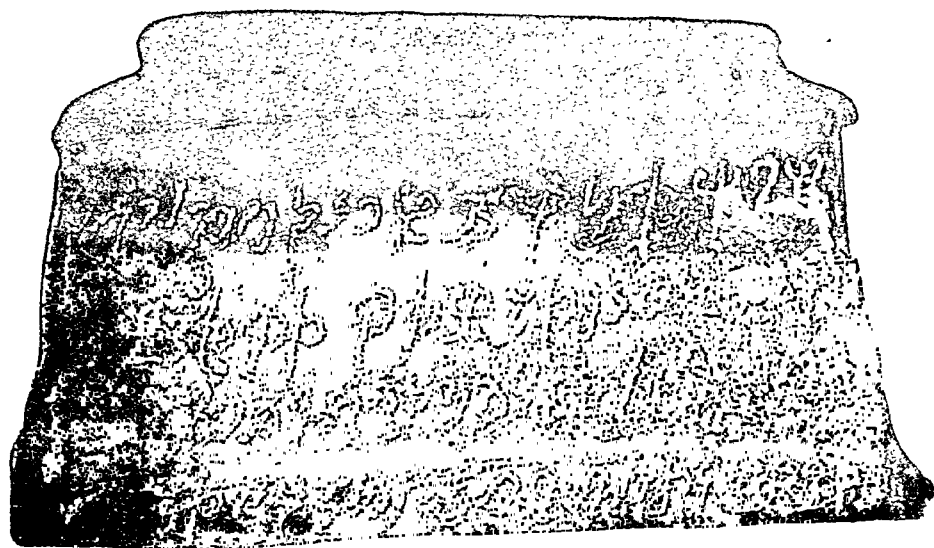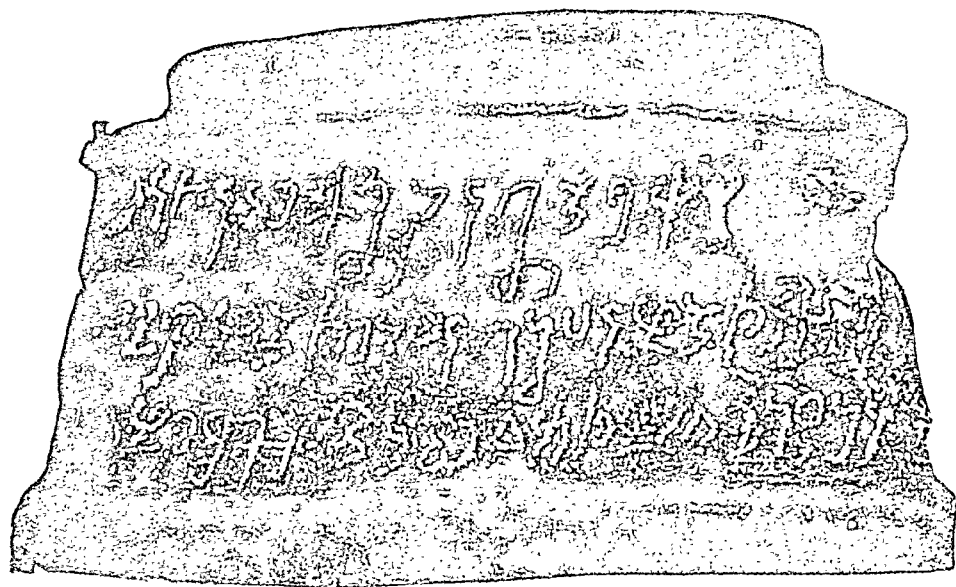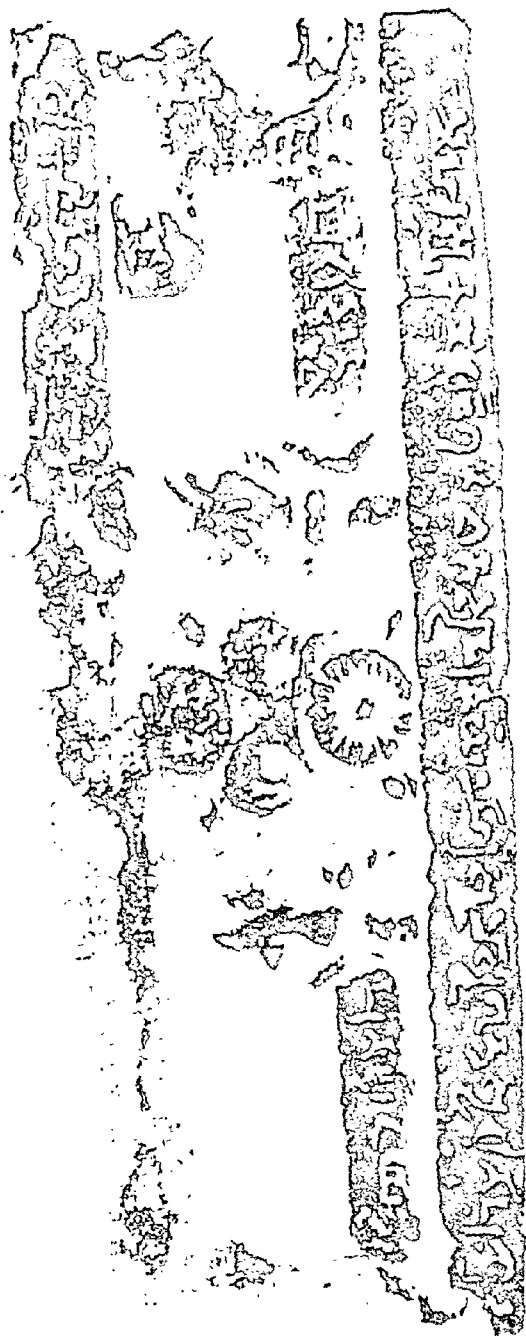
फलक सं. 62. प्रथम कनिष्क का सहेतमहेत बौद्धमूर्ति लेख
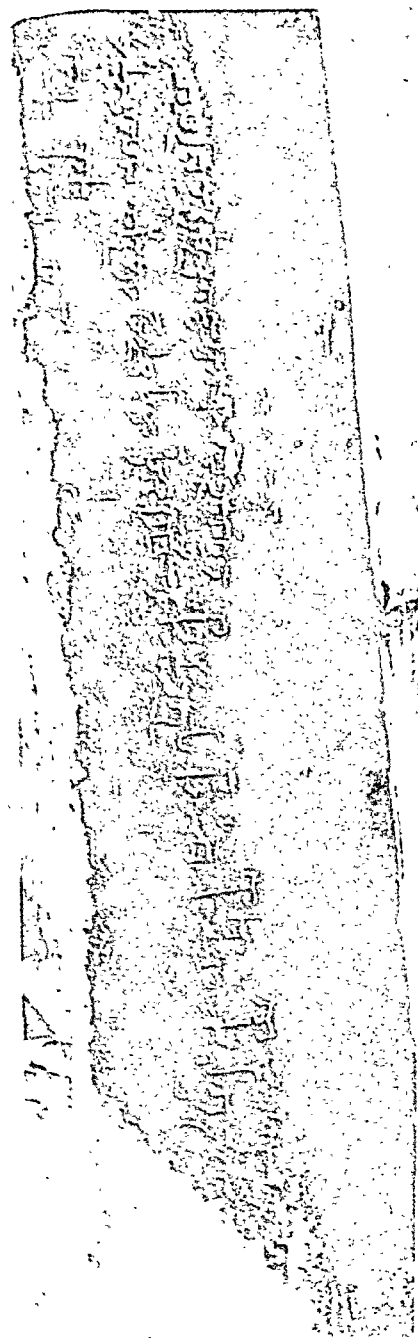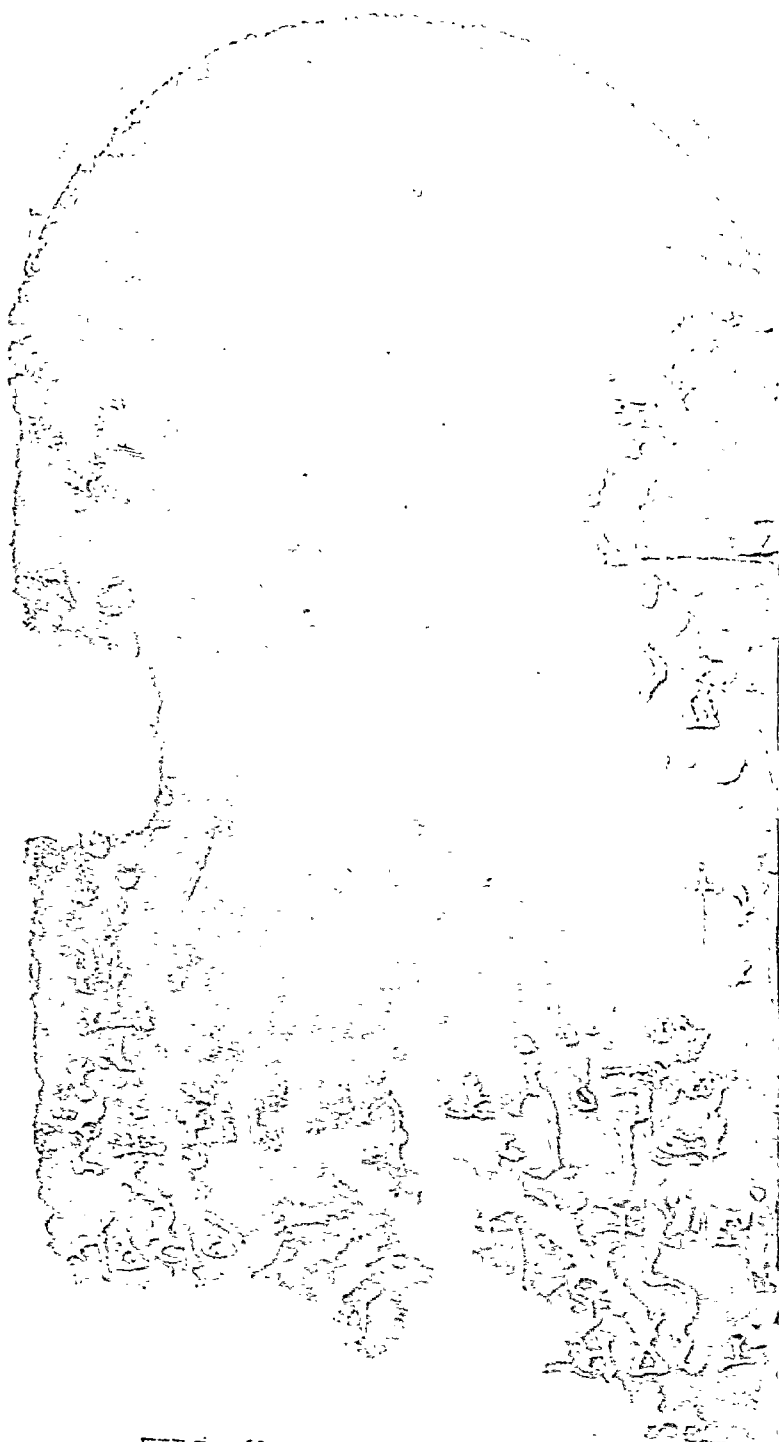
फलक सं. 63- प्रथम कनिष्क का सहेतमहेत पाषाणक्षत्र यष्टिलेख

फलक सं. 64. वासिष्क का ईसापुर यूप-लेख-वर्ष 24

फलक सं. 66. हुविष्क कालीन मथुरा बौद्ध-मूर्ति लेख-वर्ष 33

फलक सं. 67. द्वितीय कनिष्क का आरा पाषाण लेख-वर्ष 41
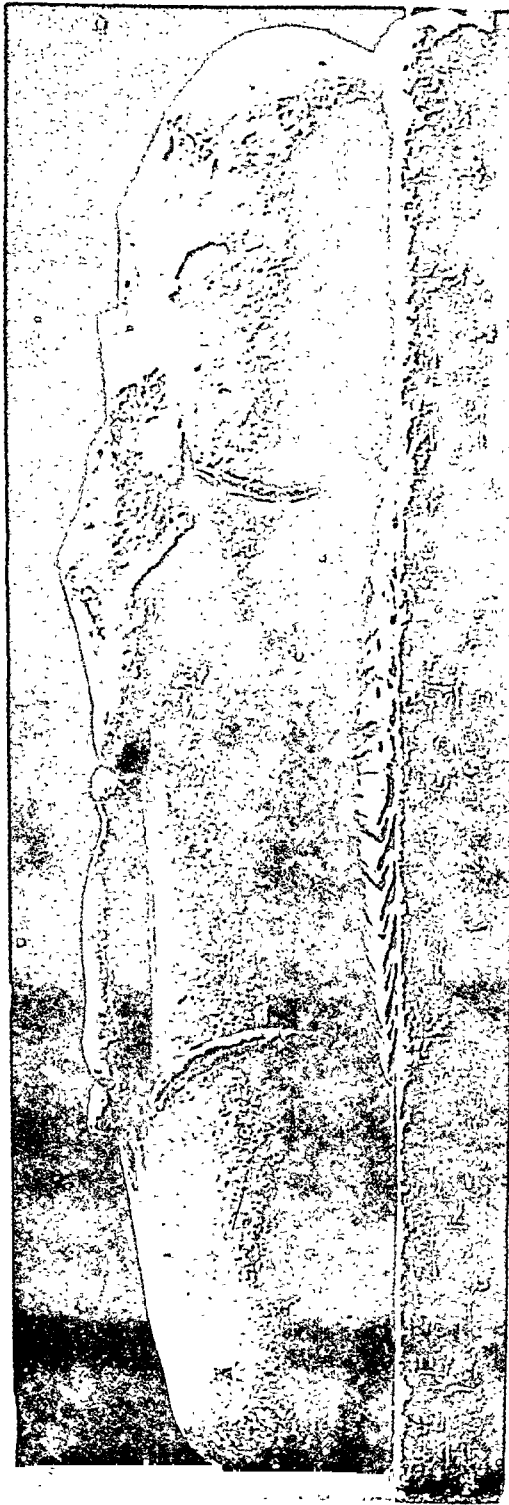
फलक सं.   68· हुविष्क का मथुरा जैन मूर्ति लेख-वर्ष 44
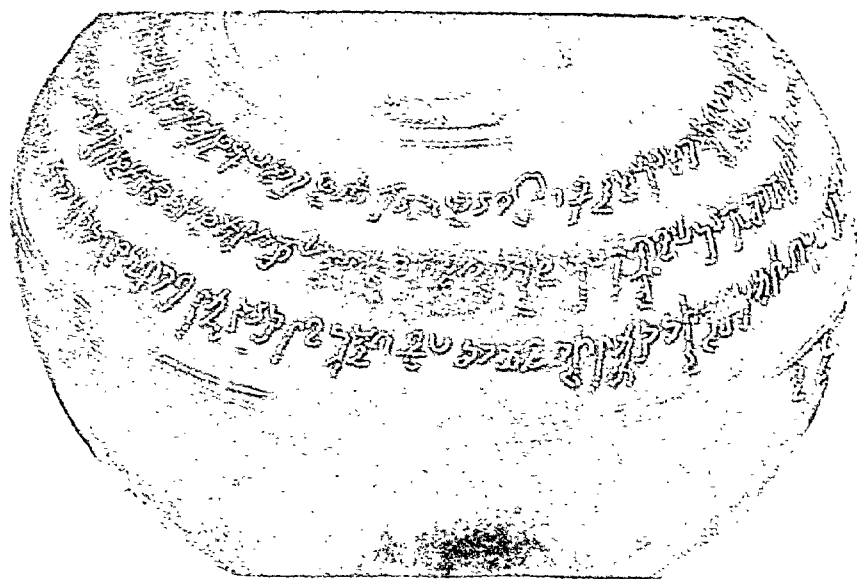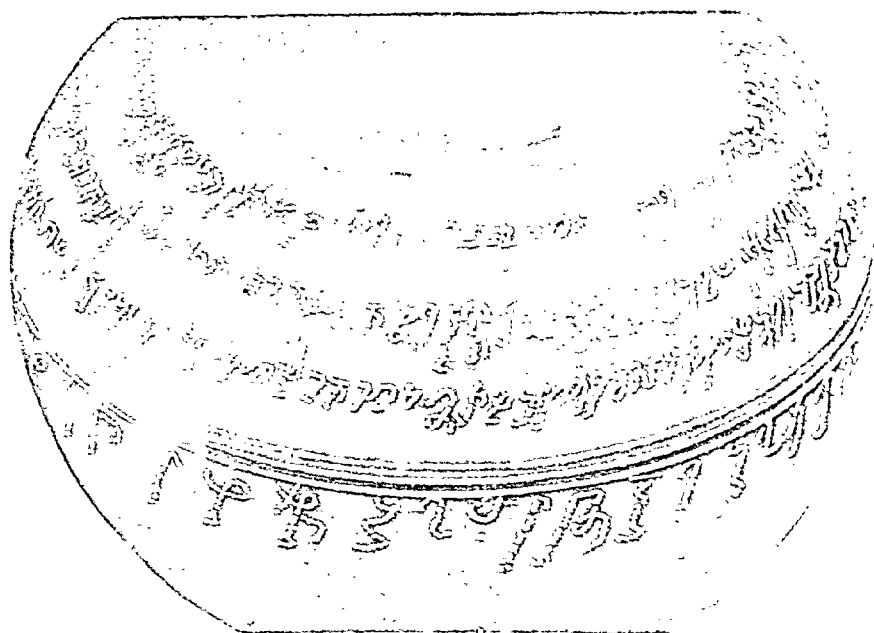
फलक सं. 69. हुविष्क का वर्दाक कांस्य पात्र-लेख-वर्ष 51 (पूर्वार्द्ध)
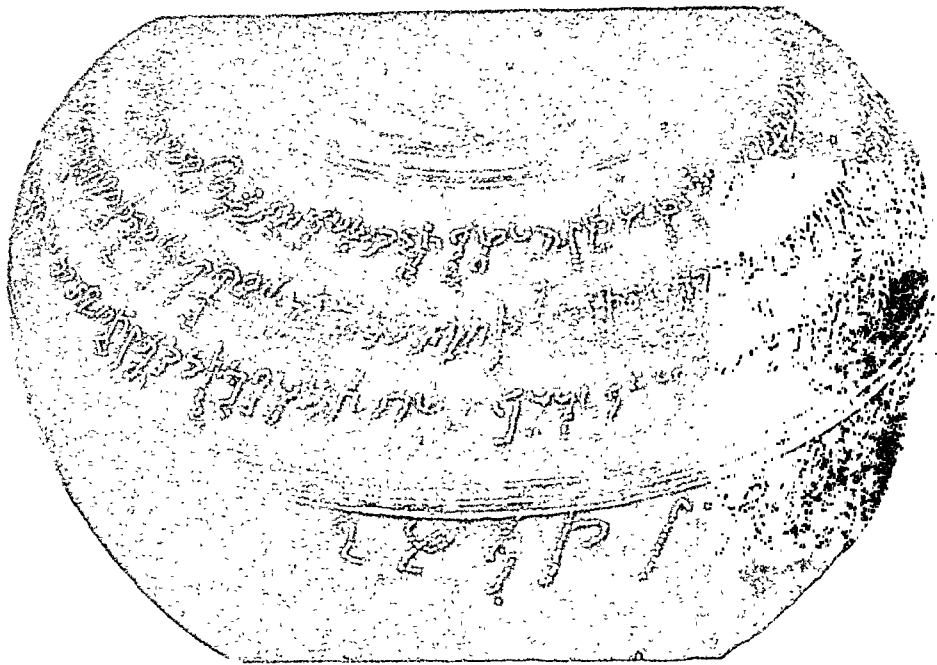
फलक सं. 70. हुविष्क का वर्डाक कांस्य पात्र-लेख-वर्ष 51 (उत्तरार्द्ध)

फलक सं. 71. प्रथम वासुदेव का मथुरा बौद्ध-मूर्ति-लेख-वर्ष 64

फलक सं. 72. प्रथम वासुदेव का मथुरा मूर्ति लेख-वर्ष 80
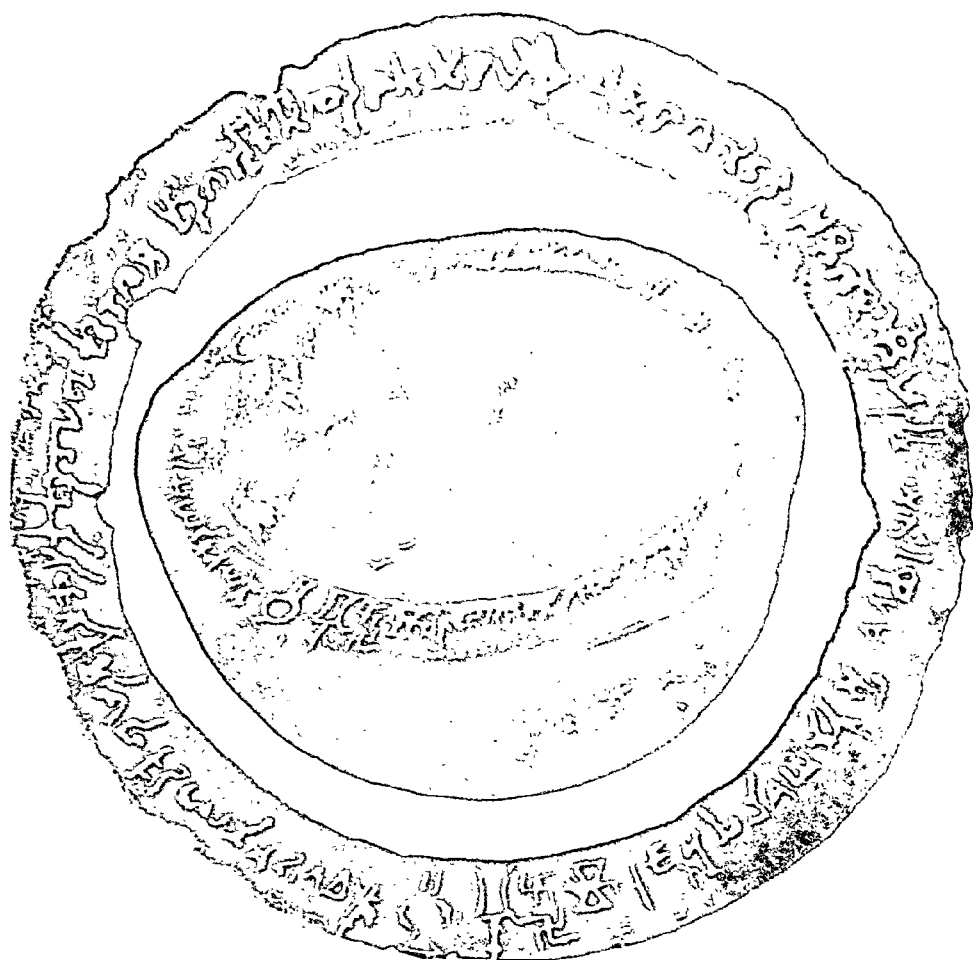
फलक सं. 73. विशाखमित्र का केलवन प्रस्तर-पात्र अभिलेख-वर्ण 108

फलक सं. 74. भद्रमघ का कोसम पाषाण लेख-वर्ग 86

C.—Kosam Image Inscription
of the Maharaja Bhimavarman.—The Year 139.
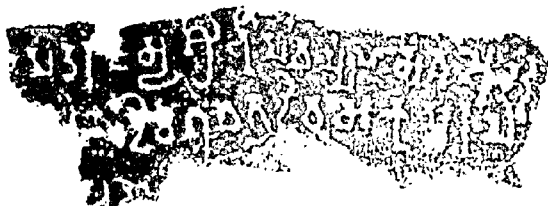
SCALE .33

A.—Lahor Seal of
the Maharaja Mahesvaranaga
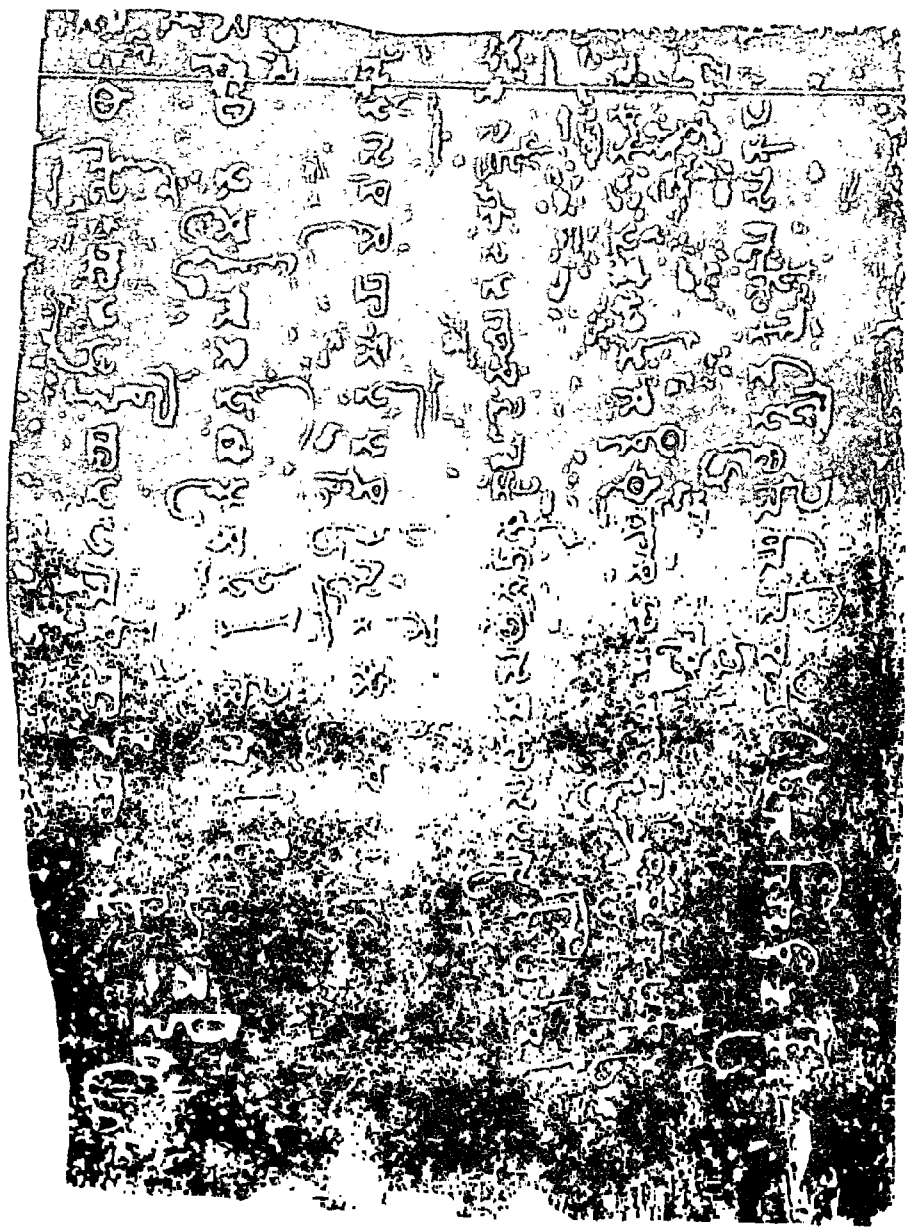
FULL SIZE

फलक सं. 75. (च) भीम वर्मा का कोसम मूर्ति लेख-वर्ष 139

फलक सं॰ 76. मालवनेता श्री सोम सोगी का नान्दसा यूप-अभिलेख
भाग (अ)
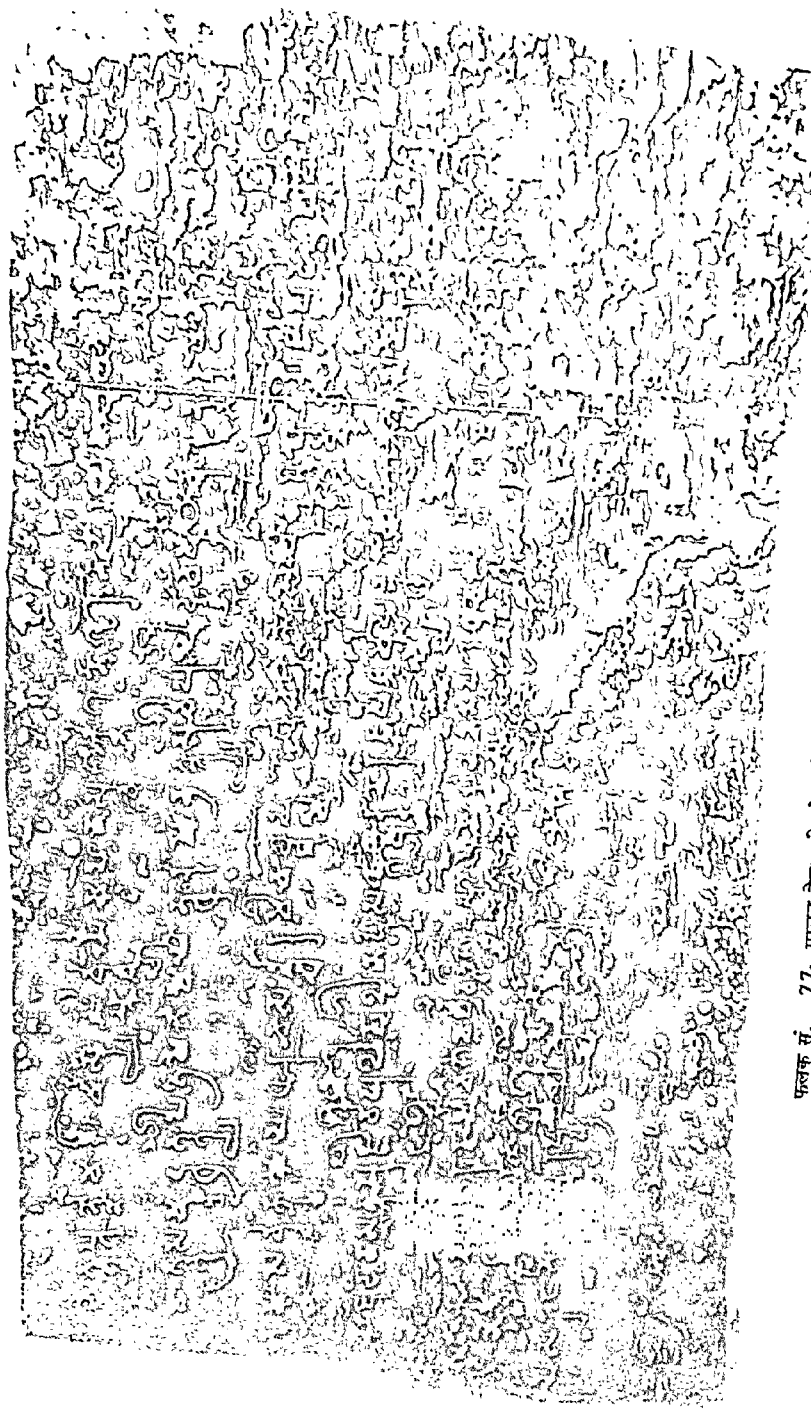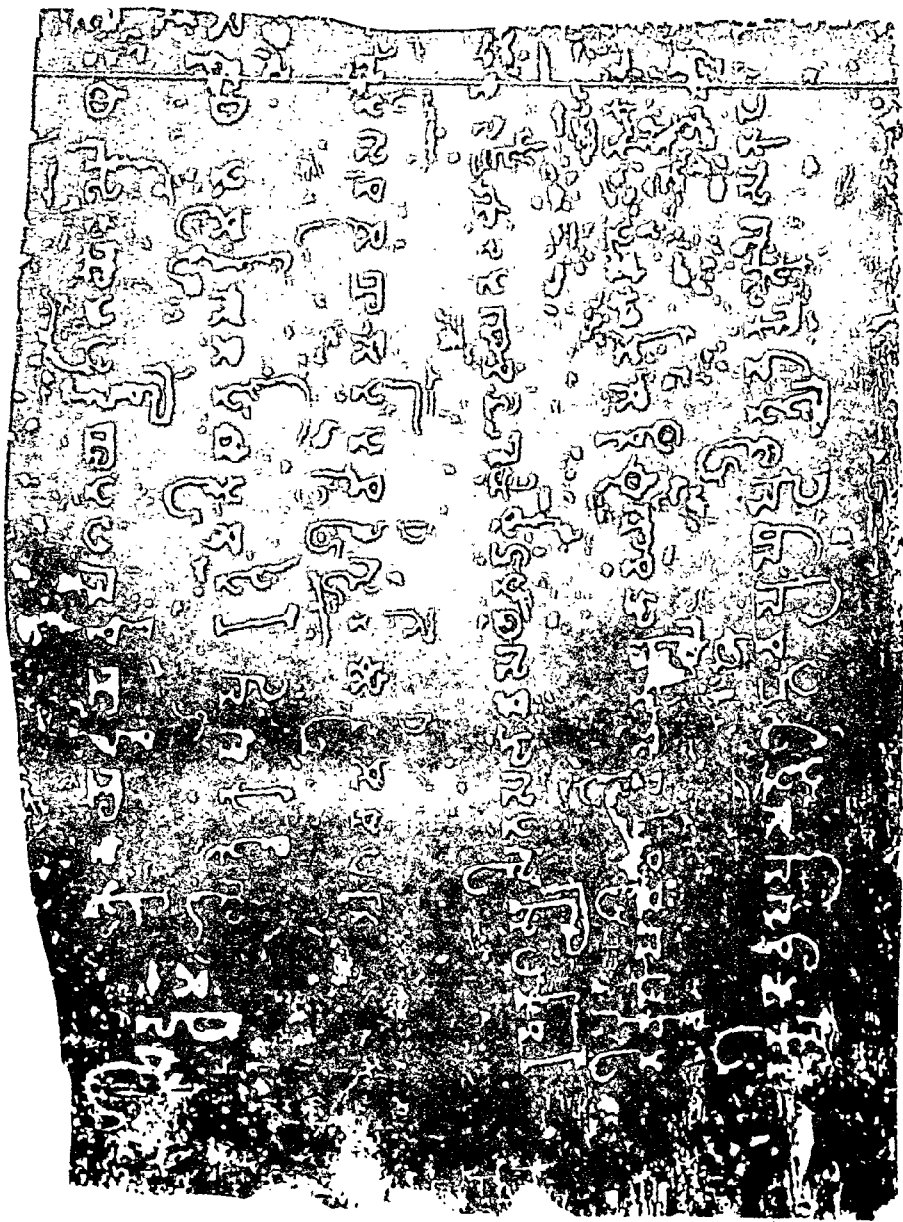
फलक सं. 77. मालव नेता श्री सोम सोगी का नान्दसा यूप अभिलेख–भाग (च)

फलक सं॰ 76. मालवनेता श्री सोम सोगी का नान्दसा यूप-अभिलेख
भाग (अ)
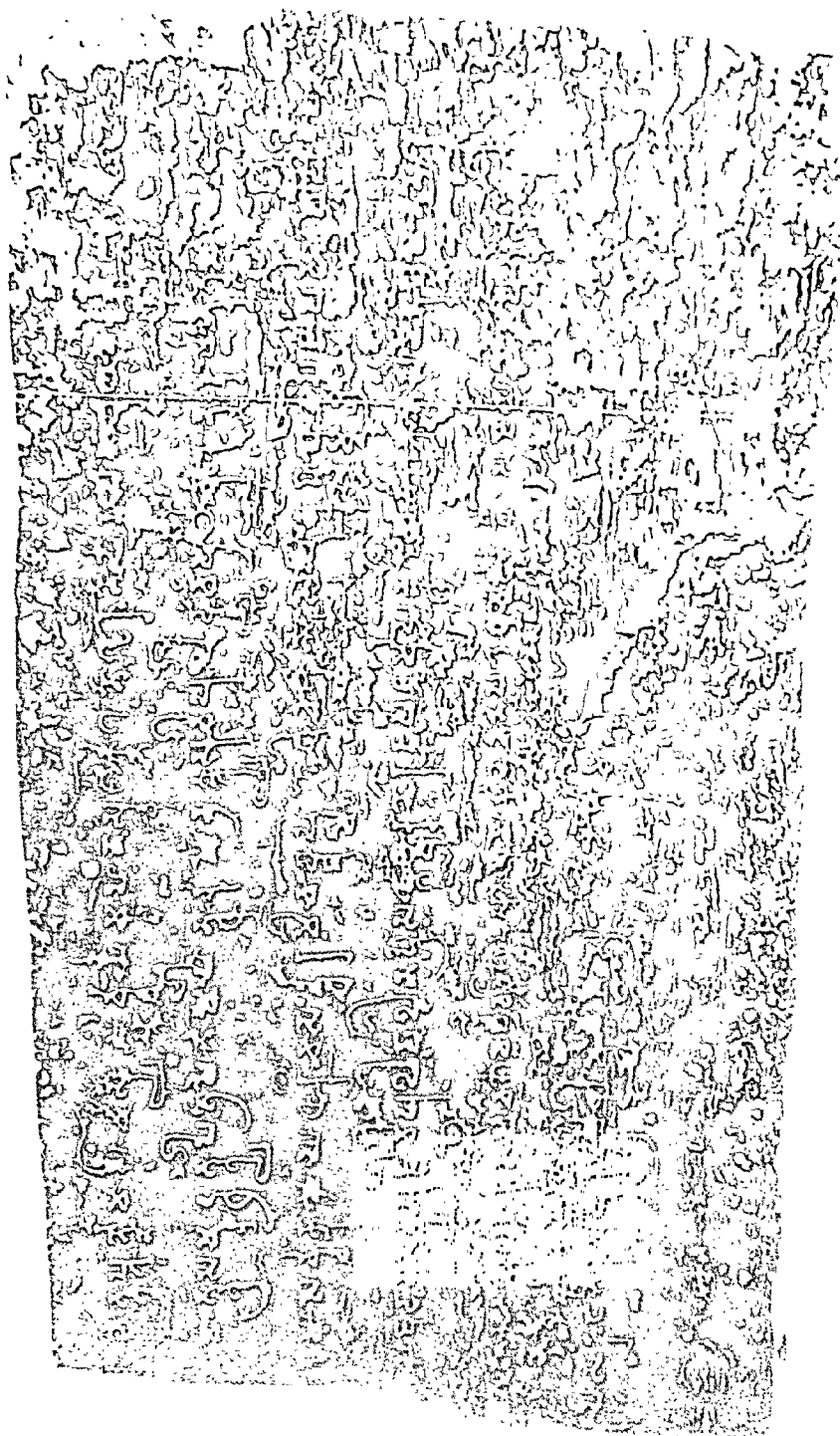
फलक सं. 77. मालव नेता श्री सोम सोगी का नान्दसा यूप अभिलेख–भाग (व)

फलक सं. 80. मौखरी सेनापति बल के पुत्रों का तीसरा बड़वा पाषाण-यूप अभिलेख

फलक सं. 81. वर्नाला यूप अभिलेख-कृत सं. 335

फलक सं. 82. धनुत्रात मौखरी का बड़वा यूप लेख

फलक सं. 83. मन्त्रिसोम सोगी का नांदसा यूप लेख

SCALE .50

फलक सं. 84. यौधेयों का विजयगढ पाषाण लेख

फलक सं. 85. नहयाम का नासिक गुहालेख-वर्ष 41, 42, 45

फलक सं. 86. नहपान के शासनकाल का नासिक गुहालेख

फलक सं. 87. नहपानकालीन नासिक गुहालेख

फलक सं. ४४. नह्यामकालीन कार्ले गुहालेख

फलक सं. 89. चष्टनकालीन अंधौ पाषाण यष्टिलेख-वर्ष 11

फलक सं. ९०. चष्टन तथा प्रथम रुद्रदामाकालीन अंधौ पाषाण यष्टिलेख-वर्ष 52
(प्रथम तथा तृतीय)

फलक सं. 91. चष्टन तथा प्रथम रुद्रदामा कालीन अंधौ पाषाण यष्टिलेख-वर्ष 52
(द्वितीय एवं चतुर्थ)

फलक स. 92. प्रथम रुद्रदामा का जूनागढ़ शिलालेख (पहला भाग)-वर्ष 72

फलक सं. 93. प्रथम रुद्रदामा का जूनागढ़ शिलालेख (दूसरा भाग)-वर्ष 72
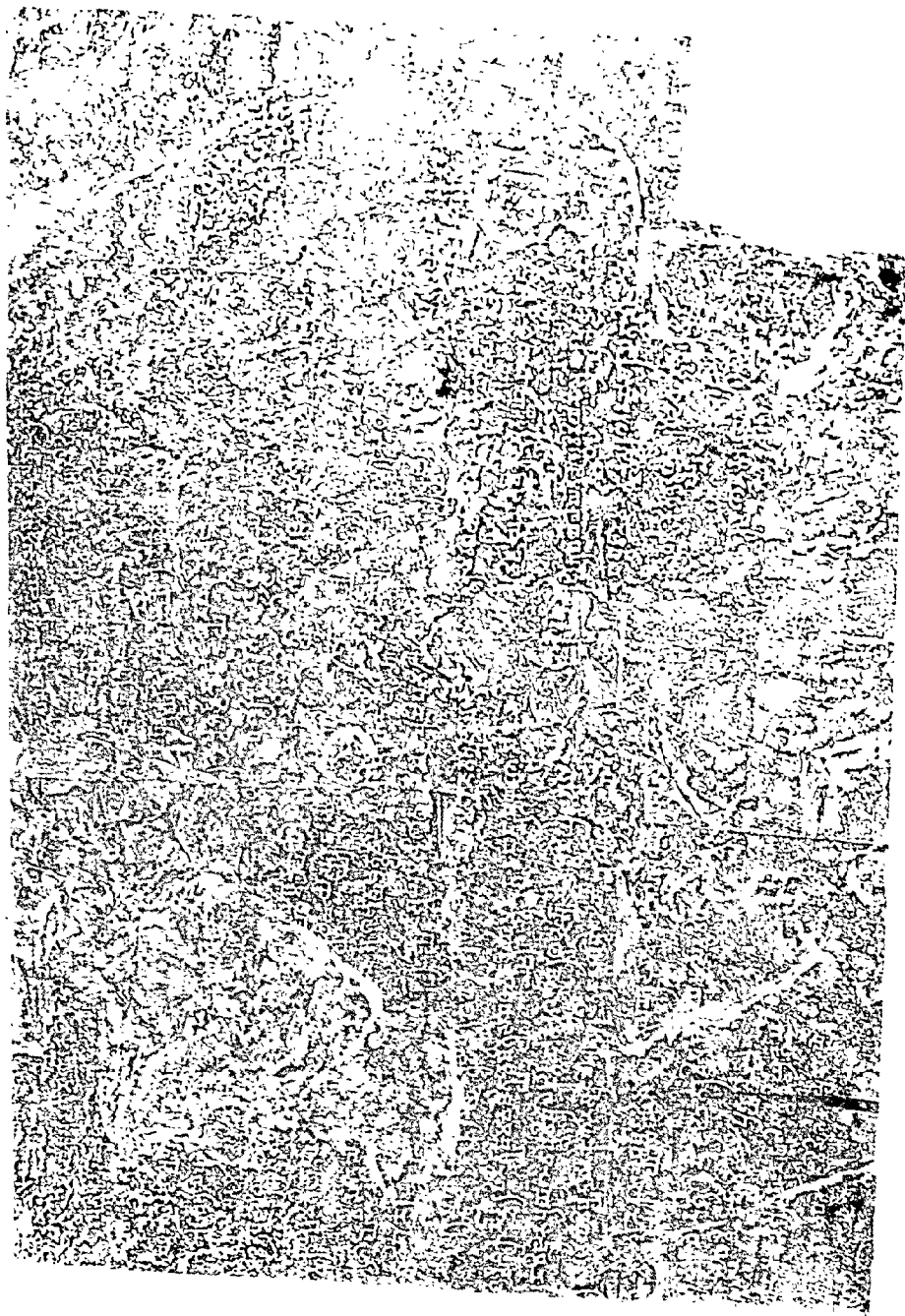
फलक सं. 94. प्रथम रुद्रसिंह के कालका गुन्दा पाषाण-लेख—सं. 103

फलक सं. 95. प्रथम रुद्रसेन का गढ़ (जसदन) पाषाण लेख—सं. 127

फलक सं. 96. प्रथम रुद्रसेन की देवनीमोरी पाषाण मंजूषा
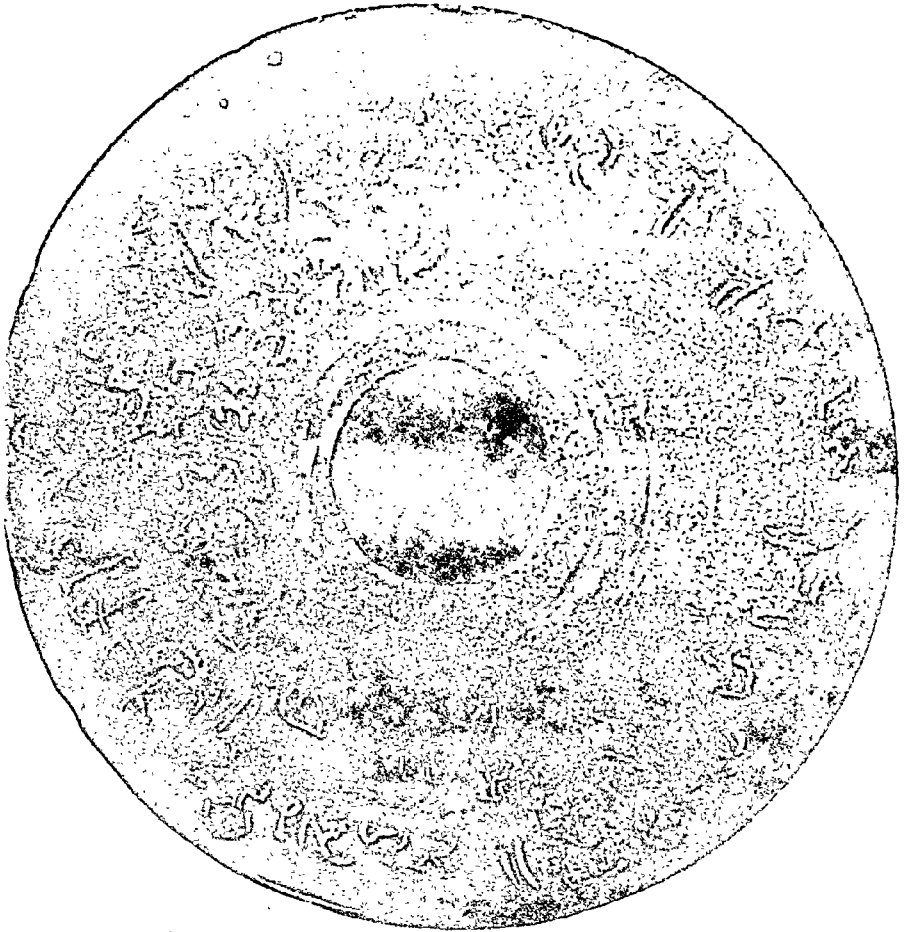
फलक सं. 97. प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी पाषाण मजूषा लेख–स. 127
(मंजूषा के नीचे का लेख)

फलक सं. 98. प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी मंजूषा लेख-(पूर्व)
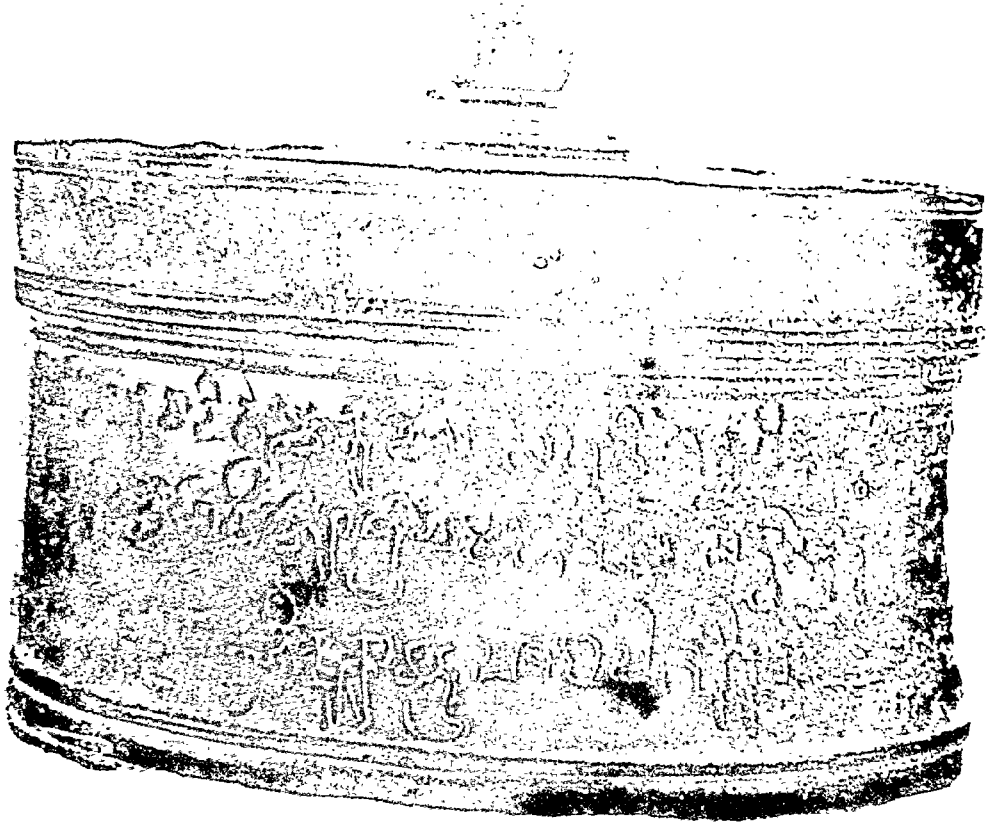
फलक सं. 99. प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी मंजूषा लेख–(पश्चिम)
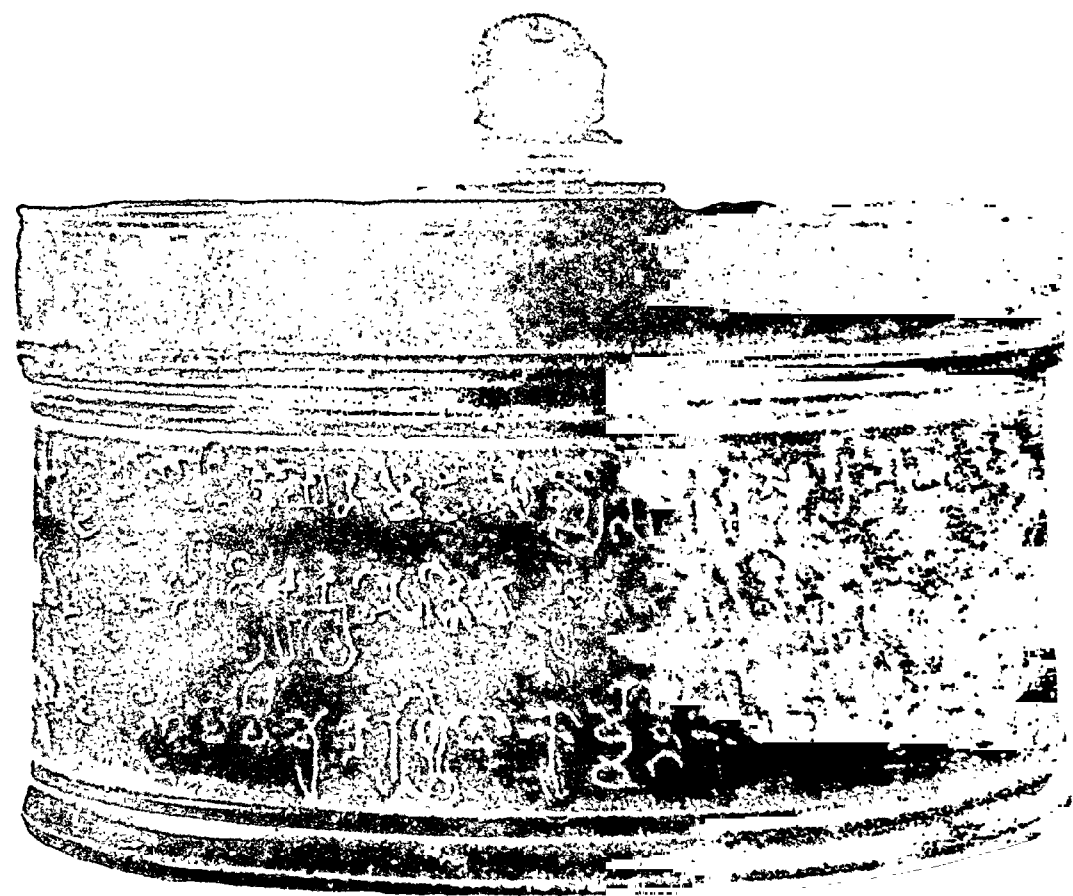
फलक सं॰ 100. प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी मंजूषा लेख—(उत्तर)
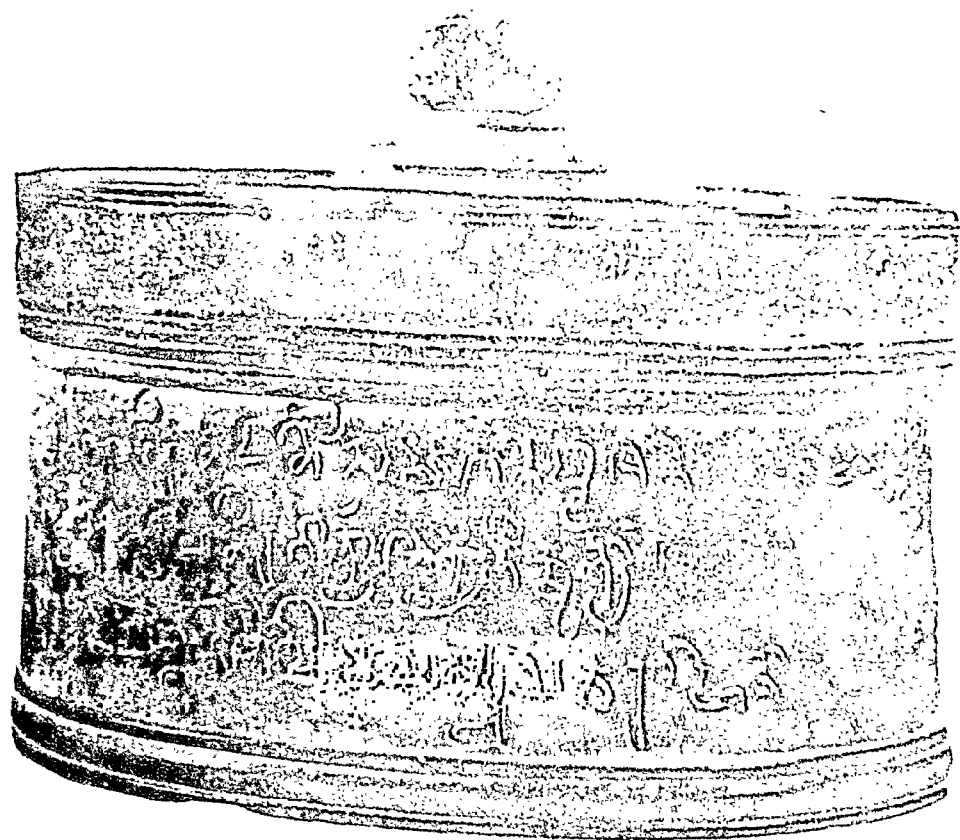
फलक सं. 101. प्रथम रुद्रसेन का देवनीमोरी मंजषा लेख–(दक्षिण)

फलक सं. 102. श्रीधर वर्मा का कानखेड़ा पाषाण लेख–स. 102
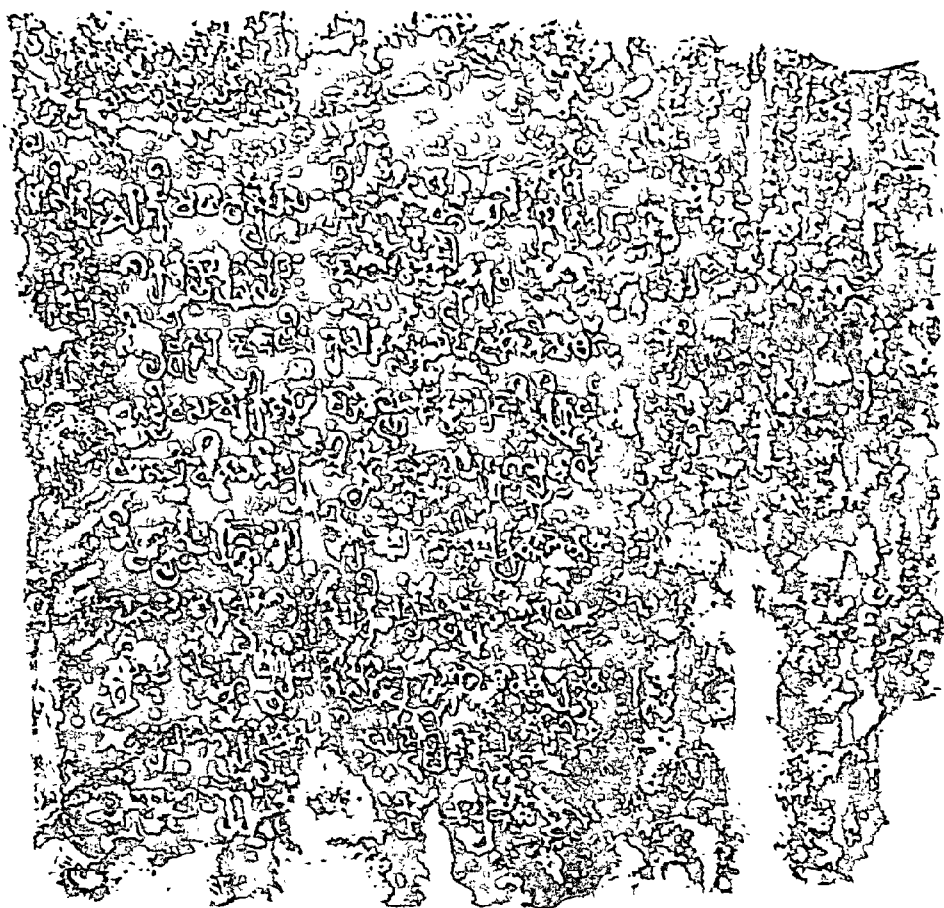
फलक सं. 103. श्रीधर वर्मा का एरण स्तम्भ लेख—वर्ष 27
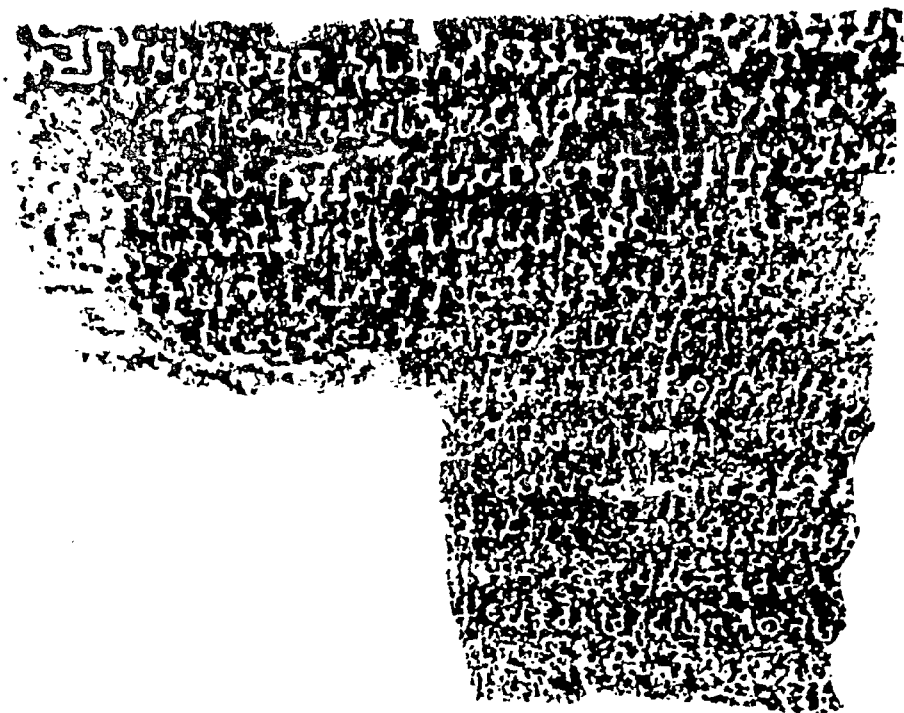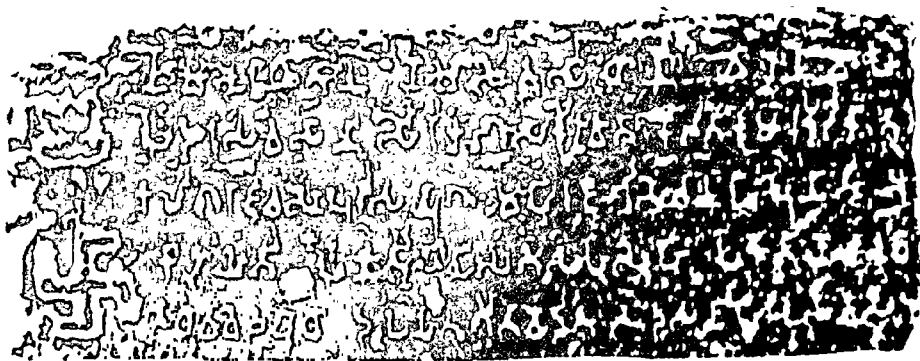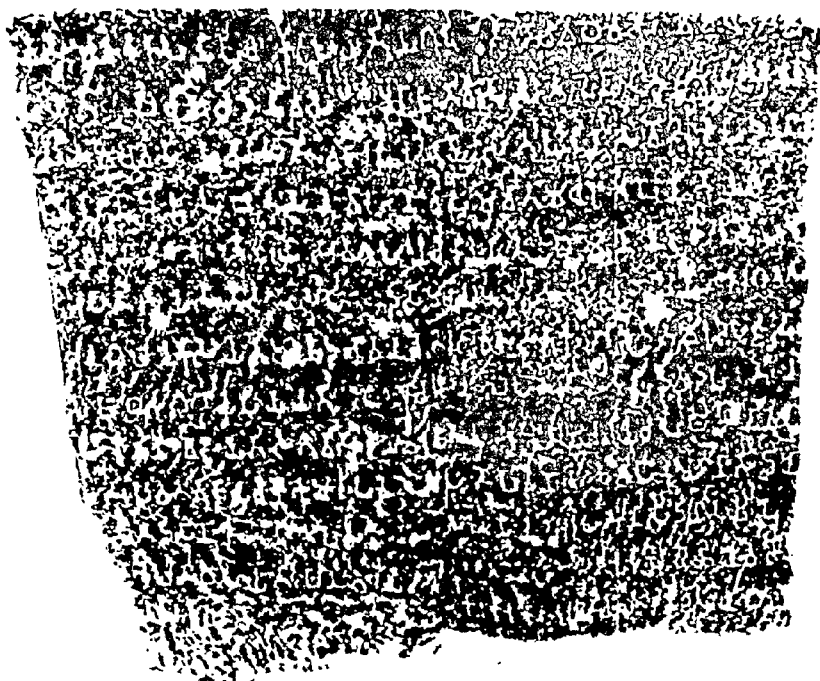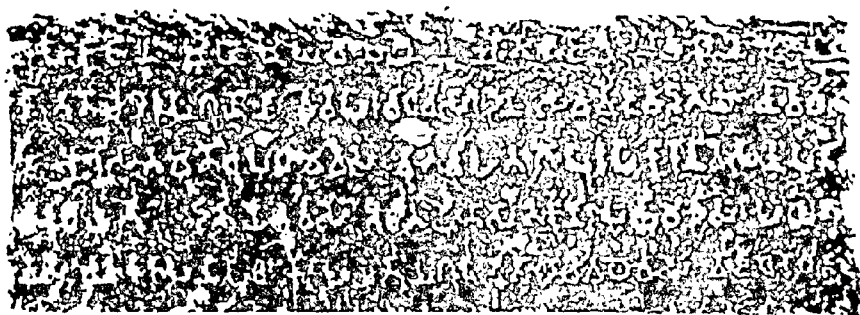
फलक सं. 104. खारवेल का हथिगुम्फा अभिलेख (भाग-1)

फलक सं· 105· खारवेल का हथिगुम्फा अभिलेख (भाग–2)

फलक सं. 106. खारवेल का हथिगुम्फा अभिलेख (भाग-3)
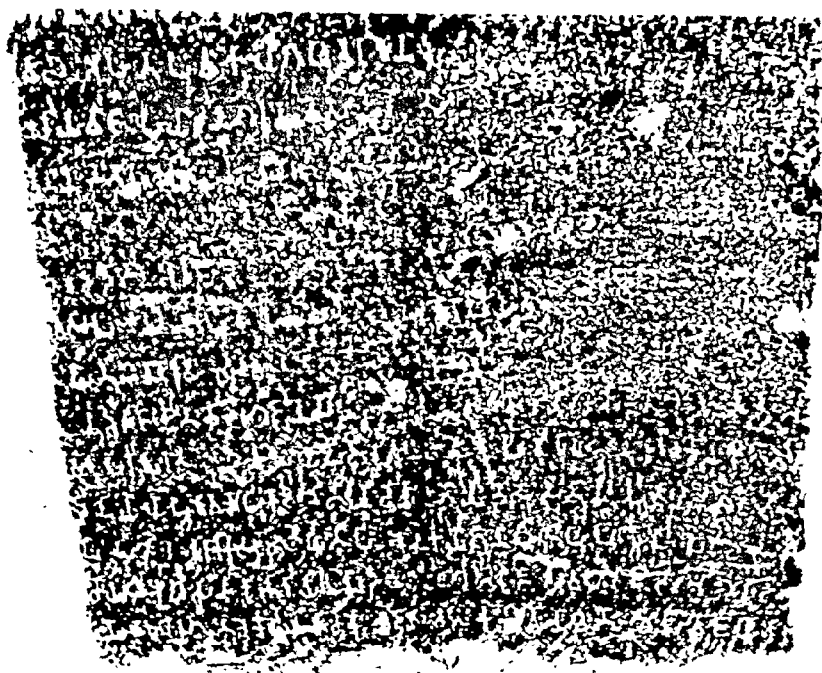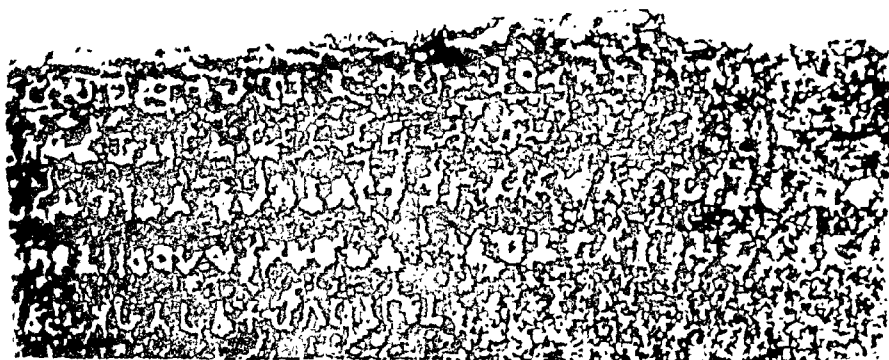
फलक सं. 108. खारवेल का अग्र महिषी का मंचपुरी गुहा-लेख

फलक सं. 109. कुडेप (वक्रदेव ?) का मचपुरी गुहा-लेख

फलक सं. 110. कुबेरक कालीन महिप्रोलु मंजूषा अभिलेख-प्रथम मंजूषा

फलक सं. 111. कुवेरक कालीन महिप्रोलु मंजूषा अभिलेख–द्वितीय मंजूषा

फलक सं. 110. कुबेरक कालीन महिप्रोलु मंजूषा अभिलेख-प्रथम मंजूषा

फलक सं. 111. कुवेरक कालीन महिप्रोलु मंजूषा अभिलेख–द्वितीय मंजूषा

फलक सं. 112. कुवेरक कालीन मि

फलक सं. 113. मानमद का वेलुर-अभिलेख

फलक सं. 112. कुबेरक कालीन भट्टिप्रोलु मंजूषा अभिलेख—तृतीय मंजूषा

फलक सं. 113. मानसद का वेलुर-अभिलेख

फलक सं. 112. कुबेरक कालीन भट्टिप्रोलु मंजूषा अभिलेख—तृतीय मंजूषा

फलक सं. 113. मानसद का वेलुर-अभिलेख

फलक सं· 114· कृष्णसातवाहन का नासिक गुहालेख

फलक सं· 115· नागनिका व प्रथम शातकर्णि कालीन नानाघाट गुहामूर्ति नाम अभिलेख
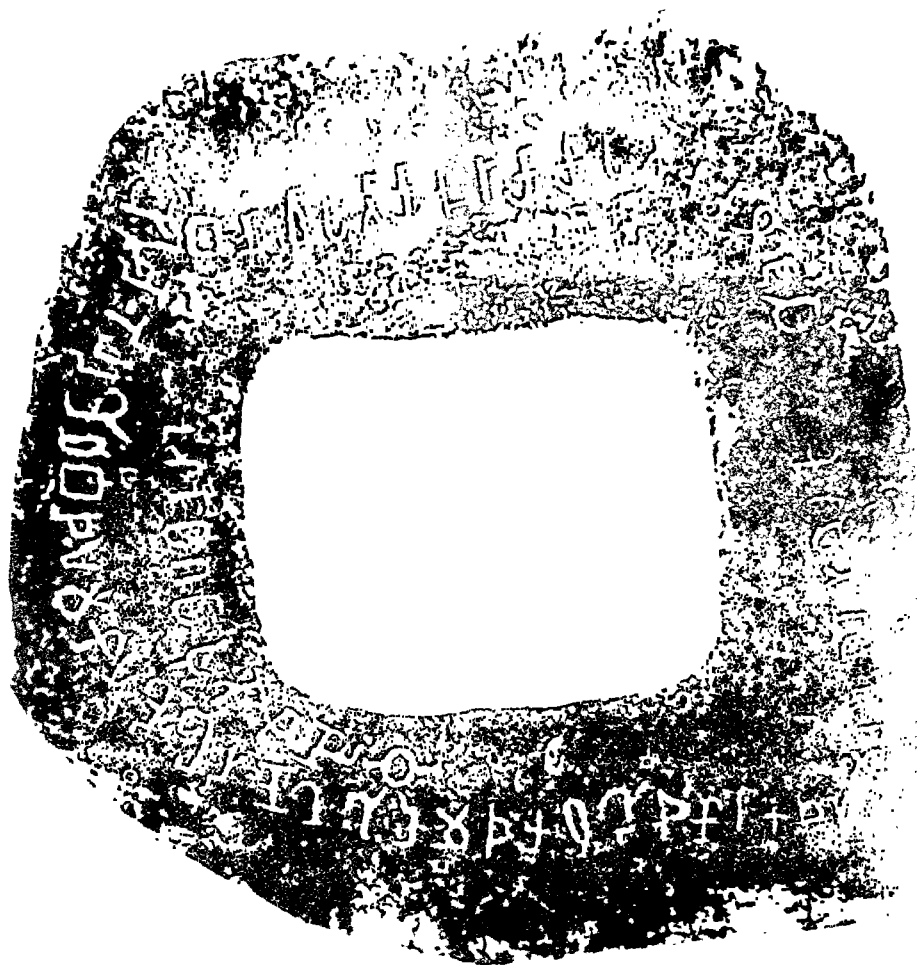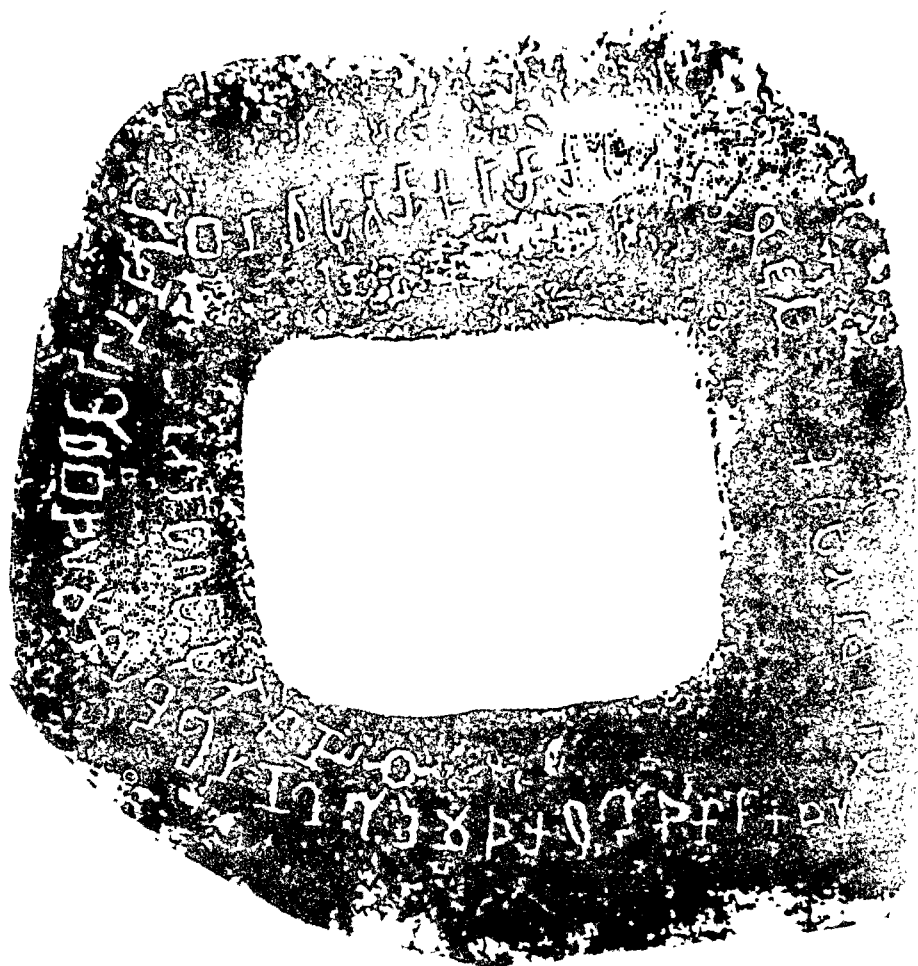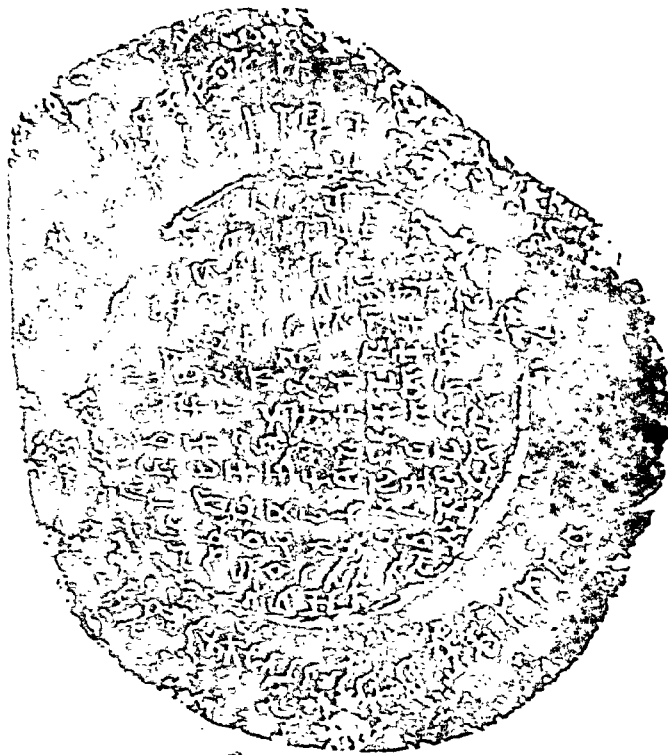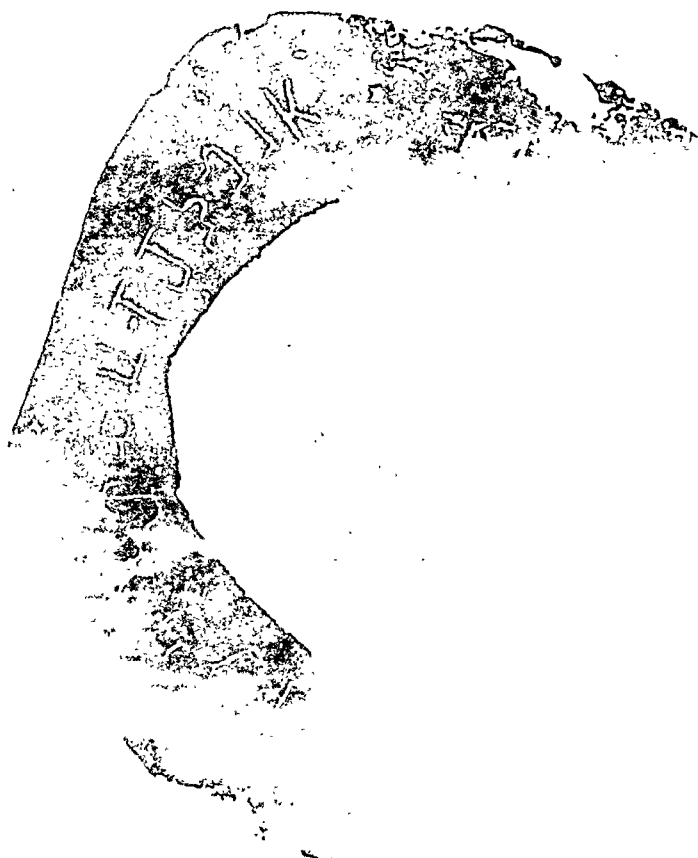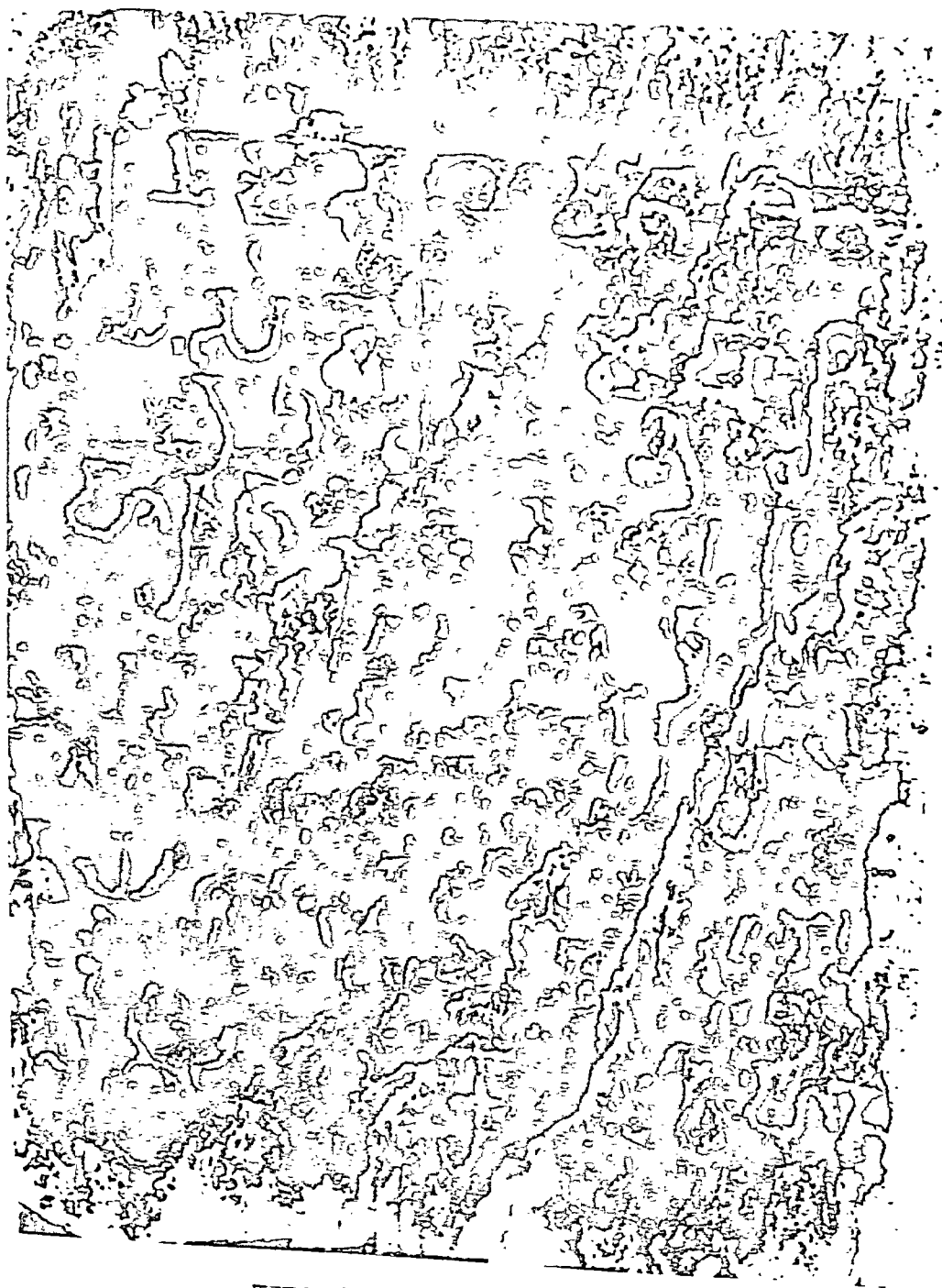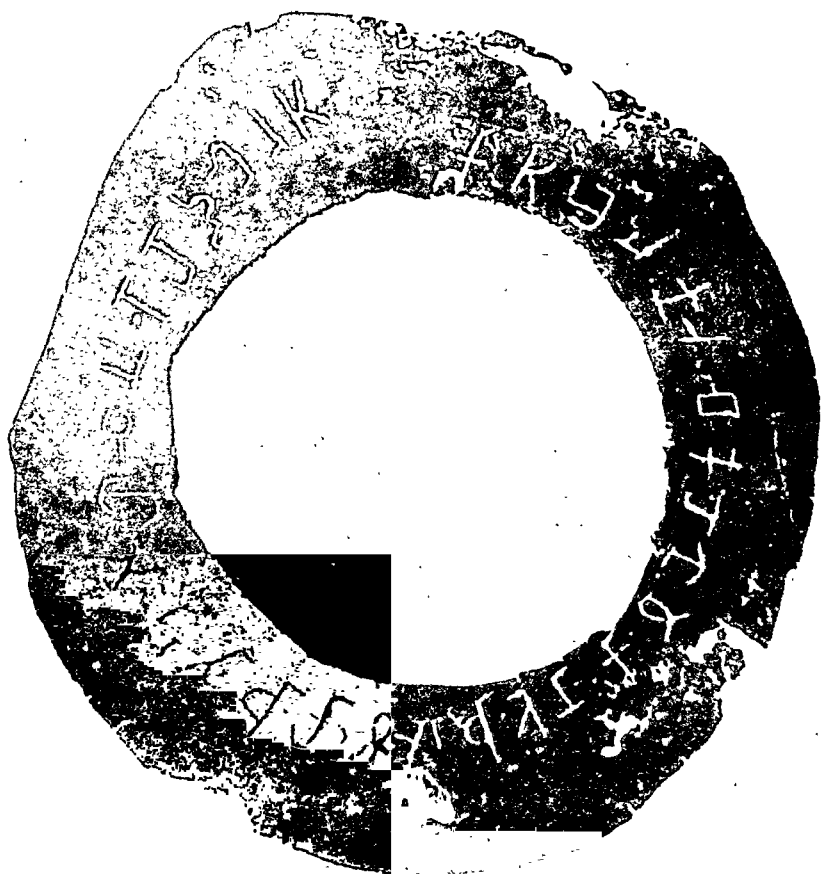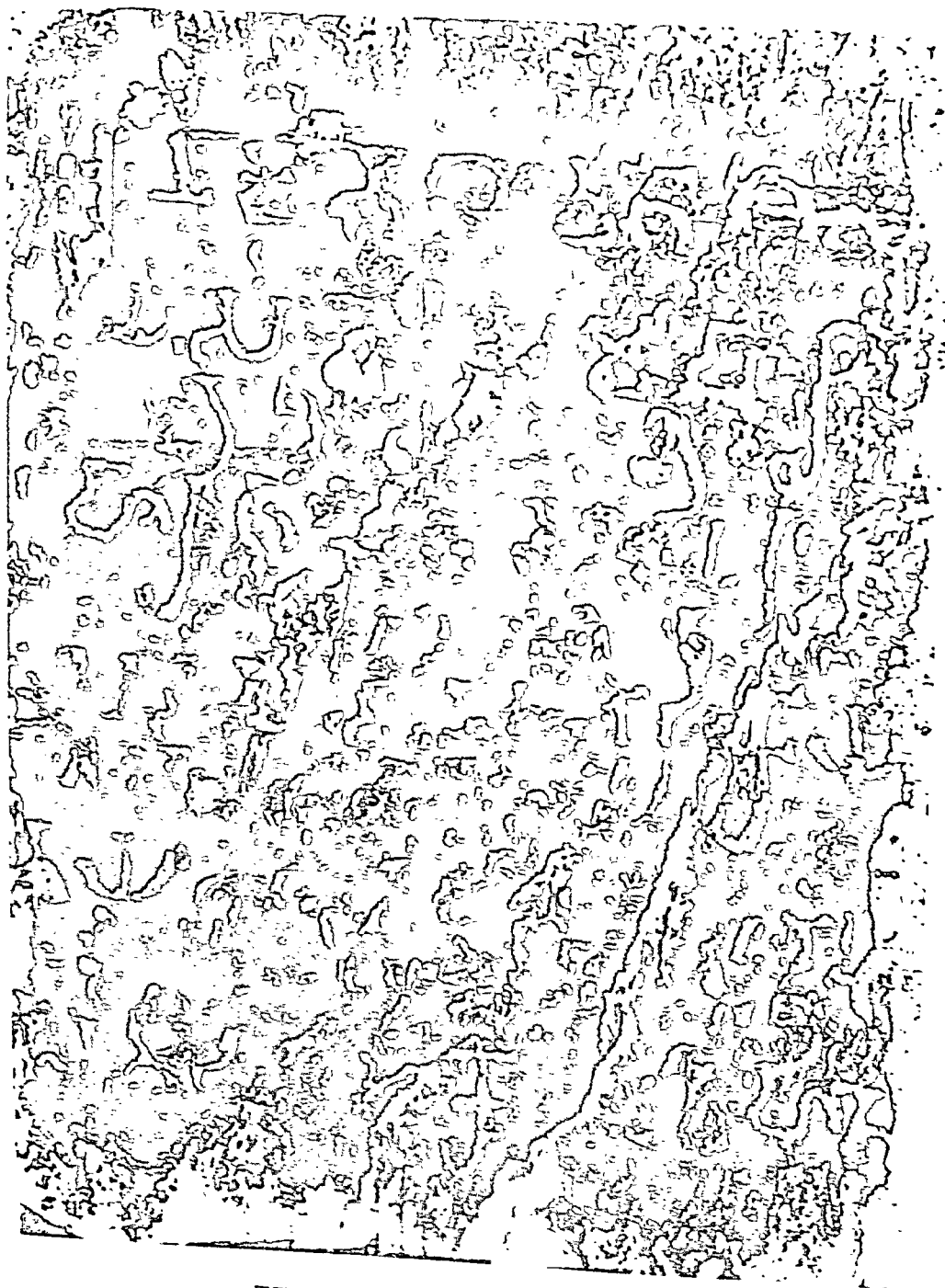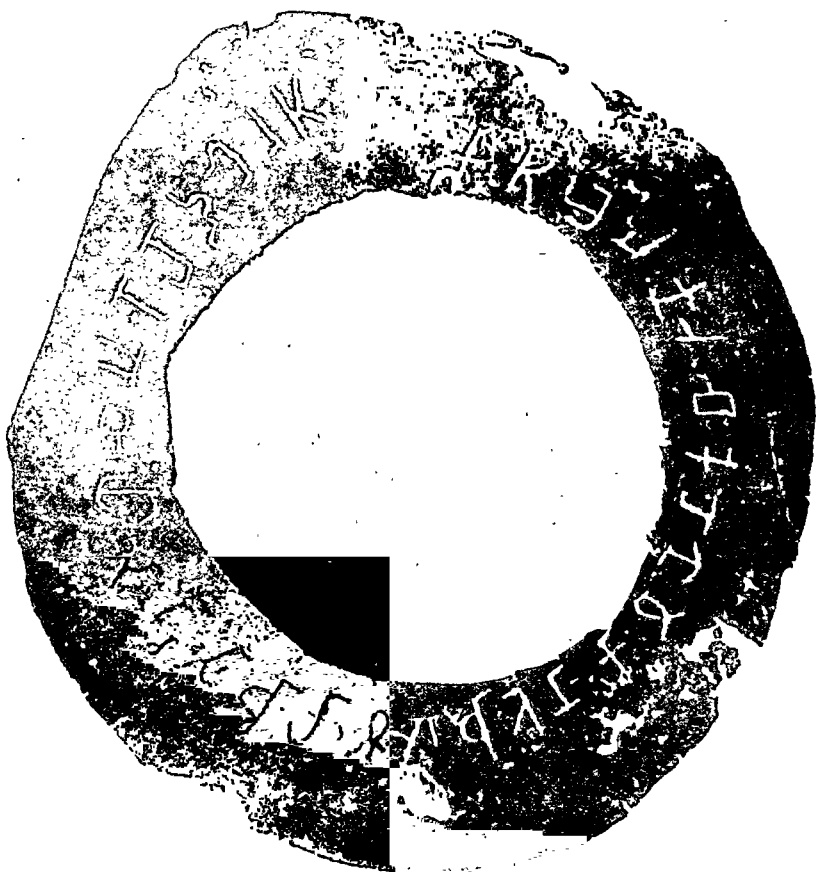
फलक सं· 114· कृष्णसातवाहन का नासिक गुहालेख
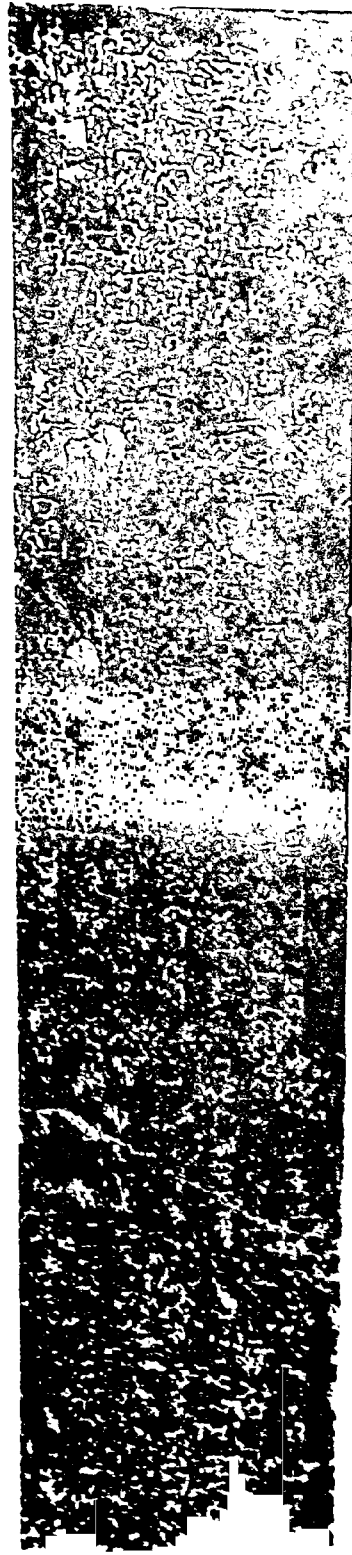
फलक सं. 117. गौतमीपुत्र शातकर्णि का नासिक गुहालेख—वर्ष 24

फलक सं. 116. गौतमीपुत्र शातकर्णि का नासिक गुहालेख—वर्ष 18

फलक सं. 119. वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि का नासिक गुहालेख–वर्ष 19

फलक सं· 118. वाशिष्ठीपुत्र पुलुभावि का कार्ले गुहालेख–वर्ष 7

फलक सं. 119. वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि का नासिक गुहालेख—वर्ष 19

फलक सं· 118. वाशिष्ठीपुत्र पुलुभावि का कार्ले गुहालेख–वर्ष 7

फलक सं. 119. वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का नासिक गुहालेख–वर्ष 19

फलक सं. 120. वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का कार्ले गुहालेख–वर्ष 24

फलक सं. 121. यज्ञशातकर्णि का नासिक गुहालेख–वर्ष 7

फलक स. 122. पुलुमावि का मयाकदोनि शिलालेख

फलक सं. 123. कुमारवीरदत्त का गुंजी शिलालेख—वर्ष 5 व 6

फलक स. 122. पुलुमवि का मयाकदोनि शिलालेख

फलक स· 123· कुमारवीरदत्त का गुंजी शिलालेख–वर्ग 5 व 6

फलक स. 124. शालिहुण्डम से प्राप्त ब्राह्मी शिलाफलक लेख

फलक सं. 125. महाराज गण का भद्रक पाषाण अभिलेख–वर्ष 8
(अ) बाया पार्श्व (आ) दाहिना पार्श्व

फलक सं. 124. शालिहुण्डम से प्राप्त ब्राह्मी शिलाफलक लेख

फलक सं. 125. महाराज गण का मद्रक पाषाण अभिलेख–वर्ष 8
(अ) बाया पार्श्व (आ) दाहिना पार्श्व

फलक सं. 124. शालिहुण्डम से प्राप्त ब्राह्मी शिलाफलक लेख

फलक सं 127. अशोक का द्वादस शिलालेख–शहबाजगढ़ी

फलक सं. 126. मथुराजैन मूर्ति लेख (अ) सम्वत् 52 (आ) सम्वत् 62